प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी)

भाग १ · प्रथमावृत्ति ३००० (अगस्त, १६८१)
द्वितीयावृत्ति ३००० (जून, १६८२)

भाग २ . प्रथमावृत्ति · ५००० (जून, १६८२)
वीतराग-विज्ञान शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर,
इन्दौर के शुभ अवसर पर

प्रवचनरत्नाकर (गुजराती)

भाग १ : प्रथमावृत्ति ५०००
भाग २ प्रथमावृत्ति ५०००
भाग ३ · प्रथमावृत्ति ५०००
भाग ४ प्रथमावृत्ति ५०००
भाग ५ · प्रथमावृत्ति . ५०००
भाग ६ प्रथमावृत्ति ५०००

मूल्य : दश रुपये

प्राप्ति-स्थान

☐ पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२०१५ (राजस्थान)

☐ श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ ३६४२५० (जिला भावनगर – गुजरात)

मुद्रक :
जयपुर प्रिन्टर्स
मिर्जा इस्माइल रोड
जयपुर ३०२००१

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी

प्रकाशकीय

परमपूज्य आचार्य कुन्दकुन्दकृत महान ग्रन्थराज समयसार पर हुए पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के प्रवचनो का सकलन 'प्रवचनरत्नाकर भाग २' प्रकाशित करते हुए हमे अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है।

पूज्य स्वामीजी इस युग के सर्वाधिक चर्चित आध्यात्मिक क्रान्तिकारी महापुरुष हो गए है। वर्त्तमान मे दृष्टिगोचर दिगम्बर जैनधर्म की अभूतपूर्व धर्मप्रभावना का श्रेय पूज्य स्वामीजी को ही है। उनका कार्यकाल दिगम्बर जैनधर्म के प्रचार-प्रसार का स्वर्णयुग रहा है।

पूज्य स्वामीजी के उपकारो को दिगम्बर जैन समाज हजारो वर्षों तक भी नही भुला सकेगा। उनकी भवतापनाशक वाणी के प्रताप से हम जैसे लाखो पामर प्राणियो ने दिगम्बर जिनधर्म का वास्तविक स्वरूप समझा है। जन्मजात दिगम्बर जैन होते हुए भी हमे धर्म के सच्चे स्वरूप का भान भी न था। धर्म की आत्मा को पहचाने बिना हम बाह्य क्रिया-काण्ड मे ही उलझ रहे थे। पूज्य स्वामीजी के निश्चय-व्यवहार की सन्धि-पूर्वक हुए प्रवचनो ने हमारी आँखे खोल दी हैं। उनके प्रताप से लाखो दिगम्बर जैन भाई-बहनो ने दिगम्बर जिनधर्म का सच्चा स्वरूप पहचाना है तथा हजारो श्वेताम्वर भाइयो ने भी दिगम्बर धर्म स्वीकार किया है।

यद्यपि आज वे हमारे बीच मे नही हैं, तथापि उनके प्रताप से निर्मित ६१ दिगम्बर जिनमन्दिर एव लाखो की सख्या मे प्रकाशित सत्साहित्य हमे हजारो वर्षों तक सत्य का दर्शन कराता रहेगा।

समयसार ग्रन्थ ने स्वामीजी की जीवनधारा मे क्रान्तिकारी मोड उत्पन्न किया है। स्थानकवासी साधु अवस्था मे वि० सं० १९७८ (सन् १९२१ ई०) की किसी महान मगलमय घडी मे समयसार ग्रन्थ को पाकर उनकी अन्त चेतना मे सुषुप्त सस्कार झनझना उठे। दिगम्बर जिनधर्म की समीचीनता स्वीकार करते हुए वि० स० १९९१ (सन् १९३४ ई०) मे महावीर-जयन्ती के दिन सोनगढ मे उन्होने मुँहपट्टी त्यागकर दिगम्बर श्रावक के रूप मे जीवन बिताना प्रारम्भ कर दिया। तब से ४५ वर्षों तक निरन्तर उनके श्रीमुख से जिनागम का अमृतरस झरता रहा, जिसका पानकर लाखो लोगो के जीवन मे आध्यात्मिक क्रान्ति हुई है।

श्री षट्खण्डागम भाग १, समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय, नियमसार, अष्टपाहुड, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, बृहद्द्रव्यसग्रह, मोक्षमार्ग-प्रकाशक, तत्त्वार्थसार, आत्मानुशासन, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पद्मनन्दि-पञ्चविंशतिका, समयसारकलशटीका, नाटकसमयसार, छहढाला आदि अनेक ग्रन्थो पर प्रवचनो के माध्यम से उन्होने अनेकान्त, वस्तुस्वातन्त्र्य, कर्त्ता-कर्म सबध, क्रमबद्धपर्याय, निमित्त-उपादान आदि जनदर्शन के आधारभूत सिद्धान्तो की आगम एव युक्तिसगत व्याख्या करके जिनशासन की अद्वितीय सेवा की है। उनके प्रवचनो के प्रभाव से जिनागम का प्रत्येक सद्धान्तिक पहलू तथा जिनागम की प्रतिपादन शैली – स्याद्वाद, निश्चय-व्यवहार तथा प्रमाण-नय-निक्षेप आदि का स्वरूप भी जन-जन मे चर्चित हो गया है।

अध्यात्म के गूढ रहस्यो का सागोपाँग विवेचन उनकी वाणी की महत्त्वपूर्ण विशेषता रही है। स्वानुभूति का स्वरूप, विपय एव उसके पुरुषार्थ का विवेचन चिरकाल तक स्वानुभूति की प्रेरणा देता रहेगा।

४० वर्ष पूर्व सम्पूर्ण सौराष्ट्र मे जहाँ दिगम्बर जिनविम्ब के दर्शन भी दुर्लभ थे, वहाँ आज उनके प्रताप से न केवल सौराष्ट्र मे अपितु सारे भारत मे ६१ जिनमदिरो का निर्माण हुआ है। उनके कर-कमलो द्वारा सम्पन्न ३३ पञ्चकल्याणक एव ३० वेदीप्रतिष्ठा महोत्सवो के माध्यम से हजारो वीतरागभाववाही दिगम्बर जिनबिम्बो की स्थापना हुई है। नैरोबी (अफ्रीका) मे हुआ विशाल पञ्चकल्याणक महोत्सव उनके प्रभावनाकाल का बेजोड अध्याय है। सोनगढ मे निर्मित सीमधर स्वामी दिगम्बर जिनमन्दिर, समवशरण, मानस्तम्भ, कुन्दकुन्द प्रवचन मंडप, श्री महावीर कुन्दकुन्द परमागम मन्दिर आदि – उनके हृदय मे विद्यमान जिनेन्द्र-भक्ति के अमर स्मारक है।

स्वाध्याय के क्षेत्र मे पू० स्वामीजी ने अभूतपूर्व क्रान्ति की है। उनके प्रवचनो के प्रभाव से समाज मे स्वाध्याय की प्रवृत्ति को यथार्थ दिशा मिली है। नयविवक्षापूर्वक जिनवाणी का भावार्थ हृदयगम करते हुए स्वाध्याय करने की परम्परा का विकास उन्ही की देन है।

उनके बालब्रह्मचर्य के तेज एव वैराग्यरस से ओतप्रोत जीवन, सरलभाषा और प्रवाहमयी व आह्लादपूर्ण प्रवचनशैली से प्रभावित होकर प्रत्येक व्यक्ति उनका हुए बिना नही रहता। उनकी वैज्ञानिक एव तर्कसगत व्याख्या से स्वाध्याय की प्रेरणा पाकर देश-विदेश मे सैकडो स्थानो पर मुमुक्षुमडलो की स्थापना हुई है, जिनमे संचालित नियमित शास्त्रसभाओ मे लाखो भाई-बहिन जिनागम का अभ्यास करते है।

सत्साहित्य का प्रकाशन स्वामीजी के प्रभावना-योग की महत्त्वपूर्ण देन है। श्री दि० जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट सोनगढ, पडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर, श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट भावनगर, श्री कुन्दकुन्द कहान परमागम प्रवचन ट्रस्ट बम्बई आदि १५ प्रकाशन सस्थाओ से लगभग ३६ लाख प्रतियाँ प्रकाशित हो चुकी है तथा यह क्रम अभी भी निरन्तर जारी है और विशेषता यह है कि इन सभी ग्रन्थो का विक्रय-मूल्य लागत से भी कम रखा जाता है।

तत्त्वप्रचार के सशक्त माध्यम शिक्षण-शिविर प्रणाली का जन्म भी पूज्य स्वामीजी की देन है। सोनगढ मे ग्रीष्मावकाश मे बाल शिक्षण-शिविर तथा श्रावण मास मे प्रौढ शिक्षण-शिविरो का आयोजन प्रारम्भ हुआ। धीरे-धीरे सारे देश मे शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर लगने लगे। सोनगढ मे प्रवचनकार प्रशिक्षण-शिविर भी आयोजित किये गये। गत दो दशको मे तो सारे देश मे सैकडो शिक्षण-शिविर आयोजित हुये है।

स्वामीजी के प्रवचनो के प्रचार-प्रसार हेतु सोनगढ से सन् १९४३ ई० से आत्मधर्म का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया। इससमय यह लगातार ४० वर्ष से प्रकाशित होनेवाला व जैनसमाज का सर्वाधिक बिक्रीवाला मासिक पत्र है, जो हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड और तमिल — इन पाँच भाषाओ मे १५ हजार की सख्या मे प्रतिमाह प्रकाशित होता है। बालको मे तत्त्वज्ञान और सदाचार के सस्कार डालने हेतु देश मे लगभग ३०० वीतराग-विज्ञान पाठशालायें चल रही हैं। विद्यार्थियो की परीक्षा की व्यवस्था के लिए श्री वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षाबोर्ड की स्थापना की गई है, जिसकी परीक्षाओ मे प्रतिवर्ष लगभग २०,००० विद्यार्थी सम्मिलित होते है।

दिगम्बर तीर्थों के प्रति अत्यन्त भक्ति से प्रेरित होकर पूज्य स्वामीजी ने विक्रम सवत् २०१३ व २०२० मे सारे भारत के तीर्थों की ससघ वदना की है। सवत् २०१५ मे तीसरी बार दक्षिण भारत के तीर्थों की वदना भी की है।

पूज्य स्वामीजी के उपदेशो के प्रभाव से तीर्थक्षेत्रो के जीर्णोद्वार एव जिनवाणी के शोध व प्रकाशन की महती आवश्यकता पूर्ति हेतु उनके मगल-आशीर्वादपूर्वक श्री कुन्दकुन्द कहान दि० जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट की स्थापना की गयी है। इस ट्रस्ट ने अपने उद्देश्यो और गतिविधियो से अल्पकाल मे ही दि० जैन समाज मे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है।

तीर्थों के जीर्णोद्वार के अलावा समाज मे आध्यात्मिकरुचि-सम्पन्न आत्मार्थी विद्वान तैयार करने हेतु जयपुर मे श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय का सचालन इस ट्रस्ट की महत्त्वपूर्ण गतिविधि है। गत वर्ष व इस वर्ष मे कुल मिलाकर इस विद्यालय के २१ छात्र शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण करके समाज मे तत्त्व-प्रचार सबधी कार्य करने लगे हैं। इस ट्रस्ट के माध्यम से जिनवाणी की शोध एव सुरक्षा हेतु मद्रास और बेंगलोर मे शोध-सस्थान कार्यरत हैं।

इसप्रकार निरन्तर ४५ वर्षों तक पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा जिनशासन की अद्वितीय प्रभावना होती रही है। यद्यपि आज वे हमारे बीच मे नही है, तथापि उनके द्वारा दिखाया शाश्वत सुख का मार्ग चिरकाल तक हमे भव-दुखो से बचने की प्रेरणा देता रहेगा, क्योकि उनके प्रताप से निर्मित जिनमन्दिर एव प्रकाशित सत्साहित्य उनके स्मारक के रूप मे विद्यमान है।

यद्यपि टेपो मे सुरक्षित उनकी वाणी युगो-युगो तक हमे आत्मानुभूति की प्रेरणा देती रहेगी, तथापि टेपो की लम्बे समय तक सुरक्षा करना कठिन है तथा उनका जन-जन तक पहुँचना भी सुलभ नही है। अतः स्वामीजी की उपस्थिति मे ही इस बात की तीव्र आवश्यकता महसूस की जा रही थी कि उनके सभी प्रवचनो का शृ खलाबद्ध प्रकाशन किया जाए।

टेप-रेकार्ड से सुनकर प्रवचन लिखना तथा उन्हे व्यवस्थितरूप मे प्रकाशित करना अत्यधिक श्रम एव व्यय-साध्य कार्य है। अत इस कार्य हेतु स्वामीजी की ९०वी जयन्ती के अवसर पर श्री कुन्दकुन्द कहान परमागम प्रवचन ट्रस्ट की स्थापना की गई। इस ट्रस्ट ने श्री वीतराग सत्साहित्य प्रकाशक ट्रस्ट भावनगर के सहयोग से अल्प समय मे ही प्रवचनरत्नाकर के नाम से समयसार के १८वी बार के प्रवचनो को गुजराती मे प्रकाशित करना प्रारम्भ कर दिया है। गुजराती प्रवचनरत्नाकर के दो भागो को पूज्य स्वामीजी की उपस्थिति मे ही उन्हे समर्पित करने का गौरव प्राप्त करने के उपलक्ष्य मे उक्त ट्रस्ट बधाई के पात्र हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री की ९१वी जन्म-जयन्ती के अवसर पर परमागम प्रवचन ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित गुजराती प्रवचनो के हिन्दी प्रकाशन पर विचार-विमर्श करते समय पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट ने यह दायित्व वहन करना सहर्ष स्वीकार किया। इस अवसर पर उपस्थित मुमुक्ष भाइयो ने हिन्दी प्रवचन प्रकाशन हेतु पाँच लाख रुपये का फण्ड एकत्र करने का संकल्प किया तथा उसीसमय दो लाख रुपये के वचन भी प्राप्त हो गए।

इसी अवसर पर माननीय प० रतनचन्दजी भारिल्ल ने गुजराती प्रवचनो के हिन्दी अनुवाद का तथा माननीय डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल ने इसके सम्पादन का दायित्व निस्पृहभाव से स्वीकार किया, एतदर्थ हम दोनो विद्वानो के अत्यन्त आभारी है।

प्रवचनरत्नाकर भाग १ का प्रकाशन सन् १९८१ मे ३००० की सख्या मे मुद्रित कराया गया था। उससमय हमने यह अनुमान किया था कि इनका विक्रय दो वर्षों मे हो पावेगा, लेकिन यह जानकारी देते हुए हर्ष होता है कि पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनो की यह पुस्तक मात्र पाँच माह मे ही समाप्त हो गई। अब भाग १ की द्वितीय आवृत्ति पुन ३००० की सख्या मे मुद्रित कराई गई है।

प्रवचनरत्नाकर भाग १ की अत्यधिक माँग देखते हुए प्रवचन-रत्नाकर भाग २ की प्रथम आवृत्ति ही ५००० की सख्या मे प्रकाशित की गई है। पाठको की माँग देखने हुए सभव है कि इसकी भी द्वितीय आवृत्ति शीघ्र प्रकाशित करनी पडे।

इतने अल्प समय मे ही इतनी बडी आध्यात्मिक पुस्तक का इतनी अधिक सख्या मे विक्रय होना – इस वात का सूचक है कि आज पूज्य स्वामीजी द्वारा जलाई हुई ज्योति उनके देहावसान के दो वर्ष पश्चात् भी धूमिल नही हुई है, बल्कि उत्तरोत्तर वृद्धि को ही प्राप्त हो रही है।

पूज्य स्वामीजी के प्रवचन जन-जन तक कम से कम मूल्य मे पहुँचाने की भावना से ट्रस्ट ने निर्णय किया है कि कीमत कम करने हेतु १०,००१) रु० देनेवाले महानुभावो का दो हजार प्रतियो मे फोटो प्रकाशित किया जायेगा तथा १० प्रतियाँ नि शुल्क भेट दी जाएँगी। ५,००१) रु० देनेवाले महानुभावो का १००० प्रतियो मे फोटो प्रकाशित किया जाएगा तथा ५ प्रतियाँ नि शुल्क भेट की जाएँगी। २,५०१) रु० देनेवाले महानभावो का ५०० प्रतियो मे फोटो प्रकाशित किया जाएगा तथा दो पुस्तके नि शुल्क भेंट की जाएँगी।

प्रसन्नता की वात है कि इस दूसरे भाग की कीमत कम करने हेतु निम्नलिखित राशि प्राप्त हुई है। एतदर्थ मै निम्नोक्त सभी महानभावो को धन्यवाद देता हूँ।

कीमत कम करनेवालो के नाम इसप्रकार हैं :–

(१)	श्री कुन्दकुन्द कहान परमागम प्रवचन ट्रस्ट, बम्बई	१०,०००)
(२)	श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़	६०००)
(३)	श्री नाथूलालजी पोल्याका, जयपुर	२५००)
(४)	श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, कुरावली	८१)
(५)	श्री देवीलालजी मेहता, उदयपुर	५१)
	कुल योग	१८६३३)

हमे खेद है कि तीव्र भावना होते हुए भी हम प्रवचनरत्नाकर के हिन्दी सस्करण पूज्य गुरुदेवश्री की उपस्थिति मे उन्हे समर्पित नही कर सके। भाग १ का हिन्दी अनुवाद एव सम्पादन कार्य चल ही रहा था कि पूज्य गुरुदेवश्री महाप्रयाण कर गए। प्रवचनरत्नाकर का प्रथम भाग गत रक्षाबन्धन के अवसर पर प्रकाशित किया गया था। हम गौरवान्वित है कि दूसरा भाग भी एक वर्ष के अन्दर ही तैयार होकर आपको उपलब्ध कराया जा रहा है। गुजराती प्रवचनरत्नाकर भाग ३ तक के सभी प्रवचन हिन्दी प्रवचनरत्नाकर के दोनो भागो मे सकलित व अनुवादित किए जा चुके हैं। पूज्य गुरुदेवश्री की अनुपस्थिति मे यह ग्रथ प्रकाशित करते हुए मैं यही भावना व्यक्त करता हूँ कि शीघ्र ही उनके सभी प्रवचन प्रकाशित होकर जन-जन के आत्मकल्याण मे निमित्त बने।

प्रथम भाग मे समयसार की शुरू की २५ गाथाओं के एव द्वितीय भाग मे गाथा २६ से गाथा ६८ तक की गाथाओ के प्रवचन सकलित हैं। तृतीय भाग के अनुवाद का कार्य भी प्रारम्भ हो गया है। आशा है, तृतीय भाग भी शीघ्र ही पाठको के समक्ष प्रस्तुत होगा।

ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण हेतु मैं श्री सोहनलालजी जैन व राजमलजी जैन, जयपुर प्रिण्टर्स जयपुर को धन्यवाद दिये बिना नही रह सकता, जिन्होने स्वय रुचि लेते हुये अत्यन्त लगन एव श्रम से ग्रन्थ को इतना सुन्दर और शुद्धरूप प्रदान किया है।

सभी जीव पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी का मर्म समझकर शुद्धात्म-तत्त्व के आश्रयपूर्वक स्वसमयदशा – स्वानभूतिदशा प्रगट करे, व आत्म-कल्याण करे – यही भावना व्यक्त करता हूँ।

– नेमीचन्द पाटनी

मन्त्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

सम्पादक की ओर से

जिन-अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान दिगम्बर परम्परा मे सर्वोपरि है। भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद उन्हे ही स्मरण किया जाता रहा है। दो हजार वर्ष पूर्व लिखे गये आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ दिगम्बर परम्परा के परमागम हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थो पर उनके रहस्य को उद्घाटित करनेवाली अद्भुत टीकाएँ आचार्य अमृतचन्द्र ने आज से लगभग एक हजार वर्ष पहले सस्कृत भाषा मे लिखी थी। यद्यपि उनके अनुवाद भी पण्डित श्री जयचन्दजी छाबडा जैसे विद्वानो द्वारा लिखे गये थे, तथापि इस युग मे उनका प्रचार व प्रसार नगण्य ही था। जनसाधारण की तो बात ही क्या करें, बडे-बडे दिग्गज विद्वान भी उनसे अपरिचित ही थे।

आज जो समयसार जन-जन की वस्तु बना हुआ है – उसका एकमात्र श्रेय पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी को है। उन्होने इस पर आद्योपान्त १६ बार तो सभा मे प्रवचन किए हैं, स्वय ने तो न मालूम कितनी बार गहराई से अध्ययन किया होगा।

इस सन्दर्भ मे पण्डित कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी का कथन दृष्टव्य है। जो कि इसप्रकार है :–

"आज से पचास वर्ष पूर्व तक शास्त्र सभा मे शास्त्र बाँचने के पूर्व भगवान कुन्दकुन्द का नाममात्र तो लिया जाता था, किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार आदि अध्यात्म ग्रथो की चर्चा करनेवाले अत्यन्त विरले थे। आज भी दि० जैन विद्वानो मे भी समयसार का अध्ययन करनेवाले विरले हैं। हमने स्वय समयसार तब पढा, जब श्री कानजी स्वामी के कारण ही समयसार की चर्चा का विस्तार हुआ। अन्यथा हम भी समयसारी कहकर ब्र० शीतलप्रसादजी की हँसी उडाया करते थे। यदि कानजी स्वामी का उदय न हुआ होता तो दिगम्बर जैन समाज मे भी कुन्दकुन्द के साहित्य का प्रचार न होता।"[1]

---

[1] जैन सन्देश, ४ नवम्बर १६७६, सम्पादकीय

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी का हम जैसे उन लाखो लोगो पर अनन्त-अनन्त उपकार है, जिन्होने साक्षात् उनके मुख से समयसार आदि ग्रन्थो पर प्रवचन सुने हैं और समझ मे न आने पर अपनी शकाओ का सहज समाधान प्राप्त किया है ।

आज वे हमारे बीच नही है, पर उनके वे प्रवचन जो उन्होने अपने जीवनकाल मे अनवरत रूप से किये थे, हमे टेपो के रूप मे उपलब्ध हैं। आज वे प्रवचन ही हमारे सर्वस्व है।

यद्यपि पूज्य गुरुदेवश्री के हजारो प्रवचन प्रकाशित रूप मे भी हमे उपलब्ध थे, और हैं भी; फिर भी यह आवश्यकता गुरुदेवश्री की उपस्थिति मे भी निरन्तर अनुभव की जा रही थी कि उनके उपलब्ध समस्त प्रवचन प्रकाशित होने चाहिए। एक तो टेप सबको सहज सुलभ नही होते, दूसरे लम्बे काल तक उनकी सुरक्षा संदिग्ध रहती है। हमारी यह निधि पूर्ण सुरक्षित हो जाने के साथ-साथ जन-जन की पहुँच के भीतर हो जानी चाहिए – इसकारण सम्पूर्ण प्रवचनो के प्रकाशन की आवश्यकता निरन्तर अनुभव की जा रही थी।

परिणामस्वरूप पूज्य गुरुदेवश्री की उपस्थिति मे ही श्री कुन्दकुन्द परमागम प्रवचन ट्रस्ट की स्थापना हुई। उक्त ट्रस्ट ने वडी ही तत्परता से अपना काम आरम्भ किया और वहुत ही कम समय मे 'प्रवचनरत्नाकर' नाम से सर्वप्रथम 'समयसार' परमागम पर १८वी वार हुये प्रवचनो का प्रकाशन आरम्भ किया। चूकि गरुदेवश्री के मूलप्रवचन अधिकाश गुजराती भाषा मे ही हैं, अत· उनका प्रकाशन भी सर्वप्रथम गुजराती भाषा मे ही आरम्भ हुआ। १६ अप्रेल, १९८० ई० को वम्बई (मलाड) मे आयोजित पूज्य गुरुदेवश्री की ९१वी जन्म-जयन्ती के अवसर पर प्रवचनरत्नाकर का प्रथम भाग गुजराती भाषा मे प्रकाशित होकर आ गया था तथा पूज्य गरुदेवश्री को प्रत्यक्षरूप से समर्पित किया गया था।

उसी अवसर पर इसके हिन्दी प्रकाशन की चर्चा आरम्भ हुई। पर्याप्त ऊहापोह के उपरान्त इसके हिन्दी अनुवाद का कार्य पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल को, सम्पादन का कार्य मझे एव प्रकाशन का भार पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर को सौपा गया।

गुरुदेवश्री के मंगल-आशीर्वाद से ही सुगठित अनेक तत्त्वप्रचार सम्बन्धी गतिविधियो के सक्रिय सचालन मे पहले से ही व्यस्त रहने के कारण यद्यपि मैं इस स्थिति मे नही था कि कोई नया भार लूँ, क्योकि

इसकारण मेरा स्वय का अध्ययन, मनन, चिन्तन एव लेखन अवरुद्ध होता है; तथापि गुरुदेवश्री के प्रवचनो का गहराई से अध्ययन करने के इस सुअवसर का लोभ-सवरण मुझसे नही हो सका।

इसके सम्पादन मे मैंने आत्मधर्म के सम्पादन से प्राप्त अनुभव का पूरा-पूरा लाभ उठाया है। आत्मधर्म मे छ वर्ष से लगातार प्रतिमाह गुरुदेवश्री के प्रवचनो के लगभग २०-२२ पृष्ठ तो जाते ही हैं। उनके सम्पादन से गुरुदेवश्री के प्रतिपाद्य और प्रतिपादन शैली से मेरा घनिष्ठ परिचय हो गया है। तथा प्रवचनरत्नाकर भाग १ के सम्पादनकार्य के अवसर पर सम्पादन सम्बन्धी बहुत-कुछ ऊहापोह हो जाने के कारण इसके सम्पादन मे यद्यपि मुझे अधिक श्रम नही उठाना पडा है, तथापि इन दोनो भागो के सम्पादन मे मुझे अभूतपूर्व वचनातीत लाभ मिला है। गुरुदेवश्री के हृदय को अन्तर से जानने का अवसर मिला है। जो लाभ उनकी वाणी को पढने और सुनने से भी सम्भव न हुआ था, वह लाभ इनके सम्पादन से प्राप्त हुआ है। इसका कारण यह है कि उपयोग की स्थिरता जितनी इनके सम्पादन के काल मे रही है, उतनी सहज पढने या सुनने मे नही रहती है। जितनी गहराई मे जाकर पूज्य गुरुदेवश्री ने आचार्य कुन्दकुन्द व आचार्य अमृतचन्द्र के मर्म को खोला है, उतनी गहराई मे उपयोग के न पहुँच पाने से वह मर्म सहज पकड मे नही आता है। अपने इस अनुभव के आधार पर तत्त्वप्रेमी पाठको से पुनः अनुरोध करना चाहूँगा कि वे यदि इस रत्नाकर के रत्न पाना चाहते है तो उपयोग को सूक्ष्म कर, स्थिर कर – इसका स्वाध्याय करे, अन्यथा उनके हाथ कुछ न लगेगा।

इसके सम्पादन मे गुजराती मे प्रकाशित 'प्रवचनरत्नाकर' के मूल माल को अक्षुण्ण रखते हुए कुछ आवश्यक परिवर्तन एव परिवर्द्धन किये गए है। उनका उल्लेख करना इसलिए आवश्यक है कि जिससे गजराती से मिलान करके अध्ययन करनेवाले पाठको को कोई असुविधा न हो।

सर्वप्रथम उल्लेखनीय बात यह है कि गुजराती मे जीवाजीवाधिकार को तीन भागो मे बाँटा गया है, जबकि हिन्दी प्रवचनरत्नाकर मे दो भागो मे ही विभाजित किया गया है। इस विभाजन मे विषयवस्तु को तो ध्यान मे रखा ही गया है, साथ मे यह भी उचित लगा कि इतने विशाल ग्रन्थ का, जो कि अनेक भागो मे प्रकाशित किया जाना है, प्रत्येक भाग लगभग चार सौ पृष्ठो का तो होना ही चाहिए। छोटे-छोटे वाल्यूम बनाने मे विषयवस्तु तो बार-बार टूटती ही है, साथ मे जिल्द का अनावश्यक खर्च भी बढता है।

प्रवचन की भाषा में अनावश्यक टेढे भी बहुत होती है तथा पुनरुक्ति भी बहुत पाई जाती हैं। सामान्य लोगो को भी सरलता से समझ मे आ जाय – इस दृष्टि से जहाँ तक सम्भव हुआ, वाक्यो का गठन सीधा व सरल कर दिया गया है; पर इस प्रक्रिया मे गुरुदेवश्री के प्रवचन की टोन (शैली) समाप्त न हो जावे – इस बात का भी पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। पुनरुक्ति भी कम की गई हैं, पर बहुत कम। जहाँ बहुत अधिक पिष्ट-पेषण था, वहाँ ही कुछ कम किया गया है।

हिन्दी प्रकाशन मे मूलग्रंथ सस्कृत व हिन्दी टीकासहित दिया गया है, जबकि गुजराती मे सस्कृत टीका नही दी गई है। साथ मे हिन्दी पद्यानुवाद भी दिया गया है। और भी छोटी-छोटी बहुतसी बातें हैं, जिनका उल्लेख सम्भव नही है। वे सब अध्ययन करने पर पैनी-दृष्टिवाले पाठको को सहज समझ मे आ जावेंगी।

मैंने इस अनुवाद को मूल से मिलान करके बहुत गहराई से देखा है। इसके मर्म की गहराई को पाने के लिए भी और इसके प्रमाणिक प्रकाशन के लिए भी। फिर भी छद्मस्थो से त्रुटियाँ रह जाना असम्भव नही है। अत सुधी पाठको से सावधानीपूर्वक अध्ययन करने का अनुरोध है।

प्रकाशन सम्बन्धी छोटी-मोटी त्रुटियो की उपेक्षा की अपेक्षा के साथ-साथ सविनय यह अनुरोध है कि यदि कोई भावसम्बन्धी भूल दिखाई दे तो मुझे सुझाने की अनकम्पा अवश्य करे, जिससे आगामी सस्करणो मे आवश्यक सुधार किया जा सके।

–(डॉ०) हुकमचन्द भारिल्ल

शुद्धिपत्र

[नोट – कृपया ग्रन्थ का स्वाध्याय प्रारम्भ करने के पूर्व निम्नलिखित अशुद्धियाँ अवश्य ठीक कर लें।]

पष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८९	६	अध्यात्म का	अध्यात्म के
२१३	२२	निदृचै	निहचै
२१४	२०	नकला	निकला
२७१	३०	उत्पन्न होते	उत्पन्न नही होते
२९१	२८	ज्ञायिकभाव	ज्ञायकभाव
३४०	१५	ही ही	ही हो

अनुवादक की ओर से

जब परमपूज्य आचार्यों के आध्यात्मिक ग्रन्थो पर हुए पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के गूढ, गम्भीर, गहनतम, सूक्ष्म और तलस्पर्शी प्रवचनो का गुजराती से हिन्दी भाषा मे अनुवाद करने के लिए मुझसे कहा गया तो मैं असमजस मे पड गया। मेरी स्थिति साँप-छछूँदर जैसी हो गई। मैंने कभी यह सोचा ही नही था कि यह प्रस्ताव मेरे पास भी आ सकता है।

अब एक ओर तो मेरे सामने यह मगलकारी, भवतापहारी, कल्याणकारी, आत्मविशुद्धि मे निमित्तभूत कार्य करने का स्वर्ण अवसर था, जो छोड़ा भी नही जा रहा था, तो दूसरी ओर इस महान कार्य को आद्योपान्त निर्वाह करने की वडी भारी जिम्मेदारी। मेरी दृष्टि मे यह केवल भाषा परिवर्तन का सवाल ही नही था, वल्कि आगम के अभिप्राय को सुरक्षित रखते हुए, गुरुदेवश्री की सूक्ष्म कथनी के भावो का अनुगमन करते हुए, प्राजल हिन्दी भाषा मे, उसकी सहज व सरल अभिव्यक्ति होना मैं आवश्यक मानता था। अन्यथा थोडी सी चूक मे ही अर्थ का अनर्थ भी हो सकता था।

इन सव वातो पर गम्भीरता से विचार करके तथा दूरगामी आत्म-लाभ के सुफल का विचार कर, प्रारभिक परिश्रम और कठिनाइयो की परवाह न करके 'गुरुदेवश्री के मगल आशीर्वाद से सब अच्छा ही होगा' – यह सोचकर अन्ततोगत्वा मैंने इस काम को अपने हाथ मे ले ही लिया। इस कार्यभार को सभालने मे एक सवल यह भी था कि इस हिन्दी प्रवचन-रत्नाकर ग्रन्थमाला के प्रकाशन का कार्य प० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर ने ही सभाला था और सम्पादन का कार्य डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल को सौपा जा रहा था।

यद्यपि गुजराती भाषा पर मेरा कोई विशेष अधिकार नही है, तथापि पूज्य गरुदेवश्री के प्रसाद से उनके गुजराती प्रवचन सुनते-सुनते एव उन्ही के प्रवचनो से सम्वन्धित सत्साहित्य पढते-पढते उनकी शैली और भावो से सुपरिचित हो जाने से मुझे इस अनुवाद मे कोई विशेष कठिनाई

नहीं हुई। जहाँ कही गुजराती भाषा का भाव समझ मे नही आया, वहाँ अपने अनुज डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल से परामर्श करके गुजराती भाषा के भाव को स्पष्ट करता रहा हूँ।

मैं अनुवाद करते समय इसलिए भी निश्चिन्त रहा कि सम्पादन का कार्य एक ऐसी प्रतिभा को सौपा गया है, जिसके द्वारा सारा विषय हर दृष्टि से छन-छन कर ही पाठको तक पहुँचनेवाला है।

इस अनुवाद से मुझे जो आशातीत लाभ मिला है, उसे मैं व्यक्त नही कर सकता। पूज्य गुरुदेवश्री के अभिप्राय को तथा समयसार के गम्भीर रहस्यो को 'जो गुरुदेवश्री ने खोले हैं' – उन्हे गहराई से समझने का अवसर मिला। गुरुदेवश्री के माध्यम से भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य और अमृतचन्द्राचार्यदेव के सूक्ष्म भावो तक पहुँचने मे सहायता मिली। इस काम मे अत्यधिक आत्म-सन्तोष मिला, आनन्द भी आया; अत: यह कार्य भारभूत न होकर स्वान्त सुखाय बन गया। आत्मशान्ति व सन्तोष ही गुरुदेवश्री का परम प्रसाद है और यही जिनवाणी की सेवा का सुफल है।

अनुवाद मे गुरुदेवश्री के अभिप्राय को अक्षण्ण रखा गया है। प्रवचनों का अनुवाद मुख्यतः शाब्दिक है, किन्तु हिन्दी वाक्यविन्यास की दृष्टि से वाक्यो का गठन हिन्दी भाषा के अनुरूप करने का प्रयत्न रहा है तथा अति आवश्यक यत्किञ्चित् परिवर्तन भी हुए हैं, किन्तु उनसे विषय-वस्तु और भावो मे कही कोई अन्तर नही आया है। जब पाठक धारा-प्रवाहरूप से इसका अध्ययन करेंगे तो भाषा की दृष्टि से भी उन्हे साहित्यिक गद्य का आनन्द आयेगा और विषयवस्तु को समझने मे भी सुगमता रहेगी।

यद्यपि इसके अनुवाद मे मैंने पूर्ण सतर्कता एव सावधानी से काम किया है, फिर भी **'को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे'** की लोकोक्ति के अनुसार कही स्खलना हुई हो तो मेरा ध्यान आकर्षित करने का सानुरोध आग्रह है।

सभी पाठकगण इस ग्रन्थ का पुन पुन पारायण करके पूरा-पूरा लाभ उठायेंगे – ऐसी आशा एव अपेक्षा के साथ विराम लेता हूँ।

–रतनचन्द भारिल्ल

विषय-सूची

हमारे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

क्र०	प्रकाशन		रु० पै०
१	मोक्षमार्गप्रकाशक		७ – ००
२	जयपुर (खानियाँ) तत्त्वचर्चा भाग १ व २		अप्राप्य
३	पंडित टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व		अप्राप्य
४	प्रवचनरत्नाकर भाग १		१० – ००
५.	प्रवचनरत्नाकर भाग २		१० – ००
६	श्री सिद्धचक्र विधान		अप्राप्य
७	जिनवरस्य नयचक्रम् (हिन्दी)	साधारण	४ – ००
		सजिल्द	५ – ००
८	क्रमबद्धपर्याय (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड, तमिल)	साधारण	२ – ५०
		सजिल्द	३ – ५०
९	धर्म के दशलक्षण (हिन्दी, गुजराती मराठी, कन्नड, तमिल, अंग्रेजी)	साधारण	४ – ००
		सजिल्द	५ – ००
१०	तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ (हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी, कन्नड)		६ – ००
११	सत्य की खोज [कथानक] (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड, तमिल)		४ – ००
१२.	मैं कौन हूँ ?		१ – २५
१३	युगपुरुष श्री कानजी स्वामी (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड, तमिल)		२ – ००
१४	आचार्य अमृतचन्द्र और उनका पुरुषार्थसिद्ध्युपाय		३ – ००
१५.	पंडित टोडरमल जीवन और साहित्य		० – ६५
१६	वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका		४ – ००
१७	तीर्थंकर भगवान महावीर (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड, असमी, तेलगु, अंग्रेजी)		० – ५०
१८	वीतरागी व्यक्तित्व · भगवान महावीर (हिन्दी, गुजराती)		० – २५
१९	गोम्मटेश्वर बाहुबली		० – ४०
२०.	चैतन्य चमत्कार		१ – ००
२१.	अर्चना (पूजन संग्रह)		० – ४०
२२	बालबोध पाठमाला भाग १ (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड, तमिल)		० – ५०
२३	बालबोध पाठमाला भाग २ (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड, तमिल)		० – ८५
२४	बालबोध पाठमाला भाग ३ (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड, तमिल)		० – ८५
२५	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग १ (हिन्दी, गुजराती, मराठी)		० – ७०
२६	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग २ (हिन्दी, गुजराती, मराठी)		१ – ००
२७	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग ३ (हिन्दी, गुजराती, मराठी)		१ – ००
२८	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १ (हिन्दी, गुजराती)		१ – २५
२९	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग २ (हिन्दी, गुजराती)		१ – ४०
३०	सुन्दरलेख बालबोध पाठमाला भाग १		० – ५०
३१	वीर हिमाचल तैं निकसी		१ – ००
३२	महावीर वंदना (कैलेंडर)		० – ५०
३३	मैं ज्ञानानंद स्वभावी हूँ (कैलेंडर)		० – ५०

द्वारा प्रकाशित साहित्य भी हमारे यहाँ उपलब्ध है।

प्रवचन-रत्नाकर

[भाग २]

समयसार गाथा २६

अथाहाप्रतिबुद्ध :-

जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरियसंथुदी चेव ।
सव्वा वि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो ।।२६।।

यदि जीवो न शरीरं तीर्थकराचार्यसस्तुतिश्चैव ।
सर्वापि भवति मिथ्या तेन तु आत्मा भवति देहः ।।२६।।

यदि य एवात्मा तदेव शरीरं पुद्गलद्रव्यं न भवेत्तदा –

(शार्दूलविक्रीडित)

कांत्यैव स्नपयंति ये दशदिशो धाम्ना निरुंधंति ये
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णंति रूपेण ये ।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरंतोऽमृतं
वंद्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः ।।२४।।

अब अप्रतिबुद्ध जीव कहता है उसकी गाथा कहते हैं :-

जो जीव होय न देह तो, आचार्य वा तीर्थेश की ।
मिथ्या बने स्तवना सभी, सो एकता जीव-देह की ! ।।२६।।

गाथार्थ :- अप्रतिबुद्ध जीव कहता है, कि – [यदि] यदि [जीवः] जीव [शरीरं न] शरीर नही है तो [तीर्थंकराचार्यसंस्तुतिः] तीर्थंकरो और आचार्यों की जो स्तुति की गई है वह [सर्वा अपि] सभी [मिथ्या भवति] मिथ्या है, [तेन तु] इसलिये हम (समझते हैं कि) [आत्मा] जो आत्मा है वह [देहः च एव] देह ही [भवति] है ।

टीका :- जो आत्मा है, वही पुद्गल द्रव्यस्वरूप यह शरीर है । यदि ऐसा न हो तो तीर्थंकरो और आचार्यों की जो स्तुति की गई है, वह सब मिथ्या सिद्ध होगी । वह स्तुति इसप्रकार है :-

श्लोकार्थ : – [ते तीर्थेश्वराः सूरयः वन्द्याः] वे तीर्थंकर और आचार्य वन्दनीय हैं । कैसे हैं वे ? [ये कान्त्या एव दशदिशः स्नपयन्ति] अपने शरीर की काति से दसो दिशाओ को धोते हैं – निर्मल करते हैं,

इत्यादिका तीर्थंकराचार्यस्तुतिः समस्तापि मिथ्या स्यात्। ततो य एवात्मा तदेव शरीरं पुद्गलद्रव्यमिति ममैकांतिकी प्रतिपत्तिः।

[**ये धाम्ना उद्दाम–महस्विनां धाम निरुन्धन्ति**] अपने तेज से उत्कृष्ट तेजवाले सूर्यादि के तेज को ढक देते है, [**ये रूपेण जनमनः मुष्णन्ति**] अपने रूप से लोगो के मन को हर लेते है, [**दिव्येन ध्वनिना श्रवणयोः साक्षात् सुखं अमृतं क्षरन्तः**] दिव्यध्वनि से (भव्यो के) कानो मे साक्षात् सुखामृत बरसाते हैं और वे [**अष्टसहस्रलक्षणधराः**] एक हजार आठ लक्षणो के धारक हैं ।।२४।।

– इत्यादि रूप से तीर्थंकरो व आचार्यो की जो स्तुति है, वह सब ही मिथ्या सिद्ध होती है। इसलिये हमारा तो यही एकान्त निश्चय है कि जो आत्मा है वही शरीर है, पुद्गलद्रव्य है। इसप्रकार अप्रतिबुद्ध ने कहा।

गाथा २६, उसकी टीका एवं कलश २४ पर प्रवचन

अप्रतिबुद्ध अर्थात् अज्ञानी जीव कहता है कि हे प्रभु! यदि शरीर ही जीव नही है तो आप तीर्थंकर और आचार्यों की जो स्तुति करते हैं, क्या वह मिथ्या सिद्ध नही होगी? 'भगवान का रूप-रग ऐसा था, उनकी दिव्यध्वनि ऐसी थी, उनका आकार-प्रकार ऐसा था' जब आप स्वय भगवान की स्तुति मे ऐसा कहते हैं तब इस कथन से तो मैं ऐसा समझता हूँ कि जो शरीर है, वह आत्मा ही है। यद्यपि यहाँ आप वजन देकर यह कहते हैं कि शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु मैं तो शास्त्राधार-पूर्वक यह बात कह रहा हूँ कि शरीर और आत्मा एक हैं।

'पुद्गलद्रव्यस्वरूप यह शरीर ही आत्मा है' अर्थात् शरीर और आत्मा – दोनो एक ही है। और आप यहाँ दोनों को जुदा-जुदा कहते हो, सो यह बात मुझे बैठती नही है, क्योकि यदि ऐसा नही हो तो तीर्थंकरो व आचार्यों की जो स्तुति की गई है, वह सब मिथ्या सिद्ध होगी।

महाराज तुम कहते हो कि शरीर और आत्मा दोनो जुदे-जुदे हैं, किन्तु तुम्हारे ही शास्त्र मे शरीर की स्तुति से भगवान की स्तुति की गई हैं। इसप्रकार अज्ञानी ने शास्त्र मे से आधार निकाला है, उसने शास्त्र का प्रमाण प्रस्तुत किया है। वह कहता है जब आप भगवान के शरीर की स्तुति करके भगवान की स्तुति मानते हो, तब यह कैसे कहते हो कि 'शरीर और आत्मा अलग-अलग हैं'? यदि आपका यह कथन सत्य है तो आचार्यों द्वारा की गई स्तुति सत्य कैसे हो सकती है? मिथ्या ही सिद्ध होगी।

अपनी बात की पुष्टि मे अज्ञानी जीव शरीर के आधार पर तीर्थंकरो व आचार्यो की स्तुति की बानगी भी प्रस्तुत करता है, जो इस प्रकार है –

"कान्त्यैव स्नपयन्ति ये दशदिशो धाम्ना निरुंधन्ति ये,
धामोद्दाम महस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये।
दिव्येन ध्वनिना सुख श्रवणयोः साक्षात्क्षरन्तोऽमृत,
वद्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वरा सूरयः ॥२४॥

वे तीर्थंकर-आचार्य वदना करने योग्य है जो कि अपने शरीर की कान्ति से दशो दिशाओ को धोते है, निर्मल करते है। अपने तेज से उत्कृष्ट तेजवाले सूर्यादि के तेज को भी ढक देते हैं, अपने रूप से जन-जन के मन को मोह लेते है, हर लेते है। अपनी दिव्यध्वनि से भव्य जीवो के कानो मे साक्षात् सुखामृत की वर्षा करते हैं। तथा एक हजार आठ लक्षणो को धारण करते हैं।"

ये सब लक्षण तो शरीर के हैं और तुम इसे चैतन्यभगवान की स्तुति कहते हो। यदि तुमने शरीर को ही आत्मा नही माना तो जिसे तुम तीर्थंकर-आचार्यों की स्तुति कहते हो, वह सब मिथ्या सिद्ध होगी। अत हमारा तो यही एकान्त मत है कि जो शरीर है वही आत्मा है।

यहाँ शिष्य का प्रश्न है कि तुम कहते हो कि शरीर और आत्मा सर्वथा जुदा हैं। परन्तु यह बात हमे बिल्कुल नही जमती, क्योकि तुम तीर्थंकर की स्तुति करते हो तब उनके शरीर की और वाणी की ही स्तुति करते हो। जैसे कि देह के रूप के प्रकाश मे सूर्य का तेज भी छुप जाता है और जिनकी दिव्यध्वनि से भव्यो के कानो मे साक्षात् सुखामृत बरसता है, इत्यादि। यह सब किसकी स्तुति है ? शरीर की ही न ! इससे ऐसा ही तो सिद्ध हुआ कि शरीर और आत्मा एक हैं। जो देह और आत्मा एक न हो तो तुम्हारी की हुई यह स्तुति मिथ्या सिद्ध होती है। इसलिए देह और आत्मा एक ही हैं – ऐसा हमारा निश्चय है।

यहाँ शिष्य परमार्थ को भूलकर केवल व्यवहार को पकडकर बैठा है और शास्त्र की बात सुनकर अपने को शास्त्राभ्यासी मानकर ऐसा कुतर्क करता है। उसे समझाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि शरीर और आत्मा एक ही स्थान पर रहते है, इसलिए शास्त्रो मे निमित्त से कथन है कि भगवान का शरीर ऐसे वर्ण का है और उनकी वाणी ऐसी है। भाई ! यह सब व्यवहारनय का कथन है। यदि जिनवाणी को समझना चाहते हो तो नयविभाग को समझना आवश्यक है।

शास्त्रो मे एक स्थान पर मुनियो के लिए ऐसा कहा गया है कि मुनि को ईर्यासमितिपूर्वक देखकर चलना चाहिए और दूसरी जगह यह कहा गया है कि यदि यह मानेगा कि शरीर की क्रिया मैं करता हूँ, जड की क्रिया चेतन कर सकता है तो महामिथ्यादृष्टि कहलायेगा, अरे एक डग भी तो उठाना तेरे हाथ की बात नही है।

जहाँ यह कहा है कि देखकर ईर्यासमितिपूर्वक चलना चाहिए, वहाँ यह समझना चाहिए कि जव आत्मा अपने निर्विकार शुद्धस्वभाव मे सम्पूर्णत स्थिर न रह सके तब अशुभभावो को दूर करने के लिए शुभभाव करना और जब शुभभाव हो अर्थात् परजीवो को दुख न देने के भाव हो, तब शरीर की क्रिया ऐसी नही होती कि दूसरे जीव को दु ख पहुँचे। ऐसा सहज निमित्त-नैमित्तिक सबन्ध होता है।

तथा कोई ऐसा कहता है कि जो शरीर और आत्मा एक ही न हो तो शरीर मे जो रोग आते हैं, उसका वेदन आत्मा क्यो करता है ? तथा हलना, चलना इत्यादि शरीर की क्रिया कौन करता है ?

उसका समाधान करते हुए आचार्य कहते है कि भाई ! यह आत्मा शरीर के रोग का वेदन नही करता, किन्तु शरीर का लक्ष्य करके अपने राग का वेदन करता है। शरीर की क्रिया तो जड की क्रिया है, आत्मा वह क्रिया नही करता। तथा जिन कर्मों के निमित्त से यह शरीर की क्रिया होती है, उन जडकमो का भी आत्मा अनुभव नही करता, क्योंकि जड और चैतन्य के बीच अत्यन्ताभाव है। इसलिए आत्मा को जडकर्मों का अनुभव नही होता, किन्तु इनके निमित्त से हुए मिथ्यात्व और राग-द्वेष का ही अनुभव होता है।

तथा सप्रदाय (स्थानकवासी) मे तो शरीर और आत्मा अत्यन्त भिन्न हैं – ऐसा स्पष्ट लेख ही नही है, वहाँ ऐसी शैली ही नही है। वे तो ऐसा मानते है कि हम ब्रह्मचर्य पालते है, परजीवो की रक्षा करते है, सयम पालते है। उनकी समझ से यह सब आत्मा करता है, परजीव की हिंसा नही करना, परजीवो को बचाना – यह 'अहिंसा परमोधर्म' है और यही सब सिद्धातो का सार है। वे और भी कहते है कि इतना जिसने जान लिया उसने सब कुछ जान लिया।

परन्तु यहाँ तो यह कहते है कि परजीव की हिंसा व अहिंसा यह जीव कर ही नही सकता। समयसार के बध अधिकार मे आता है – 'पर को मैं मार सकता हूँ, जिला सकता हूँ, उन्हे सुख-दु ख दे सकता हूँ, आहार-

पानी वगैरह मैं ले सकता हूँ और छोड सकता हूँ, पर से मैं जीवित हूँ, सब रक्षा करने वाले हैं, इसकारण मैं जीवित हूँ।' ऐसी मान्यता जिनकी है, वे सब मिथ्यादृष्टि हैं, क्योकि जीव का जीवन-मरण उसके आयुकर्म के आधीन है तथा परवस्तु को आत्मा न ग्रहण कर सकता है न छोड सकता है।

प्रवचनसार गाथा १७२ के २० बोलो मे १३वाँ वोल है, उसमे आता है कि पाँच इन्द्रियाँ, तीन वल, स्वासोच्छ्वास और आयु — इन दस प्राणो से जीव का जीवन है ही नही। निश्चय से जीव का जीवन ज्ञान-दर्शनरूप चैतन्यप्राणो से है। अशुद्धनिश्चय से कहा जाय तो भावेन्द्रियो से जीता है। तथा जड़-दसप्राणो से जीवन है, ऐसा जो शास्त्र मे लिखा है, वह तो असद्भूतव्यवहारनय का कथन है।

यह जो एक-एक रजकण है, इनमे अनन्तशक्तियाँ हैं, गुण हैं। इन शक्तियो मे क्रियावती नाम की एक शक्ति — गुण है। इस शरीर, मन, वाणी का जो हलन-चलन होता है, यह तो रजकणो की क्रियावती शक्ति के कारण है, आत्मा के कारण नही। (उगली को हिलाकर वताते हुए) इस उगली को आत्मा तीनकाल मे नही हिला सकता। यह तो अपने रजकणो की क्रियावती शक्ति के कारण हिलती है। जड का हिलना जड के अस्तित्व मे तथा चेतन का हिलना चेतन के अस्तित्व मे है। भाई ! यह तो मूल वात है। जड और चेतन — दोनो का स्वभाव प्रगट भिन्न-भिन्न है। यहाँ तो यह कहते है कि राग व दया दान के जो विकल्प उठते है, उनका कर्त्ता भी अज्ञानी जीव होता है। यह ज्ञानस्वरूप आत्मा इन विकारो को कैसे करे ? यह चैतन्यज्ञानस्वरूपी भगवान तो ज्ञाता-दृष्टाभाव से भरा हुआ है। यह पर को कैसे मारे और कैसे जिलावे ? यह राग को कैसे करे ? आत्मा मे विकार करने की तो कोई शक्ति ही नही है, ऐसा कोई गुण नही है, जो विकार करे। जो पर्याय मे विकार होता है, वह तो पर्याय की स्वय की योग्यता से पर्याय मे होता है, कर्म से भी नही होता तथा द्रव्य-गुण से भी नही होता। भाई ! सूक्ष्म वात है। इस जीव ने वीतराग मार्ग को अनतकाल से समझा ही नही।

तथा कोई ऐसा कहते है कि शास्त्र मे कुन्दकुन्दाचार्य ने पुण्य को व्यवहारधर्म कहा है और व्यवहार को साधन कहा है। वे कहते है कि 'पुण्णफला अरहता' अर्थात् पुण्य के फल मे अर्हन्तपद मिलता है। परन्तु यह सव अज्ञानी की मिथ्या मान्यताये है। पुण्य का फल अर्हन्त पद है ही

नहीं । वहाँ तो पुण्य के फल से अरहत के बाह्य अतिशयो की प्राप्ति की बात ली है ।

प्रवचनसार की ४५वी गाथा मे 'पुण्यफला अरहता' पद आता है । उसकी उत्थानिका को ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है । उसमे तो यह लिखा है कि पुण्य का विपाक भगवान को अकिंचित्कर है – बात तो ऐसी है । गाथा के शीर्षक मे **"तीर्थकृतां पुण्यविपाकोऽकिंचिकर एव"** 'पुण्य का विपाक अकिंचित्कर है' – ऐसा कहा है । आत्मा को पुण्य का फल कुछ भी कार्यकारी नही है ।

अरहत के जो देहादि की क्रिया, वाणी का निकलना, चलना-इत्यादि क्रियाये है, वे पुण्य के फलरूप है और इनका भी क्षण-क्षण मे क्षय होता जाता है । भाई ! वहाँ तो ऐसा कहा है कि भगवान ने तो अपने पुरुषार्थ से केवलज्ञान पाया है । और जो पुण्य शेष रहता है, उस पुण्य के कारण आसन, विहार होता है तथा वाणी निकलती है, ये सब जो औदयिकी क्रियाऐ है, वे क्षण-क्षण मे नष्ट होती जाती है, इससे उन्हे क्षायिकी क्रियाऐ कहा है । वहाँ तो ऐसी बात आती है । 'पुण्णफला अरहता' का अर्थ पुण्य के फल मे अरहत पद मिलता है – ऐसा है ही नही ।

इस पर भी लोग ऐसा उल्टा अर्थ करते है, इसके लिए कोई क्या करे ?

इसप्रकार अज्ञानी ने शास्त्र के व्यवहार कथनो को पकड़कर आत्मा और शरीर के एकत्व-सम्बन्धी जो उल्टी बात निकाली थी, आचार्य भगवान ने उसका निषेध किया और कहा कि तू व्यवहारनय के कथन को समझता नही है । तू नयविभाग नही जानने से ऐसी बात करता है ।

वह नयविभाग किसप्रकार है – यह अगली गाथा मे स्पष्ट करेंगे ।

नैवं, नयविभागानभिज्ञोसि—

ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु एक्को ।
ण दु णिच्छयस्य जीवो देहो य कदा वि एक्कट्ठो ॥२७॥

व्यवहारनयो भाषते जीवो देहश्च भवति खल्वेकः ।
न तु निश्चयस्य जीवो देहश्च कदाप्येकार्थः ॥२७॥

इह खलु परस्परावगाढावस्थायामात्मशरीरयोः समवर्तितावस्थायां कनककलधौतयोरेकस्कधव्यवहारवद्व्यवहारमात्रेणैवैकत्व न पुर्नानिश्चयतः,

---

आचार्यदेव कहते है कि ऐसा नही हैं, तू नयविभाग को नही जानता। जो नयविभाग इसप्रकार है, उसे गाथा द्वारा कहते है :—

जीव देह दोनो एक हैं, यह वचन है व्यवहार का ।
निश्चयविषै तो जीव-देह, कदापि एक पदार्थ ना ॥२७॥

गाथार्थ .—[व्यवहारनयः] व्यवहारनय तो [भाषते] यह कहता है कि [जीवः देहः च] जीव और शरीर [एकः खलु] एक ही [भवति] है, [तु] किन्तु [निश्चयस्य] निश्चयनय के अभिप्राय से [जीवः देहः च] जीव और शरीर [कदा अपि] कभी भी [एकार्थ] एकपदार्थ [न] नही है।

टीका:—जैसे इस लोक मे सोने और चाँदी को गलाकर एक कर देने से एक पिण्ड का व्यवहार होता है, उसीप्रकार आत्मा और शरीर की परस्पर एक क्षेत्र मे रहने की अवस्था होने से एकपने का व्यवहार होता है। यो व्यवहारमात्र से ही आत्मा और शरीर का एकपना है, परन्तु निश्चय से एकपना नही है, क्योकि निश्चय से देखा जाये तो जैसे पीलापन आदि और सफेदी आदि जिसका स्वभाव है, ऐसे सोने और चाँदी मे अत्यन्त भिन्नता होने से उनमे एकपदार्थपने की असिद्धि है, इसलिये अनेकत्व ही है। इसीप्रकार उपयोग और अनुपयोग जिनका स्वभाव है, ऐसे आत्मा और शरीर मे अत्यन्त भिन्नता होने से एकपदार्थपने की असिद्धि हैं, इसलिये अनेकत्व ही है। ऐसा यह प्रगट नयविभाग है। इसलिये व्यवहारनय से ही शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन होता है।

निश्चयतो ह्यात्मशरीरयोरुपयोगानुपयोगस्वभावयोः कनककलधौतयोः पीतपांडुरत्वादिस्वभावयोरिवात्यंतव्यतिरिक्तत्वेनैकार्थत्वानुपपत्तेः नानात्वमेवेति । एवं हि किल नयविभागः । ततो व्यवहारनयेनैव शरीरस्तवनेनात्मस्तवनमुपपन्नम् ।

भावार्थ :—व्यवहारनय तो आत्मा और शरीर को एक कहता है और निश्चयनय से भिन्न है । इसलिए व्यवहारनय से शरीर का स्तवन करने से आत्मा का स्तवन माना जाता है ।

गाथा २७ की उत्थानिका, गाथा व उसकी टीका पर प्रवचन

अप्रतिवुद्ध ने तीर्थंकरो व आचार्यों की स्तुति के आधार पर यह कहा था कि हमारा तो यही निश्चय है कि शरीर ही आत्मा है । उसे समझाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि भाई, ऐसी वात नही है । तू नयविभाग को नही जानता है—इसलिए ऐसी वात करता है ।

वह नयविभाग किस प्रकार है—यह वात इस २७वी गाथा मे बताई गई है ।

यह उत्थानिका हुई । अब गाथा का अर्थ कहते हैं । व्यवहारनय कहता है जीव और देह एक ही है । किन्तु निश्चयनय कहता है कि जीव और देह कदापि एक नही हो सकते हैं ।

अब इसी वात को टीका मे उदाहरण देकर विस्तार से समझाते है ।

जिसप्रकार लोक मे सोने और चाँदी को गलाकर एक करने से एकपिण्ड का व्यवहार होता है, उसीप्रकार आत्मा और शरीर के परस्पर एकक्षेत्र मे रहने के कारण उनमे एकपने का व्यवहार होता है । देखो, सोना व चाँदी को गलाकर एक करने पर उसे सफेद सोना कहते हैं । किन्तु सफेद तो चाँदी है, सोना तो पीला है, दोनो जुदे-जुदे हैं । उसी प्रकार आत्मा चैतन्यलक्षणवाला है और शरीर अचेतनलक्षणवाला है । इसप्रकार दोनो जुदे-जुदे हैं ।

कर्म के रजकण कर्म की पर्याय को करते हैं, आत्मा कर्म की पर्याय को नही करता । तथा कर्म की पर्याय आत्मा को राग नही करानी है । अहाहा ! स्वतत्र परमाणु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मे अपने अस्तित्व से रहते है । ये पर के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मे प्रवेश किये विना पर को किसप्रकार कर सकते है ? इसीलिए तो कहा है कि आत्मा और शरीर एक है—यह तो व्यवहार का कथन मात्र है । इसीप्रकार

मात्र व्यवहार से ही आत्मा और शरीर का एकपना कहने मे आता है। दोनो एक क्षेत्र मे रहते हैं, इस अपेक्षा से असद्भूतव्यवहारनय से एक है – ऐसा कहते हैं, परन्तु निश्चय से एकपना नही है।

निश्चय से विचार करें तो जैसे पीलापना आदि तथा सफेदपना आदि जिसका स्वभाव है – ऐसे स्वर्ण और चाँदी के अत्यन्त भिन्नपना होने से एक पदार्थपने की असिद्धि है। देखो ! सोने और चाँदी का भिन्न-भिन्न स्वभाव है, इसकारण निश्चय से सोना और चाँदी एक नही है। अरे ! सोने के एक-एक रजकरण का दूसरे रजकरण से सबध नही है। परमाणु अकेला हो तो भी अपने स्वचतुष्टय (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव) मे है और स्कन्ध मे हो तो भी अपने स्वचतुष्टय मे है। प्रवचनसार ८७ मे कहा है कि स्कन्ध मे भी जो अनन्त रजकरण है, वे प्रत्येक रजकरण स्वतत्र हैं। एक-एक रजकरण अपने स्वचतुष्टय मे है, एक रजकरण दूसरे रजकरण के साथ अभेद नही है। अनतरजकरण अनततत्त्व है। वे प्रत्येक स्वपने रहे और परपने नही रहे तब अनतपने रह सकते है। अनत की अनतता का अस्तित्व सिद्ध करे तो प्रत्येक अपने मे है और पर मे नही है, इसप्रकार प्रत्येक की भिन्न-भिन्न स्वसत्ता (स्वरूप-अस्तित्व) सिद्ध हो जाती है। भाई ! पर से इसमे होता है और इससे पर मे होता है – ऐसा माने तो अनत की भिन्न-भिन्न सत्ता सिद्ध नही होती।

क्षेत्र से क्षेत्रान्तर होनेवाला प्रत्येक रजकरण स्वय की क्रियावतीशक्ति के कारण क्षेत्रान्तर होता है, दूसरे रजकरण के कारण नही और आत्मा के कारण भी नही। ऐसा वस्तुस्वरूप है। वस्तु पर से भेदरूप है, भिन्न है। सोने और चाँदी के अत्यन्त भिन्नपना होने से उनके एकपदार्थपने की असिद्धि है, इसकारण अनेकपना है। देखो, अनत अनतपने हैं, इसलिए एक का दूसरे के साथ कोई सवव नही है। सोना और चाँदी दो है न ? ये दोनो अपने-अपनेपने से है, दो एक नही हुए, इसलिए अनेक है। भाई ! एक स्कन्ध मे अनेक रजकरण हैं, उसमे प्रत्येक रजकरण तथा एक निगोद के शरीर मे अनतजीव हैं, उनमे प्रत्येक जीव अपने स्वचतुष्टय (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव) को छोडकर दूसरे के चतुष्टय मे नही जाते। सभी अनतपने रह रहे है, एकरूप नही हुए। भाई ! वस्तुस्वरूप ही ऐसा है। वीतराग-मार्ग वहुत सूक्ष्म है, भाई !

अज्ञानी जीव तो ऐसा मानता है कि शरीर से दया पलती है, शरीर से सयम होता है, शरीर से उपवास होता है, आत्मा हो तो शरीर की

क्रिया होती है, शरीर के दु ख का आत्मा वेदन करता है। इसलिए शरीर और आत्मा एक है। भाई ! यह मान्यता अज्ञानी जीव की है। इन सब क्रियाओ मे राग मन्द हो, शुभ क्रिया हुई हो तो पुन्य हो। किन्तु इस शरीर की क्रिया से, आहार छोड़ने से या शुभक्रिया से धर्म माने तो यह मिथ्यात्व भाव है। भाई ! आत्मा मे ग्रहण-त्याग की शक्ति ही नही है। आत्मा मे त्याग-उपादान शून्यत्व शक्ति है। इसलिए पर का त्याग और पर का ग्रहण आत्मा कर ही नही सकता। तो फिर वह परद्रव्य को किसप्रकार ग्रहण करे व छोडे ? सम्प्रदाय (स्थानकवासी) मे तो यह बात मिलती ही नही है।

एक आत्मा दूसरे आत्मा के चतुष्टय से भिन्न है। उसीतरह एक रजकरण दूसरे रजकरण के चतुष्टय से भिन्न है। सप्तभगी में पहला भग ऐसा है कि वस्तु स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तिरूप है और परद्रव्य-क्षेत्र-काल भाव से नास्तिरूप है।

प्रश्न :– व्यवहारनय से तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता है न ?

उत्तर :– कदापि नही, मात्र कर्त्ता कहा जाता है। निश्चय से या व्यवहार से किसी भी प्रकार से कोई पर का कार्य कर ही नही सकता। जैसे – हमारा देश हमारा गाँव – ऐसा बोलते हैं, किन्तु इससे गाँव और देश क्या उसका हो गया ?[1]

श्रीमद्राजचदजी ऐसा बोलते थे कि – अमारा कोट, अमारी टोपी, अमारा घर इत्यादि। पर लोग उनका भाव समझ नही पाते थे, तो उन्हे ऐसा लगता था कि यह क्या बोलते है ? 'अ' अर्थात् नही, 'अ-मारो' अर्थात् मेरा नही – ऐसा भाव उस कथन मे था। किन्तु समझने की किसको पडी है ? ठीक इसीतरह यह आत्मा अनतकाल से पर को निज मानकर तथा निज के स्वरूप को भूलकर रखड रहा है, भव मे भटक रहा है। श्रीमद्जी कहते हैं कि "तेरे दोष से तेरा रखडना हो रहा है। तेरा दोष इतना है कि पर को अपना मानकर भूला है।" यह उनकी सक्षिप्त भाषा है। अर्थात् कर्मों ने तुझे रुलाया नही है, रखडाया नही है। पूजा मे आता है :–

कर्म विचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई।
अग्नि सहे घनघात, लोह की संगति पाई।।

---

[1] समयसार के सर्वविशुद्धिज्ञान अधिकार, गाथा ३२५ मे यह बात आती है।

जिसप्रकार लोहे का सग अग्नि करे तो अग्नि पर घन पडते हैं, उसीप्रकार आत्मा स्वय पर का सग करता है तो रागादिक होते हैं, दुख के घन पडते हैं; पर के कारण नही ।

यहाँ यह कहते है कि सोने और चाँदी के रजकरण भिन्न-भिन्न हैं, अनेकपने है । सोने को सफेद कहना तो कथन मात्र है, वस्तु ऐसी है नही । उसीप्रकार उपयोग और अनुपयोग जिसका स्वभाव है, ऐसा आत्मा और शरीर के अत्यन्त भिन्नपना होने से एकपदार्थपने की प्राप्ति नही है, इससे अनेकपना ही है । अहाहा ! ज्ञायकस्वभावी आत्मा नित्य-उपयोग स्वरूप वस्तु-तत्त्व है । यह अनादि-अनत-अस्तित्ववाली सत्यार्थ परमार्थ वस्तु है । आत्मा अनतज्ञान, अनतदर्शन, अनत-आनद, अनतशान्ति, अनन्तस्वच्छता, अनत-ईश्वरता – ऐसे अनत-अनत गुणो के अस्तित्व के स्वभाव से स्वभाववान वस्तु है ।

पर को अपना मानना तो मिथ्याभ्रम – अज्ञान है ही, परन्तु आत्मा को एकसमय की पर्याय के बराबर माननेवाला जीव भी पर्याय मूढ है, परसमय है, मिथ्यादृष्टि है । अहाहा ! वस्तु तो आनदकद, ज्ञानानदरसकद, त्रिकालीसत् के सत्वरूप से भरपूर सपूर्ण अन्दर पडी है । एक-एक समय की प्रगट पर्याय तो इसके अनतवे भाग मे एक अशमात्र है । और यह भगवान आत्मा अनतस्वभाव का धनी स्वभाववान पूर्ण पदार्थ, इसका त्रिकाली सत्व किसी एकसमय की पर्याय मे नही आता । ऐसा यह भगवान आत्मा पूर्णानद का नाथ है । इसको परपने मानना या 'पर से मैं हूँ' ऐसा मानना तो मिथ्याभ्रम, अज्ञान और भवभ्रमण का मूल है । यह चौरासी लाख योनियो मे अवतार लेने की जड है । सयोगीवस्तु – परवस्तु और सयोगीभाव अर्थात् पुण्य-पाप के विकार भी है, किन्तु अपने स्वभाव को भूलकर सयोगीचीज और सयोगीभावो को अपना मानना भवभ्रमण की मूल जड है ।

सहजानदस्वरूप पूर्णानद का नाथ नित्य उपयोगस्वरूप जो वस्तु अन्दर पडी हुई है, उसे आत्मतत्त्व कहते है । उस पर तो अनतकाल से आजतक भी दृष्टि गई नही और यह अज्ञानी बाहर ही देखता रहा । स्वय को देखनेवाले कितने है और कहाँ है ? अन्दर देखा नही, मात्र पर को ही देखा है । और बहुत हुआ तो एकसमय की पर्याय को देख लिया । पर्याय जिसमे से निकलती है तथा जिसके आश्रय रहती है, ऐसी त्रिकाली ध्रुववस्तु को न देखा और न माना । तथा शरीर की क्रिया करो, सयम शरीर से पलता है – ऐसा मानकर शरीर की क्रिया मे अटक गये । गाँव को

सुधार दूँ, दुनिया को सुधार दूँ, उपदेशो से समझाकर लोगो का उद्धार कर दूँ – इत्यादि क्रियाओ मे और भावो मे जो अपनत्व करते है, वे मूढ है, मिथ्यादृष्टि है, अज्ञानी है। अरे भगवान ! तुझे यह क्या हो गया है ? भाई ! तुझ मे यह चीज है ही नही। पर को तू तारे या मारे, यह तेरे स्वरूप मे नही है। यह तो तूने विकल्प से झूठा मान लिया है।

देखो ! शरीर, कर्म आदि अजीव जड है, यह तो अन-उपयोग स्वरूप है। किन्तु जो पर के लक्ष्य से उत्पन्न होते है – ऐसे यह पुण्य-पाप के विकल्प भी अन-उपयोगस्वरूप है। छठी गाथा मे आता है कि ध्रुव त्रिकाली ज्ञायकभाव कभी शुभाशुभभावो के स्वभावस्वरूप नही हुआ। ज्ञायकवस्तु उपयोगस्वरूप है, अन-उपयोगस्वरूप शुभाशुभभावपने नही हुई। इन दया, दान, भक्ति आदि के भावो मे चैतन्य का अश नही होने से, ये सब रागादिभाव अन-उपयोगस्वरूप है, तो फिर शरीर और कर्म की तो बात ही क्या ? यहाँ कहते है कि उपयोग और अनुपयोग जिनका स्वभाव है, ऐसे ज्ञायक आत्मा और शरीरादि भिन्न-भिन्न है, अनेक है, एक नही हैं।

गाथा १७-१८ मे ऐसा कहा है कि आबाल-गोपाल सबको ज्ञान ही अनुभव मे आता है, अर्थात् शरीर और राग सबधी जो ज्ञान है, वह ज्ञान ही जानने मे आता है। किन्तु ऐसा न मानकर 'मै शरीर को जानता हूँ, राग को जानता हूँ' इसप्रकार इसका लक्ष्य पर के ऊपर जाता है, यह मिथ्याभ्रम है। यह जाननेवाला ही जानने मे आता है, तथा राग और शरीर को जाननेवाला ज्ञान राग व शरीर का नही है, किन्तु ज्ञायक का ही है; यह ज्ञान परज्ञेय का नही, किन्तु त्रिकाली भगवान का है – इस प्रकार ज्ञायक आत्मा और शरीर आदि परवस्तु के भिन्नपना है, अनेकपना है।

अरे ! वस्तु की दृष्टि बिना अनतवार व्रत, तप, नियम कर-करके मरा। पुण्य-पाप अधिकार, गाथा १५२ मे कहा है कि अज्ञानभाव से किये गये व्रत व तप बालव्रत व बालतप हैं। अहाहा ! छह-छह माह के उपवास करता है, दो-दो माह के सथारा करता है, झाड की डाल की तरह पडा रहता है, किन्तु निजस्वरूप को जाने बिना ये सब बालतप और बालव्रत है। भगवान आत्मा ज्ञानमूर्ति है। आत्मा की पर्याय मे जो 'जानना' होता है वह जानना तो आत्मा की निज की पर्याय है। यह वस्तुत जाननेवाले ज्ञायक को जानती है – ऐसा न मानकर पर शरीर आदि को जानती है – ऐसा जो पर के ऊपर लक्ष्य जाता है, वह अज्ञान है।

अनतकाल से शरीर और राग का लक्ष्य करके जानता है, और इन्हें एकपने मानता है। 'यह ज्ञायक, ज्ञायक जो है, वही मैं ही हूँ' ऐसा विचार करने की किसी को गरज ही नही है। बस दुनियाँ मे पाँच-पचास लाख की धूल मिल जाये, उसी मे आनन्द मान लेता है, अपने को लखपति समझ लेता है। परन्तु पडित बनारसीदासजी ने नाटक समयसार मे कहा है कि 'आत्मा ज्ञानस्वरूप है, इसके लक्ष्य का पति आत्मा ही वास्तव में 'लखपति' है।' आत्मा का लक्ष्य होते ही जो अतीन्द्रिय सहज आनद हुआ, उस आनद का नाथ भगवान आत्मा ही लक्षपति है। बाकी सब करोड़पति, लखपति तो धूल के ही पति है। बनारसीदासजी का वह पद निम्नप्रकार है –

"स्वारथ के सांचे परमारथ के सांचे चित्त,
सांचे-सांचे बैन कहैं साचे जैनमती हैं।
काहू के विरुद्ध नांहि परजाय बुद्धि नांहि,
आतमगवेषी न गृहस्थ हैं न जती हैं।
सिद्धि-रिद्धि-वृद्धि दीसै घट मे प्रगट सदा,
अन्तर के लच्छिसौं अजाची लच्छपति है।
दास भगवन्त के उदास रहैं जगत सौं,
सुखिया सदैव ऐसे जीव समतिती हैं ॥७॥"[1]

जब उपदेश मे दान का, भक्ति का, पूजा का प्रकरण (अधिकार) आता है; तब शुभभाव की बात भी आती है। रत्नकरण्ड-श्रावकाचार मे दानादि का अधिकार (प्रकरण) विस्तार से आया है। सम्यग्दृष्टि हो, पैसा आदि सम्पत्ति हो तो राग की मन्दता करके उसे दान मे खर्च करे तो वह पुण्य का कारण है। परन्तु पैसे के लोभ के कारण दान मे खर्च न करे तो पाप का ही कारण है।

पद्मनदि पचविंशतिका के दान-अधिकार मे भी आता है कि कौआ जैसा पक्षी भी जैसे जली हुई खीचडी की खुरचन को अकेला नही खाता, अन्य कौओ को काव-काव करके बुलाकर ही खाता है। उसी प्रकार तूने पूर्व मे जो शुभभाव किया, तब तेरी आत्मा की शान्ति व वीतरागता जली थी, उस समय तुझे जो पुण्य बधा था, उसके फल मे यह लक्ष्मी आदि मिली है, इसे अकेला मत भोग। दूसरो को भी दान मे दे। अन्यथा तेरी गिनती कौओ मे भी नही होगी।

---

[1] समयसार नाटक, उत्थानिका, छन्द-७

यहाँ आचार्य भगवान स्पष्ट करते हैं कि – तू कौन है ? जो जानने-देखने के स्वभाव से भरा उपयोगस्वरूप ज्ञायक आत्मा है, वह तू है। तथा ज्ञान-उपयोग से खाली अन-उपयोगस्वरूप रागादि व शरीरादि तू नहीं है। इस प्रकार आत्मा और शरीरादि के अत्यन्त भिन्नपना है। उसके एक-पदार्थपने की प्राप्ति नहीं है, इससे अनेकपना ही है। अनादि से एकमेक मान रखा है न ? इससे कैसे बैठे ? परन्तु भाई ! 'जो शरीर के रजकरण है वह मैं हूँ, और इनसे जो क्रिया हुई, वह मेरी क्रिया है' – ऐसा जो माने वह भले ही राजा हो, सेठ हो या त्यागी हो, निरा मूढ है, बड़ा मूर्ख है।

आत्मा और शरीर आकाश के एकक्षेत्र मे रहने से एक हैं – ऐसा असद्भूतव्यवहारनय से कहने मे आता है। किन्तु निश्चयनय से चैतन्यमूर्ति प्रभु आत्मा और यह जड शरीर-दोनों सर्वथा जुदे-जुदे हैं। इनके तीन काल मे भी एकपना नही है। ऐसा प्रगट नयविभाग है। यह हिलने-डुलने, बोलने की क्रिया जड़ की है, इसे आत्मा नही कर सकता। 'जानना जानना' – यह जो उपयोगस्वभाव है, वह आत्मा है। इसलिए व्यवहारनय से ही शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन बनता है, भगवान का स्तवन बनता है। भगवान शरीर से सूर्य के तेज से भी अधिक तेजवाले हैं इत्यादि शरीर द्वारा जो स्तवन किया, वह आत्मा का स्तवन नही है, शरीर का स्तवन है। इसकारण व्यवहारनय से ही शरीर का स्तवन करने से आत्मा का स्तवन किया कहने मे आता है, परमार्थ से ऐसा नही है।

गाथा २७ के भावार्थ पर प्रवचन

व्यवहारनय तो आत्मा और शरीर को एक कहता है और निश्चय-नय भिन्न कहता है। इसकारण व्यवहारनय से शरीर का स्तवन करने से आत्मा का स्तवन करना माना जाता है। शरीर, माटी, धूल, हड्डी, चमड़ी वगैरह से आनन्द का नाथ भगवान भिन्न है। सच्चिदानन्द ज्ञायक आत्मा तो ज्ञान और आनन्द का कद प्रभु है, पर इसे कैसे बैठे ? बाहर से दृष्टि हटाकर अन्दर देखने की फुरसत ही कभी नही मिली। राग की आड मे राग से भिन्न भगवान चिदानद प्रभु नही दीखता है। अरे ! पुण्य, पाप, दया, दान, भक्ति इत्यादि विकारीभाव को देखनेवाला इन सब से जुदा है। अनादिकाल से ही इस बात की खबर अज्ञानी को नही है। अज्ञानी के ससार मे भटकने का एक मात्र यही कारण है।

समयसार गाथा २८

तथा हि

इणमण्णं जीवादो देहं पोग्गलमयं थुणित्तु मुणी ।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं ।।२८।।

इदमन्यत् जीवाद्देहं पुद्गलमय स्तुत्वा मुनिः ।
मन्यते खलु संस्तुतो वदितो मया केवली भगवान् ।।२८।।

यथा कलधौतगुणस्य पांडुरत्वस्य व्यपदेशेन परमार्थतोऽतत्स्वभाव-स्यापि कार्तस्वरस्य व्यवहारमात्रेणैव पांडुरं कार्तस्वरमित्यस्ति व्यपदेश:,

---

यही वात इस गाथा मे कहते हैं –

जीव से जुदा पुद्गलमयी, इस देह की स्तवना करी ।
माने मुनी जो केवली, बदन हुआ स्तवना हुई ।।२८।।

गाथार्थ :– [जीवात् अन्यत्] जीव से भिन्न [इदम् पुद्गलमयं देहं] इस पुद्गलमय देह की [स्तुत्वा] स्तुति करके [मुनि] साधु [मन्यते खलु] ऐसा मानते है कि [मया] मैंने [केवली भगवान्] केवलीभगवान की [स्तुतः] स्तुति की और [वंदितः] वन्दना की ।

टीका :– जैसे, परमार्थ से सफेदी सोने का स्वभाव नही है, फिर भी चाँदी का जो श्वेत गुण है, उसके नाम से सोने का नाम 'श्वेत स्वर्ण' कहा जाता है यह व्यवहारमात्र से ही कहा जाता है, इसीप्रकार, परमार्थ से शुक्ल–रक्तता तीर्थङ्कर–केवलीपुरुप का स्वभाव न होने पर भी, शरीर के गुण जो शुक्ल–रक्तता इत्यादि है, उसके स्तवन से तीर्थकर–केवलीपुरुष का 'शुक्ल–रक्त तीर्थकर केवलीपुरुष' के रूप मे स्तवन किया जाता है वह व्यवहारमात्र से ही किया जाता है । किन्तु निश्चयनय से शरीर का स्तवन करने से आत्मा का स्तवन नही हो सकता ।

भावार्थ :– यहाँ कोई प्रश्न करे कि व्यवहारनय तो असत्यार्थ कहा है और शरीर जड है तव व्यवहाराश्रित जड की स्तुति का क्या फल है ? उसका उत्तर यह है :– व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ नही है, उसे निश्चय को प्रधान करके असत्यार्थ कहा है । और छद्मस्थ को अपना, पर का आत्मा साक्षात् दिखाई नही देता, शरीर दिखाई देता है, उसकी शान्तरूप मुद्रा को देखकर अपने को भी शात भाव होते है । ऐसा उपकार समझकर

तथा शरीरगुणस्य शुक्ललोहितत्वादेः स्तवनेन परमार्थतोऽतत्स्वभावस्यापि तीर्थंकरकेवलिपुरुषस्य व्यवहारमात्रेणैव शुक्ललोहितस्तीर्थंकरकेवलिपुरुष इत्यस्ति स्तवनम् । निश्चयनयेन तु शरीरस्तवनेनात्मस्तवनमनुपपन्नमेव ।

शरीर के आश्रय से भी स्तुति करता है, तथा शांत मुद्रा को देखकर अन्तरङ्ग मे वीतरागभाव का निश्चय होता है यह भी उपकार है।

गाथा २८ की टीका पर प्रवचन

जैसे परमार्थ से श्वेतपना सुवर्ण का स्वभाव नही है, फिर भी चाँदी का जो श्वेत गुण है, उसके नाम से सोने का नाम 'श्वेतस्वर्ण' कहा जाता है। देखो, जब सोने और चाँदी को गला कर एक डली बना लेते है, तो सोने को 'सफेद सोना' कहा जाता है, उसमे सोना सफेद नही है, सोना तो पीला ही है, सफेद तो चाँदी है। तथा सोना तो पीलापन, चिकनापन आदि से अभिन्न है, तथापि चाँदी के मिलाप से चाँदी की जो सफेदी है, उसके नाम से सोने को व्यवहार से श्वेतवर्णवाला कहा जाता है। वास्तव मे तो सोना श्वेत नही, पीला ही है।

इसीप्रकार परमार्थ से शुक्ल-रक्तपना तीर्थंकर-केवलीपुरुषो का स्वभाव नही, तथापि शरीर का जो शुक्ल-रक्तपना है, उसके संयोग से तीर्थंकर-केवलीपुरुषो का जो स्तवन किया जाता है, वह व्यवहारमात्र से किया जाता है। ऐसा श्वेत व रक्तपना तीर्थंकर-केवली का स्वभाव नही है। ये तो शरीर के गुण है। शास्त्रो मे ऐसा आता है—सोलह तीर्थंकर स्वर्णवर्ण के, दो रक्तवर्ण के, दो नीलवर्ण के, दो सफेदवर्ण के तथा दो अजनवर्ण के थे। भाई! ये सब तो शरीर की बातें हैं, आत्मा की नही। ये तो व्यवहार से कहने मे आयी हैं।

जैसे चावल की बोरी हो, उसे चावल और बोरी मिलाकर तोलते है। १ क्विटल २½ किलो चावल है – ऐसा कहा जाता है। बोरी के वजन को भी चावल मे गिन लेते हैं। चावल मे गिन लेने से बोरी चावल नही हो जाती। उसीप्रकार शरीर तो बारदाना (बोरी) जैसा है। अन्दर त्रिकाली भगवान आनदकन्द आत्मा सारवस्तु (चावल के स्थानापन्न) है। इन दोनो के एकपना त्रिकाल मे भी नही है। यह एकपना तो व्यवहार मात्र से कहने मे आता है। परन्तु शरीर और आत्मा के एकपना नही होने से निश्चयनय से शरीर का स्तवन करने से आत्मा का स्तवन नही बनता?

गाथा २८ के भावार्थ पर प्रवचन

यहाँ प्रश्न है कि व्यवहारनय को तो असत्यार्थ कहा है और शरीर जड है तो व्यवहार के आश्रय से जड की स्तुति से क्या लाभ है ?

उत्तर :– व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ नही है, निश्चय को प्रधान करके असत्यार्थ कहा है। तथा छद्मस्थ को अपना व पर का आत्मा साक्षात् दिखाई नही देता, शरीर दीखता है, उसकी शात मुद्रा देखकर स्वय का भी शातभाव होता है। भगवान को निर्मलपरिणतिरूप केवलज्ञान प्रगट हुआ है, सर्वज्ञपद प्रगट हुआ है व परमवीतरागता हुई है, अत शरीर की मुद्रा भी परमशान्त दिखाई देती है। इस मुद्रा के निमित्त से ऐसा विचारते हैं कि चैतन्यमूर्ति भगवान मानो शान्त, शान्त, परमशात स्वरूप में अन्दर ठहर गये हैं।

यहाँ निमित्त से कथन किया है। जो वीतरागमुद्रा को देखकर स्वय शात हो जाता है, उसे भगवान का शरीर निमित्त कहलाता है।

उपकार जानकर शरीर के आश्रय से भी स्तुति की जाती है, तथा शातमुद्रा देखकर अन्तरग मे वीतरागभाव का निश्चय होता है, यह भी उपकार है। यहाँ अन्तरग मे निश्चय होता है, यह मुख्य बात है। बाकी अकेली शातमुद्रा तो अनन्तबार देखी, अनन्तबार भगवान की मूर्तियाँ देखी और पूजा भी अनन्तबार की। समवशरण मे अनन्तबार गया, किन्तु भगवान आत्मा जो अन्दर शात, शात, शात, राग-विकल्पो की अशाति से भिन्न उपशमरस का कद है, उसका जिसने अन्तरग मे निश्चय नही किया उसे भगवान की मुद्रा भी निमित्त नही कहलाती।

जैसे शकरकद की ऊपर की लालछाल न देखो तो अन्दर सम्पूर्ण शक्कर अर्थात् मिठास का सफेद पिण्ड पडा है, उसीप्रकार पुण्य-पाप के विकल्पो की छाल से रहित शातरस से भरा हुआ चैतन्यपिण्ड अन्दर पडा है, जो भगवान की शातमुद्रा देखकर अदर मे ऐसा निश्चय करे तो उपकार है। समयसार नाटक मे पडित बनारसीदासजी ने कहा है :–

'जिनवर्णन कछु और है, यह जिनवर्णन नाहिं'

अन्दर वीतरागमूर्ति शातरस का पिण्ड प्रभु आत्मा चैतन्यस्वरूप विराजता है, वह 'जिन' है। उसका वर्णन जिनवर्णन है। उसका ज्ञान, श्रद्धान करना यह सम्यग्दर्शन आदि धर्म है, शरीरादि के वर्णन मे अटक जाए तो पुण्यबध ही होता है, धर्म नही।

—•◇•◇•—

तथा हि –

तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो ।
केवलिगुणो थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि ॥२६॥

तन्निश्चये न युज्यते न शरीरगुणा हि भवंति केवलिनः ।
केवलिगुणान् स्तौति यः स तत्त्वं केवलिनं स्तौति ॥२६॥

यथा कार्तस्वरस्य कलधौतगुणस्य पांडुरत्वस्याभावान्न निश्चयतस्तद्व्यपदेशेन व्यपदेशः कार्तस्वरगुणस्य व्यपदेशेनैव कार्तस्वरस्य व्यपदेशात्, तथा तीर्थंकरकेवलिपुरुषस्य शरीरगुणस्य शुक्ललोहितत्वादेरभावान्न निश्चयतस्तत्स्तवनेन स्तवनं तीर्थंकरकेवलिपुरुषगुणस्य स्तवनेनैव तीर्थंकरकेवलिपुरुषस्य स्तवनात् ।

ऊपर की बात को गाथा मे कहते हैं :–

निश्चयविषै नहिं योग्य ये, नहिं देह गुण केवलि हि के ।
जो केवली गुण को स्तवे, परमार्थ केवलि वो स्तवे ॥२६॥

गाथार्थ :– [तत्] वह स्तवन [निश्चये] निश्चय मे [न युज्यते] योग्य नही है [हि] क्योकि [शरीरगुणाः] शरीर के गुण [केवलिनः] केवली के [न भवंति] नही होतें, [यः] जो [केवलिगुणान्] केवली के गुणो की [स्तौति] स्तुति करता है, [सः] वह [तत्त्वं] परमार्थ से [केवलिनं] केवली की [स्तौति] स्तुति करता है ।

टीका :– जैसे चाँदी का गुण जो सफेदपना, उसका सुवर्ण में अभाव है इसलिए निश्चय से सफेदी के नाम से सोने का नाम नही वनता, सुवर्ण के गुण जो पीलापन आदि हैं उनके नाम से ही सुवर्ण का नाम होता है; इसी प्रकार शरीर के गुण जो शुक्ल-रक्तता इत्यादि है उनका तीर्थङ्कर-केवलीपुरुष मे अभाव है इसलिये निश्चय से शरीर के शुक्ल-रक्तता आदि गुणो का स्तवन करने से तीर्थङ्कर-केवलीपुरुष का स्तवन नही होता है, तीर्थङ्कर-केवलीपुरुष के गुणो का स्तवन करने से ही तीर्थङ्कर-केवलीपुरुष का स्तवन होता है ।

कथं शरीरस्तवनेन तदधिष्ठातृत्वादात्मनो निश्चयेन स्तवन न युज्यते इति चेत्–

णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि ।
देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति ॥३०॥

नगरे वर्णिते यथा नापि राज्ञो वर्णना कृता भवति ।
देहगुणे स्तूयमाने न केवलिगुणाः स्तुता भवन्ति ॥३०॥

तथाहि–

(आर्या)

प्राकारकवलितांबरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलम् ।
पिबतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालम् ॥२५॥

इति नगरे वर्णितेपि राज्ञः तदधिष्ठातृत्वेपि प्राकारोपवनपरिखादिमत्त्वाभावाद्वर्णनं न स्यात् । तथैव–

अब शिष्य प्रश्न करता है कि आत्मा तो शरीर का अधिष्ठाता है इसलिए शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन निश्चय से क्यों युक्त नही है ? उसके उत्तररूप दृष्टान्तसहित गाथा कहते है –

रे ग्राम वर्णन करने से, भूपाल वर्णन हो न ज्यो ।
त्यों देहगुण के स्तवन से, नहिं केवलीगुण स्तवन हो ॥३०॥

गाथार्थ :–[यथा] जैसे [नगरे] नगर का [वर्णिते अपि] वर्णन करने पर भी [राज्ञः वर्णना] राजा का वर्णन [न कृता भवति] नही किया जाता, इसीप्रकार [देहगुणे स्तूयमाने] शरीर के गुण का स्तवन करने पर [केवलिगुणाः] केवली के गुणो का [स्तुताः न भवन्ति] स्तवन नही होता ।

टीका :–उपरोक्त अर्थ का काव्य कहते है –

श्लोकार्थ :– [इदं नगरम् हि] यह नगर ऐसा है कि जिसने [प्राकार-कवलित–अम्बरम्] कोट के द्वारा आकाश को ग्रसित कर रखा है (अर्थात् इसका कोट बहुत ऊँचा है), [उपवनराजी-निगीर्ण-भूमितलम्] बगीचो की पंक्तियो से जिसने भूमितल को निगल लिया है, (अर्थात् चारो ओर बगीचो से पृथ्वी ढक गई है), और [परिखावलयेन पातालम् पिबति इव] कोट के चारो ओर की खाई के घेरे से मानो पाताल को पी रहा है (अर्थात् खाई बहुत गहरी है) ॥२५॥

(आर्या)

नित्यमविकारसुस्थितसर्वांगमपूर्वसहजलावण्यम् ।
अक्षोभमिव समुद्रं जिनेन्द्ररूप परं जयति ।।२६।।

इति शरीरे स्तूयमानेपि तीर्थंकरकेवलिपुरुषस्य तदधिष्ठातृत्वेपि सुस्थितसर्वांगत्वलावण्यादिगुणाभावात्स्तवनं न स्यात् ।

इस प्रकार नगर का वर्णन करने पर भी उससे राजा का वर्णन नही होता, क्योकि यद्यपि राजा उसका अधिष्ठाता है तथापि वह राजा कोट-बाग-खाई आदिवाला नही है।

इसीप्रकार शरीर का स्तवन करने पर तीर्थङ्कर का स्तवन नही होता यह भी श्लोक द्वारा कहते हैं :-

श्लोकार्थ :–[**जिनेन्द्ररूपं परं जयति**] जिनेन्द्र का रूप उत्कृष्टतया जयवन्त वर्तता है, [**नित्यम्–अविकार–सुस्थित–सर्वांगम्**] जिसमे सभी अग सदा अविकार और सुस्थित है, [**अपूर्व–सहज–लावण्यम्**] जिसमे (जन्म से ही) अपूर्व और स्वाभाविक लावण्य है (जो सर्वप्रिय है) और [**समुद्रं इव अक्षोभम्**] जो समुद्र की भाँति क्षोभरहित है, चलाचल नही है ।।२६।।

इसप्रकार शरीर का स्तवन करने पर भी उससे तीर्थंकर-केवली-पुरुष का स्तवन नही होता क्योंकि, यद्यपि तीर्थंकर-केवलीपुरुष के शरीर का अधिष्ठात्रत्व है तथापि, सुस्थित सर्वागता, लावण्य आदि आत्मा के गुण नही हैं इसलिये तीर्थंकर-केवलीपुरुष के उन गुणो का अभाव है।

समयसार गाथा २६, ३० एवं कलश २५, २६ पर प्रवचन

[गुजराती प्रवचनरत्नाकर मे गाथा २६, ३० एव कलश २५ व २६ पर गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के प्रवचन उपलब्ध नही हैं। यदि हैं भी तो पाच-सात पक्तियो से अधिक नही हैं। जबकि पहले के प्रकाशित प्रवचन विस्तार से प्राप्त होते हैं। हिन्दी आत्मधर्म के सितम्बर, १९७९ के अक मे उक्त गाथाओ पर हुए गुरुदेव श्री के प्रवचन प्रकाशित हुए है। अतः यहाँ उन्हे ही दिया गया है। – सम्पादक]

सत्ताईसवी गाथा मे आचार्यदेव ने कहा था कि व्यवहारनय जीव और देह दोनो को एक कहता है और निश्चयनय दोनो को भिन्न कहता है। इसी सन्दर्भ मे अट्ठाईसवी गाथा मे कहा गया था कि जीव से भिन्न देह

की स्तुति करके व्यवहारनय से साधु ऐसा मानते हैं कि हमने केवली भगवान की स्तुति की। अब उनतीसवी गाथा मे आचार्यदेव फरमाते हैं कि परमार्थ से शरीर की स्तुति करने से केवली भगवान के गुणो का स्तवन नही होता।

जिसप्रकार सोने मे चाँदी के सफेद गुण का अभाव है, इसलिए निश्चय से सफेदी के नाम से सोने का नाम नही बनता, किन्तु सोने के पीतादि गुणो से ही सोने का नाम बनता है, उसीप्रकार तीर्थंकर-केवली-पुरुष मे शरीर के शुक्ल-रक्तता आदि गुणो का अभाव है, अत शुक्ल-रक्तता आदि गुणो का स्तवन करने से तीर्थंकर-केवलीपुरुष का स्तवन नही होता।

देखो! अट्ठाईसवी गाथा मे व्यवहारनय की कथनपद्धति बताते हुए कहा था कि सोने और चाँदी को गलाकर एक पिण्ड किया जाता है और उसे व्यवहार से श्वेतस्वर्ण कहा जाता है, परन्तु यहाँ कहते है कि सोने मे श्वेत वर्ण का अभाव है, इसलिए निश्चय से सफेदी के नाम से सोने का नाम नही बनता। इसप्रकार पहले व्यवहार का स्थापन करके फिर निश्चय द्वारा उसका निषेध किया जाता है।

पहले कहा था कि मुनिराज शरीर के स्तवन द्वारा भगवान का स्तवन हुआ ऐसा व्यवहारनय से मानते है। अब यहाँ कहते है कि परमार्थ से शरीर का स्तवन करने से भगवान की सच्ची स्तुति नही होती।

जिसप्रकार स्वर्ण मे चाँदी के गुणो का अभाव है, उसीप्रकार भगवान के आत्मा मे उनके शरीर मे पाए जाने वाले एक हजार आठ लक्षणो का अभाव है। शरीर और वाणी जड है, इसलिए भगवान के आत्मा मे शरीर और वाणी का किंचित् भी कर्त्तृत्व नही है। अत परमार्थ से शरीर और वाणी की स्तुति भगवान की स्तुति नही है।

शरीर का स्तवन करने से भगवान का स्तवन नही होता, परन्तु भगवान के आत्मा के गुणो का स्तवन करने से भगवान का स्तवन होता है। वास्तव मे देखा जाए तो भगवान के गुणो का स्तवन करने से निश्चय से अपने आत्मा का ही स्तवन होता है और यही सच्ची परमार्थस्तुति है।

देव-गुरु-शास्त्र के लक्ष्य से होने वाले शुभभावो को छोडकर, स्वभाव की श्रद्धापूर्वक स्वरूप मे स्थिर होना ही सच्ची परमार्थस्तुति है। जो स्वरूप मे स्थिर होता है वह केवली के गुण गाता है अर्थात् वह स्वय ही अशत. केवली होता है। अपने मे स्थिर हुआ सो स्वय ही परमार्थ से अशत:

भगवान हुआ। भगवान के लक्ष्य से होने वाले परसन्मुख राग को छोड़कर आंशिक-वीतराग होना ही निश्चय से भगवान की स्तुति है। भगवान के गुणगान करते समय जो स्वभाव की दृष्टि हुई वह धर्म है और जो शुभभाव हुआ वह पुण्य है।

धर्म क्या है, और कैसे होता है? अनादिकाल से यह वात लोगो ने सुनी नही है, वाह्य क्रिया मे ही लोगो ने धर्म मान रखा है। परन्तु आत्मा तो शरीराश्रित व्रतादि की क्रिया कर ही नही सकता, अत: वाह्य क्रिया मे धर्म कैसे हो सकता है? देह से भिन्न ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा को पहिचानने से ही धर्म होता है।

जिसे आत्मानुभव होता है, उसे शुभभाव भी अलौकिक होता है। महाराजा श्रेणिक को आत्मप्रतीति की भूमिका मे तीर्थंकर प्रकृति के वँधने योग्य शुभभाव हुए थे। आत्मानुभव विना ऐसे शुभभाव भी नही होते।

लोग कहते हैं कि ऐसी वारीक वाते समझना तो कठिन मालूम होता है। इससे अच्छा तो व्रतादि पाले तो क्या धर्म नही हो सकता? परन्तु भाई! यह वाते कठिन नही, वल्कि प्रथम भूमिका की वाते हैं। मैं कौन हूँ, मेरा स्वरूप क्या है? वाह्य व्रतादि की क्रिया मैं कर सकता हूँ या नही? तथा व्रतादि के शुभभाव से मुझे धर्म होगा या पुण्य-वन्ध होगा? इन सब वातो को पहले समझना पडेगा। यह समझे विना अनन्त वार व्रतादि का शुभभाव भी किया, परन्तु अभी तक भव का अन्त नही आया।

सर्वप्रथम शरीर और आत्मा का भिन्न-भिन्न स्वरूप जानकर आत्मा का अनुभव करना चाहिए। इसलिए यहाँ समझाते है कि शरीर का स्तवन करने से आत्मा का स्तवन नही होता।

यह सुनकर शिष्य प्रश्न करता है कि प्रभो! आत्मा तो शरीर का अधिष्ठाता—स्वामी है, इसलिए शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन निश्चय से युक्त क्यो नही है? आत्मा शरीर की हलन-चलन आदि क्रियाओ का कर्त्ता होने से शरीर का अधिष्ठाता है—ऐसा सभी लोग मानते है, परन्तु आप शरीर के गुणो को भगवान के गुणो पर आरोपित करना उचित क्यो नही मानते? शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न है, ऐसी नई वात आपने कहाँ से ढूँढ निकाली?

आचार्यदेव शिष्य के उक्त प्रश्न का उत्तर तीसवी गाथा मे उदाहरण सहित देते हुए कहते हैं —

जैसे नगर का वर्णन करने पर भी राजा का वर्णन नही होता, उसीप्रकार देह के गुणो का स्तवन करने से केवली के गुणो का स्तवन नही होता।

जैसे कोई व्यक्ति नगर का वर्णन करे कि यह नगर बहुत सुन्दर है, इसमे सुन्दर-सुन्दर बाग-बगीचे है और बडे-बड़े बाजार है, किन्तु इसप्रकार नगर के गुण गाने से राजा का गुण-गान नही होता। ऐसे सुन्दर नगर का राजा अधर्मी और लम्पटी तथा प्रजा पर अनुचित कर लगाने वाला हो सकता है, अथवा न्यायप्रिय, धर्मात्मा एव नीतिवान भी हो सकता है। इसलिए नगर के वर्णन से राजा का वर्णन नही होता, क्योकि नगर और राजा दोनो भिन्न-भिन्न है।

राजा का वर्णन तो राजा के गुणो के कथन से होता है कि यह राजा अत्यन्त शीलवान, नीतिवान, उदार व शूरवीर है। नगर की प्रशसा से राजा का वर्णन नही होता।

जिसप्रकार नगर के वर्णन से राजा का वर्णन नही होता, उसीप्रकार भगवान के शरीर के वर्णन से भगवान का गुणगान नही होता। देह और आत्मा द्रव्य-गुण-पर्याय तीनो अपेक्षा से परस्पर भिन्न-भिन्न ही हैं, इसलिए आत्मा शरीर का अधिष्ठाता नही है।

शरीर तो अनन्त परमाणुओ का स्कन्ध है। परमाणु वस्तु है, उसमे रग-गध आदि अनन्त गुण है। तथा लाल-पीला, सुगन्ध-दुर्गन्ध आदि रग और गन्ध गुण की पर्यायें है। वस्तु और गुण स्थाई है तथा पर्याय प्रतिक्षण बदलती रहती है। शरीर तो परमाणुओ की अवस्था है, परमाणुओ की अवस्था स्वतन्त्रतया अपनी योग्यता से स्वय होती है, शरीररूप अवस्था आत्मा के कारण नही होती।

आत्मा भी वस्तु है, उसमे ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त गुण है और प्रत्येक गुण की अवस्था निरन्तर बदलती रहती है। आत्मा अनन्त ज्ञान-दर्शन-चारित्र, सहज आह्लादरूप आनन्द आदि अनन्त शक्तियो का अखण्ड घनपिण्ड अतीन्द्रिय महापदार्थ है, उसकी रुचि करने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि निर्मल अवस्थाऐं प्रकट होती है। परन्तु ज्ञानस्वभावी आत्मा को भूल कर देह मे एकत्वबुद्धि करने से मिथ्यात्व, अज्ञान और असयमरूप पर्यायें प्रकट होती है। जिसकी जैसी रुचि होती है उसकी वैसी ही अवस्था होती है। यह आत्मा मिथ्या रुचि से मलिन अवस्था को अथवा सम्यक् रुचि मे निर्मल पर्याय को प्राप्त होता है, किन्तु जड की अवस्था का कर्त्ता

तो त्रिकाल मे भी नही हो सकता। अज्ञानी भ्रान्तिवश आत्मा को पर का कर्त्ता मानता है, परन्तु देह और आत्मा वस्तुदृष्टि से, गुणदृष्टि से और पर्यायदृष्टि से सभीप्रकार भिन्न ही है, इसलिए शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन नही होता।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, खण्डेलवाल, अग्रवाल आदि शरीर की अवस्थाओ को आत्मरूप अनुभव करना मिथ्यात्व है, क्योकि आत्मा ब्राह्मण, वैश्य आदि नही है तथा वह किसी जॉत-पाँतवाला भी नही है। आत्मा तो सहज ज्ञान-आनन्द-वीर्यादि अनन्तगुणो की मूर्ति है।

द्रव्य और गुणो की अपेक्षा तो सभी आत्माएँ समान है, परन्तु पर्याय मे ससार और मोक्ष ऐसी दो प्रकार की अवस्थाऐ है। आत्मा की प्रतीति करने से मुक्ति और आत्मा को भूलने से संसार है। विपरीत दृष्टि से ही ससार और आत्म-सम्मुख दृष्टि ही मोक्ष है।

जगत को ऐसा मिथ्या विश्वास जम गया है कि आत्मा की इच्छानुसार शरीर मे हलन-चलनादि क्रिया होती है। परन्तु भाई! शरीर के रजकणो की अवस्था शरीर के कारण होती है। श्वास चढना, कफ निकलना, पसीना निकलना, आँख की पलको का हिलना आदि क्रियाओ का कर्त्ता शरीर ही है। बाल, युवा और वृद्धपना आदि शरीर की ही अवस्थाये हैं। युवावस्था छोडकर वृद्धावस्था कौन चाहता है? फिर भी इच्छा बिना वृद्धावस्था तो आती ही है। दॉतो का गिरना, आँखो से दिखाई न देना, कानो से सुनाई न देना आदि शारीरिक परिवर्तन आत्मा की इच्छा बिना शरीर की योग्यता से स्वय ही होते है। यदि आत्मा की इच्छानुसार शरीर का परिणमन हो तो किसी की भी वृद्धावस्था नही आना चाहिए; परन्तु वृद्धावस्था न चाहने पर भी आए बिना नही रहती। अरे! युवावस्था मे सर्व अनुकूल सयोग होने पर भी आयु पूर्ण होने पर मरना पडता है। अपनी इच्छा से शरीर का कुछ भी परिणमन नही होता।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आत्मा शरीर का अधिष्ठाता किंचित् भी नही है। तात्पर्य यह है कि शरीर के स्तवन से भगवान के आत्मा का किंचित् भी स्तवन नही होता।

जो भगवान के आत्मा को जानता है वह अपने आत्मा को जानता है। 'जैसा भगवान का शान्त, निर्विकारी और वीतरागी स्वरूप है वैसा ही मैं हूँ', इसप्रकार निर्णयपूर्वक जो भगवान की प्रतिमा आदि के लक्ष से शुभ भाव होते है, वह व्यवहार से भगवान की स्तुति है।

जिसप्रकार भगवान का आत्मा शुभाशुभभावो से रहित है, उसीप्रकार मेरा आत्मा भी शुभाशुभभाव रहित है—ऐसा निश्चय न करे और मात्र भगवान के शरीर के लक्ष्य से स्तुति करे तो वह व्यवहार से भी स्तुति नही है, मात्र शुभभाव है। जहाँ निश्चय होता है, वही व्यवहार होता है और जहाँ निश्चय नही है, वहाँ व्यवहार भी नही होता।

कई लोग ऐसा मानते है कि भगवान हमे मुक्ति दे देंगे, परन्तु यह कभी भी सम्भव नही है, क्योकि भगवान का सत्त्व अलग है तथा हमारा सत्त्व अलग है। प्रत्येक पदार्थ का सत्त्व पृथक् ही है, उसमे कोई कुछ कर नही सकता। यदि कोई आत्मा दूसरे का कुछ कर सकता होवे तो एक आत्मा आकर मुक्ति देगा और दूसरा आत्मा आकर उसे नरक मे ढकेल देगा। इसप्रकार प्रत्येक सत्त्व की स्वतन्त्रता का विनाश प्राप्त होता है।

जगत मे कोई किसी का उपकार नही करता है। जब यह आत्मा स्वय अपने द्वारा देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप और अपने आत्मा का स्वरूप निश्चित करता है, तब उपचार से देव-शास्त्र-गुरु के द्वारा उपकार हुआ कहलाता है। यद्यपि यथार्थ समझ देव-शास्त्र-गुरु के निमित्त बिना होती नही; तथापि देव-शास्त्र-गुरु से भी नही होती। कोई द्रव्य किसी द्रव्य के आधीन नही है।

जब आत्मा मे ऐसी प्रतीति होती है कि 'मैं शान्त हूँ, निर्मल हूँ, अविकारी हूँ, पुण्य-पाप आदि विकारी भावो से पृथक् हूँ'—तब व्यवहार से देव-शास्त्र-गुरु पर आरोप किया जाता है। तथा वही आत्मा अत्यन्त विनम्र होकर कहता है कि 'हे प्रभो! आपने मुझ पर बहुत उपकार किया है, आपने मुझे तार दिया, निहाल कर दिया'—इसप्रकार जो शुभभाव होते है, वे व्यवहार से स्तुति नाम पाते हैं।

विकारी शुभभाव करते-करते अविकारी शुद्धभाव की प्राप्ति हो—ऐसा तीन लोक और तीन काल मे कभी भी नही बन सकता।

ज्ञान मे हमने कभी सत्य को स्वीकार ही नही किया है और सत्य को स्वीकार किये बिना मुक्ति भी कभी नही हो सकती।

आत्मा परपदार्थों का तो कुछ भला-बुरा कर नही सकता, परन्तु 'मैं पर का भला कर दूँ, तथा मैं पर का बुरा कर दूँ'—इसप्रकार के शुभाशुभभाव करता है जो कि वस्तुस्वरूप के विपरीत होने से असत्य है। और इसप्रकार असत्य भावो का आश्रय करने से मुक्ति भी कभी नही हो सकती।

जगत के जीवो ने अनादिकाल से यह जान नही पाया कि सत्य क्या है, तत्त्व क्या है, वस्तु-स्वरूप क्या है, धर्म क्या है ? और न ही कभी इन्हे जानने की जिज्ञासा ही की है। परपदार्थो मे ही इसकी करने-करने की वुद्धि है और वैसी ही श्रद्धा है। यदि एक वार यथार्थ जानकारी होकर श्रद्धा स्वभाव की ओर गुलॉट मारे तो अनादि विपरीत श्रद्धा का नाश होकर यथार्थ श्रद्धा प्रकट हो जाये और मुक्ति का मार्ग खुल जाये।

इसप्रकार आचार्यदेव ने शिष्य को दृष्टान्त देकर समझाया है कि— जिसप्रकार नगर का वर्णन करने से उस नगर के राजा का वर्णन नही होता, उसीप्रकार शरीर की स्तुति से आत्मा की यथार्थ स्तुति नही होती।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने नगर का उदाहरण दिया। अत. आचार्य अमृतचन्द्रदेव नगर का वर्णन करते हुए कलश करते है —

प्राकारकवलितांबरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलम् ।
पिवतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालम् ॥२५॥

यह नगर ऐसा है कि जिसने अपने कोट के द्वारा मानो आकाश को ग्रसित कर लिया है, वाग-वगीचो की पक्तियो के द्वारा मानो भूमितल को निगल लिया है तथा कोट के चारो तरफ की खाईयो के द्वारा मानो पाताल को पी लिया है।

आचार्यदेव नगर की महिमा गाते हुए कहते हैं कि इस नगर का कोट वहुत ऊँचा है, जिससे ऐसा लगता है कि मानो कोट ने सारा आकाश ग्रसित कर लिया है, राज्य के सारे क्षेत्र मे वाग-वगीचो का ही साम्राज्य है, नगर का थोडा भाग भी वाग-वगीचो से रिक्त दिखाई नही देता तथा नगर के चारो ओर की खाई अत्यन्त गहरी है, उसकी गहराई का पार दिखाई नही पडता। इसीलिए आचार्य उपमा देते हैं कि मानो उसकी गहराई पाताल तक पहुँच गई है। इसप्रकार उर्ध्व, मध्य और अध· तीनो ओर से नगर की उपमा दी है।

आचार्यदेव उक्त प्रकार नगर का वर्णन करने के पश्चात् कहते हैं कि इससे राजा का वर्णन नही हो सकता। यद्यपि नगर के सयोग के निमित्त से राजा उसका अधिष्ठाता व्यवहार से कहलाता है, तथापि राजा को ऐसा अभिमान होता है कि मै इस नगर का मालिक हूँ, स्वामी हूँ। आचार्यदेव तर्क प्रस्तुत करते है कि राजा व्यवहार से नगर का अधिष्ठाता होने पर भी, राजा मे कोट-वाग-खाई आदि का अभाव होने से, नगर के वर्णन से राजा का वर्णन कदापि नही हो सकता है। यदि राजा कोट-

बाग-खाई आदि वाला स्वय हो जावे तो कोट-बाग-खाई के वर्णन से राजा का वर्णन अवश्य हो सकता है, परन्तु राजा के शरीर मे या उसके आत्मा मे कोट-बाग-खाई आदि कुछ भी नही है, राजा और नगर भिन्न-भिन्न वस्तुएँ है। इससे सिद्ध हुआ कि नगर के वर्णन से राजा का वर्णन नही होता।

उक्त सम्पूर्ण उदाहरण से आचार्यदेव सिद्ध करते है कि शरीररूपी नगर के स्तवन से भी आत्मारूपी राजा का स्तवन नही होता। यही बात श्लोक द्वारा कहते है –

नित्यमविकारसुस्थितसर्वांगमपूर्वसहजलावण्यम् ।
अक्षोभमिव समुद्र जिनेन्द्ररूप परं जयति ॥२६॥

जिसके सर्व अग सदा अविकार और सुस्थित है, जिसमे अपूर्व और स्वाभाविक लावण्य है, और जो समुद्र की भाँति क्षोभरहित है–ऐसा जिनेन्द्र का परमरूप जयवन्त हो।

उक्त श्लोक मे जिनेन्द्र भगवान के शरीर का स्तवन किया गया है, जो इसप्रकार है :–

'जिनेंद्र भगवान का उत्कृष्टरूप सदा जयवन्त हो। देवो और इन्द्रो के शरीर से भी अधिक काति और तेज तीर्थंकरदेव के शरीर मे होता है, उनका रूप भी इन्द्रो तथा देवो से अधिक उत्कृष्ट रहता है। जिनेंद्र भगवान के शरीर को अविकार कहा गया है। वह इसलिए कहा गया है कि कि सामान्यजनो का रूप बदलता रहता है। युवावस्था मे जो रूप होता है, वह वृद्धावस्था मे नही रहता–बदल जाता है, किन्तु जिनेंद्र भगवान का रूप तथा शरीर की सुन्दरता अन्त तक ज्यो की त्यो जयवन्त रहती है। इसीलिए जिनेद्र भगवान के सर्व अवयव अविकार रहते है – ऐसा कहा गया है।

भगवान के समस्त अग सुस्थित होते है। उनके अगो मे कही भी कोई दूषण नही होता, और जिस स्थान पर जैसा जो सुन्दर अवयव चाहिए सो वैसा ही होता है। भगवान के शरीर मे जन्म से ही स्वाभाविक अपूर्व लावण्य होता है, जिस देखकर इन्द्र भी स्तम्भित रह जाता है तथा हजार-हजार नेत्र बनाकर भगवान के रूप का अवलोकन करता है।

तीर्थंकर बाल्यावस्था से ही ऐसी मधुर वाणी बोलते है कि वह सबको अत्यन्त प्रिय मालूम पडती है। भगवान का शरीर बिना आभूषणो के ही सुशोभित रहता है, शरीर की सुन्दरता के लिए कोई कृत्रिम शृ गार

नही बनाना पडता। उनका शरीर शुरू से ही समुद्र की भाति अत्यन्त गंम्भीर, क्षोभरहित होता है। बाहर की भौतिकता की चकाचौध से उनका शरीर लेशमात्र भी विकृति को प्राप्त नही होता अर्थात् शरीर मे कौतूहल, विस्मय और आश्चर्य के चिह्न दिखाई नही देते। ऐसा भासित होता है मानो वे जगत के सम्पूर्ण अनुभव प्राप्त करके कृतकृत्य हो गये हो।

उक्त प्रकार से शरीर का वर्णन करने पर भी आचार्यदेव फरमाते हैं कि इससे तीर्थंकर-केवलीपुरुष का स्तवन नही होता। यद्यपि व्यवहार से तीर्थंकर-केवलीपुरुष के शरीर का अधिष्ठातृत्व है, तथापि सुस्थित, सर्वांगता, लावण्य आदि आत्मा के गुण नही है। अतः तीर्थंकर-केवली-पुरुष के उन गुणो का अभाव है।

यहाँ **प्रश्न** है कि यद्यपि तीर्थंकर-केवलीपुरुष का स्तवन शरीर के स्तवन-से नही होता, तथापि उनके बाह्य मे ऐसे अविकार, सुस्थित, लावण्यमय शरीर क्यो होता है? सामान्यजन के ऐसे शरीरादि क्यो नही होते?

उसका **उत्तर** इसप्रकार है कि त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव पूर्वभव मे जब पवित्रदशा मे आगे बढ रहे हो, तब उस भूमिका मे उनके शुभभाव भी उत्कृष्ट जाति के होते है, जिससे अलौकिक पुण्य का बध तथा तीर्थंकर आदि पुण्य-प्रकृति का बध होता है, जिससे वर्त्तमान मे उनके ऐसे अपूर्व लावण्यादि विशेषताओ वाला शरीर होता है।

यहाँ पर जितनी भी प्रशसा की गई है, वह सब केवली भगवान के शरीर की प्रशसा की गई है, उसमे भगवान के आत्मा की कोई प्रशसा नही आई। शरीर और आत्मा बिल्कुल भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, इसीलिए दोनो के गुण भी बिल्कुल पृथक-पृथक ही होते है। एक के गुणो के स्तवन से दूसरे के गुणो का स्तवन नही होता। अत यदि हम शरीर के गुणो के स्तवन मे ही लग जावे तो उससे भगवान के आत्मा का स्तवन कदापि नही हो सकता।

अज्ञानी इसप्रकार वस्तु के वास्तविक स्वरूप को न समझकर ऐसा मानता है कि भगवान मुझे ससार-सागर से पार कर देंगे अर्थात् वह अपने को बिल्कुल दीन-हीन मानता है। अपनी सामर्थ्य का उसे बिल्कुल पता नही है, जगत के प्रत्येक पदार्थ की अनन्त स्वतन्त्रता का उसे भान नही है। कविवर बनारसीदासजी ने कहा है –

"दीन भयो प्रभुपद जपै मुक्ति कहाँ से होय।"

फिर भी यह अज्ञानी दीन-हीन होकर कहता है कि हे प्रभु ! मुझे मुक्ति दीजिए। किन्तु भगवान के पास तेरी मुक्ति कहाँ है। तेरी मुक्ति तो तुझ मे ही है। भगवान कहते हैं कि 'प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है, मैं भी स्वतन्त्र हूँ और तू भी स्वतन्त्र है, तेरी मुक्ति तुझमे ही है।'

आत्मा अपने निर्मल, ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मतत्त्व की ओर उन्मुख न होकर मात्र पर-प्रभु को भजता रहेगा तो उसे कभी भी मुक्ति प्राप्त नही हो सकेगी। जब राग-द्वेष से विमुक्त अपने स्वभाव का निर्णयपूर्वक अनुभव कर लिया जाता है, तब भगवान पर आरोपित करके विनयपूर्वक यह कहा जाता है कि भगवान ने मुझे मुक्ति का मार्ग बताया – यह शुभ-भाव होने से व्यवहार-स्तुति है।

व्यवहार-स्तुति भी शुभभावरूप विकारी परिणाम रूप होती है तथा जब उसका भी परित्याग करके आत्मा स्वरूप मे स्थिर होता है, तब परमार्थस्तुति होती है – इसका स्वरूप आगे की गाथाओ मे आचार्यदेव स्पष्ट करेंगे।

तन चेतन व्यवहार एक से,
निहचै भिन्न-भिन्न हैं दोइ।
तन की थुति विवहार जीव थुति,
नियतदृष्टि मिथ्या थुति सोइ॥
जिन सो जीव जीव सो जिनवर,
तन जिन एक न माने कोइ।
ता कारन तन की सस्तुति सौं,
जिनवर की सस्तुति नहिं होइ॥

– समयसार नाटक, जीवद्वार, छन्द ३०

अथ निश्चयस्तुतिमाह ।

तत्र ज्ञेयज्ञायकसंकरदोषपरिहारेण तावत् —

जो इन्दिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू ।।३१।।

य इंद्रियाणि जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानम् ।
तं खलु जितेन्द्रियं ते भणन्ति ये निश्चिताः साधवः ।।३१।।

यः खलु निरवधिबंधपर्यायवशेन प्रत्यस्तमितसमस्तस्वपरविभागानि निर्मलभेदाभ्यासकौशलोपलब्धांतः स्फुटातिसूक्ष्मचित्स्वभावावष्टंभबलेन शरीरपरिणामापन्नानि द्रव्येन्द्रियाणि प्रतिविशिष्टस्वस्वविषयव्यवसायि-

---

अब (तीर्थंकर — केवली की) निश्चय स्तुति कहते है । उसमे पहले ज्ञेय-ज्ञायक के सकरदोष का परिहार करके स्तुति करते है · —

कर इन्द्रिजय ज्ञान स्वभाव रु, अधिक जाने आत्म को ।
निश्चयविषै स्थित साधुजन, भाषै जितेन्द्रिय उन्हीं को ।।३१।।

गाथार्थ :— [यः] जो [इन्द्रियाणि] इंद्रियो को [जित्वा] जीतकर [ज्ञानस्वभावाधिकं] ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्यसे अधिक [आत्मानम्] आत्मा को [जानाति] जानते है, [त] उन्हे [ये निश्चिताः साधवः] जो निश्चयनय मे स्थित साधु हैं, [ते] वे [खलु] वास्तव मे [जितेन्द्रियं] जितेन्द्रिय [भणंति] कहते है ।

टीका :— (जो द्रव्येन्द्रियो, भावेन्द्रियो तथा इन्द्रियो के विषयभूत पदार्थों को — तीनो को अपने से अलग करके समस्त अन्यद्रव्यो से भिन्न अपने आत्मा का अनुभव करते हैं वे मुनि निश्चय से जितेन्द्रिय हैं ।) अनादि अमर्यादरूप वधपर्याय के वश जिसमे समस्त स्व-पर का विभाग अस्त हो गया है (अर्थात् जो आत्मा के साथ ऐसी एकमेक हो रही हैं कि भेद दिखाई नही देता) ऐसी शरीरपरिणाम को प्राप्त द्रव्येन्द्रियो को तो निर्मल भेदाभ्यास की प्रवीणता से प्राप्त, अन्तरङ्ग मे प्रगट अतिसूक्ष्म चैतन्य-स्वभाव के अवलम्वन के वल से सर्वथा अपने से अलग किया, सो वह द्रव्ये-न्द्रियो को जीतना हुआ । भिन्न-भिन्न अपने-अपने विषयो मे व्यापारभाव से

तया खंडशः आकर्षंति प्रतीयमानाखंडैकचिच्छक्तितया भावेंद्रियाणि ग्राह्यग्राहकलक्षणसंबंधप्रत्यासत्तिवशेन सह संविदा परस्परमेकीभूतानिव चिच्छक्तेः स्वयमेवानुभूयमानासंगतया भावेन्द्रियावगृह्यमाणान् स्पर्शादीनिंद्रियार्थांश्च सर्वथा स्वतः पृथक्करणेन विजित्योपरतसमस्तज्ञेयज्ञायकसंकरदोषत्वेनैकत्वे टंकोत्कीर्णं विश्वस्याप्यस्योपरि तरता प्रत्यक्षोद्योततया नित्यमेवांतःप्रकाशमानेनानपायिना स्वतःसिद्धेन परमार्थसता भगवता ज्ञानस्वभावेन सर्वेभ्यो द्रव्यांतरेभ्यः परमार्थतोतिरिक्तमात्मानं संचेतयते स खलु जितेन्द्रियो जिन इत्येका निश्चयस्तुतिः ।

जो विषयो को खण्ड-खण्ड ग्रहण करती हैं (ज्ञान को खड-खडरूप बतलाती है) ऐसी भावेन्द्रियो को, प्रतीति मे आती हुई अखड एक चैतन्यशक्ति के द्वारा सर्वथा अपने से भिन्न जाना, सो यह भावेन्द्रियो का जीतना हुआ। ग्राह्य-ग्राहकलक्षणवाले सम्वन्ध की निकटता के कारण जो अपने सवेदन (अनुभव) के साथ परस्पर एक जैसी हुई दिखाई देती हैं, ऐसी भावेन्द्रियो के द्वारा ग्रहण किये हुये, इन्द्रियो के विषयभूत स्पर्शादि पदार्थो को, अपनी चैतन्यशक्ति की स्वयमेव अनुभव मे आनेवाली असगता के द्वारा सर्वथा अपने से अलग किया; सो यह इन्द्रियो के विषयभूत पदार्थों का जीतना हुआ। इसप्रकार जो (मुनि) द्रव्येन्द्रियो, भावेन्द्रियो तथा इन्द्रियो के विषयभूत पदार्थों को (तीनो को) जीतकर ज्ञेय-ज्ञायकसकर नामक दोष आता था, सो सव दूर होने से एकत्व मे टकोत्कीर्ण और ज्ञानस्वभाव के द्वारा सर्व अन्यद्रव्यो से परमार्थ से भिन्न ऐसे अपने आत्मा का अनुभव करते है, वे निश्चय से जितेन्द्रिय जिन है। (ज्ञानस्वभाव अन्य अचेतन द्रव्यो मे नही है, इसलिए उसके द्वारा आत्मा सव से अधिक अर्थात् भिन्न ही है।) कैसा है वह ज्ञानस्वभाव? विश्व के (समस्त पदार्थों के) ऊपर तैरता हुआ (उन्हे जानता हुआ, पर उनरूप न होता हुआ) प्रत्यक्ष उद्योतपने से सदा अन्तरङ्ग मे प्रकाशमान, अविनश्वर, स्वत सिद्ध और परमार्थरूप — ऐसा भगवान ज्ञानस्वभाव है।

इसप्रकार एक निश्चयस्तुति तो यह हुई।

(ज्ञेयरूप द्रव्येन्द्रियो, भावेन्द्रियो तथा इन्द्रियो के विषयभूत पदार्थों का और ज्ञायकस्वरूप स्वय आत्मा का — दोनो का अनुभव विषयो की आसक्ति से एकसा होता था, जव भेदज्ञान से भिन्नत्व ज्ञात किया, तव वह ज्ञेयज्ञायक-सकरदोष दूर हुआ — ऐसा यहाँ जानना।)

गाथा ३१ की टीका पर प्रवचन

शरीर जडपरमाणुओ का स्कन्ध है, तथा पाँच इन्द्रियाँ जडशरीर के परिणाम हैं। शरीर के परिणाम को प्राप्त जड-इन्द्रियो को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। ये द्रव्येन्द्रियाँ आत्मा के परिणाम (पर्याय) नही है। जड-द्रव्येन्द्रियो को जीतना अर्थात् इन द्रव्येन्द्रियो से भिन्न परिपूर्ण एक ज्ञायकस्वभावी आत्मा का अनुभव करना ही निश्चय से भगवान-केवली की स्तुति है। जब निजस्वरूप का आदर किया एव उसमें एकाग्र हुआ, तब ही भगवान की स्तुति की – ऐसा कहा जाता है। तथा यही सम्यग्दर्शन अर्थात् धर्म की प्रथम सीढ़ी है।

अब द्रव्येन्द्रियो को कैसे जीतना ? इसकी विशेष बात करते है। टीका मे ऐसा लिया है कि 'निरवधि बधपर्यायवशेन' अर्थात् अनादि अमर्यादित बधपर्याय के वश से। देखो! आचार्य कहते है कि कर्म के बध की मर्यादा नही है, वह अनादि से अमर्यादरूप है। जैसे – खान मे सोना और पत्थर दोनो अनादि से मिले हुए हैं; उसीप्रकार आनदस्वरूप भगवान आत्मा मे निमित्तरूप जडकर्म की बध-अवस्था अनादि से है। अज्ञानी जीव बंधपर्याय के कारण से नही, किन्तु बधपर्याय के वश होकर पर को निज मानता है। भगवान आत्मा चिद्घन ज्ञायकस्वरूप है, उसके अनुभव से सम्यग्दर्शन व धर्म प्रगट होता है, परन्तु अज्ञानीजीव जडकर्म के वश होकर अधर्म का सेवन करता है। अज्ञानीजीव की पर्याय मे पर के वश होनेरूप स्वय की योग्यता है, इसकारण वह पर के वश होकर रागादि करता है। प्रवचनसार मे ४७ नय कहे है। उनमे एक 'ईश्वर नय' है। उसमे यह बात की है। कर्म का उदय विकार नही कराता है; बल्कि अज्ञानीजीव कर्म के उदय के वश होकर जड-इन्द्रियो को निज की मानता है, इसकारण अज्ञानी को विकार होता है। टीका मे 'बधपर्यायवशेन' ऐसा शब्द है। इसका अर्थ यह है कि बधपर्याय से विकार नही होता, किन्तु बधपर्याय के वश होकर अज्ञानीजीव स्वयं विकाररूप परिणमन करता है।

अहो! दिगम्बर सतो ने तो जहाँ देखो वहाँ (सर्वत्र) स्वतन्त्रता का ही वर्णन किया है। अजीवतत्त्व व विकाररूप आस्रवतत्त्व की स्वतन्त्रता की भी जिसको खबर नही है, उसे आनदकद भगवान ज्ञायकतत्त्व स्वतत्र है, इसकी दृष्टि कैसे हो ? निमित्त के वश होकर विकार होता है – ऐसा न मानकर, उसके कारण विकार होता है, ऐसा मानने मे बहुत बड़ा पूर्व-पश्चिम जितना अतर है। भाई! यह तो सर्वज्ञभगवान का माल है, सत उसे आढतिया बनकर बताते है।

समवशरण मे भगवान की दिव्यध्वनि – ॐकार ध्वनि बिना इच्छा के खिरती है। बनारसीविलास मे आया है –

'मुख ॐकार धुनि सुनि, अर्थ गणधर विचारें'।

हम-तुम जैसे बोलते हैं, वैसे भगवान नही बोलते। उनके कण्ठ व होठ हिलते-डुलते नही है। 'ॐ' ऐसी ध्वनि अदर से समस्त-शरीर मे से निकलती है, फिर उसमे से गणधरदेव बारह अगरूप श्रुत की रचना करते है।

यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा आनद का कद घनपिण्ड अखण्ड एक ज्ञायकभावस्वरूप वस्तु है। उसका आश्रय छोडकर कर्मोदय के वश होकर जड-इन्द्रियो को निज मानना मिथ्याभाव है। इसीके कारण स्व-पर का विभाग अस्त हो गया है। बधपर्याय के कारण मिथ्याभाव नही होता, किन्तु बधपर्याय के वश होने से मिथ्याभाव होता है।

'समस्त स्व-पर का विभाग अस्त हो गया', ऐसा वाक्य है। इसका अर्थ यह है कि ज्ञायकस्वरूप जीव 'स्व' है और जड-इन्द्रियाँ 'पर' हैं, उन दोनो का भिन्नपना पूरीतरह अस्त हो गया है। इसकारण 'ये जड-इन्द्रियाँ ही मैं हूँ' – ऐसा अज्ञानी मानता है। वह जीव और अजीव को एकपने मानता है। कर्मबध की पर्याय के वश होकर अज्ञानीजीव, भगवान आत्मा ज्ञायकभाव और शरीरपरिणाम को प्राप्त जड-इन्द्रियाँ – दोनो मे भेद नही करता, किन्तु जड की पर्याय को ही अपनी मानता है। अजीव को जीव मानना या जीव को अजीव मानना – यही मिथ्यात्व है।

अहो! सन्त आत्मा को 'भगवान' कहकर सम्बोधन करते हैं 'भग' अर्थात् लक्ष्मी तथा 'वान' अर्थात् वाला। आत्मा अनन्तज्ञान और अनन्त-आनद की लक्ष्मीवाला भगवान है। यह तो उन वीतराग जैन परमेश्वर की बात है, जिनके पास इन्द्र भी सामान्यजन की तरह वाणी सुनने बैठते है।

स्वय कौन है – यह भान नही होने से कर्म की बधपर्याय के वश होकर अज्ञानी जीव जड-इन्द्रियो को अपनी मानता है। 'मेरी आँख ऐसी है, मेरा कान ऐसा है, मेरी नाक ऐसी है', इत्यादि प्रकार से अपने को मानता है। किन्तु भाई! ये इन्द्रियाँ तेरी कब थीं? गाथा १९ मे आ चुका है कि जबतक इस आत्मा को ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, भावकर्म और शरीरादि नोकर्म मे 'यह मैं हूँ' और 'मेरे मे कर्म-नोकर्म हैं' – ऐसी बुद्धि है, तबतक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध है। भाई! यह शरीर तो जड,

माटी, धूल है। यह मिट्टी-की काया अन्त मे जलकर राख हो जाती है और उसे भी पवन उडा ले जाता है। कहा भी है –

'रजकण तारां रखड़शे, जेम रखड़ती रेत।
पछी नरतन पामीश क्यां ? चेत, चेत, नर चेत ।।'

सन्त जगत को सर्वज्ञ की वाणी के प्रवाह का भाव प्रकट करते है। भाई ! शरीर की अवस्था को प्राप्त जो जड-द्रव्येन्द्रियाँ हैं, उन्हे अपने से एकरूप मानना अज्ञान है, मिथ्यात्व है, अधर्म है। उन द्रव्येन्द्रियो की स्वय से भिन्नता कैसे हो ? यह वात यहाँ करते है। धर्मी निर्मल भेद-अभ्यास की प्रवीणता से द्रव्येन्द्रिय को पृथक् करता है अर्थात् भिन्न जानता है। 'मैं ज्ञायक हूँ', 'शरीर की जो अवस्था है, वह मैं नही हूँ – ऐसा स्वसंवेदन-ज्ञान, वह निर्मल भेदज्ञान है। इन्द्रियाँ पर और मैं स्व – इसप्रकार मात्र विकल्प द्वारा धारणा करना, वह कोई निर्मल भेदज्ञान नही है।

यह जीव धर्म कैसे प्रगट करे, यहाँ तो यह वात करते है। वात तो क्रम से समझाते है, किन्तु अन्दर मे क्रम नही है। समझाने मे क्रम पडता है, भाषा मे क्रम पडता है, किन्तु वस्तु सवसे एकसाथ ही भिन्न है। निर्मल भेद-अभ्यास अर्थात् पर से भेद करने का अभ्यास। उस निर्मल भेद-अभ्यास की प्रवीणता से अर्थात् ज्ञान की पर्याय को ज्ञायक की ओर ढालने से अन्दर मे प्रगट अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव प्राप्त होता है और उसके अवलम्वन के वल से द्रव्येन्द्रियो को सर्वथा अपने से भिन्न करता है। कथञ्चित् भिन्न करता है, ऐसा नही कहा है, वल्कि सर्वथा भिन्न करता है, ऐसा कहा है। शरीर परिणाम को प्राप्त द्रव्येन्द्रियाँ अति-स्थूल व जड हैं। तथा निर्मल भेद-अभ्यास की प्रवीणता से प्राप्त अन्तरङ्ग में प्रगट द्रव्यस्वभाव अतिसूक्ष्म और चैतन्य स्वरूप है। ऐसे अन्तरङ्ग में प्रगट अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव के अवलम्वन के वल से द्रव्येन्द्रियो को भिन्न किया जाता है। द्रव्येन्द्रियाँ तो भिन्न हैं ही परन्तु जव भेदज्ञान द्वारा उनसे भिन्नता जानी जाती है तव द्रवेन्द्रियो को 'भिन्न किया – ऐसा कहा जाता है। यह सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने की कला है। जगत मे जीव ऐसी वात तो सुनते नही है और वेचारे दिन-रात व्यापार-धधे मे लगे रहते हैं, वे धर्म कैसे कर सकते हैं ? अरे आत्मा के ज्ञान विना जिन्दगी व्यर्थ चली जा रही है।

अनादि से अज्ञानी-जीव जड-शरीर को और आत्मा को एक मानता आ रहा है। उससे श्रीगुरु कहते है कि प्रभु ! तू इन्द्रियो से भिन्न है।

तब वह श्रीगुरु की बात धारणा मे लेकर अन्तर मे एकाग्र होने का प्रयोग करता है। अन्तर मे अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव वस्तुरूप से प्रगट है। उसे निर्मल भेद-अभ्यास की प्रवीणता से प्राप्त करके, उसमे एकाग्र होने से, उसका आश्रय करने से द्रव्येन्द्रियाँ सर्वथा पृथक् हो जाती है। यही सम्यग्दर्शन अर्थात् धर्म की प्रथम सीढी को प्राप्त करने की रीति है। देखो! कितनी बाते की है ? कर्म के उदय के वश होने से विकार होता है। मिथ्यात्व के कारण जीव स्व को व द्रव्येन्द्रियो को एक मानता है, पृथक्ता या भिन्नपना नही मानता। शरीरपरिणाम को प्राप्त जड-इन्द्रियो को स्व से भिन्न करने का अभ्यास निर्मल भेदज्ञान है, ऐसे निर्मल भेदज्ञान से प्राप्त, अन्तरङ्ग मे प्रगट, अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव मे एकाग्र होने पर द्रव्येन्द्रियो से भिन्नता भासित होने लगती है। यही धर्म प्राप्त करने की रीति है।✓

अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव अन्दर मे वस्तुरूप से प्रगट है। गाथा ४९ मे उसे अव्यक्त कहा है। वहाँ व्यक्त पर्याय की अपेक्षा से चैतन्य स्वभाव को अव्यक्त कहा है। वस्तुरूप से तो वह प्रगट, सत्, मौजूद, अस्ति रूप से विद्यमान है। ऐसे अन्तरग मे विद्यमान अति-सूक्ष्म चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन से द्रव्येन्द्रियो को निज से सर्वथा पृथक् करना अर्थात् पृथक् जानना ही द्रव्येन्द्रियो को जीतना कहलाता है। कान मे कील डाल लेना या आँखें बन्द कर देना – इत्यादि जितेन्द्रियपना नही है। द्रव्येन्द्रियाँ किसे कहते है, अभी तो लोगो को इसकी भी खबर नही है, तो वे द्रव्येन्द्रियो को किसप्रकार जीतेंगे ?

अब भावेन्द्रियो को जीतने की बात करते है। अपने-अपने विषयो मे अलग-अलग व्यापार करके जो विषयो को खण्ड-खण्ड ग्रहण करती हैं, वे भावेन्द्रियाँ हैं। कान का क्षयोपशम शब्द को जानता है, आँख का क्षयोपशम रूप को जानता है, स्पर्शन-इन्द्रिय का क्षयोपशम स्पर्श को जानता है, इसप्रकार अपने-अपने विषयो मे व्यापार करके जो विषयो को खण्ड-खण्ड ग्रहण करती है, वे भावेन्द्रियाँ है। यह बाह्य-इन्द्रियो की बात नही है। प्रत्येक इन्द्रिय अपना-अपना व्यापार करती है, इससे वह ज्ञान को खण्ड-खण्ड रूप से बताती है। जिसप्रकार द्रव्येन्द्रियो को और आत्मा को एकपने मानना अज्ञान है, उसीप्रकार ज्ञान को खण्ड-खण्डरूप से बताने वाली भावेन्द्रियो को और ज्ञायक को एक मानना भी मिथ्यात्व है, अज्ञान है। अलग-अलग अपने-अपने विषयो को जो खण्ड-खण्ड ग्रहण करती हैं

और अखण्ड एकरूप ज्ञायक को खण्ड-खण्ड रूप वताती हैं, उन भावेन्द्रियो की ज्ञायक आत्मा के साथ एकता स्थापित करना मिथ्यात्व है ।

द्रव्येन्द्रियाँ शरीर-परिणाम को प्राप्त है, तथा भावेन्द्रियाँ ज्ञान के खण्ड-खण्ड परिणाम को प्राप्त हैं । जो ज्ञान एक-एक खण्ड-खण्ड रूप से विषय को जनावे, अंशी (ज्ञायक) को पर्याय मे खण्डरूप से जनावे, वह भावेन्द्रिय है । जैसे जड-द्रव्येन्द्रियाँ ज्ञायक की अपेक्षा परज्ञेय हैं, उसीप्रकार भावेन्द्रियाँ भी ज्ञायक की अपेक्षा परज्ञेय हैं । यहाँ ज्ञेय-ज्ञायक के संकरदोष का परिहार करते हैं । जैसे शरीर-परिणाम को प्राप्त ज्ञेय जड-इन्द्रियाँ और ज्ञायक आत्मा भिन्न हैं, उसीप्रकार भावेन्द्रियाँ भी परज्ञेय हैं और ज्ञायक आत्मा भिन्न है । यहाँ अखण्ड एक चैतन्यशक्तिपने की प्रतीति पर जोर दिया है । पहले द्रव्येन्द्रियो को भिन्न करने के लिए इस ज्ञायक-स्वभाव के अवलम्बन का वल लिया है । ज्ञायकभाव एक और अखण्ड है, जबकि भावेन्द्रियाँ-अनेक और खण्ड-खण्डरूप हैं । अखण्ड एक ज्ञायक-भावरूप चैतन्यशक्ति की प्रतोति होने पर अनेक व खण्ड-खण्डरूप भावेन्द्रियाँ पृथक् हो जाती हैं; भिन्न ज्ञात होती हैं । इसप्रकार अखण्डज्ञायकभाव की प्रतीति से खण्ड-खण्ड ज्ञान व परज्ञेयस्वरूप भावेन्द्रियों को सर्वथा भिन्न करना, यह भावेन्द्रियो को जीतना है ।

इस गाथा मे ज्ञेय-ज्ञायक सकरदोष के परिहार की वात है । शरीर-परिणाम को प्राप्त जड-इन्द्रियाँ परज्ञेय होने पर भी 'वे मेरी हैं', ऐसी एकत्वबुद्धि वह मिथ्याभावरूप सकरदोष है । जिसकी ऐसी मान्यता है, उसने जड की पर्याय और चैतन्य की पर्याय को एक माना है । उसीप्रकार एक-एक विषय (शब्द, रस, रूप इत्यादि) को जानने की योग्यतावाला क्षयोपशमभाव वह भावेन्द्रिय है । वह भी वस्तुतः पर ज्ञेय है । पर-ज्ञेय व ज्ञायकभाव की एकताबुद्धि ही ससार है, मिथ्यात्व है । भावेन्द्रिय के विषय जो सारी दुनियाँ, स्त्री, कुटुम्ब, देव, शास्त्र, गुरु आदि सभी पर-पदार्थ इन्द्रियो के विषय होने से इन्द्रिय कहे जाते हैं । वे भी पर-ज्ञेय हैं, इनसे मुझे लाभ होता है – ऐसा मानना मिथ्याभ्रान्ति है ।

शरीरपरिणाम को प्राप्त जड इन्द्रियो से भिन्न भगवान आत्मा निर्मल भेद-अभ्यास की प्रवीणता से प्राप्त होता है, दूसरी किसी भी रीति से प्राप्त नही होता । खूब पैसा खर्च करके मन्दिर वनवाने से, भगवान के दर्शन से या भगवान की वाणी से भगवान आत्मा प्राप्त हो जाय, ऐसा नही है । जिसभाव से तीर्थंकरप्रकृति का वध होता है, उस भाव से भी भगवान आत्मा ग्रहण नही होता । ज्ञान की पर्याय को ज्ञायक मे झुकाते

हुए निर्मल भेद-अभ्यास की प्रवीणता से अतरङ्ग मे प्रगट अतिसूक्ष्म चैतन्य-स्वभावरूप भगवान आत्मा प्राप्त होता है और उसकी प्राप्ति ही द्रव्येन्द्रियो को जीतना है।

मिथ्यादृष्टि को जो नौ पूर्वो और सात द्वीपसमुद्रो को जाननेरूप विभगज्ञान होता है, वह सब इन्द्रियज्ञान है, भावेन्द्रिय है। वह नौपूर्व का ज्ञानरूप विभगज्ञान निजस्वभाव को प्राप्त करने मे कुछ काम नही आता। भावेन्द्रिय को जीतना हो तो प्रतीति मे आती हुई अखण्ड, एक चैतन्यशक्ति से उन सब को सर्वथा पृथक् जानो।

पर्याय को अन्तर्मुख करने पर सामान्य एक अखण्ड ज्ञायकस्वभाव मे ही एकत्व प्राप्त होता है। इस अखण्ड मे एकत्व को प्राप्त हो जाऊँ—ऐसा विकल्प भी वहाँ नही रहता। पर्याय जो बाहर की ओर जाती थी, उसे ज्यो ही अन्तर्मुख किया, त्यो ही वह पर्याय स्वय स्वतन्त्रकर्त्ता होकर अखण्ड मे ही एकत्व पा लेती है। पर्याय को रागादि की ओर झुकाने पर मिथ्यात्व प्रकट होता है और अन्तर्मुख करते ही पर्याय का विषय अखण्ड ज्ञायक हो जाता है (करना नही पड़ता)।

अहाहा! उसे झुकानेवाला अपने सिवा और कौन है, दिशा फेरनेवाला भी अपने सिवा और कौन है? स्वय ही अपनी ओर झुकता है। वर्त्तमानदशा मे पर का लक्ष्य है, उसे स्व की ओर झुकाने से धर्म प्रगट होता है। अरे! जो पर-ज्ञेय हैं, उन्हे स्व-ज्ञेय मानकर आत्मा मिथ्यात्व के द्वारा जीत लिया गया है, अर्थात् मिथ्यात्व के द्वारा आत्मा का घात हो गया है। अब पर-ज्ञेय से भिन्न होकर स्व-ज्ञेय जो अखण्ड एक, चैतन्यस्वभाव है उसकी दृष्टि और प्रतीति जैसे ही की तब ही भावेन्द्रियाँ स्व से सर्वथा भिन्न ज्ञात होती है। उसे ही भावेन्द्रिय जीती—ऐसा कहा जाता है।

अहाहा! कैसी अद्भुत टीका है। भगवान आत्मा को हथेली पर रखे आँवले की तरह स्पष्ट बताती है। समस्त लोक का राज्य देने पर भी जिसकी एक प्रगट निर्मलपर्याय प्राप्त न हो, ऐसी अनत पर्यायें जिसके एक-एक गुण मे पड़ी है, ऐसे अनत गुणो का पिण्ड यह भगवान आत्मा है। यदि पर से भिन्न होकर उसकी दृष्टि करे तो पुरुषार्थ से वह निर्मलपर्याय अवश्य प्रगट हो। अहो! वह पुरुषार्थ भी अलौकिक है।

ग्राह्य अर्थात् ज्ञेय—जाननेलायक और ग्राहक अर्थात् ज्ञायक—जाननेवाला। द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय, और उनके विषय—ये तीनो जाननेलायक है और ज्ञायक आत्मा स्वय जाननेवाला है। ये तीनो ही पर-ज्ञेय

रूपसे और भगवान् आत्मा स्व-ज्ञेय रूपसे जाननेलायक है। चाहे भले ही भगवान सर्वज्ञपरमात्मा हो, उनकी वाणी हो या उनका समवशरण हो – वे सभी अतीन्द्रिय आत्मा की अपेक्षा से इन्द्रियाँ है, पर-ज्ञेय रूप से जानने-लायक है और आत्मा ग्राहक जाननेवाला है। ऐसा होते हुए भी ग्राह्य-ग्राहक लक्षणवाले सम्बन्ध की निकटता के कारण अज्ञानी ऐसा मानता है कि वाणी से ज्ञान होता है। ज्ञेयाकाररूप ज्ञान की पर्याय ज्ञान का परिणमन है, ज्ञेय का नही, ज्ञेय के कारण भी नही। तथापि ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध की अतिनिकटता है, इसलिये ज्ञेय से ज्ञान हुआ – ऐसा अज्ञानी भ्रम से मानता है।

पहले ज्ञान कम था, तथा शास्त्र सुनने से नया ज्ञान हुआ, इसलिये सुनने से ज्ञान हुआ–ऐसा अज्ञानी को लगता है। जैसा शास्त्र हो वैसा ज्ञान हो, तब अज्ञानी ऐसा मानता है कि शास्त्र से ज्ञान हुआ। ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध की अति-निकटता होने से परस्पर ज्ञेय ज्ञायकरूप और ज्ञायक ज्ञेयरूप–इसप्रकार दोनो एकरूप हो गये, ऐसा अज्ञानी को भ्रम हो जाता है। जैसी वाणी हो, उसीप्रकार का ज्ञान होता है किन्तु वह अपने कारण होता है, वाणी के कारण नही। परसत्तावलम्बी ज्ञान को पर से मानना अज्ञान है। ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध की निकटता के कारण अज्ञानी को ज्ञान और ज्ञेय परस्पर एक दिखते है, किन्तु वे एक नही है।

प्रश्न:– वाणी सुनी, इसलिए ज्ञान हुआ, क्योकि पहले तो वह नही था ?

उत्तर:– भाई ! उस काल मे ज्ञान की उस पर्याय की उसप्रकार के ज्ञेय को जानने की स्वय की योग्यता थी, इसलिए ज्ञान स्वय से हुआ है, वाणी के कारण नही। प्रवचनसार मे आता है कि वीतराग की वाणी पुद्गल है, उससे ज्ञान नही होता। ज्ञानसूर्य प्रभु स्वत: जाननेवाला है वह स्व को जानता हुआ, पर को स्वय जानता है। पर से तो वह जानता ही नही, किन्तु पर के अस्तित्व कारण भी नही जानता है।

वाणी, कुटुम्ब आदि पदार्थ तो ठीक, किन्तु साक्षात् तीर्थंकर भगवान भी ग्राह्य अर्थात् पर-ज्ञेय है। तथा आत्मा ही जाननेवाला है। अज्ञानी को इन्द्रियो के विषयभूत पदार्थ पर-ज्ञेय होते हुए भी एक हो-गये से दिखते है, उनसे भेदज्ञान कैसे किया जा सकता है, यह बात यहाँ कहते है।

ज्ञायक का तो स्वत जानने का स्वभाव है, भगवान या वाणी के कारण वह स्वभाव नही है। वाणी या राग का भी सग नही – ऐसा

आत्मा का स्वभाव है। असंगपनेरूप से अनुभव मे आते हुए उस चैतन्य-स्वभाव के द्वारा पर-ज्ञेय सर्वथा पृथक किए जाते है। देखो! द्रव्येन्द्रियो के समक्ष अन्तरग मे प्रगट अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव लिया, भावेन्द्रियो के समक्ष एक अखण्ड चैतन्यशक्ति ली और यहाँ तीसरे बोल मे ज्ञेय ज्ञायकता की निकटता के समक्ष चैतन्यशक्ति का असगपना लिया है। यह तो त्रिलोकीनाथ की वाणी का सार है।

आहाहा! जिस पथ मे प्रयाण करने से अनत आनद प्रगट होता है, वह भगवान श्री जिनेन्द्रदेव कथित पथ अपूर्व है। ऐसे अपूर्वमार्ग की वात जिन्हे सुनने को भी नही मिलती, वे प्रयोग किसप्रकार कर सकते है? जिसके फल मे सादि-अनत समाधि-सुख प्रगट होता है, उस मोक्षमार्ग की महिमा कहाँ तक करे? भाई! पर-पदार्थों का सयोग मिलना ये तो पूर्व के पुण्य-पाप के आधीन है, किन्तु मोक्षमार्ग तो पुरुपार्थ के आधीन है। जो अन्दर मे पुरुषार्थ करे, उसे मोक्षमार्ग प्रगट हुए विना नही रहे। अहो! आचार्य अमृतचद्रदेव ने टीका मे अमृत की धारा वहायी है।

केवली की वाणी मे भी जिसका सम्पूर्ण वर्णन नही आ सका, ऐसी अमूल्य वस्तु आत्मा का अनुभव होने पर जिसने असगपने से इन्द्रियो के विपयो से आत्मा को जुदा किया, पर से भिन्नपने – अधिकपने पूर्ण आत्मा को जाना, सचेतन किया व अनुभव किया, उसने इन्द्रियो के विषयो को जीता।

जड-इन्द्रियाँ, भावेन्द्रियाँ और उन इन्द्रियो के विषयभूत पदार्थ– ये तीनो ही ज्ञान के परज्ञेय है। इन तीनो को जिसने जीता अर्थात् इन सबसे जो भिन्न हुआ वही 'जिन' या 'जैन' है। अब तक स्व-पर की एकता-वुद्धि से मान्यता मे वह 'अजैन' था। किन्तु अब स्व को पर से भिन्न जानकर, निर्मलपर्याय को प्रकट करके, वह जितेन्द्रिय जिन हुआ है।

प्रश्न – इस गाथा मे 'सर्वथा जुदा किया' ऐसा आता है किन्तु जैनदर्शन मे तो सर्वथा होता ही नही क्योकि जैनदर्शन तो स्याद्वादी दर्शन है न?

उत्तर – जैसे नारियल मे छाला, काचली तथा गोले के ऊपर की लालिमा – इन सबके भीतर जो सफेद गोला है, वह उनसे सर्वथा भिन्न है। उसीप्रकार भगवान आत्मा चैतन्यगोला शरीर, कर्म और पुण्य-पाप की लालिमा या शुभाशुभभाव से सर्वथा भिन्न है। इनसे आत्मा कथञ्चित् भिन्न है और कथञ्चित् अभिन्न है – ऐसा नही है।

समयसारकलश टीका मे श्लोक १८१ मे पाँच बार 'सर्वथा' शब्द आता है। उदाहरण के रूप मे – (१) शुद्धत्वपरिणमन 'सर्वथा' सकल कर्मों के क्षय करने का कारण है। (२), ऐसा शुद्धत्वपरिणमन 'सर्वथा' द्रव्य के परिणमन रूप है। (३) निर्विकल्प शुद्धस्वरूप के अनुभवरूप ज्ञान, जीव के शुद्धत्वपरिणमन से 'सर्वथा' सहित है, इत्यादि।

जहाँ अपेक्षा लगती है वहाँ 'सर्वथा' ही होता है। जैसे कि द्रव्य-अपेक्षा से आत्मा नित्य ही है और पर्याय अपेक्षा से अनित्य ही है।

इसप्रकार जो कोई मुनि द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और उनके विषय-भूत पदार्थों को जीतता है, उसका सब ज्ञेय-ज्ञायक सकरदोष दूर हो जाता है। जानने योग्य वस्तु ज्ञायक की है और जाननेवाला ज्ञायक जाननेयोग्य वस्तु का है – ऐसा जानना अज्ञान है, ज्ञेय-ज्ञायक संकरदोष है। जड़-इन्द्रियाँ, भावेन्द्रियाँ तथा भगवान व भगवान की वाणी इत्यादि इन्द्रियो के विषय परज्ञेयरूपहोने से स्व से भिन्न है, ऐसा होते हुए भी अज्ञानी उन्हे अपनी मानता है। कारण कि जिससे लाभ हुआ माने, उसे अपनी माने बिना नही रह सकता। यदि वे अज्ञानी अपने अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव का अवलम्बन ले, अखण्ड एक ज्ञायक का आश्रय ले, असग-स्वभावी निज-चैतन्य का अनुभव करे तो यह सम्पूर्णदोष दूर हो जाता है।

समझाने के लिए कथन करे तो कथन मे क्रम पडता है, किन्तु जब आत्मा का आश्रय लिया जाता है, तब एकसाथ सभी इन्द्रियाँ (द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय व इनके विषयभूत-पदार्थ) जीत ली जाती है। अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव के बल से जब द्रव्येन्द्रियो को जीतता है, तब भावेन्द्रियाँ और इन्द्रियो के विषयो का लक्ष्य भी छूट जाता है। जब भावेन्द्रियो को जीते, तब भी अखण्ड एक चैतन्यशक्ति की प्रतीति होने पर द्रव्येन्द्रिय और पर-पदार्थो का लक्ष्य छूट जाता है। इसीप्रकार जब परविषयो को जीतता है, तब भी द्रव्य का ही लक्ष्य होने से जड-इन्द्रियाँ व भावेन्द्रियाँ जीत ली जाती है।

समझ मे आया! भाई! यह तो समझने का मार्ग है। समझना क्या 'करना' नही है? ज्ञानस्वरूप आत्मा तो जानने, समझने के अलावा और करता ही क्या है? (आत्मा का तो एकमात्र 'जानना' ही कार्य है जिसे अज्ञानी लोग कार्यरूप मे ही नही गिनते है।)

टाकी से उकेरी पत्थर की मूर्ति के समान यह भगवान आत्मा एक अखण्ड टकोत्कीर्ण ज्ञानस्वभावरूप है। राग व पर से भिन्न होने पर वह

जैसा है, वैसा दिखाई देता है। परमार्थ से ज्ञानी समाधिकाल मे ज्ञानस्वभाव के द्वारा सर्व-इन्द्रियो से भिन्न आत्मा का अनुभव करते है। द्रव्यसग्रह, गाथा ४७ मे आता है कि निश्चयरत्नत्रयस्वरूप निश्चयमोक्षमार्ग तथा व्यवहाररत्नत्रयात्मक व्यवहारमोक्षमार्ग – इसप्रकार दोनो प्रकार का मोक्षमार्ग निर्विकार स्वसवेदनरूप परमध्यान मे प्रगट होता है। अन्तरङ्ग ध्यान मे जाने पर ज्ञेय-ज्ञायक की भिन्नता होने पर जब इन्द्रियाँ जीत ली जाती है, तब जो अबुद्धिपूर्वक राग रह जाता है, वह व्यवहार-मोक्षमार्ग है। इसप्रकार जो अपने आत्मा का (सर्व इन्द्रियो से भिन्न) अनुभव करता है, वह जितेन्द्रिय जिन है।

द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और इन्द्रियो के विषय – इन तीनो को इन्द्रिय कहते है। उन सब का लक्ष्य छोडकर अपने ज्ञानस्वभाव से अपने पूर्ण शुद्धचैतन्य का जो अनुभव करता है, उसे निश्चयनय के ज्ञाता गणधरदेव जितेन्द्रियजिन तथा धर्मी कहते है। राग होता है, किन्तु वह आत्मा का परमार्थस्वभाव नही है। उस राग से पुण्य-पाप से पृथक होकर जब ज्ञायकस्वभाव का अनुभव होता है, तब जिनपने का – धर्म का प्रारम्भ होता है। ज्ञानस्वभाव (जानने का स्वभाव) राग मे या अचेतन पदार्थो मे नही है। इसकारण ज्ञानस्वभाव से आत्मा उन सर्व से भिन्न है, अधिक है।

अब कहते है कि कैसा है ज्ञानस्वभाव ? विश्व के ऊपर तैरता है अर्थात् ज्ञायक पर-ज्ञेय को जानता हुआ भी पर-ज्ञेयरूप नही होता। राग, शरीर, वाणी आदि परद्रव्यो को ज्ञायक जानता है, पर उनरूप नही होता है। पुण्य-पाप का भाव राग है, अचेतन है, उसमे ज्ञानस्वभाव का अंश भी नही है। ज्ञानस्वभाव चैतन्य भगवान है। उसकी अनत महिमा है। बहुत सक्षिप्त किन्तु बहुत महत्त्व की बात है।

ज्ञानस्वभाव समस्त लोकालोक को जानता हुआ भी उस रूप नही होता है, उससे भिन्न ही रहता है। अहाहा ! ज्ञानस्वभाव ऐसा है। भावशक्ति के कारण ज्ञानगुण का विकाररहित जो निर्मल परिणमन होता है, उसमे समस्त विश्व जानने मे आता है, तथापि ज्ञान की पर्याय विश्वरूप नही होती। केवलज्ञान की पर्याय सम्पूर्ण लोकालोक को जानती है, परन्तु लोकालोक के अस्तित्व के कारण वह ज्ञानपर्याय लोकालोक को जानती है – ऐसा नही है, ज्ञानपर्याय की तो स्वय की ही ऐसी शक्ति व सामर्थ्य है। लोकालोक को जानते हुए भी ज्ञान की पर्याय ज्ञेयरूप नही हुई है और ज्ञेय भी ज्ञान की पर्यायरूप नही हुए हैं। ऐसा ही वस्तु का

सहजस्वभाव है। इसकी महिमा ही ऐसी है, अधिक क्या कहे ? आचार्यदेव ने गम्भीर बात की है।

केवलज्ञान के समान श्रुतज्ञान की पर्याय भी विश्व को जानती है, तथापि विश्व से भिन्न रहती है। श्रुतज्ञान की पर्याय भले ही परोक्षरूप से जाने, तथापि जानने मे कोई वस्तु बाकी नही रहती। केवलज्ञान और श्रुतज्ञान मे मात्र प्रत्यक्ष-परोक्ष का ही अन्तर है, दूसरा कोई अन्तर नही है। दूसरे प्रकार से कहे तो जो राग की मदता है, उसे ज्ञान जानता है, तथापि ज्ञान का परिणमन राग से भिन्न रहता है अर्थात् विश्व के ऊपर तैरता है।

तथा वह ज्ञानस्वभाव प्रत्यक्ष उद्योतपने सदा ही अन्तरङ्ग मे प्रकाशमान है। पर पदार्थ मन या राग की सहायता बिना अपने अनुभव मे प्रत्यक्ष होता है। अन्तरङ्ग मे प्रकाशमान वस्तु त्रिकाल है। इसलिए ऐसा अनुभव पर्याय मे होने पर वह पर्याय भी सदा प्रकाशमान रहती है। शक्ति मे से व्यक्ति प्रकाशमानरूप होती ही है। ज्ञानस्वभाव स्वय से प्राप्त होता है, राग की मदता से नही। इसे कोई एकान्त कहे तो उससे कहते है कि भाई! वह एकान्त तो है किन्तु सम्यक्-एकान्त है। सम्यक्-एकान्त बिना अनेकान्त का भी ज्ञान नही होता। सम्यक्-एकान्त मे आये बिना पर्याय, राग और निमित्त के अनेकान्तपने का ज्ञान यथार्थ नही होता।

श्रीमद् राजचद्रजी ने भी कहा है कि – "अनेकान्त भी सम्यक्-एकान्तस्वरूप निजपद की प्राप्ति के सिवाय अन्य हेतु से उपकारी नही है।" भाई! यह निजपद की प्राप्ति सरल है, क्योकि जो निजवस्तु है, उसे ही तो प्राप्त करना है। राग निज मे नही है, अतः उसे प्राप्त करना सुलभ नही है।

अहाहा! इस ज्ञानस्वभाव को जिसने जाना, अनुभव किया, वह जानता है कि वह ज्ञानस्वभाव अविनश्वर है, कभी नाश नही होनेवाला त्रिकाल शाश्वत व स्वत सिद्ध है। अर्थात् उसे कोई करता नही है, वह परमार्थस्वरूप है। देखो 'भगवान ज्ञानस्वभाव' यह शब्द प्रयोग किया है। जैसा आत्मा भगवान है, वैसा ही इसका ज्ञानस्वभाव भी भगवान है। जिसने ऐसे आत्मा को अनुभव मे लिया, उसे ही आत्मा ऐसा है, परन्तु जिसने ऐसे आत्मस्वभाव को अनुभव मे नही लिया, उसे नही है, क्योकि आत्मा क्या वस्तु है, इसकी उसे खबर नही है।

प्रभु! तू ऐसा ही है, सहजवस्तु भी ऐसी ही है। ज्ञानस्वभाव विश्व के ऊपर तैरता है अर्थात् समस्त विश्व को जानने मे समर्थ होते हुए भी

उनसे भिन्न रहता है। ज्ञान ज्ञेय मे गये बिना ज्ञेयो को जानता है, इसलिए ज्ञेय ज्ञान से भिन्न है। ऐसा अविनश्वर स्वत सिद्ध, परमार्थरूप, परिपूर्ण भगवान ज्ञानस्वभाव है। राग से भिन्न होकर उसका अनुभव होने पर वह ऐसा है – यह ख्याल मे आता है। इसी का नाम जिनपना तथा सम्यग्दर्शन आदि धर्म है।

अहो! सच्चा जैन होने की यह अलौकिक विधि है। पर्याय मे राग से भिन्न पडकर जब भगवान ज्ञानस्वभाव अनुभव मे आया, तब जानने मे आया कि मैं स्वय पर से भिन्न व स्वय से परिपूर्ण हूँ और स्वसवेदन मे आने योग्य हूँ। इसप्रकार पर से भिन्न होकर भगवान परिपूर्ण ज्ञानस्वभावी वस्तु मे अन्तर्मग्न होना, पहली निश्चय-स्तुति है। यह केवली के गुण की स्तुति और आत्मा के गुण की स्तुति है।

शरीरपरिणाम को प्राप्त द्रव्येन्द्रियाँ, खण्ड-खण्डज्ञानरूप भावेन्द्रियाँ और इन्द्रियो के विषयभूत पदार्थ कुटुम्ब-परिवार, देव-शास्त्र-गुरु, इत्यादि सभी पर-ज्ञेय है और ज्ञायक स्वय भगवान आत्मा स्व-ज्ञेय है। विषयो की आसक्ति से उन दोनो का एक जैसा अनुभव होता था, निमित्त की रुचि से ज्ञेय-ज्ञायक का एक जैसा अनुभव होता था, किन्तु जब भेदज्ञान से भिन्नता का ज्ञान हुआ, तब ज्ञेय-ज्ञायक सकर दोष दूर हुआ। तब 'मैं तो एक अखण्ड ज्ञायक हूँ ज्ञेय के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नही है' – ऐसा अन्दर मे (स्व-सवेदन) ज्ञान हुआ

इसप्रकार यह प्रथम प्रकार की स्तुति का कथन हुआ।

11-3-2000

—०००—

अथ भाव्यभावकसकरदोषपरिहारेण–

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया बेंति ।।३२।।

यो मोहं तु जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानम् ।
तं जितमोहं साधुं परमार्थविज्ञायका ब्रुवन्ति ।।३२।।

यो हि नाम फलदानसमर्थतया प्रादुर्भूय भावकत्वेन भवंतमपि दूरत एव तदनुवृत्तेरात्मनो भाव्यस्य व्यावर्तनेन हठान्मोहं न्यक्कृत्योपरतसमस्त-भाव्यभावकसंकरदोषत्वेनैकत्वे टंकोत्कीर्णं विश्वस्याप्यस्योपरि तरता प्रत्यक्षोद्योततया नित्यमेवांतःप्रकाशमानेनानपायिना स्वतःसिद्धेन परमार्थ-सता भगवता ज्ञानस्वभावेन द्रव्यांतरस्वभाव-भाविभ्यः सर्वेभ्यो भावान्त

अब, भाव्यभावक-सकरदोष दूर करके स्तुति कहते है :–

कर मोहजय ज्ञानस्वभाव रु, अधिक जाने आतमा ।
परमार्थ विज्ञायक पुरुष ने, उन हि जितमोही कहा ।।३२।।

गाथार्थ :–[यः तु] जो मुनि [मोह] मोह को [जित्वा] जीतकर [आत्मानम्] अपने आत्मा को [ज्ञानस्वाभावाधिकं] ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्यभावो से अधिक [जानाति] जानता है [तं साधुं] उस मुनि को [परमार्थविज्ञायकाः] परमार्थ के जाननेवाला [जितमोहं] जितमोह [ब्रुवन्ति] कहते है ।

टीका –मोहकर्म फल देने की सामर्थ्य से प्रगट उदयरूप होकर भावकपने से प्रगट होता है तदनुसार जिसकी प्रवृत्ति है ऐसा जो अपना आत्मा–भाव्य, उसको भेदज्ञान के वल द्वारा दूर से ही अलग करने से इसप्रकार वलपूर्वक मोह का तिरस्कार करके, समस्त भाव्यभावक–सकरदोप दूर हो जाने से एकत्व मे टकोत्कीर्ण (निश्चल) और ज्ञान-स्वभाव के द्वारा अन्यद्रव्यो के स्वभावो से होनेवाले सर्व अन्यभावो से परमार्थत भिन्न अपने आत्मा को जो (मुनि) अनुभव करते हैं वे निश्चय से जितमोह (जिसने मोह को जीता है) जिन है । कैसा है वह ज्ञानस्वभाव ? समस्त लोक के ऊपर तिरता हुआ, प्रत्यक्ष उद्योतरूप से सदा अन्तरङ्ग मे

रेभ्यः परमार्थतोतिरिक्तमात्मान सचेतयते स खलु जितमोहो जिन इति द्वितीया निश्चय स्तुतिः ।

एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्म-मनोवचनकायसूत्राण्येकादश पचानां श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणामिन्द्रियसूत्रेण पृथग्व्याख्यातत्वाद्व्याख्येयानि । अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि ।

प्रकाशमान, अविनाशी, अपने से ही सिद्ध और परमार्थरूप ऐसा भगवान ज्ञानस्वभाव है ।

इसप्रकार भाव्यभावक-भाव के सकरदोष को दूर करके दूसरी निश्चयस्तुति है ।

इस गाथासूत्र मे एक मोह का ही नाम लिया है; उसमे 'मोह' पद को वदलकर उसके स्थान पर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय रखकर ग्यारह सूत्र व्याख्यानरूप करना और श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन तथा स्पर्शन–इन पाँच के सूत्रो को इन्द्रियसूत्र के द्वारा अलग व्याख्यानरूप करना, इसप्रकार सोलह सूत्रो को भिन्न-भिन्न व्याख्यानरूप करना और इस उपदेश से अन्य भी विचार लेना ।

भावार्थ –भावक मोह के अनुसार प्रवृत्ति करने से अपना आत्मा भाव्यरूप होता है, उसे भेद ज्ञान के वल से भिन्न अनुभव करनेवाले जितमोह जिन हैं । यहाँ ऐसा आशय है कि श्रेणी चढते हुए जिसे मोह का उदय अनुभव मे न रहे और जो अपने वल से उपशमादि करके आत्मानुभव करता है उसे जितमोह कहा है । यहाँ मोह को जीता है, उसका नाश नही हुआ ।

गाथा ३२ की उत्थानिका एवं गाथा पर प्रवचन

इकतीसवी गाथा मे ज्ञेय-ज्ञायक सकरदोष को दूर करके होने वाली परमार्थ-स्तुति का वर्णन किया । द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और इन्द्रियो के विषयभूत पदार्थों से भिन्न ज्ञानानन्दस्वभावी शुद्धात्मा का अनुभव करने वाले चौथे से सातवे गुणस्थानवर्ती ज्ञानी ही ऐसी परमार्थ स्तुति करते है ।

इस वत्तीसवी गाथा मे भाव्य-भावक सकरदोप का अभाव करके होनेवाली परमार्थ-स्तुति का कथन करते हैं ।

ज्ञानियो ने – मुनियो ने मिथ्यात्व को तो जीत ही लिया है, परन्तु अभी भी जो कर्म का उदय आता है, उसमे भी अपने उपयोग का जुडान न करके ज्ञान स्वभाव के द्वारा सर्व परद्रव्यो से अधिक अपने स्वरूप मे

रहकर जो उदय को मात्र जानते हैं, वे मुनि जितमोही कहलाते है। इन्द्रियो की एकता टूट गई है और स्वभाव की एकता हुई है, इससे ज्ञानी के ज्ञेय-ज्ञायक सकरदोष का तो अभाव हो गया, पर अभी अस्थिरता के कारण कर्म के उदयरूप भावक की ओर के झुकाव से जो विकार रूप भाव्य होता है, वह भाव्य-भावक सकरदोष है। निश्चय से आत्मा विकार का कर्त्ता नही है, इसलिए कर्म के उदय को भावक कहा और वह कर्म भावक अर्थात् विकार रूप भाव्य को करनेवाला है – ऐसा कहा। उस भाव्य-भावक सबन्ध को ज्ञानी ने अपने स्वभाव का आश्रय लेकर हटा दिया है अर्थात् कर्म के उदयरूप भावक का अनुसरण करके जो विकाररूप भाव्य होता था, वह स्वभाव का आश्रय होने पर हुआ नही। तब भाव्य-भावक सकरदोष भी दूर हो गया। इससे उसे परमार्थ के जानकार जितमोही कहते हैं।

इस गाथा मे जो मोहकर्म की बात है, वह चारित्र मोहनीय कर्म की बात है। चारित्र मोह के उदय मे ज्ञानी को परद्रव्य मे एकत्वबुद्धि नही होती, किन्तु जो अस्थिरता होती है वह स्वय कर्म के वश होने पर होती है। उक्त अस्थिरता का जो परिणमन है, उसका कर्त्ता ज्ञानी आत्मा है, क्योकि भाव्य होने लायक ज्ञानी भी है।

प्रवचनसार मे ४७ नयो मे एक कर्तृनय आया है। उसमे कहा है कि जैसे रगरेज रंग को करता है, उसी तरह धर्मात्मा भी रागरूप परिणमता है। इसलिए उस राग का कर्त्ता धर्मात्मा स्वय है। कर्म से राग होता है या कर्म राग का कर्त्ता है, ऐसा नही है। अब कहते है कि जिसने स्वय की पर्याय को ज्ञायक की ओर झुकाकर भावक के निमित्त से जो विकार होता था, उसे दूर ही से छोड दिया है (ऐसा नही कि पहले किया, फिर छोड दिया, किन्तु विकार जिसने होने ही नही दिया,) उसे जितमोह कहते है।

गाथा ३२ की टीका पर प्रवचन

जड मोहकर्म फल देने की सामर्थ्य से प्रकट उदयरूप होता है। फल देने की सामर्थ्य से अर्थात् अनुभाग से। यहाँ जो कर्म सत्ता मे पडे हैं, उनकी बात नही है, किन्तु उदय मे आये कर्मों की बात है। उदयपने जो कर्म प्रगट होते है वे भावक है, और विकारी होने लायक जो जीव हैं-उन्हे ही इन कर्मों का उदय निमित्त होता है।

जो जीव कर्म का अनुसरण करके विकार – भाव्य करता है, उसे ही कर्म का उदय भावक कहलाता है और वह विकार का होना भाव्य

कहलाता है। भावक कर्म का उदय तो जडकर्मो मे आता है, किन्तु उसके अनुसार जब तक प्रवृत्ति है, तब तक अस्थिरता होती है व भाव्य-रूप विकार होता है। इससे भाव्य-भावक दोनो एक रूप होते है। एक होते हैं, इसका अर्थ है कि दोनो का निमित्त-नैमित्तिक सबन्ध होता है। समकिती जितेन्द्रिय जिन तो हुआ है, परन्तु अभी भाव्य-भावक सकर दोष टालना शेष है। चारित्रमोह का उदय आता है और उसके अनुसार प्रवृत्ति होने से भाव्यरूप विकारीदशा होती है। ज्ञानी उस विकारी भाव्य का भी उपशम करता है – यह दूसरे प्रकार की स्तुति है।

जब मोहकर्म सत्ता मे से फल देने की शक्ति से भावकपने प्रगट उदय मे आता है, तब ज्ञानी स्वय आत्मा की अस्थिरता से उस रूप अनुसरण करने की प्रवृत्ति होने से, भावक के निमित्त से भाव्यरूप–विकार रूप परिणमता है। कर्म का उदय आता है, तो उसे उसरूप होना ही पडता हैं – ऐसा नही है। परन्तु जो कर्म का उदय आने पर स्वयं अपनी वर्त्तमान योग्यता से तद्रूप परिणमता है, तो वह भाव्य होता है।

जब तक ऐसी स्थिति रहती है, तब तक दूसरे प्रकार की स्तुति नही होती है; किन्तु जब आत्मा के गुणो की शुद्धि मे वृद्धि हो, तब यह स्तुति होती है।

जो विकारी पर्याय निमित्त का अनुसरण करके होती है, उसमे भाव्य-भावक सकरदोप है। इस दोष को जो जीतता है, उसे दूसरे प्रकार की स्तुति होती है और उसी के आत्मा के गुणो मे शुद्धि की वृद्धि भी होती है।

अहो! आचार्य अमृतचन्द्र देव ने कैसी गजब टीका लिखी है। इसमे अमृत और न्याय भरा हुआ है।

जो आत्मा भेदज्ञान के वल से उदय की ओर झुकने वाले भाव्य को रोक देता है, दूर से ही उदय से पीछे हटकर ज्ञायकभाव का अनुसरण करके स्थिरता करता है, उसके भाव्य-भावक सकरदोप टलता है।

प्रश्न :– "दूर से ही पीछे हटकर" इसका क्या तात्पर्य है?

उत्तर :–भावकरूप उदय का अनुसरण करने से आत्मा मे पहले विकारी भाव्य हुआ और पश्चात् वहाँ से हटे, पीछे को हटे – ऐसा नही है, वल्कि भेदज्ञान के वल से उदय मे अपने उपयोग को जोडा ही नही अर्थात् उदय की ओर का विकारी भाव्य हुआ ही नही, इसे ही 'दूर से ही पीछे हटकर' कहा जाता है। स्वभाव की ओर के झुकाव से पर की

ओर का झुकाव छूट गया—इसे ही 'दूर से ही पीछे हटकर' – ऐसा कहा है। आहाहा ! भेदज्ञान के बल द्वारा अर्थात् ज्ञायकभाव की ओर के विशेष झुकाव से 'पर से भिन्न एक ज्ञायक हूँ' ऐसे अन्तर मे स्थिरता की वृद्धि से जिसको उदय की ओर की दशा ही उत्पन नही हुई, उसे भाव्य-भावक सकरदोष दूर हुआ व उसने मोह को जीता है। अहो ! केवली व श्रुतकेवली द्वारा की गई यह जितमोह जिन के स्वरूप की कथनी कैसी अलौकिक है।

कितने ही लोग ऐसा मानते है कि जैसा कर्म का उदय आता है, वैसा भाव जीव मे होता ही है, तथा जब कर्म निमित्तरूप बनकर उदय मे आता है, तब उससे जीव को विकार करना ही पडता है, परन्तु ऐसा नही है। जीव जब स्वय कर्म के उदय का अनुसरण करके परिणमता है, तो भाव्य – विकारी होता है। तथा भेदज्ञान के बल से कर्म से दूर से ही पीछे हटकर, उदय का अनुसरण नही करे तो भाव्य – विकारी नही होता। उदय जडकर्म की पर्याय है व विकार आत्मा की पर्याय है। जड़ की पर्याय व आत्मा की पर्याय के बीच अत्यताभाव है। इसकारण न उदय के अनुसार विकार होता है और न करना ही पडता है।

'मोहकर्म है' ऐसा कहकर उसके अस्तित्व की सिद्धि की है। अब वह फल देने की सामर्थ्य रूप से प्रगट हुआ अर्थात् सत्ता मे से वह उदय मे आया। जो जीव उसका अनुसरण करके भाव्य या विकार करे तो वह कर्म का उदय भावकरूप से प्रगट हुआ—ऐसा कहा जाता है, और मोह-रूप होनेवाले जीव को भाव्य कहा जाता है। ऐसे भाव्य आत्मा को भेद-ज्ञान के बल द्वारा स्वभाव की ओर झुकाने से उदय की ओर का लक्ष्य छूट जाता है तथा अपने स्वभाव पर लक्ष्य जाता है। इसे ही मोह का जीतना कहते हैं। जिस समय उदय आया, उसी समय राग का अभाव होता है, पीछे नही, क्योकि जब उदय आया तब उसके अनुसार परिणमन नही हुआ और राग भी उत्पन्न ही नही हुआ।

आहाहा ! एक-एक पक्ति मे कितना रहस्य भरा है ? लोगो का भाग्य है कि समयसार जैसा शास्त्र बन गया, इसमे तो महामुनियो ने सत् का ढिढोरा पीटा है। कैसी अद्भुत टीका है ! ऐसी टीका भरत क्षेत्र मे कही नही है। अहा ! वीतरागी मुनियो को आनन्द मे झूलते-झूलते विकल्प आया और इन शब्दो की रचना हो गई, उन्होने रचना की नहीं है। उससमय शब्दो की पर्याय होनी थी, इसीलिये हुई है। टीका के शब्दो की पर्याय का जन्मक्षण था, इसीलिए टीका हुई है। विकल्प आया, इससे

टीका हुई—ऐसा नही है। टीका के शब्दो को इसी रूप मे परिणमना था, इसलिए शब्द इसरूप परिणम गये हैं, टीका करने का विकल्प तो निमित्तमात्र था।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि या मुनियो को भी भावक–निमित्त के लक्ष्य से स्वय ही भाव्यरूप होने की योग्यता पर्याय मे है। इसलिये भावक के उदय के काल मे, उसके अनुसार जो प्रवृत्ति करे तो उस आत्मा को भाव्य कहा जाता है; यह भाव्य-भावक सकरदोप है। ऐसा जो भाव्य आत्मा है, उसको भेदज्ञान के बल से अर्थात् स्वय के पुरुपार्थ से पर की ओर के झुकाव से जुदा किया। अत पर के लक्ष्यवाली विकारीदशा ही उत्पन्न नही हुई। उदय तो उदय मे रहा और अपने पुरुषार्थ से आत्मा को उदय से भिन्न करने पर पीछे स्वभाव की ओर मोडने पर मोह उत्पन्न ही नही हुआ, जिससे भाव्य-भावक सकर दोप दूर हो गया। निमित्त का अनुसरण छूटने पर, उसके अनुसार जो खुद का पुरुषार्थ हुआ था, वह अव उपादान का अनुसरण करके होता है, इससे भावक मोहकर्म के अनुसरण से हुई अस्थिरतारूप भाव्यदशा भी नही होती। समकिती को भगवान आत्मा का आश्रय तो है ही, परन्तु जवतक खुद का अस्थिरतारूप हीन पुरुषार्थ है, तवतक वह भाव्य होने की योग्यतावाला है। इसकारण जव कर्म का विपाक आता है तव उसके अनुसार भाव्य-भावक की एकता होती है। परन्तु जो सवल पुरुषार्थ करे अर्थात् निज स्वभाव के विशेप आश्रय द्वारा दूर से ही उदय से पीछे हटे तो भाव्य-भावक की एकता नही होती। जो भाव्य विकारी होता था, वह नही हुआ, यही उसका जीतना है।

जो सत्ता मे मोहकर्म है; वह जिससमय फल देने की सामर्थ्य से उदय मे आता है, उसीसमय ज्ञान की पर्याय मे उसका अनुसरण करके अस्थिरतारूप भाव्यदशा होने की योग्यता भी है। इस प्रकार दोनो की अस्ति सिद्ध की है। जव वह ज्ञानी आत्मा वलपूर्वक मोह का तिरस्कार करके निमित्त की ओर का आदर छोड देता है और कर्म के फल का अनादर करके अन्दर भगवान ज्ञायक त्रिकाली के आदर मे–आश्रय मे जाता है, तव उसके भाव्य-भावक संकरदोप दूर होता है। यह भगवान आत्मा स्वयं सर्वज्ञस्वभावी है, यह उसी की स्तुति है। भाई! वस्तुस्थिति ही ऐसी है। अपने भाव मे इसका भाव भासन होना चाहिए। चाहे जैसा मान ले तो काम नही चलेगा। अहो! केवली का अनुसरण करनेवाली यह अलौकिक टीका है। परमार्थवचनिका मे पण्डित वनारसीदासजी कहते हैं कि 'यह चिठ्ठी (वचनिका) यथायोग्य सुमति प्रमाण केवलीवचन

अनुसार है। जो जीव सुनेगे, समझेगे व श्रद्धा करेगे उनको भाग्यानुसार कल्याणकारी होगी।' जब बनारसीदासजी ऐसा कहते हैं तो फिर सन्तो की तो क्या बात ?

कर्मों के उदय के काल मे उसका अनुसरण करने से जो विकारी-दशा होती है, वह दोप है। जो मुनि मोह का तिरस्कार करके अर्थात् चारित्रमोह के उदय को उपेक्षा करके उसका अनुसरण छोड़कर निज-ज्ञायकभात्र का अनुभव करते है, वे निश्चय से जितमोहजिन हैं। यह दूसरे प्रकार की स्तुति पहले प्रकार की स्तुति से ऊची है। ३१वी गाथा मे जघन्य, ३२वी गाथा मे मध्यम और ३३वी गाथा मे उत्कृष्ट स्तुति कही है।

जितने अश मे पर की ओर से हटकर स्व की ओर आते है; उतने अश मे भाव्य-भावक सकरदोष दूर होता है, भाव्य-भावक की जो एकता थी, वह दूर हो जाती है। यह दोप दूर होने पर मुनि एकत्व मे टकोत्कीर्ण (निश्चल) और ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्यो के स्वभाव से होनेवाले समस्त अन्य भावो से परमार्थत भिन्न, अपने आत्मा का अनुभव करते है। आहाहा ! 'णाणसहावाधियं' अर्थात् ज्ञानस्वभाव द्वारा अन्य द्रव्यो के स्वभाव से होनेवाले सर्वभावो से परमार्थ से भिन्न निज आत्मा को जो मुनि अनुभव करते हैं, वे निश्चय से जितमोही हैं। उन्होने मोह को जीता है, किन्तु अभी टाला नही है। मोह का उपशम किया है, किन्तु क्षय नही किया है, पुरुपार्थ अभी इतना मन्द है।

मुनि व समकिती की दृष्टि मे राग का अभाव है, इसलिए कर्म के उदय से वर्त्तमान पर्याय मे राग होता है – ऐसा नही जानना। बल्कि ऐसा जानना कि पर्याय मे अभी राग होने की योग्यता है, जिससे भावकर्म की ओर का झुकाव होने पर रागरूप भाव्य होता है। मुनि भावकरूप मोह-कर्म की उपेक्षा करके, उसका लक्ष्य छोडकर, एक ज्ञायकभाव त्रिकाली ध्रुव भगवान का आश्रय करते हैं, अत उन्हे जितमोहजिन कहते हैं। भाई ! यह एक ज्ञायकभाव जिसे यथार्थ समझ मे आ जाता है, उसे अन्य सभी भाव यथार्थ समझ मे आ जाते हैं किन्तु जिसे एक ज्ञायक भाव का ठिकाना नही मिलता, वह अपना सभी दोप कर्म पर मढता है।

अब कहते है कि ज्ञानस्वभाव कैसा है ? ३१वी गाथा मे जो कहा था, वही बात यहाँ है। यह समस्त लोक के उपर तैरता है। ज्ञान की पर्याय मे स्व-पर प्रकाशक होने का स्वभाव है। इसलिए ज्ञानस्वभाव द्वारा

ज्ञेय को — लोक को जानता है, तथापि वह ज्ञेय से भिन्न रहता है। ज्ञेय को बराबर जानता हुआ, ज्ञेयरूप नही होता। समस्त ज्ञेयो के ऊपर-ऊपर तैरता रहता है अर्थात् जानने योग्य ज्ञेय से जुदा रहता है। वह ज्ञान-स्वभाव प्रत्यक्ष उद्योतपने सदा ही अतरग मे प्रकाशमान है। इसलिए ज्ञानपर्याय के द्वारा अन्तर मे आत्मा को विषय बनाने पर वह पर्याय मे भी प्रत्यक्ष हो जाता है। ऐसा अविनाशी भगवान ज्ञान स्वभाव स्वय से ही सिद्ध और परमार्थसत् है। आहाहा ! आत्मा तो भगवान है ही, किन्तु उसका ज्ञानस्वभाव भी भगवान है। इस निज भगवान की यह स्तुति है अर्थात् आत्मा स्वय भगवान है, यह उसकी स्तुति है।

शिष्य ने पूछा था कि तीर्थंकर और केवली की निश्चय स्तुति कैसे होती है ? उसका उत्तर इस प्रकार दिया है कि जब आत्मा राग व पर से भिन्न होकर, एक निज ज्ञायकभाव मे एकाग्र होकर उसे अनुभवता है, वही उसकी स्तुति है। भावक कर्म का उदय है और भाव्य होने लायक निज आत्मा है, उन दोनो की एकता ही भाव्य-भावक सकरदोष है। उस दोप को दूर करते हुये दूसरे प्रकार की स्तुति होती है।

गाथासूत्र मे एक मोह का ही नाम लिया है। उसमे 'मोह' पद बदलकर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म नोकर्म, मन, वचन, काय इन पदो को रखकर ग्यारह सूत्रो का भिन्न-भिन्न रूप से व्याख्यान करना चाहिए। यद्यपि चारित्रमोह का उदय तो कर्म मे आया, किन्तु सम्यक्दृष्टि ज्ञानी का आत्मा भी उसका अनुसरण करके पर्याय मे राग द्वेष रूप होने की योग्यतावाला है। इसकारण कर्म के उदय के अनुसार जो पर्याय मे रागद्वेष होते है, वह सकरदोष है। जव ज्ञायकस्वभाव के उग्र आश्रय से ज्ञानी का कर्मोदय की ओर का झुकाव छूटकर पर से पृथक्ता हो जाती है और उससे राग-द्वेष उत्पन्न नही होते बल्कि अरागी-अद्वेषी-वीतरागी परिणाम प्रगट होते है, उसे राग-द्वेष का जीतना कहते हैं।

राग व द्वेष मे चारो कषाये आ जाती है। क्रोध तथा मान द्वेप-रूप है, माया तथा लोभ रागरूप हैं। यद्यपि चारित्रमोह का उदय तो जड मे आता है, तथापि समकिती तथा मुनि के भी चारित्रमोह के चारो ही प्रकार के कर्मोदय का अनुसरण करके कषायरूप परिणमन करने की योग्यता है। यहाँ कषाय प्रगट हुई, पश्चात् जीतकर छोड देता है, ऐसा नही समझना, परन्तु कषाय उत्पन्न ही नही होने देता है, यह समझना चाहिए। कषाय के उदय की ओर का लक्ष्य छोड़कर स्वभाव के लक्ष्य से

स्वभाव का अनुसरण करते हुए भावक व भाव्य का भेदज्ञान होता है। इस कारण भाव्य कषाय उत्पन्न ही नही होती है। उसे ही कषाय का जीतना कहा है।

एक ओर ४७ शक्तियो के वर्णन मे ऐसा कहा है कि कर्म का निमित्त होने पर भी राग का कर्त्तापना जीव के नही, जीव राग का अकर्त्ता है, ऐसा इसका स्वभाव है। राग को न करे – ऐसा उसमे अकर्त्तागुण है। "समस्त कर्मों के द्वारा किये गये ज्ञातृत्वमात्र भिन्न जो परिणाम, उन परिणामो के करण के उपरमरूप अकर्तृत्वशक्ति है" कर्म के द्वारा किया गया परिणाम अर्थात् विकारी परिणाम जीव करे, वस्तुतः ऐसा जीव मे कोई गुण नही है। इसकारण पर्याय मे जो विकार होता है, उसे कर्म के निमित्त से देखकर कर्म से किया गया – ऐसा कहा है। जबकि यहाँ यह कहते हैं कि राग के भाव्यरूप होने की योग्यता जीव की है, इसलिए वह राग का कर्त्ता है। प्रवचनसार मे ४७ नयो में एक कर्तृत्वनय है। उसमे कहा है— 'आत्मद्रव्य कर्त्तानय से, रगरेज की तरह रागादि परिणाम का करने-वाला है।' जहाँ ४७ शक्तियो का वर्णन किया है, वहाँ द्रव्यदृष्टि से आत्मा राग का अकर्त्ता—ऐसा कहा है। शक्तियो के प्रकरण मे दृष्टि के विषय और स्वभाव की अपेक्षा से वर्णन है, इसकारण जीव राग का कर्त्ता नही है— ऐसा अकर्त्ता स्वभावी कहा है। जब कि यहाँ पर्याय मे क्षण-क्षण में कभी पराधीनता, कभी स्वाधीनता होती है, उसका ज्ञान कराया है।

दृष्टि के साथ जो ज्ञान प्रगट हुआ है, वह ऐसा जानता है कि जीव 'कर्त्तानय से रागरूप परिणमन करनेवाला है। कर्म के कारण जीव रागरूप होता है, ऐसा नही है। उसी प्रकार राग करने लायक है – ऐसा भी नही है; परन्तु रागरूप से जीव स्वयं परिणमता है, इसलिये कर्त्ता कहा जाता है। ऐसा होते हुए भी 'कर्त्तानय' के साथ 'अकर्त्तानय' होने से राग का ज्ञानी साक्षी ही है, जाननेवाला ज्ञाता ही है। राग को न करे — ऐसा अकर्तृत्वगुण आत्मा मे है। तथापि पर्याय मे जो राग होता है, वह कर्म के निमित्त से कर्म का अनुसरण करके पर्याय की तद्रूप होने की योग्यता से होता है।

पर की ओर का झुकाव (वलण) छोडकर स्व की ओर का झुकाव करना, वह सच्चा पुरुषार्थ है। शक्ति व द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा से जीव के राग-द्वेष का भोक्तापना नही है, क्योकि उसमे अभोक्तृत्व-शक्ति है। कर्म निमित्त से हुए विकारी भावो के उपरमरूप आत्मा का

अनुभव करना, वही वस्तुत. अपना भोक्तापना है। यह गुण व द्रव्य को अभेद करके कही गई बात है।

जब 'पर्याय मे क्या है ?' – यह सिद्ध करना हो, तब भोक्तृत्वनय से सुख-दु.ख, सकल्प-विकल्प, पुण्य-पाप व राग-द्वेष का भोगनेवाला है, ऐसा एक नय है, परन्तु पर को आत्मा भोगनेवाला नही है। धवल के छठे भाग मे भी कहा है कि अन्तरग कारण प्रधान है, निमित्त प्रधान नही है।

प्रश्न :—स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे आता है कि देखो पुद्गल की शक्ति ! वह केवलज्ञान को भी रोकती है। क्योकि केवलज्ञान को रोकने वाला केवलज्ञानावरणी कर्म है न ?

उत्तर :—यह तो पुद्गल मे निमित्तरूप होने की उत्कृष्ट मे उत्कृष्ट कितनी शक्ति है, यह बतलाया है। केवलज्ञानावरणी कर्म का उदय आया, इसलिए केवलज्ञान रुका है – ऐसा नही है। उदय तो जड मे है और उदय का अनुसरण करने की भी योग्यता जीव की स्वय की है। इसलिए ज्ञान अपने कारण से हीनपने को प्राप्त हुआ है। परिणति मे विषय का प्रतिबध होनेपर कम विषय ग्रहण करता है और अधिक विषय छोड देता है, वह स्वय से होता है, ज्ञानावरणी कर्म तो इसमे निमित्तमात्र है। ज्ञानावरणी कर्म का उदय भावकपने आता है, वह उसकी सत्ता मे है और जीव मे अपने कारण उसका अनुसरण करके ज्ञान की हीनदशा होनेरूप भाव्यदशा होती है – यह भाव्य-भावक सकरदोष है। जब, पर्याय को पूर्ण निर्मल करने के लिए पूर्णानन्दस्वरूप भगवान का पूर्ण आश्रय करने से निमित्त का आश्रय छूट जाता है तब वह भाव्यपना नही रहता और केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। इसीप्रकार मति-श्रुत-अवधि-मन:पर्यय ज्ञान मे भी समझ लेना चाहिए। इसप्रकार ज्ञानावरणी कर्म जीता जाता है।

केवलदर्शनावरणी कर्म का उदय आने पर, उसका अनुसरण करे, तो दर्शन की हीनताहोनेरूप भाव्य होता है। ज्ञानी व मुनि के भी पर्याय मे दर्शन की हीनदशारूप भाव्य होने की योग्यता होती है, उस योग्यता के कारण भाव्य होता है, कर्म के कारण नही। यदि वह उदय की ओर का लक्ष्य छोडकर स्वभाव मे आ जाये (सम्पूर्ण आश्रय प्राप्त करले) तो केवलदर्शनावरणी कर्म जीत लिया जाता है। उसीप्रकार चक्षु-अचक्षु-अवधिदर्शनावरणी कर्म जीतने के सबध मे भी समझना चाहिए। अन्तराय कर्म के निमित से दान, लाभ, भोग, उपयोग, तथा वीर्य यह

पाच पर्याये हीन होती है। अन्तराय कर्म का उदय आता है, इसलिए ये पाच पर्याये हीन होती है, ऐसा नही है। परन्तु जब यह हीनदशा होती है, तब कर्म के उदय को निमित्त कहते है। लाभान्तराय, दानान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय तथा वीर्यान्तराय कर्म का उदय तो जड मे आता है और उसी समय हीनदशा होने की स्वय उपादान मे योग्यता है इस कारण उदय का अनुसरण करने पर हीनदशारूप भाव्य होता है। परन्तु पर का लक्ष्य छोडकर त्रिकाल वीतरागमूर्ति अकपायस्वभावी भगवान आत्मा का आश्रय करे तो भाव्य-भावक की एकता का संकरदोप टल जाता है। इसप्रकार यह अन्तराय कर्म का जीतना है।

इसीप्रकार आयुकर्म का उदय है, इसलिए जीव को शरीर मे रहना पडता है – ऐसा नही है। भावक कर्म का उदय जड कर्म मे है और उसका अनुसरण करने से पर्याय मे रहने की योग्यता स्वय की है, इस कारण जीव वहाँ रहा है। आयुकर्म तो निमित्तमात्र है। साता-असाता वेदनीय कर्म का उदय तो जड मे होता है। वस्तुत यह तो संयोग की प्राप्ति में निमित्त है। उसके उदय से जीव की पर्याय मे जो किंचित् नुकसान होता है, वह अपने खुद के कारण है, उदय के कारण नही है।

नाम कर्म का उदय भी जड मे होता है और उसके निमित्त से जीव की सूक्ष्म अरूपी निर्लेपदशा प्रगट नही होती। वह जीव की स्वंय की योग्यता से प्रगट नही होती है, क्योकि उस काल मे उदय का अनुसरण होता है।

गोत्रकर्म सबध मे भी ऐसा ही समझ लेना।

इसप्रकार आठो ही कर्मो का उदय तो जड में है और भावकर्म के अनुसरण से होने योग्य जो भाव्य है, वह आत्मा की स्वय की दशा है, कर्म के कारण नही। उदय को न गिनकर, उसकी परवाह न करके, उसका लक्ष्य छोडकर, निष्कर्म निज ज्ञायकभाव का अनुसरण करने से ज्ञानी की ऐसी भाव्य दशा ही नही होती, यही कर्म का जीतना कहलाता है।

घाति कर्म के कारण आत्मा मे घात होता है, ऐसा नही है। घाति कर्म के उदयकाल मे पर्याय मे जितनी हीनदशारूप मे परिणमने की अर्थात् भाव घातिरूप होने की स्वय की योग्यता है वह कर्म के कारण नही है। कर्म के कारण कर्म मे पर्याय होती है, आत्मा मे नही। आहाहा! पर के कारण दूसरे मे कुछ हो, ऐसा जैनधर्म मे है ही नही। गुणो की पर्याय होती है, उसमें वह स्वय ही कारण है, क्योकि वह स्वय ही कर्म का अनुसरण करता है। स्वय ही जितने अश मे निमित्त का आश्रय छोडकर

साक्षात् वीतरागस्वरूप स्वभाव का अनुसरण करके वीतराग पर्याय प्रगट होती है, उतने अश मे ही भाव्य-भावक सकरदोष टलता है।

जिसप्रकार द्रव्यकर्म जीता जाता है, उसीप्रकार नोकर्म का अनुसरण करके जो विकारीभाव होता है, उसे छोडकर स्वभाव का अनुसरण करने से नोकर्म का जीतना होता है। तथा मन के निमित्त से जो कम्पन है, उसका अनुसरण करके योगरूप होने की योग्यता स्वय की है। वह योग जितने अश मे स्वभाव का अनुसरण करता है, उतने अश मे भाव्य-भावक सकरदोष टल जाता है।

इस शास्त्र के आस्रव अधिकार मे गाथा १७३ से १७६ तक के भावार्थ मे पण्डित जयचदजी ने लिखा हैं कि क्षायिक सम्यग्दृष्टि की सत्ता मे से मिथ्यात्व का क्षय होते ही अनन्तानुबधी कषाय का तथा उस सबधी अविरति व योगभाव का भी क्षय हो गया होता हैं, इसलिये उसे इसप्रकार का बध नही होता।' श्रीमद्रायचद ने भी कहा है कि 'सर्वगुणाश ते समकित'। पण्डित टोडरमलजी ने भी रहस्यपूर्ण-चिट्ठी मे चतुर्थ गुणस्थान होने पर ज्ञानादिगुण एकदेश प्रगट हो जाते है – ऐसा कहा है।

उपरोक्त मत के अनुसार वचन, काय व पाँच इन्द्रियो का भी विस्तार समझ लेना चाहिए। इन्द्रियो के अनुसरण से जो हीनदशा हो, वह भाव्य है, उस भाव्य का अनिन्द्रियस्वभाव के आश्रय से टलना – यह जितेन्द्रियपना है।

इसप्रकार समय-समय के परिणाम स्वय से स्वतत्रपने हैं, ऐसा सिद्ध करते है। परिणाम उग्ररूप परिणमे या उग्ररूप न परिणमे, यह सब स्वय के कारण है, इससे निमित्त का जरा भी हस्तक्षेप नही है। आत्मावलोकन शास्त्र मे आता है कि – 'जिस द्रव्य की जो पर्याय जिससमय जिसप्रकार से होती है, वह स्वय के कारण से ही होती है, यह निश्चय है।'

इसीप्रकार मोह के स्थान पर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय तथा पाच इन्द्रियाँ – ये सोलह पद रखकर वर्णन किया है। इनके अलावा असख्यप्रकार के शुभाशुभभाव है, तथा अनतप्रकार के अशो की हीनता व उग्रता होती है – उनका भी विचार कर लेना चाहिए।

गाथा ३२ के भावार्थ पर प्रवचन

भगवान आत्मा शुद्ध-चैतन्यघन है। द्रव्येन्द्रियाँ, भावेन्द्रियाँ तथा इन्द्रियों के विषय – ये तीनो ज्ञेय हैं, अपनी चीज नही – ऐसे जानने को

सर्वज्ञ परमात्मा केवलीभगवान की स्तुति कहते हैं। जो स्वय की वस्तु होती है, वह दूर नही होती और जो दूर हो जाती है, वह अपनी वस्तु कैसे हो सकती है ? जिसे केवली भगवान की स्तुति करना हो, उसे राग व निमित्त से भिन्न होना आनन्द व सर्वज्ञस्वभाव से परिपूर्ण भगवान आत्मा के साथ एकता की निर्विकल्प भावना करनी चाहिए। यह बात तो ३१वी गाथा की हुई। अब यहाँ ३२वी गाथा मे यह कहा है कि – राग और निमित्त से भिन्न होकर चैतन्यघन भगवान आत्मा के सन्मुख होने से जिसको पर्याय मे शुद्धता प्रगट हुई है (ज्ञेय-ज्ञायक सकरदोष दूर हुआ है), उस ज्ञानी को अभी मोहकर्म का निमित्तपना है और उनकी ओर झुकनेवाली विकारी भाव्यदशा भी है। जब यह ज्ञानी निमित्त का लक्ष्य छोडकर अन्दर निज ज्ञायकभाव का उग्र आश्रय लेकर उस भाव्य-मोह-रागादि को जीतता है अर्थात् मोह का उपशम करता है, अतः भाव्य-भावक सकरदोष टल जाता है, और आत्मा की स्तुति होती है अर्थात् आत्मगुण की वृद्धि होती है।

जडकर्म जो मोह उसके अनुसार प्रवृत्ति से आत्मा भाव्यरूप होता था, उसे भेदज्ञान के बल से जिसने पृथक् अनुभव किया, वह जितमोहजिन हुआ। उपशमश्रेणी चढते हुए मोहकर्म के उदय का अनुभव नही रहता, किन्तु अपने बल से उपशम आदि करके जो आत्मा का अनुभव करे, वह जितमोह है।

प्रश्न :– उपशमादि क्यो कहा ?

उत्तर :– क्योकि उपशम श्रेणी मे ज्ञान, दर्शन और वीर्य का क्षयोपशमभाव भी होता है।

जैसे पानी मे जो मैल होता है वह स्थिर होकर नीचे बैठ जाता है, उसीप्रकार विकार (चारित्रमोह) उपशमश्रेणी मे दब जाता है, किन्तु उसका क्षय नही होता। अत. उसे उपशम कहते हैं।

उपशम मात्रमोहकर्म का ही होता है जबकि क्षयोपशम, उदय और क्षय चारो ही घातिया कर्मों का होता है। क्षयोपशमभाव पहले से बारहवे गुणस्थान तक व क्षायिकभाव चौथे से चौदहवे गुणस्थान तक होता है और पारिणामिकभाव तो सदा ही सर्व जीवो के होता है।

इसप्रकार ३२वी गाथा मे भाव्यभावक सकरदोप को दूर करके प्रगट होनेवाली दूसरी स्तुति का व्याख्यान हुआ।

अथ भाव्यभावकभावाभावेन—

जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स ।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं ।।३३।।

जितमोहस्य तु यदा क्षीणो मोहो भवेत्साधोः ।
तदा खलु क्षीणमोहो भण्यते स निश्चयविद्भिः ।।३३।।

इह खलु पूर्वप्रक्रांतेन विधानेनात्मनो मोहं न्यक्कृत्य यथोदितज्ञानस्वभावातिरिक्तात्मसंचेतनेन जितमोहस्य सतो यदा स्वभावभावभावनासौष्ठवावष्टंभात्तत्संतानात्यंतविनाशेन पुनरप्रादुर्भावाय भावकः क्षीणो मोहः स्यात्तदा स एव भाव्यभावकभावाभावेनैकत्वे टंकोत्कीर्णं परमात्मानमवाप्तः क्षीणमोहो जिन इति तृतीया निश्चयस्तुतिः ।

अब, भाव्यभावक भाव के अभाव से निश्चयस्तुति बतलाते है —

जित मोह साधु पुरुषका जब, मोह क्षय हो जाय है ।
परमार्थविज्ञायक पुरुष, क्षीणमोह तब उनको कहे ।।३३।।

गाथार्थ :—[जितमोहस्य तु साधोः] जिसने मोह को जीत लिया है ऐसे साधु के [यदा] जब [क्षीणः मोहः] मोह क्षीण होकर सत्ता मे से नष्ट [भवेत्] हो [तदा] तब [निश्चयविद्भिः] निश्चय के जानने-वाले [खलु] निश्चय से [सः] उस साधु को [क्षीणमोहः] 'क्षीणमोह' नाम से [भण्यते] कहते है ।

टीका :—इस निश्चयस्तुति मे पूर्वोक्त विधान से आत्मा मे से मोह का तिरस्कार करके, पूर्वोक्त ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक आत्मा का अनुभव करने से जो जितमोह हुआ है, उसे जब अपने स्वभाव-भाव की भावना का भलीभाँति अवलम्वन करने से मोह की सतति का ऐसा आत्यन्तिक विनाश हो कि फिर उसका उदय न हो—इसप्रकार भावकरूप मोह क्षीण हो, तव (भावक मोह का क्षय होने से आत्मा के विभावरूप भाव्यभाव का अभाव होता है, और इसप्रकार) भाव्यभावक भाव का अभाव होने से एकत्व होने से टकोत्कीर्ण (निश्चल) परमात्मा को प्राप्त हुआ वह 'क्षीणमोह जिन' कहलाता है । यह तीसरी निश्चय स्तुति है ।

एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्म-मनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि । अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि ।

यहाँ भी पूर्व कथनानुसार 'मोह' पद को बदलकर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्ष, घ्राण, रसन, स्पर्श—इन पदो को रखकर सोलह सूत्रो का व्याख्यान करना और इसप्रकार के उपदेश से अन्य भी विचार लेना ।

भावार्थः—साधु पहले अपने बल से उपशम भाव के द्वारा मोह को जीतकर, फिर जब अपनी महासामर्थ्य से मोह को सत्ता मे से नष्ट करके, ज्ञानस्वरूप परमात्मा को प्राप्त होते है तब वे क्षीणमोह जिन कहलाते है ।

गाथा ३३ की उत्थानिका, गाथा व उसकी टीका पर प्रवचन

गाथा ३१ मे ज्ञेय-ज्ञायक सकरदोप को जीतने की बात कही थी । गाथा ३२ मे भाव-भावक सकरदोप दूर करने की बात कही । अब गाथा ३३ मे भाव्य-भावक सबध के अभाव की अर्थात् क्षय की बात करते है ।

विकाररूप होने की योग्यता भाव्य और उसका निमित्तरूप कर्म भावक है । इन दोनो के बीच जो भाव्य-भावक सबध है, उसके अभावपूर्वक होने वाली तीसरी निश्चय स्तुति की चर्चा यहाँ करते हैं ।

गाथा ३२ मे भाव्य-भावक सबध के अभाव की बात न करके उपशम की बात की थी, यहाँ उसके अभाव अर्थात् क्षय की बात करते है ।

निश्चय-स्तुति अर्थात् स्वाभाविक गुणो की शुद्धि की विकासदशा । पहले ३२वी गाथा मे जिसप्रकार कहा गया था, उसीप्रकार ज्ञानस्वभाव द्वारा अन्यद्रव्यो से अधिक अर्थात् भिन्न ऐसे आत्मा का अनुभव करके, जिन्होने मोह का तिरस्कार किया है, मोह का उपशम किया है; वे जीव अब क्षायिक भाव द्वारा मोह का नाश (क्षय) करते है । उपशमश्रेणी मे ग्यारहवे गुणस्थान मे क्षायिकभाव नही होता है । इस कारण मुनिजन वहाँ से पीछे हटकर फिर उग्र पुरुषार्थ करके मोहादि का क्षय करते है । उपशमश्रेणी मे पुरुषार्थ मद होता है, जबकि क्षपकश्रेणी मे उग्र होता है ।

यह स्तुति साधकभाव है और वह बारहवे गुणस्थान तक ही होती है । तेरहवे गुणस्थान मे स्तुति नही होती, क्योकि १३वाँ गुणस्थान-केवलज्ञान तो स्तुति का फल है । पहले कहे अनुसार इन्द्रियो को जीतकर जिसने अतीन्द्रिय आत्मा का ज्ञान व भान किया है, वह कर्म के निमित्त

का अनुसरण करने से उत्पन्न होनेवाले भाव्य का उपशम करता है तब वह जितमोह होता है। वही आत्मा के निजस्वभाव का उग्र अवलबन करता है। जिस भावना से (एकाग्रता से) कर्म का उपशम हुआ था उसमे पुरुषार्थ मद था। परन्तु अब वह ज्ञायक आत्मा के अति उग्र आश्रय से पुरुषार्थ को उग्र बनाता है, इससे कर्म का क्षय होता है। उग्र पुरुषार्थ से मोह की सतति का अत्यन्त नाश हो जाता है। पुरुषार्थ से मोह का क्षय होता है – ऐसा कहना तो निमित्त का कथन है। कर्म का क्षय तो उसकी स्वय की योग्यता से होता है।

स्वभावसन्मुखता के अति उग्र पुरुषार्थ से जब केवल ज्ञान प्रगट होता है, तब चार घातिया कर्मों का क्षय होता है – ऐसा निमित्त से कहा जाता है। वास्तव मे तो वे कर्म स्वय नाश होने की योग्यता वाले थे, इस कारण क्षयपने को प्राप्त होते हैं। उस काल मे कर्म की पर्याय स्वय अकर्मरूप होने योग्य होती है। इस कारण कर्म का क्षय होता है।

इसप्रकार स्वभाव के उग्र पुरुषार्थ से पर्याय मे जो उपशमभावरूप मद पुरुषार्थ था, उसे टाल दिया – यह तीसरे प्रकार की स्तुति है।

परिपूर्ण भगवान आत्मा का अनुभव करके जो जितमोह हुआ है; उसने राग को दबाया है, राग का उपशम किया है; किन्तु अभाव नही किया, क्योकि उसको स्वभाव का उग्र अवलम्बन नही है। अब यदि वह निज ज्ञायकस्वभाव का अति उग्र अवलम्बन ले तो मोह की सतति के प्रवाह का ऐसा अत्यन्त विनाश हो कि पुन मोह का उदय ही नही हो। इस प्रकार जब भावकरूप मोह का क्षय होता है, तब विभावरूप भाव्य का भी आत्मा मे से अभाव होता है।

जो भावकमोह है उसकी ओर का झुकाव छूटने पर और उग्र पुरुषार्थ से स्वभाव का अवलम्बन लेने पर भावकमोह व भाव्यमोह दोनो का अभाव होता है। इससे क्षीणमोह गुणस्थान से जीव परमात्मपने को प्राप्त हो जाता है। यह तीसरे प्रकार की स्तुति है।

बारहवे गुणस्थान मे भाव्य-भावकभाव का अभाव होने से एकपने को प्राप्त होने से जो परमात्मपने को प्राप्त हुये, वे क्षीण मोह जिन हैं।

जिन तीन प्रकार के कहे है – प्रथम जितेन्द्रिय जिन, दूसरे उपशम की अपेक्षा से जितमोह जिन और तीसरे क्षायिकरूप क्षीणमोह जिन। सम्यग्दर्शन होने पर जितेन्द्रिय जिन होते हैं। उपशमश्रेणी होने पर जित

मोह जिन होते है तथा अति उग्र पुरुषार्थ द्वारा पूर्ण वीतराग स्वरूप प्रगट होने पर क्षायिकजिन या क्षीणमोह जिन होते हैं।

दूसरे प्रकार की स्तुति मे उपशमश्रेणी की वात है, उपशम सम्यग्दृष्टि की वात नही है। इसी प्रकार तीसरे प्रकार की स्तुति में केवल ज्ञानी की वात नही है, परन्तु वारहवे क्षीणमोह गुणस्थान की वात है, क्योकि केवलज्ञान तो स्तुति का फल है। क्षीणमोह होने पर जो पूर्ण वीतरागता हुई वह तीसरे प्रकार की उत्कृष्ट स्तुति है। उपशम स्तुति मे (गाथा ३२ मे) जो १६ वोल थे, उन्हे यहाँ भी लगा लेना चाहिए।

भाई! यह भगवान जिनेन्द्रदेव का मार्ग तो अति सूक्ष्म है। अनंतकाल मे जिसे समझा नही है वह मार्ग यहाँ वताया जा रहा है।

गाथा ३३ के भावार्थ पर प्रवचन

सर्वज्ञ परमात्मा की निश्चय स्तुति किसे कहते है? यह प्रश्न था उसका उत्तर दिया है कि यह भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूपी वस्तु है। उसकी दृष्टि करके उसमे एकता करना केवली की प्रथम प्रकार की स्तुति है। भगवान की पूजा, भक्ति, यात्रा करने का भाव शुभभाव होने से पुण्यवध के कारण हैं। वे भाव वास्तविक धर्म नही है और वास्तविक स्तुति भी नही है, तथा वास्तविक जिनशासन भी नही हैं।

भगवान आत्मा शुद्ध, ज्ञानस्वरूप, पूर्ण, पवित्र, आनन्दधाम है। उसके सम्मुख होकर; निमित्त, राग व एक समय की पर्याय से विमुख होकर; अन्दर एकाग्र होने पर पर्यायवुद्धि छूटने से प्रथमप्रकार की स्तुति होती है। राग से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव होने पर सम्यग्दर्शन होता है, वह पहली स्तुति है। ऐसा होते हुए भी सम्यग्दृष्टि के कर्म के उदय की ओर के झुकाव से स्वय मे स्वय के कारण भावकर्म के निमित्त से विकारी भाव्य होता है। यह भाव्य-भावक संकरदोष है, तथा कर्म के उदय का लक्ष्य छोडकर अखण्ड, एक चैतन्यघन प्रभु के सन्मुख होकर उसमे अपने उपयोग का जुडान करने से उपशमभाव द्वारा ज्ञानी उस मोह को जीतता है। यह दूसरे प्रकार की स्तुति है।

प्रथम प्रकार की स्तुति मे सम्यग्दर्शन सहित आनद का अनुभव है। दूसरे प्रकार की स्तुति मे भावकमोह कर्म के उदय के निमित्त से जो विकारी भाव्य हुआ, उसे स्वभाव के आश्रय से दवा दिया व उपशमभाव प्रगट किया। इसप्रकार की स्तुति मे स्वभावसन्मुखता का पुरुषार्थ है, परन्तु वह मन्द है। तीसरे प्रकार की स्तुति मे प्रवल पुरुषार्थ से अन्दर

एकाग्र होने से राग का नाश होता है। दूसरे प्रकार की स्तुति मे जो उपशमश्रेणी थी, उससे पीछे हटकर क्षपकश्रेणी मे जाने से रागादि का क्षय होता है। उपशमश्रेणी मे रागादि का क्षय नही होता है। इस कारण पीछे हटकर सातवें गुणस्थान मे आकर पश्चात् उग्र पुरुषार्थ द्वारा क्षपक-श्रेणी माँडने पर रागादि का अभाव होता है।

अहाहा ! अनादि से अपना स्वरूप तो अखण्ड एक आनदकद प्रभु भगवानस्वरूप ही है। आत्मा स्वय परमात्मस्वरूप, जिनस्वरूप, वीतराग-स्वरूप ही है। तथा जो विकल्प उठते है, वे तो अन्यस्वरूप कर्म हैं। आत्मा तो मात्र अकषायस्वभावी आनंदकद है। उसकी दृष्टि करके अनुभव करना प्रथम प्रकार से आत्मा की स्तुति है। तत्पश्चात् राग के उदय मे अपने पुरुषार्थ की कमजोरी से पर मे उपयोग का जुडान होता था, उसे भी अपने स्वरूप की ओर के पुरुषार्थ से रोककर, राग को दबाया, राग का उपशम किया – यह उपशम श्रेणी दूसरे प्रकार की स्तुति है। उपशमश्रेणी आठवे गुणस्थान मे शुरू होती है। ग्यारहवे गुणस्थान मे उपशमभाव होता है, किन्तु वहाँ क्षायिकभाव नही होता है। इस कारण वहाँ से पीछे हटकर, सातवे गुणस्थान मे आकर फिर पुरुषार्थ की अति उग्रता से जो राग का नाश किया जाता है – वह तीसरे प्रकार की स्तुति है।

राग का उपशम हो या क्षय हो – काम तो पुरुपार्थ का ही है। पहले अपने वल से दूसरे प्रकार की स्तुतिरूप उपशम भाव से मोह को जीता था, परन्तु नाश नही किया था। फिर अपनी महासामर्थ्य से अर्थात् अप्रतिहतस्वरूप की ओर के अप्रतिहतपुरुपार्थ से मोह का नाश किया है। यह भी उपदेश का कथन है। वास्तव मे तो उग्र पुरुषार्थ के काल मे मोह का अपने कारण नाश होता है, परन्तु भाषा मे तो ऐसा ही आता है कि पुरुपार्थ से मोह का नाश किया।

यह आत्मा परमात्मा है। वह एक समय की पर्याय के बिना परि-पूर्ण वीतरागस्वभावी परमात्मस्वरूप वस्तु है। उसमे उग्र अप्रतिहत पुरुषार्थ द्वारा स्थिर होकर जब मुनिराज मोह का अत्यन्त नाश करते हैं, तब ज्ञानस्वरूप प्रगट परमात्म पद को प्राप्त होते हैं, उन्हे क्षीण-मोहजिन कहते हैं। वारहवे गुणस्थान को प्राप्त पूर्ण वीतराग क्षीणमोह-जिनरूप तीसरे प्रकार की उत्कृष्ट स्तुति है। इस उत्कृष्ट स्तुति का फल तेरहवाँ गुणस्थान केवलज्ञान है।

इसप्रकार जो केवलज्ञानस्वभावी अपना आत्मा ज्ञाता-दृष्टास्वरूप है, उसकी ओर के सम्पूर्ण झुकाव तथा सत्कार से पर्याय मे राग का और

उसके भावककर्म का सत्ता मे से नाश होता है, उसे तीसरे प्रकार से केवली की उत्कृष्ट स्तुति कहते है। अहाहा ! अपनी पूर्ण सत्ता का जो अनादर था, उसे छोडकर, उसकी स्वीकृति करने से और सभाल करने से राग की व कर्म की सत्ता का नाश होता है, तव वह क्षीण मोहजिन होता है।

अब यहाँ इस निश्चय-व्यवहाररूप स्तुति के अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं –

(शार्दूलविक्रीडित)

एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चया-
न्नुः स्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः स्तुत्या न तत्तत्त्वतः।
स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवे-
न्नातस्तीर्थंकरस्तवोत्तरबलादेकत्वमात्मांगयो ॥२७॥

श्लोकार्थ :– [**कायात्मनोः व्यवहारतः एकत्वं**] शरीर और आत्मा के व्यवहारनय से एकत्व है [**तु पुनः**] किन्तु [**निश्चयात् न**] निश्चयनय से नही है; [**वपुषः स्तुत्या नुः स्तोत्रं व्यवहारतः अस्ति**] इसलिये शरीर के स्तवन से आत्मा-पुरुषका स्तवन व्यवहारनय से हुआ कहलाता है [**तत्त्वतः तत् न**] निश्चयनय से नही, [**निश्चयतः**] निश्चय से तो [**चित्स्तुत्या एव**] चैतन्य के स्तवन से ही [**चितः स्तोत्रं भवति**] चैतन्य का स्तवन होता है। [**सा एवं भवेत्**] उस चैतन्य का स्तवन यहाँ जितेन्द्रिय, जितमोह, क्षीणमोह – इत्यादिरूप से कहा वैसा है। [**अतः तीर्थंकरस्तवोत्तरबलात्**] अज्ञानी ने तीर्थंकर के स्तवन का जो प्रश्न किया था उसका इसप्रकार नयविभाग से उत्तर दिया है, जिसके बल से यह सिद्ध हुआ कि [**आत्म – अङ्गयोः एकत्व न**] आत्मा और शरीर मे निश्चय से एकत्व नही है ॥२७॥

कलश २७ पर प्रवचन

शरीर और आत्मा के व्यवहारनय से एकपना है। शरीर मे बाह्य-शरीर, कर्म व राग – ये सब ग्रहण कर लेना। आत्मा और शरीर – दोनो का एक क्षेत्र मे रहने से व दोनो के वीच निमित्त-नैमित्तिक सबध होने से एक है – ऐसा व्यवहारनय कहता है, परन्तु वे दोनो निश्चयनय से एक नही है। जड रजकणो से निर्मित शरीर से चैतन्यभगवान भिन्न है।

जिसप्रकार पानी से भरे हुए कलश मे पानी कलश से भिन्न है और कलश पानी से भिन्न है, उसीप्रकार भगवान आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न है। यद्यपि शरीर और आत्मा को व्यवहारनय से एक कहा है, तथापि निश्चयनय से अर्थात् वास्तव मे वे दोनो एक नही हैं, भिन्न-भिन्न ही हैं।

शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन हुआ – ऐसा व्यवहारनय से कहा जाता है, किन्तु निश्चयनय से नही। आहाहा देखो ! भगवान त्रिलोकीनाथ अरहतदेव परवस्तु है, और उनकी स्तुति का विकल्प राग है। इससे यह स्तुति आत्मा की स्तुति नही है, क्योकि विकल्प आत्मा से भिन्न वस्तु है। राग से लेकर समस्त परपदार्थ अर्थात् सिद्ध भगवान व तीर्थंकर भी इस आत्मा के स्वरूप से भिन्न होने से अनात्मा है। जो अनात्मा की स्तुति करता है, वह चैतन्य की स्तुति नही करता है, किन्तु चैतन्य से भिन्न जड की स्तुति करता है। जिसप्रकार आत्मा से भिन्न ऐसे अनात्मस्वरूप जड शरीर की स्तुति से राग होता है, उसीप्रकार आत्मा (स्वय) से भिन्न ऐसे समवसरण मे विराजमान साक्षात् त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव के शरीर के गुणो की स्तुति करने पर भी परलक्ष्य होने से, राग उत्पन्न होता है। इसलिए वह आत्मा की स्तुति नही है।

जैसे पर-पदार्थ निज-जीव नही है, इस अपेक्षा से अजीव हैं उसीप्रकार निजद्रव्यरूप भगवान आत्मा की अपेक्षा से दूसरे द्रव्य अद्रव्य हैं। दूसरे द्रव्य अपनी-अपनी अपेक्षा से तो स्वद्रव्यरूप है, किन्तु अपने जीव द्रव्य की अपेक्षा से वे अद्रव्य है। उसीप्रकार इस आत्मा के क्षेत्र की अपेक्षा से परक्षेत्र अक्षेत्र हैं, इस आत्मा के स्वकाल की अपेक्षा से परकाल अकाल है, और इस आत्मा के स्वभाव की अपेक्षा से पर-स्वभाव अस्वभाव है।

समयसार के अन्त मे अनेकान्त के परिशिष्ट मे १४ बोल मे यह बात आती है। आत्मा स्व-चतुष्टय से है तथा पर-चतुष्टय से नही है। इसीप्रकार परपदार्थ अपने स्व-चतुष्टय से है, किन्तु इस आत्मा के चतुष्टय से नही है। ज्ञानमात्र जीववस्तु की स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल व स्वभावरूप से अस्ति है; तथा परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल व परभावरूप से नास्ति है। स्वद्रव्य अनंत गुण व पर्यायो का पिण्ड है। असख्य प्रदेशमय उसका क्षेत्र है, एकसमय की पर्याय उसका स्वकाल है तथा अपने गुण उसका स्वभाव है। इसप्रकार मेरे स्व-द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से अरहत व सिद्ध भगवान का आत्मा अद्रव्य, अक्षेत्र, अकाल तथा अस्वभाव है। यह तो पर से भिन्नता की बात है। इसलिए अरहतादि की स्तुति इस आत्मा की स्तुति नही है।

कलश टीका मे २५२वे कलश मे उक्त कथन से भी सूक्ष्म बात कही है। वहाँ तो यह कहा है कि अखण्ड निर्विकल्प अभेद एकाकार वस्तु स्वद्रव्य तथा स्वद्रव्य मे 'ये गुण तथा यह गुणी' ऐसे भेद विकल्प करना पर-द्रव्य है। असख्यप्रदेशी एकरूप आकार तो स्वक्षेत्र व असख्यप्रदेश-

ऐसे भेद करना परक्षेत्र है। पूर्णानंद का नाथ त्रिकाली वस्तु तो स्व-काल है, तथा एकसमय की पर्याय पर-काल है, द्रव्य की सहजशक्ति तो स्वभाव है तथा एकरूप वस्तु मे 'यह ज्ञान, यह दर्शन'- ऐसे भेद करना परभाव है।

आहाहा ! वस्तु बहुत सूक्ष्म है, भाई ! जहाँ 'मैं स्वय द्रव्य व यह मेरी पर्याय' ऐसा भेद करना भी परद्रव्य है; वहाँ पुण्य-पाप के भावो का क्या कहना, वे तो पर-द्रव्य हैं ही। अभेद स्वभाव मे गुणभेद की कल्पना करना परभाव है। अहो ! दिगम्बर सतो की वीतरागमार्ग की बात अलौकिक है। इसप्रकार की बात अन्यत्र कही भी नही है।

नियमसार की ५०वी गाथा मे भी आता है कि स्वरूप के आश्रय से प्रगट हुई एकसमय की निर्मल वीतरागी सवर, निर्जरा व केवलज्ञान की पर्याय भी पर-द्रव्य, पर-भाव है व इसी से हेय है। अपना त्रिकाली स्वभाव स्व-द्रव्य है तथा एकसमय की पर्याय त्रिकाली मे नही है, त्रिकालरूप नही है अत पर-द्रव्य है। मूलगाथा मे 'परदव्व परसहावमिदि हेयं' अर्थात् पूर्वोक्त सर्वभाव परस्वभाव है, परद्रव्य है, इसकारण हेय है – ऐसा कहा है तथा टीका में ऐसा लिखा है कि 'शुद्ध निश्चय के बल से (शुद्ध निश्चयनय से) वे सब हेय हैं। क्योकि वे परभाव हैं, तथा इसी से पर-द्रव्य हैं। सर्व विभाव गुणपर्यायो से रहित शुद्ध अत. तत्त्वस्वरूप स्वद्रव्य उपादेय हैं।'

आहाहा ! वे चार ज्ञान – मति, श्रुत, अवधि व मन.पर्ययज्ञान भी विभावगुणपर्याये है। त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव स्व-द्रव्य है और वह एक ही उपादेय है। यहाँ पर्यायबुद्धि छुडाकर द्रव्यबुद्धि कराने का प्रयोजन है। जिसप्रकार पर-द्रव्य मे से निर्मलपर्याय उत्पन्न नही होती, उसीप्रकार एक निर्मलपर्याय मे से दूसरी नवीन निर्मलपर्याय नही आती। भले ही मोक्षमार्ग की पर्याय प्रगट हो, तथापि दृष्टि मे से तो छोड़ने लायक ही है; क्योकि त्रिकाली एक अखण्ड आनन्दकद ज्ञायकवस्तु ही उपादेय है, तथा एकसमय की निर्मल मोक्षमार्ग की पर्याय पर-द्रव्य होने से हेय है।

यहाँ ऐसा कहते हैं कि आत्मा व शरीर मे एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध होने से शरीर की स्तुति से केवली की स्तुति हुई – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है, परन्तु निश्चयनय से यह यथार्थ स्तुति नही है, क्योकि निश्चय-नय से आत्मा व शरीर एक नही हैं। शरीर का स्तवन कहो या निज भगवान आत्मा के सिवाय अन्य आत्मा का – केवली का स्तवन कहो; ये सब व्यवहार से स्तवन हैं। निश्चय से केवली के गुणो की स्तुति सच्ची स्तुति नही है, यह तो राग है।

निश्चय से तो चैतन्य के स्तवन से ही चैतन्य का स्तवन होता है। आहाहा! अखण्ड एक त्रिकाली ध्रुव चैतन्यरूप ज्ञायकभाव का सत्कार करना अर्थात् उसके सन्मुख होकर उसमे एकाग्र होना तथा निर्मल पर्याय प्रगट करना ही यथार्थ-स्तुति है। यही स्तुति भव के अभाव का कारण है, दूसरी कोई स्तुति या भक्ति भव के अभाव का कारण नही है। कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि सम्मेदशिखरजी के दर्शन करने से ४९ भव मे अवश्य मुक्ति हो जाती है, परन्तु अरे भाई! यह वीतरागमार्ग की बात नही है। सम्मेदशिखर तो क्या त्रिलोकीनाथ अरहतदेव के साक्षात् दर्शन करे, तथापि भव का अभाव नही होता। अन्दर चिदानन्द भगवान आत्मा त्रिलोकीनाथ त्रिकाल विराजता है, उसका दर्शन भव के अभाव का कारण है। इस आत्मा के सिवाय शरीर से लगाकर अन्य सर्व अपनी आत्मा की अपेक्षा अनात्मा हैं। उनकी स्तुति करना निश्चय-स्तुति नही है। पूर्ण चैतन्यस्वभाव मे एकाग्रतारूप स्तवन से चैतन्य का सच्चा स्तवन होता है। इसके सिवाय भगवान की स्तुति अथवा एकसमय की पर्याय जो परद्रव्य है, उसकी स्तुति (एकाग्रता) चैतन्य की स्तुति नही है।

आहाहा! चैतन्यबिंब वीतरागमूर्त्ति भगवान आत्मा की स्तुति से केवली के गुण की निश्चयस्तुति अथवा स्वचैतन्य का स्तवन होता है। जितेन्द्रियजिन, जितमोहजिन तथा क्षीणमोहजिन जो पहले तीन प्रकार से कहा था, वह ही चैतन्य का वास्तविक स्तवन है।

अरे! एक समय की पर्याय से रहित जो त्रिकाली पूर्णस्वरूप है, वह तत्त्व है कि नही? सत्ता है कि नही? यदि सत्ता है तो पूर्ण है कि नही? यदि वह पूर्ण है तो अनादि-अनन्त है या नही? वस्तु अनादि-अनत पूर्ण त्रिकाल ध्रुवस्वरूप है। उसकी ओर के झुकाव से निश्चयस्तुति होती है। उसके सिवाय विकल्पो द्वारा भगवान की लाख स्तुति करे, तो भी यथार्थ (सच्ची) स्तुति नही है।

प्रश्न :—मोक्षशास्त्र के मगलाचरण मे आता है कि —

"मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वंदे तद्गुणलब्धये ॥

जो मोक्षमार्ग के नेता है, कर्मरूपी पर्वतो को भेदन करनेवाले है, विश्वतत्त्वो को जाननेवाले हैं — ऐसे परमात्मा के गुणो की प्राप्ति के लिए मैं उनकी वदना करता हूँ।" 13-3-2000

इसमे भगवान के गुणो का स्तवन करने से उनके गुणो का लाभ इस आत्मा को होता है – ऐसा क्यो आया है ?

उत्तर :–भाई ! यह तो निमित्त का या व्यवहार का कथन है। 'स्तुति करता हूँ' यह भाव तो विकल्प है। परन्तु अमृतचन्द्राचार्यदेव ने तीसरे कलश मे जैसा कहा है, तदनुसार उस विकल्प के काल मे दृष्टि द्रव्य पर होने से जो शुद्धि की प्राप्ति होती है, उसे उपचार से भगवान की स्तुति हुई – ऐसा कहा जाता है।

अमृतचन्द्राचार्यदेव स्वय तीसरे कलश मे कहते हैं कि "मैं तो शुद्ध चैतन्यघन हूँ, परन्तु मेरी पर्याय में इससमय कुछ मलिनता है। उस मलिनता का टीका करने से ही नाश होवे तथा परम विशुद्धि प्रगट होवे"। टीका करने का भाव तो विकल्प है। क्या विकल्प से विशुद्धि हो जाती है ? इससे अशुद्धि का नाश कैसे हो ? पाठ तो ऐसा ही है 'व्याख्यया एव – टीका से हो'। इसका अर्थ ऐसा है कि मैं जब टीका करता हूँ तब विकल्प तो है, परन्तु मेरा जोर तो अखण्डानद द्रव्य पर है। टीका के काल मे दृष्टि का जोर द्रव्य पर है इससे उस जोर के कारण अशुद्धि का नाश हो तथा परम विशुद्धि हो – ऐसा कहने का अभिप्राय है।

शुद्ध चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा पूर्ण ज्ञानसूर्य है। ऐसे परिपूर्ण अखण्ड द्रव्यस्वभाव मे एकाग्रता से एकता होना सच्ची निश्चयस्तुति है।

इस प्रकार अज्ञानी ने जो तीर्थंकर के स्तवन का प्रश्न किया था, उसका नयविभाग से उत्तर दिया। उस उत्तर के बल से यह सिद्ध हुआ कि आत्मा व शरीर का निश्चय से एकपना नही है। आत्मा व अनात्मा एक नही है। उसी प्रकार एक समय की पर्याय और त्रिकालभाव एक रूप नही है। अहाहा ! वस्तु ऐसी सूक्ष्म और गभीर है।

अब फिर, इस अर्थ के जानने से भेदज्ञान की सिद्धि होती है इस अर्थ का सूचक काव्य कहते हैं –

(मालिनी)

इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकतायां
नयविभजनयुक्त्याऽत्यंतमुच्छादितायाम् ।
अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य
स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव ॥२८॥

इत्यप्रतिबुद्धोक्तिनिरासः ।

श्लोकार्थ :–[**परिचित तत्त्वैः**] जिन्होने वस्तु के यथार्थ स्वरूप को परिचयरूप किया है ऐसे मुनियो ने [**आत्म–काय–एकतायां**] जब आत्मा और शरीर के एकत्व को [**इति नय-विभजन-युक्त्या**] इसप्रकार नय-विभागकी युक्ति के द्वारा [**अत्यन्तम् उच्छादितायाम्**] जडमूल से उखाड फेका है – उसका अत्यन्त निषेध किया है, तब अपने- [**स्व-रस-रभस-कृष्टः प्रस्फुटन् एक एव**] निजरस के वेग से आकृष्ट हुए प्रगट होनेवाले एक स्वरूप होकर [**कस्य**] किस पुरुष को वह [**बोध**] ज्ञान [**अद्य एव**] तत्काल ही [**बोधं**] यथार्थपने को [**न अवतरति**] प्राप्त न होगा ? अवश्य ही होगा।

भावार्थ :—निश्चय-व्यवहारनय के विभाग से आत्मा और पर का अत्यन्त भेद बताया है, उसे जानकर, ऐसा कौन पुरुष है जिसे भेदज्ञान न हो ? होता ही है, क्योकि जब ज्ञान अपने स्वरस से स्वय अपने स्वरूप को जानता है, तब अवश्य ही वह ज्ञान अपने आत्मा को पर से भिन्न ही बतलाता है। कोई दीर्घ ससारी ही हो तो उसकी यहाँ कोई बात नही है।

इसप्रकार, अप्रतिबुद्ध ने जो यह कहा था कि—"हमारा तो यह निश्चय है कि शरीर ही आत्मा है" उसका निराकरण किया। 13-3-2000

कलश २८ पर प्रवचन

शिष्य ने गुरु के समक्ष शका प्रगट करके कहा कि शरीर तथा आत्मा एक है; क्योकि जब आप तीर्थंकर भगवान की स्तुति करते हो, तब ऐसा कहते हो कि "अहो ! इन्द्रो के मन को भी जीत लेनेवाला आप का क्या सुन्दर रूप है, जो कि अपने तेज से सूर्य को भी ढँक देता है। भगवान ! आपकी दिव्यध्वनि तो मानो साक्षात् अमृत वर्षाती है।" हे गुरुदेव ! आप ही इसप्रकार स्तुति करते हो। इस कारण हम ऐसा मानते हैं कि शरीर को ही आप आत्मा मानते हो।

उसका यहाँ समाधान करते हैं कि जिन्होने वस्तु के यथार्थ स्वरूप का परिचय किया है अर्थात् ज्ञानानदस्वरूप वस्तु का परिचय करके आनन्द का अनुभव किया है – ऐसे मुनिजनो ने आत्मा और शरीर के एकपने को नयविभाग की युक्ति से जडमूल से उखाड फेका है, अत्यन्त निषेध कर दिया है। अहाहा ! क्या कहते हैं ? व्यवहारनय से आत्मा और शरीर का एकपना कहा जाता है, परन्तु निश्चय से एकपना है नही।

इसी शास्त्र की चौथी गाथा मे तो यह कहा है कि 'राग कैसे करना और कैसे भोगना' – यह बात तो तूने अनन्तवार सुनी है, अनन्तवार तेरे

परिचय मे भी आ गई है और अनुभव भी खूब किया है, परन्तु राग से भिन्न भगवान आत्मा की बात कभी सुनी नही, परिचय मे भी नही आई और अनुभव भी नही की। परन्तु इस कलश मे ऐसा कह रहे है कि जिन्होने वस्तु के यथार्थस्वरूप का परिचय किया है, बारम्बार आनन्दस्वरूप का अनुभव किया है, उन मुनिजनो ने राग का विकल्प और भगवान आत्मा तीनकाल मे भी एक नही हो सकते – ऐसा भेदज्ञान करके उनके एकपने को जडमूल से उखाड फेका है।

कलश टीका मे 'परिचित तत्त्वै' का अर्थ – 'प्रत्यक्षरूप से जाना है, जीवादि सकल द्रव्यो के गुण-पर्यायो को जिसने – ऐसे सर्वज्ञदेव' – ऐसा किया है। इसप्रकार केवली तथा सम्यग्ज्ञानी मुनिजनो ने आत्मा व शरीरादि के एकपने को नयविभाग की युक्ति से उखाड फेका है; अर्थात् रागादि सभी अन्य पदार्थ भगवान आत्मा से अत्यन्त भिन्न है – ऐसा बताया है।

पचास्तिकाय की १७२वी गाथा मे व्यवहार को साधन और निश्चय को साध्य कहा है। परन्तु वह तो आरोपित कथन है, वास्तविक साधन तो राग से भिन्न होकर चैतन्य का अनुभव करना है। उसके साथ जो राग होता है, उसे उपचार से साधन कहा जाता है, परन्तु राग से निश्चय प्रगट नही होता। व्यवहार से जिनको साधन कहा है, उनका यहाँ अत्यन्त निषेध किया है।

अहाहा! अनन्तऋद्धिओ से भरी हुई निजवस्तु परिपूर्ण है, उसे भगवान ने बताया है, तथापि अनादि से राग व शरीर पर लक्ष्य होने से अज्ञानी का आत्मा पर लक्ष्य नही है। इसकारण उसे ऐसा आभास होने लगा है कि मानो आत्मा है ही नही। भाई! दया, दान व्रतादि के विकल्प से लाभ मानने पर चैतन्य का मरण (घात) हो जाता है। राग की एकता मे आत्मा ज्ञात नही होता, राग ही ज्ञात होता है। चैतन्यज्योति पूर्णानद प्रभु का प्रेम छोडकर जो शुभाशुभ राग का प्रेम करता है, उसके लिए आत्मा मरण तुल्य ही है। 'राग मेरा है, मै रागमय हूँ और राग मेरा कर्त्तव्य है' – ऐसा माननेवाले की मान्यता मे वीतरागस्वरूप आत्मा का अनादर है। इसकारण उसे आत्मा के अस्तित्व मे ही भ्राति हो जाती है।

यह भ्रान्ति परमगुरु परमेश्वर त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर देव का उपदेश सुनने से मिटती है। सर्वज्ञ परमेश्वर का यह उपदेश है कि "भगवन! तू तो आनन्द का कन्द है। हमारी पर्याय मे जैसा परमात्मपद प्रगट हुआ है, वैसा ही परमात्मपद तेरे स्वभाव – शक्ति मे पडा है। तुम्हारा आत्मा

(शक्तिरूप से) हमारे आत्मा जैसा ही है, अल्पज्ञ पर्यायवाला या रागवाला नही है। तू तो पूर्णानन्दस्वरूप भगवान है" – ऐसा तीर्थंकर भगवान का उपदेश है। "हमारी भक्ति करो तो तुम्हारा कल्याण हो जाएगा' – ऐसा भगवान का उपदेश नही है।

चिदानन्द प्रभु आत्मा पूर्णज्ञान व सुख से भरा हुआ भगवानस्वरूप है। वह अल्पज्ञ, रागमय या शरीररूप नही है। ऐसा होते हुए भी 'मैं अल्पज्ञ, रागमय हूँ' – ऐसा मानने पर आत्मा मरण तुल्य हो जाता है। ऐसा माननेवालो ने सम्पूर्ण चैतन्यतत्त्व की हत्या ही कर डाली है। ऐसे अज्ञानी जीवो को भगवान की वाणी सचेत करती है, अर्थात् जब ये जीव स्वय चेते, तब भगवान की वाणी ने चेताया है – ऐसा कहा जाता है। भगवान की वाणी मे ऐसा आया है कि आत्मा रजकण व राग से भिन्न ज्ञानानद स्वरूप भगवान है। दया, दान, भक्ति आदि तथा काम, क्रोधादिरूप शुभाशुभ-विकल्प रागादिस्वरूप हैं; उनमे चैतन्य का अश नही है। व्यवहार से भले ही एकरूप कहा हो, परन्तु परमार्थ मे तो देहादि और आत्मा भिन्न ही हैं। दिव्यध्वनि मे इसप्रकार नयविभाग आता है, तथा सन्त व मुनिजन भी इसी रीति से भिन्नता बताते है।

मात्र व्यवहारनय को ही जाननेवाले अर्थात् 'राग से धर्म होता है' ऐसा मानने वाले अज्ञानीजन राग व आत्मा को एक कहते हैं, एक मानते हैं। परन्तु सर्वज्ञ परमेश्वर तथा जिन्होंने राग व विकल्प से भगवान आत्मा को भिन्न देखा है, जाना है, माना है और अनुभव किया है – ऐसे भावलिगी सन्त यह कहते हैं कि भाई! आत्मा मे राग का अंश नही है। इसप्रकार ज्ञानीजन निश्चयनय के बल से आत्मा व राग के एकपने को जडमूल से उखाड़ देते हैं।

ऐसा स्वरूप सुनकर अपने स्वरूप को जानने पर जो चैतन्यज्योति मरण तुल्य हो गई थी वह जाग्रत हुई, तब भान हुआ कि अहो! मैं तो ज्ञायक-स्वरूप ज्ञान व आनद की मूर्ति हूँ। रागादि मेरे स्वरूप मे नही और उससे मुझे लाभ भी नही है। मेरा आधार मेरा चिदानदस्वरूप है, राग व निमित्त मेरा आधार नही है। अहाहा! मैं तो पूर्ण आनद, पूर्णज्ञान, पूर्णश्रद्धा, पूर्णशान्ति इत्यादि अनन्त-अनन्त परिपूर्ण शक्तियो से भरा हुआ भगवान हूँ, ईश्वर हूँ। इसप्रकार अनादि से जो राग का अनुभव था, वह छूटकर जब चैतन्य ज्योतिस्वरूप भगवान ज्ञायक आत्मा का अनुभव होता है, तब सम्यग्दर्शन होता है।

पहले जमाने मे जो शीतकाल में असली घी आता था, वह खूब घन–ठोस–जमा हुआ आता था। उसमे उंगली तो क्या कल्छरी (लोहे का तगरा) का भी प्रवेश नही होता था। इसीप्रकार भगवान आत्मा चैतन्य ज्ञान घन है, उसमे शरीर, वाणी, मन व कर्म तो प्रवेश कर ही नही सकते किन्तु शुभाशुभ विकल्पो का भी प्रवेश नही हो सकता। शरीर आदि अजीव तत्त्व है और शुभाशुभभाव आस्रव तत्त्व हैं। उन दोनो – आस्रव व अजीवतत्त्वो से पूर्णानद का नाथ भिन्न है। आहाहा! जीवती जागती चैतन्यज्योति अन्दर पडी है, वह ज्ञान-दर्शनमय चैतन्यप्राण से त्रिकाल टिक रही है। ऐसे त्रिकाल स्थिरतत्त्व को न मानता हुआ देह की क्रिया मेरी है, जडकर्म मेरा है, दया, दान आदि विकल्प मुझे लाभदायक है– ऐसा मानकर अरेरे! जीवती ज्योति को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है, मान्यता मे इसने त्रिकालसत्त्व से इन्कार कर दिया है।

ऐसे अज्ञानी जीवो को सन्तो ने वताया है कि भाई! जो सम्यग्दर्शन के अनुभव मे ज्ञात होती है, वह चैतन्यसत्ता परिपूर्ण है, महान है, उस परिपूर्णसत्ता मे राग का कण या शरीर का रजकण समा जाय–ऐसा नही है। आहाहा! वह ज्ञायक चैतन्य-चन्द्र मात्र शीतल शीतल ' शीतल , शान्त ' शान्त शान्त '' अकषाय स्वभाव का पूर है। भाई! तू स्वय ही ऐसा महान है, तुझे अपनी इस अनतऋद्धि गुणसम्पदा की खवर नही है, इसकारण जो अपनी सम्पत्ति नही है – ऐसे शरीर, मन, वाणी, वाग-बगला इत्यादि को अपनी सम्पदा मान वैठा है। अरे प्रभु! तू कहाँ प्रसन्न हो रहा है? प्रसन्न होने का स्थान तो आनद का धाम तेरा नाथ तेरे अन्दर विराजता है, इसमे प्रसन्न हो! वाहर की वस्तु मे प्रसन्न होने से तो तेरे आनंद का नाश होता है।

इसप्रकार से मुनिजनो ने निश्चय-व्यवहार का विभाग करके स्पष्ट वताया है कि व्यवहार से एकपना कहने मे आता है, तथापि निश्चय से भगवान आत्मा, राग व शरीर से भिन्न है। जब ऐसा सुनने व जानने मे आवे, तव ऐसा कौन पुरुष होगा, जिसे तत्काल यथार्थ ज्ञान न हो अर्थात् जव भेद करके इस सरल रीति से वात समझाई गई तो फिर किसको सच्चाज्ञान नही होगा? आचार्य कहते है कि जव जीव व राग का भेद इसप्रकार स्पष्ट करके वताया है तो अव ऐसा कौन मूर्ख होगा जिसे आत्मा का अनुभव तत्काल न हो? ज्ञान-ज्योति आत्मा जड से भिन्न है – ऐसा जिसने जाना, तथा निश्चयनय से जिसने व्यवहार का निषेध किया – ऐसे जीव को ज्ञानानद प्रभु का अनुभव क्यो नही हो, तत्काल यथार्थज्ञान क्यो

न अवतरित हो, आनद की उत्पत्ति क्यो न हो ? अवश्य होवे ही। यह तो नगद का व्यापार है, अर्थात् धर्म तो नगद होता है। आज धर्म करे और सुख कल होगा, ऐसा उधारी का काम यहाँ नही है। त्रिलोकीनाथ भगवान अरहतदेव ने चैतन्यमूर्त्ति आत्मा को शरीर तथा राग से भिन्न बताया है। उसका जो अनुभव करता है, वह धर्मी है, उसका अवतार सफल है, जन्म सार्थक है। इसके सिवा अन्य व्रत, दान आदि करोडो क्रियाएँ करें, किन्तु वे सब एक के बिना बिन्दियाँ (शून्य) हैं, आत्मा के लिए वे लाभकारी नही है। यदि ग्यारह अग का ज्ञान किया हो या नव पूर्व की लब्धि प्रगट हुई हो तो उससे क्या ? ऐसा परसत्तावलबी ज्ञान का क्षयोपशम तो अनतवार किया है, यह कोई आत्मज्ञान नही है। चैतन्य-मूर्ति भगवान आनद का नाथ पूर्ण शक्ति परिपूर्ण सम्पूर्ण सत्त्व है, उसे स्पर्श करके जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान है और उसमे भव के अभाव करने की झकार उठती है। जिन्हे अन्तरस्पर्श होने पर अतीन्द्रिय आनद आया है उन्होने राग व आत्मा को भिन्न माना है।

अनत धर्मो – स्वभावो को धारण करनेवाला धर्मी आत्मा है। उस आत्मा के अन्दर दृष्टि डालने पर जिसे राग व शरीर से भिन्न आत्मा ज्ञात होता है, उसे सम्यग्दर्शन होता है, भले ही वह बाहर से दरिद्री हो या सातवे नरक मे रहनेवाला नारकी हो।

नरक मे आहार का एक दाना और पानी की एक बूद भी नही मिलती, तथा जन्म होते ही सोलह रोग होते है, तथापि जब पूर्व का सस्कार याद आता है, तब ऐसा विचार करता है कि सन्तो ने कहा था कि तू राग व शरीर से भिन्न है। ये वचन सुने तो थे पर प्रयोग नही किया था – ऐसा सोचकर राग का लक्ष्य छोडकर अन्तर मे एकाग्र होता है अर्थात् धर्मी हो जाता है। तीसरे नरक पर्यन्त पूर्व के बैरी निर्दयता पूर्वक शरीर को बाधकर गरम धकधगाती लोहे की सलाखो से मारते हैं। ऐसी स्थिति मे भी राग से भिन्न पडकर सम्यग्दर्शन पा सकते हैं। पूर्व मे जो सुना था उसे ख्याल मे लेकर जैसे बिजली ताबे के तार मे एकदम उतर जाती है, उसीतरह अन्दर मे जो ज्ञानानद भगवान विराजता है, उसमे अपनी पर्याय को वह गहरे मे उतार देता है। बाहर मे चाहे जितने प्रतिकूल सयोग हो, परन्तु उनसे क्या ? अन्दर पूर्ण ज्ञानानदस्वभावी आत्मा है न ? देखो ! श्रेणिक राजा का जीव पहले नरक मे है। बाहर मे पीडा कारक सयोगो का पार नही है, तथापि उन्हे क्षायिक सम्यग्दर्शन है और

समय-समय मे तीर्थंकर नामकर्म के परमाणु बधते हैं। उन्हे ऐसा भान वर्तता है कि मै तो आनद का नाथ चिदानद भगवान आत्मा हूँ।

कहा भी है –

"चिन्मूरति दृगधारी की मोहे रीति लगत है अटापटी,
वाहर नारकक्कृत दु ख भोगे, अन्तर समरस गटागटी"

सम्यग्दृष्टि को नरक मे पीडा के सयोगो का पार नही है, तथापि अन्दर आत्मा के आनद का वेदन होने पर शान्ति है। प्रतिकूल सयोग है इससे क्या ? मुझे तो सयोगीभाव भी स्पर्श नही करता। ऐसा अनुभव अदर मे वर्तता होने से ज्ञानी नरक मे सुख को ही वेदता है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य आदि सत कहते है कि आनद का नाथ अन्दर विराजता है। आत्माराम अर्थात् आत्मारूपी बगीचा अन्दर है। उसमे जरा प्रवेश तो कर ! शरीर और राग से भगवान आत्मा भिन्न है। ऐसी बात जिसने रुचिपूर्वक सुनी है, उसे आत्मा क्यो नही ज्ञात होगा ? इसी शास्त्र की ६८वी गाथा मे आता है कि जैसा कारण हो वैसा ही कार्य होता है। जिसप्रकार जौ में से जौ ही होता है, उसीप्रकार गुणस्थानादिभाव भी अचेतन हैं, क्योकि वे पुद्गल के कार्य हैं। पुद्गल जडकर्म कारण है, उससे गुणस्थानादि के भेद पडते है। इसकारण पुद्गल का कार्य होने से वे अचेतन पुद्गल हैं। ऐसा यह वस्तुस्वरूप सुनकर किसे आत्मज्ञान उदित नही होगा ? अहो ! आचार्यदेव अति प्रसन्नता से कहते हैं कि भाई ! यह तेरा आत्मज्ञान का काल है।

आदि पुराण में आता है कि ऋषभदेव भगवान को पूर्व के भव मे मुनिराज उपदेश देते हैं कि 'यह तेरा सम्यग्दर्शन पाने का काल है। तेरी काललब्धि पक गई है, अत सम्यग्दर्शन ग्रहण कर !' इसीप्रकार यहाँ कहते हैं कि तू आनदस्वरूप आत्मा है। मै राग हूँ, शरीर हूँ, ऐसा लक्ष्य करके जहाँ पड़ा है वहाँ से दृष्टि हटाकर लक्ष्य को पलट दे। 'मे ज्ञायक हूँ ऐसा लक्ष्य कर।' यह पुरुषार्थ है, व इसका फल ज्ञान व आनद है।

अब कहते हैं कि राग से भिन्न आत्मा की रुचि होने पर कैसा होकर भगवान आत्मा ज्ञात होता है ? अपने निजरस के वेग से आकृष्ट होकर एकरूप होकर प्रगट हुआ भगवान आत्मा जाना जाता है। आत्मा आनद का रसकंद अन्दर पडा है। उसकी रुचि करने पर वह तुरन्त ही राग से भिन्न, अपने निजरस से प्रगट होता है। अज्ञान मे राग का वेग था, ज्ञान होने पर अब आनद का वेग आता है। राग के वेग से भिन्न होकर जब

दृष्टि ज्ञायक पर पडी, तभी तुरन्त ज्ञानरस का, शान्तरस का, वीतराग अकषायरस का वेग उछलता है। पर्याय मे आनद का उफान आता है।

पाप-पुण्य के भावो को अपना मानकर अकेले ज्ञान व आनद के रस से भरपूर आत्मा को अनेक रूप माना था। परन्तु अब भगवान आत्मा के निजरस को उग्रपने से पर्याय मे आकृष्ट करके वेगपूर्वक एकरूप से आत्मा प्रगट होता है। आहाहा! जैसा आनन्द रस का कद स्वभाव मे है, अन्तर्दृष्टि होने पर वह तुरन्त ही पर्याय मे प्रगट हो जाता है।

ज्ञातास्वभाव तो त्रिकाल एकरूप ही है, यह तो विकाररूप से है ही नही। ऐसे ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का अनुभव होने पर पर्याय मे आनद का अनुभव होता है। इसी का नाम सम्यग्दर्शन व धर्म है, वाकी सव थोथा है, व्यर्थ है। आत्मा की जिसे खवर नही, यदि वह व्रत, तप, नियमादि करता रहे तो ये सव वर के विना वरात जैसा है। जैसे कोई वर के बिना वरात ले जावे तो वह वरात नही, मात्र मनुष्यो की टोली ही है। इसी प्रकार जिसने आनद के नाथ भगवान आत्मा को दृष्टि मे नही लिया और व्रत, तप आदि करे तो यह सव व्यर्थ है, राग की टोली हैं, इनसे धर्म हाथ नही आता।

कलश २८ के भावार्थ पर प्रवचन

दया, दान, व्रतादि के राग व आत्मा के बीच अत्यन्त अभाव है। आगम मे चार अभाव कहे है – (१) प्रागभाव, (२) प्रध्वसाभाव, (३) अन्योन्याभाव और (४) अत्यन्ताभाव। इनमे जो अत्यन्ताभाव है, वह तो दो द्रव्यो के वीच ही होता है, किन्तु यहाँ जो राग और आत्मा के वीच अत्यन्त-अभाव कहा है, वह अध्यात्म का अत्यन्त अभाव है।

अहाहा! कैसी है वीतराग मार्ग की गभीरता व गहराई। निश्चय-व्यवहारनय के विभाग से आत्मा व पर मे, आत्मा व शरीर मे एव आत्मा व राग मे अत्यन्त भेद ज्ञानियो ने वताया है। उसे जानकर ऐसा कौन आत्मा होगा कि जिसे भेदज्ञान नही होगा? यहाँ पुरुषार्थ की उग्रता का जोर वताया है। यह वीर्य का वेग स्व-सन्मुख करने की वात है।

आत्मा मे वीर्य नाम का गुण है, स्वरूप की रचना करना, उसका कार्य है। राग की रचना करना या देह की क्रिया करना, इसका स्वरूप नही है। ऐसे परिपूर्ण वीर्यगुण से–पुरुषार्थ गुण से भगवान आत्मा ठसाठस भरा हुआ है। इस गुण का कार्य आनन्द आदि शुद्ध निर्मलपर्याय की रचना करना है। राग की रचना करना तो नपुसकता है, यह आत्मा

का वीर्य नही है। वीर्यगुण को धारण करनेवाले भगवान आत्मा का ग्रहण करने पर वह वीर्यगुण निर्मलपर्याय की ही रचना करता है। व्यवहार की या राग की रचना करना उसके स्वरूप मे ही नही है। निमित्त से कार्य होता है, यह मान्यता तो अज्ञान है। इष्टोपदेश की ३५वी गाथा मे आता है कि सभी निमित्त धर्मास्तिकायवत् उदासीन हैं। निमित्त प्रेरक हो या उदासीन पर के कर्तृत्व के लिए तो वे धर्मास्तिकाय की तरह उदासीन ही हैं। ध्वजा फरफराती है, इसमे पवन (हवा) प्रेरक निमित्त है, तथापि धर्मास्तिकायवत् उदासीन है। ध्वजा स्वय से ही फरफराती है, पवन से नही, पवन तो निमित्तमात्र है। ऐसा सत्य जब समझ मे ही न आया हो तो सत्य का आचरण कहाँ से हो ?

यहाँ कहते हैं कि ऐसा कौन पुरुष है, जिसे भेदज्ञान नही हो सकता ? क्योकि जब ज्ञान अपने निजस्वरस से स्वय का स्वरूप जानता है, तब अपने आत्मा को पर से भिन्न जानता ही है। राग व शरीर से भिन्न पडकर जब दृष्टि एक ज्ञायकमात्र मे फैलती है तो अवश्य भेदज्ञान प्रगट हो जाता है। कोई दीर्घ ससारी हो तो यहाँ उसकी बात नही है।

इसप्रकार अप्रतिबुद्ध ने जो यह कहा था कि 'हमारा तो यह निश्चय है कि देह ही आत्मा हैं' उसका समाधान किया। अज्ञानी जिस वस्तु को देखता है, उसी वस्तु को अपनी मान लेता है। यद्यपि ज्ञान, शरीर, राग आदि ज्ञेयो को जानता है, तथापि वे शरीरादि ज्ञेय ज्ञान नही हैं; ज्ञान तो ज्ञान ही है। यह बात कठिन तो अवश्य पडती है, परन्तु करे क्या ? वस्तुस्वरूप ही ऐसा है। वीतरागी त्रिलोकीनाथ जिनेश्वरदेव, इन्द्र व गणधरो के बीच दिव्यध्वनि द्वारा ऐसा ही उपदेश देते थे और यही बात सन्तों ने भी प्रसिद्ध की है। अहो ! यह सन्तो की वाणी अमृत की वर्षा करनेवाली है। हे भव्यजीवो ! उसे कर्णरूपी अजुलि के द्वारा पान करो !!

एवमयमनादिमोहसंताननिरूपितात्मशरीरैकत्वसंस्कारतयात्यतम-प्रतिबुद्धोपि प्रसभोज्जृम्भिततत्त्वज्ञानज्योतिर्नेत्रविकारीव प्रकटोद्घाटितपट-लष्टसितिप्रतिबुद्ध ? साक्षात् द्रष्टारं स्वं स्वयमेव हि विज्ञाय श्रद्धाय च तं चैवानुचरितुकामः स्वात्मारामस्यास्यान्यद्रव्याणा प्रत्याख्यानं किं स्यादिति पृच्छन्नित्थं वाच्य :–

सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई परे त्ति णादूणं ।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं ॥३४॥

सर्वान् भावान् यस्मात्प्रत्याख्याति परानिति ज्ञात्वा ।
तस्मात्प्रत्याख्यानं ज्ञानं नियमात् ज्ञातव्यम् ॥३४॥

यतो हि द्रव्यांतरस्वभावभाविनोऽन्यानखिलानपि भावान् भगवज्ज्ञा-तृद्रव्यं स्वस्वभावभावाव्याप्यतया परत्वेन ज्ञात्वा प्रत्याचष्टे, ततो य एव

इसप्रकार यह अज्ञानी जीव अनादिकालीन मोह के सतान से निरूपित आत्मा और शरीर के एकत्व के सस्कार से अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था वह अब तत्त्वज्ञानस्वरूप ज्योति के प्रगट उदय होने से नेत्र के विकार की भाँति (जैसे किसी पुरुष की आँखो मे विकार था तब उसे वर्णादिक अन्यथा दीखते थे और जब नेत्र विकार दूर हो गया तब वे ज्यो के त्यो–यथार्थ दिखाई देने लगे, इसीप्रकार) पटल समान आवरणकर्मों के भली-भाँति उघड जाने से प्रतिबुद्ध हो गया और साक्षात् द्रष्टा आपको अपने से ही जानकर तथा श्रद्धान करके उसी का आचरण करने का इच्छुक होता हुआ पूछता है कि 'उस आत्माराम को अन्य द्रव्यो का प्रत्याख्यान (त्यागना) क्या है ?' उसको आचार्य इसप्रकार कहते हैं कि –

सब भाव पर ही जान, प्रत्याख्यान भावो का करे ।
इससे नियम से जानना कि, ज्ञान प्रत्याख्यान है ॥३४॥

गाथार्थ :– [यस्मात्] जिससे [सर्वान् भावान्] अपने अतिरिक्त सर्व पदार्थों को [परान्] 'पर हैं' [इति ज्ञात्वा] ऐसा जानकर [प्रत्याख्याति] प्रत्याख्यान करता है – त्याग करता है, [तस्मात्] उससे [प्रत्याख्यानं] प्रत्याख्यान [ज्ञानं] ज्ञान ही है [नियमात्] ऐसा नियम से [ज्ञातव्यम्] जानना । अपने ज्ञान मे त्यागरूप अवस्था ही प्रत्याख्यान है, दूसरा कुछ नही ।

पूर्वं जानाति स एव पश्चात्प्रत्याचष्टे न पुनरन्य इत्यात्मनि निश्चित्य प्रत्याख्यानसमये प्रत्याख्येयोपाधिमात्रप्रवर्तितकर्तृत्वव्यपदेशत्वेऽपिपरमार्थेनाव्यपदेश्यज्ञानस्वभावादप्रच्यवनात्प्रत्याख्यानंज्ञानमेवेत्यनुभवनीयम् ।

टीका :— यह भगवान ज्ञाता द्रव्य (आत्मा) है, वह अन्य द्रव्य के स्वभाव से होनेवाले अन्य समस्त परभावो को, उनके अपने स्वभावभाव से व्याप्त न होने से पररूप जानकर, त्याग देता है, इसलिए जो पहले जानता है वही बाद मे त्याग करता है, अन्य तो कोई त्याग करनेवाला नही है — इसप्रकार आत्मा मे निश्चय करके, प्रत्याख्यान के (त्याग के) समय प्रत्याख्यान करने योग्य परभाव की उपाधिमात्र से प्रवर्तमान त्याग के कर्तृत्व का नाम (आत्मा को) होने पर भी, परमार्थ से देखा जाये तो परभाव के त्याग कर्तृत्व का नाम अपने को नही है, स्वय तो इस नाम से रहित है क्योकि ज्ञानस्वभाव से स्वय छूटा नही है, इसलिये प्रत्याख्यान ज्ञान ही है — ऐसा अनुभव करना चाहिए ।

भावार्थ :— आत्मा को परभाव के त्याग का कर्तृत्व है, वह नाममात्र है । वह स्वय तो ज्ञानस्वभाव है । परद्रव्य को पर जाना, और फिर परभाव का ग्रहण न करना वही त्याग है । इसप्रकार स्थिर हुआ ज्ञान ही प्रत्याख्यान है, ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा कोई भाव नही है ।

गाथा ३४ की उत्थानिका पर प्रवचन

इसप्रकार यह अज्ञानी जीव अनादिकालीन मोह की सतान के द्वारा निरूपित और शरीर के एकत्व के सस्कार से अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था । अनादि से अज्ञानी को राग व शरीर मे ही सजगता होने से ज्ञानानद-स्वभावी चैतन्य आत्मा की राग व शरीर के साथ एकपने की मान्यता थी, वह इसी एकत्व के सस्कार से अप्रतिबुद्ध था । देखो ! कोई कहे कि यह समयसार मुनियो के लिए है, सो यह बात नही है । यहाँ तो जो शरीर और आत्मा को एक मानते है, ऐसे अत्यन्त अप्रतिबुद्ध को समझाया गया है ।

भाई ! तू अनन्तबार हजारो रानियो को छोडकर दिगम्बर जैन साधु होकर, निरतिचार अट्ठाईस मूलगुणो का पालन कर नवमे ग्रैवेयक पर्यन्त गया, परन्तु आनदस्वरूप चैतन्यप्रभु की खबर नही होने से, शरीर को ही आत्मा मानता था । बाहर से 'आत्मा राग से भिन्न है' — ऐसा भले ही कहे, परन्तु अन्दर अवस्था मे शुभ क्रियाकाण्ड का जो राग प्रगट था, उसमे ही अपनापना मानता था । स्वय क्या है और स्वय का अस्तित्व

किसप्रकार है – इसका ख्याल नही होने से 'मैं आत्मा हूँ' – ऐसा कहते हुये भी रागादि को ही आत्मा मानता था। रागादि से पृथक् निज ज्ञायकवस्तु दृष्टि मे न आने एव उसका अनुभव न होने से पर मे या रागादि मे ही अपनत्व स्थापित करता था। ग्यारह अङ्ग का पाठी होकर भी तथा बाहर से 'राग और आत्मा भिन्न हैं' – ऐसा भाषा मे बोलते हुए भी अन्तरङ्ग मे राग व आत्मा की एकताबुद्धि टूटी नही थी। भाई ! यह तो अतर की वस्तु है। वह अन्तर के स्पर्श बिना नही मिलती।

इसप्रकार जो अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था, वह अब तत्त्वज्ञानस्वरूप ज्योति का प्रगट उदय होने पर ज्ञानी हुआ। राग से भिन्न चैतन्यज्योति का आभास होने पर 'स्वय ज्ञायकस्वरूप ही मैं हूँ' – ऐसा अनुभव हुआ, इससे ज्ञानी हुआ। यहाँ चैतन्यज्ञान ज्योतिस्वरूप मैं हूँ' – ऐसा विकल्प नही, अपितु अनुभवरूप परिणति का प्रगट होना जानना।

जिसप्रकार नेत्र से विकार दूर होने पर वस्तु जैसी है, वैसी दिखाई देती है, उसीप्रकार इस जीव के भी पटल के समान आवरणकर्म भलीप्रकार उघड जाने से यह प्रतिबुद्ध हुआ, साक्षात् ज्ञाता-दृष्टा हुआ। यहाँ जो कर्म की बात की है, वह निमित्त का कथन है। वास्तव मे तो स्वभाव का भान होने पर, मिथ्या श्रद्धान दूर होने से स्वय साक्षात् ज्ञातादृष्टा हुआ। आत्मा स्वभाव से तो ज्ञाता-दृष्टा है ही। पर ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का भान होने पर मिथ्याश्रद्धान का नाश होकर पर्याय मे ज्ञाता दृष्टापना प्रगट हुआ, उसे साक्षात् ज्ञाता-दृष्टा हुआ – ऐसा कहा है। आत्मा मे दयादान या व्यवहार-रत्नत्रय का विकल्प नही है। तथा उस शुभ राग से या व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प से ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव प्राप्त नही होता, क्योकि जिसमे जो न हो, उससे वह प्राप्त कैसे हो ?

आत्मा स्वय को स्वय से ही जानकर अर्थात् राग या विकल्प से नही, किन्तु चैतन्य मे चैतन्य की परिणति द्वारा प्रवेश करके स्वय को जानकर, श्रद्धानकर उसी का ही आचरण करने का इच्छुक हुआ है अर्थात् अब वह मुनिपने की भावना करता है।

प्रश्न – 'स्वय को स्वय से ही जाने' इसमे तो एकान्त हो गया, स्याद्वाद तो रहा नही ?

उत्तर – भाई ! 'स्वय को स्वय से ही जाने' – यह सम्यक्-एकान्त है। यह सम्यक्-एकान्त ही अनेकान्त का सच्चा-ज्ञान कराता है। स्वय स्वय से ही ज्ञात होता है, पर से नही – यही अनेकान्त है, यही सम्यक्-एकान्त

है। भाई! वीतराग का स्याद्वादमार्ग ऐसा ही है। स्वय से भी जाने और राग से भी जाने – यह तो गुदडीवाद है, स्याद्वाद नही।

चैतन्य सूर्य के प्रकाश का पूर प्रभु आत्मा स्वय के निर्मलप्रकाश द्वारा ही स्वय को प्रकाशित करता है। ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा ज्ञान की निर्मलपर्याय द्वारा ही ज्ञात होता है उसे राग की या व्यवहार की अपेक्षा नही है। अर्थात् व्यवहार से निश्चय नही जाना जाता, परन्तु व्यवहार का लक्ष्य छोडकर स्वभाव का सीधा लक्ष्य करने पर वह स्वय से स्वय को जानता है। ज्ञान की निर्मलपर्याय द्वारा ज्ञायक को जानकर पश्चात् श्रद्धान करना। देखो! यहाँ प्रथम आत्मा को जानना, पश्चात् श्रद्धान करना – ऐसा कहा है, क्योकि जाने बिना श्रद्धा किसकी? समयसार गाथा १७-१८ मे भी यह बात कही गई है।

आत्मा का ज्ञान-श्रद्धान हुआ है, और आत्मा मे ही आचरण करने का इच्छुक होता हुआ शिष्य पूछता है कि 'इस आत्माराम को अन्य द्रव्यो का प्रत्याख्यान (त्यागना) क्या है?' निजपद मे रमे, वह आत्माराम है। उसके प्रत्याख्यान का क्या स्वरूप है? अन्य द्रव्य के त्याग का क्या स्वरूप है? आत्मा ज्ञान का पुँज प्रभु है। उदयभावरूप ससार का अश या उसकी गध भी इसमे नही है। ऐसे आत्मा को जानकर इसे प्रतीति मे लेकर, अब शिष्य गुरु से पूछता है कि मेरा आत्मा मे आचरण कैसे हो? अन्यद्रव्य अर्थात् राग का त्यागरूप प्रत्याख्यान कैसे हो? यद्यपि इस बात को वह जानता है कि ज्ञानी जीव को चारित्र किस प्रकार होता है, तथापि गुरु से विशेष जानने के लिए विनय से पूछता है।

शुद्ध चैतन्यघन पूर्णस्वभाव से भरा हुआ भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त आनन्द का गोदाम है। सयोगी वस्तु मे आत्मा नही है और आत्मा मे सयोगी वस्तु नही है। दोनो सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं। यहाँ कहते है कि सयोगी वस्तु तो दूर रहो, सयोगी कर्म के लक्ष्य से आत्मा मे हुए पुण्य-पाप के सयोगी भावो से भी आत्मा भिन्न है – जुदा है।

"मैं एक आनन्दस्वरूप अमृत का सागर प्रभु ज्ञाता-दृष्टा हूँ और सब जगत ज्ञेय है, दृश्य है। जगत मेरे मे नही है और मै जगत मे नही हूँ। आहाहा! मेरी वस्तु मे पुण्य-पाप का भाव तो है ही नही, वर्त्तमान अल्पज्ञता की पर्याय भी मेरी पूर्ण वस्तु मे नही है" – इसप्रकार जिसके अन्तर मे चिदात्मस्वरूप के भानपूर्वक भेदज्ञान – आत्मज्ञान प्रगट हुआ है व उसकी प्रतीति हुई है, वह सम्यग्दृष्टि हुआ है। उसे धर्म का आरम्भ हुआ है। जैसे – आँख मे जालो हो तो उसके निकलने पर ही निधान (धन

का खजाना) दिखाई देता है, उसीप्रकार आत्मा मे राग के प्रति जो एकताबुद्धिरूप परत पडी है, उसके दूर होने पर आत्मा जैसा ज्ञानानन्द-स्वरूप है, वैसा दृष्टि मे आ जाता है, अनुभव मे आ जाता है। ऐसा अनुभव जिसे हुआ है, वह अब प्रश्न करता है कि प्रत्याख्यान किस प्रकार हो ? ऐसा पूछने पर उसके उत्तर मे यह गाथा कही है।

गाथा ३४ व उसकी टीका पर प्रवचन

'यह भगवान ज्ञाताद्रव्य'—देखो ! 'भगवान' कहकर बात उठाई है। भगवान-स्वरूप ही आत्मा है। कब ? अभी और सदाकाल (तीनो काल) जो अभी भगवान स्वरूप न हो तो पर्याय मे भगवानपना कैसे आयेगा ? क्या वह कही व्यवहार से आता है ? नही, जो स्वभाव से स्वय भगवानस्वरूप है वही पर्याय मे प्रगट होता है। यदि अभी भगवानस्वरूप न हो तो कभी भी भगवान नही हो सकता। समयसार गाथा ३१, ३२ मे भी 'भगवान ज्ञानस्वभाव' ऐसा आ गया है। यहाँ सस्कृत टीका मे 'भगवत्' शब्द पडा है। 'भग्' अर्थात् लक्ष्मी और 'वत्' अर्थात् वाला। आत्मा अनत अनत ज्ञान व आनन्द की लक्ष्मीवाला परिपूर्ण भगवान है। यह 'भगवान ज्ञाताद्रव्य' ऐसा कहकर उसका प्रत्यक्षपना कहा है, कारण कि ज्ञानी को भगवान आत्मा का प्रत्यक्षवेदन हो गया है, अनुभव हो गया है।

'यह भगवान ज्ञाताद्रव्य' ऐसा लिया है, क्योकि जिस शिष्य ने प्रश्न पूछा है, उसे ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा का प्रत्यक्षभान हुआ है। सच्चिदानद प्रभु, पूर्ण आनन्द का नाथ, सिद्ध समान यह आत्मा बाह्य लक्ष्मीवाला तो नही है, क्योकि बाह्य लक्ष्मी तो जड है और उसे जो अपनी माने, वह भी जड है। यहाँ तो चैतन्यलक्ष्मी के स्वामी की बात है। चक्रवर्ती के छह-खण्ड का राज्य व ९६ हजार रानियाँ आदि वैभव होता है, तथापि सम्यग्दर्शन होने से वह बाह्य वैभव का मैं स्वामी हूँ—ऐसा नही मानता। "मैं तो अनन्त-अनन्त ज्ञान व आनन्द की स्वरूपलक्ष्मी से भरा हुआ भगवान हूँ"—ऐसा स्वरूपलक्ष्मी का स्वामीपना मानता है, क्योकि उसे यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान हुआ है।

भगवान आत्मा ज्ञाता है, जाननहार सूर्य है, ज्ञान के प्रकाश से भरपूर है—ऐसा ज्ञाताद्रव्य (आत्मा) अन्यद्रव्य के निमित्त से होनेवाले विकारभावरूप होने के स्वभाववाला नही है, क्योकि ज्ञाता-दृष्टा वस्तु का स्वभाव तो जानना, देखना और आनन्दरूप है, इससे वह ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव, विकारभावो मे व्याप्त कैसे हो ? अन्य मे व्याप्त हो—ऐसा

आत्मा का स्वरूप ही नही है। भाई! अनन्त आनन्द को देनेवाला यह मार्ग अतिसूक्ष्म है। अनन्त-अनन्त शान्ति, आह्लाद व स्वरूप की रचना करने वाला अनन्तवीर्य जिससे प्रगट हो, वह उपाय कोई अलौकिक है, अद्भुत है – ऐसे मार्ग को समय निकालकर जानना चाहिए। अभी नही जाना तो फिर कब जानेगा ?

अहाहा! अनत आनन्द, अनन्त शान्ति आदि अनन्तगुणो का समाज आत्मा है। अनन्तगुणरूपी साम्राज्य का स्वामी यह आत्मा है। यह मूलवस्तु आत्मा प्रत्यक्ष है, किन्तु पर्यायबुद्धि से – रागबुद्धि से वह सम्पूर्ण वस्तु आवरण मे ढकी है। 'यह भगवान ज्ञाताद्रव्य' – कहकर यहाँ पहले से ही प्रगट किया है कि आत्मा प्रत्यक्ष-प्रभु है, सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्रो से प्रभु प्रत्यक्ष दिखाई देता है। ऐसा आत्मा अपने स्वभाव से ही, अन्य-द्रव्य के अर्थात् कर्म के निमित से होनेवाले विभावभावो मे व्याप्त नही है। यह ज्ञानस्वभावी आत्मा राग के विकल्परूप से, व्यवहाररत्नत्रय के विकल्परूप से व्याप्त होकर रहनेवाला या उस रूप होने लायक नही। विकाररूप से होने का आत्मा का स्वभाव ही नही है। इसप्रकार राग को पररूप जानकर स्वरूप मे ठहरना, स्थिर होना ही प्रत्याख्यान है।

प्रश्न :—हम तो ऐसा समझते हैं कि भगवान के दर्शन करने से, यात्रा करने से धर्म होता है, और आप उसका निषेध करते हैं।

उत्तर :—भाई! भगवान आत्मा जो स्वय अन्तर मे विराजता है, उसके दर्शन करने से, उसे जानने से धर्म होता है, परन्तु पर भगवान को देखने से धर्म नही होता, उन्हे देखने से तो शुभराग होता है। यह भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है। वह अन्यद्रव्य के स्वभाव से उत्पन्न होनेवाले विभावो मे अर्थात् दया, दान, व्रत आदि विकल्पो मे अपने स्वभाव से ही व्याप्त नही होता। इसकारण ज्ञानी उन्हे पररूप जानकर त्याग देते हैं। जब वे स्वभाव मे स्थिर हो जाते हैं, तव ऐसा कहा जाता है कि पर का त्याग किया। विकारीभाव आत्मा के स्वभाव मे व्याप्त होने लायक नही है। इस कारण उन्हे पररूप जानने को ही उनका त्याग किया – ऐसा कहा जाता है। यही धर्म है, यही धर्म को प्राप्त करने की रीति है।

मैं एक ज्ञाता दृष्टा स्वभाववाला आत्मा हूँ। अन्यद्रव्य के निमित्त से जो विभाव परिणाम होते हैं, वे मेरे स्वभाव रूप होने योग्य नही हैं। इसप्रकार स्वभाव व राग को भिन्न जानना ही राग का त्याग है। 'यह जो राग है वह मैं नही हूँ, मैं इस रागरूप होने लायक नही हूँ तथा यह

राग मेरे स्वभावरूप होने लायक नही है' पहले जो ऐसा जानता है, वही पीछे त्यागता है। यह जो ज्ञान मे जाना कि राग मेरे स्वभाव मे व्याप्त नही होता और मेरा स्वभाव भी राग रूप होने का नही है – यह जानपना ही प्रत्याख्यान है, सामायिक है, क्योकि ऐसा जाननेवाला ही राग से हटकर स्वरूप मे ठहरता है। सामायिक अर्थात् समता और समता अर्थात् वीतराग परिणाम का लाभ। वीतरागस्वरूप निजज्ञायक भगवान आत्मा का आश्रय लेने पर वीतराग परिणति होती है और इसे ही सामायिक कहते हैं। उसीप्रकार जैसे चने को पानी मे डुबोकर रखने से वह फूल जाता है, वैसे ही आनन्द के नाथ प्रभु आत्मा को आनन्द के सागर मे डुबोकर जो आत्मा को पुष्ट करे उसे 'प्रोषध' कहते है। ऐसा वस्तु-स्वरूप समझे बिना सभी बाह्य क्रियाएँ नि.स्सार है।

प्रश्न :– जो पहले जानता है, वही त्याग करता है, दूसरा कोई त्यागनेवाला नहीं है। इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर :–'ज्ञानस्वभाव मे विभाव या विकल्प व्यापने योग्य नहीं है'– ऐसा जाननेवाला ज्ञाता पुरुष विभावरूप नहीं परिणमता, तब उसे ही राग को त्यागनेवाला कहा जाता है। इसीकारण ऐसा कहा गया है कि जो जानता है, वही त्यागता है। मेरे ज्ञानस्वभाव मे राग व्याप्त हो – ऐसा राग का स्वभाव नही है और मेरा भी ऐसा स्वभाव नही है कि राग मुझ मे व्याप्त हो। इसप्रकार जहाँ राग को भिन्नपने जाना, वहाँ उस ओर का लक्ष्य ही नही रहा व दृष्टि स्वभाव मे ही स्थिर हो गई। इसी को प्रत्याख्यान अर्थात् जाननेवाले ने राग का त्याग किया – ऐसा कहा जाता है। अज्ञानी दया, दान, भक्ति के भावो में धर्म मानकर अनादि से ८४ लाख योनियो के अवतार मे रखडकर दु.खी हो रहा है। उसे सन्निपात जैसा रोग लगा है। जैसे किसी को सन्निपात हुआ हो, वह अन्य अनेक रोगो से पीड़ित होने पर भी खिलखिलाकर हँसता है। क्या वह वास्तव मे सुखी है ? क्या इसीलिए दांत निकालकर खिलखिलाकर जोर-जोर से हँसता है ? भाई ! उसे दुःख का भान नही है, इसलिए हँसता है। उसीप्रकार अज्ञानी भी कुछ अनुकूल सयोग मिलने पर स्वय को सुखी मानता है। उसका सुख सन्निपात के रोगी जैसा ही है। भाई ! सुख तो आत्मा मे है। भगवान आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है। सत् यानि त्रिकाल, चित् यानि चैतन्य, इसप्रकार आत्मा त्रिकाल चैतन्य व आनन्दस्वरूप भगवान है। ऐसे आत्मा को जो अतरग मे स्पर्श करके जानता है, उसे आनद होता है, सुख होता है। यह जाननेवाला ऐसा जानता है कि मैं तो स्वभाव से

देखने—जाननेवाला हूँ। पुण्य-पाप का भाव मेरे स्वभाव रूप नही होने से परभाव है; अत उसे पर जानकर उसका त्याग करता है अर्थात् वहाँ से हटकर स्वरूप मे ठहरता है। इसीकारण जो पहले जान लेता है वही पीछे उनका त्याग करता है—ऐसा कहा है। ऐसा स्वरूप तो जाने नही और व्रत, तप आदि बाह्य त्याग करे तो वह प्रत्याख्यान नही है।

भाई! प्रत्याख्यान अर्थात् चारित्र किसे कहते हैं?—यह बात यहाँ चलती है। सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्र कोई अलौकिक वस्तु है। यदि सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है तो सम्यक्चारित्र साक्षात् धर्म है। प्रवचनसार मे कहा है न? 'चारित्तं खलु धम्मो—चारित्र ही धर्म है।' यही दुःख से छूटने का उपाय है, मोक्षमार्ग है।

प्रश्न :—ऐसा चारित्र किसे कहते हैं?

उत्तर :—प्रवचनसार गाथा ७ की टीका मे आता है—'स्वरूपे चरण चारित्र—स्वरूप मे रमणता करना चारित्र है।' स्वरूप मे आचरण करना अर्थात् ठहरना चारित्र है, राग का आचरण चारित्र नही है। पाँच महाव्रत का विकल्प भी चारित्र नही है। मैं ज्ञानानंदस्वभावी भगवान आत्मा हूँ। राग भले ही कितना भी मंद क्यों न हो, दया, दान, व्रत, तप, भक्ति का राग हो या व्यवहाररत्नत्रय का राग हो, वह मेरे चैतन्यघन स्वभावरूप नही होता। मैं रागरूप होऊँ—ऐसा मेरा चैतन्य-स्वभाव है ही नही। ज्ञान में ऐसा निश्चय करके, राग को पररूप जानकर ज्ञान-ज्ञान मे ठहरे, यही प्रत्याख्यान है, चारित्र है, धर्म है।

अब यह कहते हैं कि जब ज्ञानी ने पर को पर जान लिया और ज्ञान ज्ञान मे ठहर गया तो रागादि परभावो की उत्पत्ति ही नही हुई, तब यह कहा जाता है कि ज्ञानी आत्मा ने परभाव का त्याग किया। 'त्याग किया' यह तो कथन मात्र है। भले ही तीर्थंकर नामकर्म बाँधने का भाव हो, किन्तु वह भाव भी निज चैतन्यभावरूप होनेलायक नही है। इसप्रकार इस विकारी भाव को परभावरूप जाना, तब आत्मा राग को त्यागता है, यह कहना कथनमात्र है; क्योकि जब ज्ञान ज्ञान में ठहर गया, तब राग उत्पन्न ही नही हुआ। बापू! यह तो जन्म-मरण का फेरा मिटानेवाली बहुत महत्त्वपूर्ण बात है।

जिसको भगवान ज्ञाता-दृष्टा वस्तु का अपनी निर्मल ज्ञानपर्याय मे प्रत्यक्ष अनुभव हुआ कि यही आत्मा है, उसे प्रत्याख्यान कैसे सिद्ध होता है? इसका यहाँ उत्तर देते है कि जिसने अन्दर मे जाना कि राग व चैतन्य-

स्वभाव भिन्न-भिन्न है, रागरूप होना मेरा स्वरूप नही है तथा मेरे स्वभाव होने का राग का स्वरूप नही है – ऐसा जाननेवाला राग को भिन्न जानकर उसे त्यागता है। परन्तु 'राग को त्यागता है' यह तो कथनमात्र है, क्योंकि राग के त्याग का कर्त्तापना परमार्थ से जीव को नही है।

निर्मल भेदज्ञान हो नही और वाहर से परवस्तुओ का त्याग करे और माने कि 'मैं त्यागी हूँ'। परन्तु भाई ! जीव को पर का त्याग-ग्रहण मानना तो मिथ्यात्व है, भ्राति है। यहाँ कहते है कि राग का त्याग करनेवाला जीव है, ऐसा कहना भी कथनमात्र है, परमार्थ नही। वास्तव मे तो यह राग के त्याग का कर्त्ता है ही नही। स्वरूप मे ठहरने से राग होता ही नही, इसलिए राग का त्याग करता है – यह नाममात्र कथन है।

अहो ! यह तो परमेश्वर त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ परमात्मा की दिव्यध्वनि मे आई बात को ही सन्तो ने आडतिया होकर जगत को जाहिर की है। प्रत्याख्यान के समय अर्थात् स्वरूप मे ठहरने के काल मे प्रत्याख्यान करने योग्य परभावो का त्याग किया – ऐसा कहना यह नाममात्र कथन है। अहाहा ! टीका तो देखो ! ऐसी टीका भरतक्षेत्र मे और कहाँ है ? अमृत का सागर उडेला है, अहो ! मुनिवरो ने जगत के जीवो को अमृत का सागर प्रत्यक्ष बताया है।

भाई ! परवस्तु का ग्रहण-त्याग तो आत्मा मे है ही नही, क्योंकि आत्मा मे त्यागोपादानशून्यत्व नाम की एक शक्ति है। उससे आत्मा परवस्तु को ग्रहण करे या छोडे, यह आत्मा मे बनता ही नही। कपडा, स्त्री, पुत्र, परिवार इत्यादि को ग्रहण करे या छोडे – ऐसा आत्मा मे गुण ही नही है। परवस्तु तो जगत की स्वतंत्र वस्तु है। जीव के द्वारा शरीर, वाणी, पैसा, पत्नी, पुत्र इत्यादि न तो ग्रहण किए जाते हैं और न छोडे ही जाते हैं।

यहाँ कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि के जो अस्थिरता का रागरूप परिणमन है, उस रागरूप होकर रहने का मेरा स्वरूप नही है – ऐसा जान कर अन्दर स्वरूप मे स्थिर हुआ, तब स्वरूपस्थिरता के काल मे राग की उत्पत्ति ही नही हुई। अत राग का त्याग किया – ऐसा नाममात्र कथन करने में आता है। परमार्थ से राग के त्याग का कर्त्ता आत्मा नही हैं। अर्थात् परभाव के त्याग के कर्त्तापने का नाम भी आत्मा के नही है।

अहाहा ! 'मैं शुद्ध चिद्रूप ज्ञाता-दृष्टा मात्र हूँ' – ऐसा जिसको अन्तर मे भान हुआ, वह स्व मे स्वपने रहकर परभाव – रागादि को परपने

जानता है, तव इसका स्व मे रहने का काल है, राग का अभावरूप परिणमन करने का काल है; प्रत्याख्यान का काल है। इस स्वरूप-स्थिरता के काल मे ज्ञान ने जान लिया कि 'राग पर है' यही राग का त्याग है। जव राग का त्याग भी कथनमात्र है तो आहार पानी का छोडना व स्त्री, पुत्र आदि का छोड़ना तो वहुत दूर ही रह गया।

अन्दर पूर्णानन्द का नाथ भगवान स्वरूप आत्मा स्वयं विराजता है, किन्तु पामर को प्रभु की प्रतीति कैसे आवे ? पामर को मैं स्वयं ईश्वर हूँ – ऐसी प्रतीति कैसे आवे ? भाई ! तू पर्याय में पामर भले ही हो, किन्तु वस्तु-पने तू पामर नही है, भगवान पूर्ण आनंद का नाथ है। अहाहा ! जैनमुनि तो अन्दर मे विकल्पो की रुचि के विना तथा वाहर मे वस्त्रो के विना नग्न होते हैं। कपड़ा रखकर जो मुनिपना मानते या मनवाते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं। मिथ्या मान्यता के फल में एक दो भव में निगोद को प्राप्त करेंगे। यह वात जरा कठोर लगती है, किन्तु वापू ! यह वड़ी भारी भूल है; इसमे सभी तत्त्वों की भूल है। 'वस्त्र पहनने का विकल्प' – यह तो प्रगट आस्रव भाव है। उसके वदले उसे मुनिपना अर्थात् संवर-निर्जरा मानना यह सव तत्त्वों की भूल है। मूल में ही भूल है।

भाई ! प्रवचनसार में आता है कि मुनि का रूप नवजात शिशु की भाँति (नग्न) होता है – ऐसा भगवान ने कहा है। जिन शास्त्रों मे वस्त्रसहित मुनिपना लिखा हो वे शास्त्र व साधु सच्चे नहीं।

अनंत-अनंत सामर्थ्य से परिपूर्ण अनंत-अनंत शक्तियाँ जिसमे उछलती हैं – ऐसा अनंत स्वभाव की सामर्थ्य का सागर भगवान आत्मा है। जिस जीव ने ऐसे आत्मा का अनुभव किया है, वह समकिती है।

धर्मी को जो पुण्य-पाप के विकल्प या अस्थिरता का राग आता है उसका प्रत्याख्यान कैसे हो ? यह प्रश्न है। उत्तर इसप्रकार है कि ज्ञान में ज्ञात होते हुए भी यह राग ज्ञान में व्यापता नहीं है, चैतन्य की स्वरूप सम्पदा से भिन्न ही रहता है। अस्थिरतारूप राग व ज्ञान में भिन्नता हैं। राग तो पररूप है – ऐसा जिसने जाना है; वह ज्ञाता राग में रुकता नहीं है; जुड़ता नही है – यही प्रत्याख्यान है। राग मे जुड़ता नहीं है – यह तो नास्ति से कथन है। वस्तुतः तो जिस काल में ज्ञान ज्ञान में ठहर जाता है; उस स्वरूप के आचरण के काल में राग उत्पन्न ही नहीं होता। अतः राग का त्याग किया – यह नाममात्र कथन है। जैन परमेश्वर वीतरागदेव का ऐसा मार्ग है भाई !

'आत्मा राग का त्याग करता है।' – यह कथनमात्र है। परमार्थ से देखे तो परभाव के त्याग का कर्त्तापना आत्मा के नही है, क्योकि 'राग छोड़ना आत्मा के स्वरूप मे है ही नही। अहाहा! जहाँ स्वरूप मे ठहरा, वहाँ राग हुआ ही नही, फिर राग छोडा – यह बात कैसे बने, भाई! राग का त्याग किया, इसका अर्थ क्या ? क्या प्रत्याख्यान के काल मे, चारित्र के काल मे राग का अस्तित्व है ? जब ज्ञान ज्ञान मे ठहर जाता है, उस काल मे राग का अस्तित्व ही नही, उस काल मे तो राग का अभाव ही है। परन्तु पूर्वपर्याय मे जो राग था, वह वर्त्तमान मे नही हुआ –ऐसा देखकर नाममात्र कहा जाता है कि आत्मा ने राग का त्याग किया। अद्भुत बात है, यह तो समयसार है, परमात्मा की दिव्य ध्वनि है। गणधरो व सन्तो की वाणी को समझने के लिए बहुत पुरुषार्थ चाहिए।

अब कहते है कि आत्मा तो परभाव के त्याग के कर्त्तापने के नाम से रहित है, क्योंकि स्वयं तो ज्ञानस्वभावरूप से ही रहा है, ज्ञान से कभी छूटा ही नही है। इसलिए ज्ञान ही प्रत्याख्यान है। ज्ञान ज्ञान मे थमा, स्थिर हुआ – यही प्रत्याख्यान है।

गाथा ३४ के भावार्थ पर प्रवचन

आत्मा ने परभाव का त्याग किया, राग का त्याग किया – ऐसा कहना यह तो नाममात्र है। स्वय तो ज्ञानस्वभावी चैतन्यप्रकाश का पुज अकेला ज्ञायकभाववाला तत्त्व है, स्व-पर-प्रकाशकस्वभावी है। ऐसे स्वतत्त्व को जब स्व जाना और परभाव को पररूप से जाना, तब परभाव को ग्रहण नही किया, राग को पकडा नही, इसे ही इसने त्याग किया – ऐसा कहा जाता है। राग मे जो अस्थिरता होती थी, वह नही हुई, तब उसने राग का त्याग किया – ऐसा कहने मे आता है। आचार्यदेव ने सत्य को सत्यरूप से रखकर प्रसिद्ध करने की तथा परम सत्य की प्रतीति कराने की कैसी गजब की शैली अपनाई है, यह तो देखो!

परद्रव्य को पररूप से जाना तो परभाव का ग्रहण नही हुआ, वही उसका त्याग है। राग की ओर उपयोग के जुडान से जो अस्थिरता थी, उस ज्ञानोपयोग, ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा मे स्थिर होने पर अस्थिरता उत्पन्न ही नही हुई, इसे ही प्रत्याख्यान कहते है। इसलिए स्थिर हुआ ज्ञान ही प्रत्याख्यान है। ज्ञान के सिवाय दूसरा कोई भाव प्रत्याख्यान नही है। ज्ञायक चैतन्यसूर्य मे ज्ञान स्थिर हो जाना ही प्रत्याख्यान है।

अथ ज्ञातुः प्रत्याख्याने को दृष्टान्त इत्यत आह—

जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणं ति जाणिदुं चयदि ।
तह सव्वे परभावे णाऊण विमुञ्चदे णाणी ।।३५।।

यथा नाम कोऽपि पुरुषः परद्रव्यमिदमिति ज्ञात्वा त्यजति ।
तथा सर्वान् परभावान् ज्ञात्वा विमुंचति ज्ञानी ।।६५।।

यथा हि कश्चित्पुरुषः संभ्रांत्या रजकात्परकीयं चीवरमादायात्मीयप्रतिपत्त्या परिधाय शयानः स्वयमज्ञानी सन्नन्येन तदंचलमालंब्य बलान्नग्नीक्रियमाणो मंक्षु प्रतिबुध्यस्वार्पय परिवर्तितमेतद्वस्त्रं मामकमित्यसकृद्वाक्यं शृण्वन्नखिलैश्चिह्नैः सुष्ठु परीक्ष्य निश्चितमेतत्परकीयमिति ज्ञात्वा ज्ञानी सन् मुचति तच्चीवरमचिरात्, तथा ज्ञातापि संभ्रांत्या परकीयान्भावानादा-

---

अब यहाँ यह प्रश्न होता है कि ज्ञाता का प्रत्याख्यान, ज्ञान ही कहा है, तो उसका दृष्टान्त क्या है ? उसके उत्तर मे दृष्टान्त—दार्ष्टांतरूप गाथा कहते हैं :—

ये और का है जानकर, परद्रव्य को को नर तजे ।
त्यो और के है जानकर, परभाव ज्ञानी परित्यजे ।।३५।।

गाथार्थ :—[यथा नाम] जैसे लोक मे [कः अपि पुरुषः] कोई पुरुष [परद्रव्यम् इदम् इति ज्ञात्वा] परवस्तु को 'यह परवस्तु है' ऐसा जाने तो ऐसा जानकर [त्यजति] परवस्तु का त्याग करता है, [तथा] उसीप्रकार [ज्ञानी] ज्ञानी पुरुप [सर्वान्] समस्त [परभावान्] परद्रव्यो के भावो को [ज्ञात्वा] 'यह परभाव है' ऐसा जानकर [विमुञ्चति] उनको छोड देता है ।

टीका :—जैसे कोई पुरुष धोवी के घर से भ्रमवश दूसरे का वस्त्र लाकर, उसे अपना समभकर ओढकर सो रहा है और अपने आप ही अज्ञानी (—यह वस्त्र दूसरे का है ऐसे ज्ञान से रहित) हो रहा है, (किन्तु) जब दूसरा व्यक्ति उस वस्त्र का छोर (पल्ला) पकडकर खीचता है और उसे नग्न कर कहता है कि—'तू शीघ्र जाग, सावधान हो, यह मेरा वस्त्र बदले मे आगया है, यह मेरा है सो मुझे दे दे,' तब बारम्बार कहे

यात्मीयप्रतिपत्त्यात्मन्यध्यास्य शयानः स्वयमज्ञानी सन् गुरुणा परभावविवेक कृत्वैकीक्रियमाणो मंक्षु प्रतिबुध्यस्वैकः खल्वयमात्मेत्यसकृच्छ्रौत वाक्यं शृण्वन्नखिलैश्चिह्नैः सुष्ठु परीक्ष्य निश्चितमेते परभावा इति ज्ञात्वा ज्ञानी सन् मुचति सर्वान्परभावानचिरात् ।

गये इस वाक्य को सुनता हुआ वह, (उस वस्त्र की) सर्व चिह्नो से भली-भाँति परीक्षा करके, 'अवश्य यह वस्त्र दूसरे का ही है' ऐसा जानकर, ज्ञानी होता हुआ, उस (दूसरे के) वस्त्र को शीघ्र ही त्याग देता है। इसीप्रकार ज्ञाता भी भ्रम वश परद्रव्य के भावो को ग्रहण करके, उन्हें अपना जानकर, अपने मे एकरूप करके सो रहा है और अपने आप अज्ञानी हो रहा है, जब श्रीगुरु परभाव का विवेक (भेदज्ञान) करके उसे एक आत्मभावरूप करते है और कहते है कि 'तू शीघ्र जाग, सावधान हो, यह तेरा आत्मा वास्तव मे एक (ज्ञानमात्र) ही है, (अन्य सर्व परद्रव्य के भाव है)' तव वारम्बार कहे गये इस आगम के वाक्य को सुनता हुआ वह, समस्त (स्व-परके) चिह्नो से भलीभाँति परीक्षा करके, 'अवश्य यह परभाव ही है। (मैं एक ज्ञानमात्र ही हूँ)' यह जानकर, ज्ञानी होता हुआ, सर्व परभावो को तत्काल छोड देता है।

भावार्थ :– जवतक परवस्तु को भूल से अपनी समझता है, तव तक ममत्व रहता है; और जव यथार्थ ज्ञान होने से परवस्तु को दूसरे की जानता है तव दूसरे की वस्तु मे ममत्व कैसे रहेगा ? अर्थात् नही रहे। यह प्रसिद्ध है।

गाथा ३५ की उत्थानिका पर प्रवचन

३४वी गाथा के सन्दर्भ मे शिष्य प्रश्न करता है कि ज्ञान ही ज्ञाता का प्रत्याख्यान है, अर्थात् ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा का ज्ञान ही प्रत्याख्यान है, चारित्र है, राग का त्याग है। आपने जो यह कहा है – इसका कोई दृष्टान्त भी है क्या ? शिष्य का आग्रह उक्त कथन को दृष्टान्तपूर्वक समझाने का है। इसी के उत्तरस्वरूप यह ३५वी गाथा है।

ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा का ज्ञान, प्रतीति और अनुभव करके उसी आत्मा मे स्थिर होना प्रत्याख्यान है अर्थात् राग से भिन्न ज्ञायक स्वभावी भगवान आत्मा का जव अनुभव होता है, तव ज्ञान आत्मा मे स्थिर हो जाता है। यही प्रत्याख्यान वीतराग चारित्र या राग का त्याग है। एक मात्र ऐसा प्रत्याख्यान ही जीव का कर्त्तव्य है। इसके सिवाय आत्मा का अन्य कुछ कार्य ही नही है। भाई ! क्या यह कोई कार्य नही

है ? अरे ! आत्मा का तो एक मात्र ज्ञान ही कार्य है, इसके अतिरिक्त आत्मा न कुछ करता है और न कर ही सकता है। वस्तु का जैसा ज्ञान-स्वभाव है, वैसी ही ज्ञान परिणति प्रगट करके उसी मे ठहरना, बस आत्मा का यही एकमात्र कार्य है।

चैतन्यस्वभाव का ज्ञान अर्थात् स्वसवेदनज्ञान होना, आत्मज्ञान होना ही सम्यग्ज्ञान है, या उसी शुद्ध चैतन्यघन की प्रतीति सम्यग्दर्शन है, तथा विकल्प से रहित होकर शुद्ध परिणमन होना चारित्र है। शुद्ध परिणमन अशुद्धता के नाश बिना नही होता और अशुद्धता का नाश शुद्ध परिणमन के बिना नही होता। वस्तु तो चैतन्यस्वभावी वीतरागता की मूर्ति है। छहढाला मे भी आता है कि आत्मा तो वीतराग-विज्ञानस्वरूप ही है। इसका अनुभव करने पर पर्याय मे वीतराग-विज्ञानता प्रगट होती है, और उनमे विशेष स्थिरता होने पर चारित्र होता है। जो ज्ञान अस्थिरता के कारण राग मे जुडता था, जब वह ज्ञान वहाँ से हटकर वीतराग-विज्ञान स्वभाव मे ठहर जाता है, उसे ही चारित्र कहते है।

वीतराग-विज्ञान स्वरूप चैतन्यपिण्ड की दृष्टि होने पर वीतराग-विज्ञान का अश पर्याय मे प्रगट होता है और इस वीतराग-विज्ञान की पुष्टि व वृद्धि होने पर प्रत्याख्यान होता है, परन्तु मूढ अज्ञानी जीव इस अन्तर के आचरण को नही जानते।

लोगो को आगम की पद्धति ख्याल आती है, परन्तु अध्यात्म का व्यवहार क्या है ? – इसकी खबर नही पड़ती है।

पण्डित श्री बनारसीदासजी 'परमार्थवचनिका' मे कहते हैं :–

"ज्ञाता तो मोक्षमार्ग साधना जानता है, मूढ मोक्षमार्ग को साधना नही जानता। क्यो नही जानता है ? सुनो ! मूढ जीव आगमपद्धति को व्यवहार कहता है, अध्यात्मपद्धति को निश्चय कहता है। इसलिए आगम-अग को एकान्तपने साधकर मोक्षमार्ग दिखलाता है, अध्यात्म-अंग को व्यवहार से नही जानता – यह मूढ दृष्टि का स्वभाव है, उसे इसीप्रकार सूझता है। क्यो ? क्योकि आगम-अग बाह्यक्रियारूप प्रत्यक्ष प्रमाण है, उसका स्वरूप साधना सुगम है। बाह्यक्रिया करता हुआ मूढ जीव अपने को मोक्ष का अधिकारी मानता है, अन्तर्गर्भित जो अध्यात्मरूप क्रिया है, वह अन्तर्दृष्टिग्राह्य है, वह क्रिया मूढ जीव नही जानता। अन्तर्दृष्टि के अभाव मे अन्तर्क्रिया दृष्टिगोचर नही होती, इसलिए मिथ्यादृष्टि जीव मोक्षमार्ग साधने मे असमर्थ है।"

अज्ञानीजन दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव को व्यवहार कहते हैं और जो आत्मा का त्रिकालस्वरूप है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान की परिणति को निश्चय कहते हैं। इसकारण व्यवहार – दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा के विकल्पो को साधकर मोक्षमार्ग मानते हैं, किन्तु त्रिकाली ज्ञायकभावरूप निश्चय तथा उसकी शुद्धपरिणति – सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतराग-परिणतिरूप अध्यात्म का व्यवहार का मूढजीवो को ख्याल नही है।

आत्मा शुद्ध सच्चिदानन्दमूर्ति है। सत् अर्थात् शाश्वत ज्ञान और आनन्द का सागर भगवान आत्मा है। इसमे वीतराग-विज्ञानमय जो रमणता होती है, उसे अध्यात्म का व्यवहार कहते हैं; किन्तु अज्ञानी को इसकी खबर नही है – इसकारण बाह्य प्रत्यक्ष-प्रमाणरूप व्रत, तप, पूजा, भक्ति इत्यादि भाव को देखकर उन्हें ही अध्यात्म का व्यवहार मान बैठा है। अनादि से वह बाह्य क्रियाकाण्ड – व्रत, नियम आदि पालता है, इसकारण उसका स्वरूप साधना अज्ञानी को सुगम है, परन्तु सच्चिदानद-स्वरूप भगवान आत्मा का अनुभव करके उसमे ठहरना – ऐसी वीतरागी अध्यात्मरूप व्यवहार क्रिया को वे नही जानते।

भगवान आत्मा त्रिकालध्रुवरूप शुद्ध द्रव्यवस्तु अक्रियस्वरूप है। परिणमनरूप या बदलनेरूप क्रिया इसमे नही है। परिणमना या बदलना – यह क्रिया तो पर्याय मे है। ऐसा त्रिकाली ध्रुव अक्रियस्वरूप आत्मा निश्चय है और उसका अवलम्बन लेकर मोक्षमार्ग साधना व्यवहार है। राग से भिन्न अन्दर सच्चिदानन्द-स्वरूप भगवान ध्रुव पडा है, वह अक्रिय है, परिणमन करने की क्रिया उसमे नही है। ऐसे ध्रुव अक्रियस्वरूप भगवान आत्मा का अवलम्बन लेकर उसी मे स्थित होना मोक्षमार्ग है – यह निश्चयमोक्षमार्ग अध्यात्म का व्यवहार है।

शुद्ध द्रव्यवस्तु निश्चय तथा उसके आश्रय से मोक्षमार्ग का प्रगट होना व्यवहार है। शुभरागरूप व्यवहारमोक्षमार्ग की यहाँ बात नही है। यहाँ तो केवलज्ञानस्वभावी आनदकन्द प्रभु, शुद्ध, ध्रुव, अक्रिय वस्तु; जिसमे बदलाव या परिणमन नही है, वह निश्चय है और पर्याय मे जो निश्चयमोक्षमार्ग प्रगट होता है, वह व्यवहार है। भाई ! ऐसा मार्ग है। चौरासी के अवतार मे रखडते हुये इन ससारी प्राणियो को यह बात सुनने को आज तक मिली ही नही है।

जिसप्रकार शक्कर मिठासस्वरूप, अफीम कड़वाहटस्वरूप तथा नमक खारेपनस्वरूप है, उसीप्रकार भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ज्ञाता-

दृष्टा है। ऐसे ज्ञानस्वभावी आत्मा का भान करके, श्रद्धान करके उसमें ठहरना या स्थित होना ही प्रत्याख्यान है। तथा इस निर्मल वीतरागी परिणति को ही चारित्र व मोक्षमार्ग कहते हैं।

अहाहा! तीनों काल जिसमें जन्म-मरण व जन्म-मरण के भाव का अभाव है, ऐसा भगवान आत्मा है। किसी को ऐसा लगे कि ये यह क्या कहते हैं? परन्तु भाई! यह तो अपने निजघर की बात है, निजघर में तो ज्ञान व आनन्द का निधान पड़ा है। यह हाड़ व मांस की पोटलीरूप शरीर तो परवस्तु है। हिंसा, चोरी आदि पापभाव हैं, व दया-दान आदि पुण्य भाव हैं, इन सबसे तू अर्थात् भगवान आत्मा भिन्न है। ऐसे आत्मा का भान कर उसमें ठहरना ही प्रत्याख्यान है।

यहाँ शिष्य पूछता है कि प्रभो! आपने तो ज्ञाता का प्रत्याख्यान ज्ञान ही कहा? तदनुसार दोनों हाथों को जोड़ना तो जड़ की क्रिया हुई तथा जो विकल्प उठते हैं, वह राग की क्रिया है, — ये कुछ भी प्रत्याख्यान नहीं है। ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा की प्रतीति करके, अनुभव करके, उसी में रमणता व स्थिरता करना प्रत्याख्यान है — ऐसा आपने कहा तो इसका दृष्टान्त क्या है? इसके उत्तरस्वरूप गाथा द्वारा दृष्टान्तसहित सिद्धान्त बताते हैं —

गाथा ३५ व उसकी टीका पर प्रवचन

शिष्य के विनम्र अनुरोध को ध्यान में रखकर आचार्य महाराज धोबी का उदाहरण देकर प्रत्याख्यान के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं —

जिसप्रकार कोई पुरुष धुलने के लिए दिये हुए वस्त्र को लेने के लिए धोबी के घर गया और धोबी द्वारा दिये जाने पर भ्रम से अन्य का वस्त्र अपना जानकर ले आया। उस वस्त्र को अपना जानकर-मानकर निश्चित होकर ओढ़कर सो रहा है अर्थात् यह वस्त्र दूसरे का है — ऐसे ज्ञान बिना अज्ञानी हो रहा है। अब जिसका यह वस्त्र था, वह दूसरा पुरुष धोबी के यहाँ आया व अपना वस्त्र माँगा। तलाश करने पर पता लगा कि उसका वस्त्र कोई अन्य भाई ले गया, तब वह उसके घर गया। उसने वहाँ उसे अपना वस्त्र ओढ़कर सोया हुआ देखा, तो उसने उस वस्त्र का कोना पकड़कर खींचा, उसे उघाड़ करके जगाया और कहा कि भाई! तू शीघ्र जाग! सावधान हो! इस वस्त्र को पहचान! यह वस्त्र मेरा है, जो भूल से बदलकर तेरे पास आ गया है। इसे तू मुझे दे दे। — ऐसा एकबार नहीं, बार-बार कहा। तब उसने शीघ्र जागकर, बारम्बार उसे देखकर, पहचान-

कर यह निश्चय किया कि यह वस्त्र मेरा नही है, मेरे वस्त्र पर तो मेरा नाम लिखा है, इसप्रकार पूरी तरह परीक्षा करके निर्णय किया कि यह वस्त्र मेरा नही है। – ऐसा जानकर ज्ञानी हुआ। तब उस वस्त्र को तुरन्त त्याग देता है अर्थात् भले ही वस्त्र अभी सयोग मे से दूर न हुआ हो, परन्तु ज्ञान होते ही निजपने की बुद्धि छूट जाती है, भ्रम भग हो जाता है।

उसीप्रकार यह ज्ञाता भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति प्रभु ज्ञानजल से भरा हुआ ज्ञानसागर है। यह अनतज्ञान स्वभाव की सामर्थ्य से भरा हुआ भगवान ज्ञाता है। स्वय ज्ञायक होते हुये भी अज्ञानी जिन परद्रव्यो को जानता है, उन परद्रव्यो को अपना मानकर ग्रहण करता है। स्त्री, कुटुम्ब वगैरह तो ठीक किन्तु अन्दर मे कर्म के सग मे अर्थात् उदय मे वश हुये पुण्य-पाप के विकारीभाव आदि जो परद्रव्य के भाव हैं, उन्हे भी अज्ञानी दूसरे के वस्त्र की भाँति, अपने मानकर ग्रहण करता है। स्वय तो ज्ञायक-स्वरूप ही है, तथापि पर-द्रव्य के भावो को ग्रहण कर अपने मानता है। अज्ञानी ने ज्ञान व आनन्द, जो स्व-द्रव्य के भाव है, उन्हे कभी अनुभव नही किया, – इसकारण दया, दान, व्रत, भक्ति इत्यादि विकारी परिणामो को ही निज के है – ऐसा मानता है।

ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा चैतन्यप्रकाश के नूर का पूर है। उसके अन्दर मे ज्ञान व आनन्द भरा है। ऐसा ज्ञाता भगवान स्वय को भूलकर भ्रम से परद्रव्यो के भावो को अपना मानकर अनादि से जन्म-मरण के चक्कर मे फिरता रहता है। अनादि से जो अज्ञानी स्व-द्रव्य के भाव को छोडकर पुण्य-पाप के विकल्परूप जो पर-द्रव्य के भाव है, उन्हे भ्रम से अपने मानकर ग्रहण करता है। अपना स्वभाव तो जानना-देखना है, किन्तु स्वभाव का भान नही होने से भ्रम से पर-द्रव्य के भावो को अपने जानकर ग्रहण करता है।

देखो! यहाँ 'भ्रम से' कहा है, 'कर्म से' नही कहा। अहाहा! ज्ञानानन्दस्वरूप भगवान ब्रह्म को भ्रम हो गया है, इसकारण स्वय को छोडकर पर-द्रव्य के भाव – दया, दान, भक्ति आदि पुण्य-भाव तथा हिसा आदि पाप भावो को ग्रहण करता है और उन्हे अपना मानकर अज्ञानी हो रहा है। बेचारा क्या करे? उसे उपदेश भी ऐसा ही सुनने को मिलता है कि पुण्य करो, पुण्य करने से धर्म होता है, परन्तु यह यथार्थ उपदेश नही है।

भाई! जो दया, दान, भक्ति, व्रत, तप, पूजा, यात्रा वगैरह के पुण्य भाव हैं, वे राग है। तथा उस राग को जो अपना माने वह मिथ्यादृष्टि

है। जब तक पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं हुई, तब तक सम्यग्दृष्टि को भी शुभराग होता अवश्य है, परन्तु वह व्यवहार है तथा आश्रय करने लायक नहीं है। निश्चय व व्यवहार — दोनों उपादेय (आश्रय करने योग्य) नहीं हैं। व्यवहार है अवश्य, किन्तु वह आदर करने योग्य नहीं है।

व्यवहार नय को जो न माने तो तीर्थ का ही नाश हो जायेगा तथा जो निश्चयनय को न माने तो तत्त्व का नाश हो जायेगा।

इसकारण गुणस्थान आदि भेदरूप व्यवहार है तो अवश्य, परन्तु वह आदरणीय नहीं है। व्यवहार से निश्चय होता है — ऐसा भी नहीं है।

यहाँ यही बात कहते हैं कि आत्मा का स्वरूप तो ज्ञान ही है, परन्तु अज्ञानी स्वरूप को भूलकर भ्रम से रागादि विभावों को ग्रहण करके उन्हे अपना जानकर अपने में एकरूप होकर सोता है। अनादि से अज्ञानी जीव अकेले ज्ञान के पिण्ड प्रभु आत्मा को छोड़कर पुण्य-पाप के भाव जो धर्म से विरुद्ध अर्थात् अधर्म हैं, उनको अपना जानकर, उसको अपने स्वभाव में एकरूप करके सो रहा है और अपनी ही भूल से अज्ञानी हो रहा है। कर्म के कारण अज्ञानी हो रहा है — ऐसा नहीं है। कहा भी है न —

अपने को आप भूल के हैरान हो गया

अपनी वस्तु सच्चिदानन्द प्रभु आनन्दकंद ज्ञायक है। उसको छोड़कर अज्ञानीजीव देहादि जड़स्वरूप वस्तुओं और अन्दर में हो रहे पुण्य-पाप के विकार को अपना मानकर मोह की नींद में सो रहा है। भगवान आत्मा तो अबन्धस्वभावी है और पुण्य-पाप के भाव बंधमय हैं. तथापि उन भावों को अपना जानकर, अपने से एकरूप मानकर स्वयं से स्वयं ही अज्ञानी हो रहा है। कर्म से अज्ञानी हो रहा है — ऐसा नहीं है।

देश, मकान, बाल-बच्चे आदि तो बहुत दूर की बात हैं, यहाँ तो वर्तमानदशा में कर्म के संग से जो पुण्य-पाप के भाव उत्पन्न होते हैं, वे भी पर-द्रव्य के भाव हैं — ऐसा कहा है; क्योंकि परमात्मदशा होने पर ये भाव छूट जाते हैं और ज्ञानानन्दस्वरूप चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा रह जाता है। भाई! तेरा देश तो असंख्यप्रदेशी अन्दर विराजमान है और उसमें अनन्त-अनन्त गुणों की प्रजा रहती है। राग या पुण्य-पाप के विकल्प अपने स्वभाव या अपने स्वभाव की जाति के नहीं हैं। इनका वस्तु में प्रवेश ही नहीं है, तथापि चैतन्य भगवान अनादि से अपनी ज्ञानानन्द की स्वरूपसम्पदा को भूलकर पुण्य-पाप के विकल्पों को अपना मानकर, इन्हीं में एकरूप होकर सो रहा है और अपने ही कारण अज्ञानी हो रहा है

देखो, दर्शनमोह का उदय आया इसकारण अज्ञानी हुआ है – ऐसा नही कहा, परन्तु रागादि पुण्य-पाप को अपना मानकर अपनी ही भूल से अज्ञानी हुआ है। अज्ञानी को अपने आप ऐसी मान्यता हो रही है कि कर्म के कारण ही यह सब होता है। दोष तो स्वयं करे और कर्म के माथे मढता है। भाई ! कर्म का कोई दोष नही है। पूजन मे कहा भी है :–

कर्म बिचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई।
अग्नि सहे घनघात, लोह की संगति पाई॥

अकेली अग्नि को कोई नही पीटता, परन्तु अग्नि जब लोहे का साथ करती है तो लोहे के साथ वह भी पिटती है, उसके ऊपर भी घन की चोटें पड़ती हैं। उसीप्रकार यह आत्मा जब राग का कुसंग करता है और उसमे एकाकार होता है, तो चारगति के दुःखो को भोगता है। कर्म बिचारे दुःख देने वाले कौन होते हैं ? यह आत्मा अपनी ही भूल से दुःखी है।

भाई ! वीतरागी प्रभु का मार्ग या धर्म का मार्ग जगत सें बिल्कुल जुदा है। पर की दया पालने का भाव आता है वह शुभ राग है, परन्तु पर की दया क[illegible] परवस्तु है, वह अपनें परिणमन में स्वतन्त्र है। उसकी अवस्था का कर्त्ता वह स्वय है। इसकारण दूसरा कोई ऐसा कहे कि 'मैं इसको जीवित रखता हूँ, बचाता हूँ या मारता हूँ' तो ये मान्यतायें मिथ्या हैं, भ्रम हैं; ऐसा माननेवाला मूढ है, अज्ञानी है। भाई ! तू तो ज्ञान है न ? तू जानने की भूमिका मे रहे – ऐसा तेरा स्वरूप है। जाननेवाला आत्मा जानने के सिवा और कर ही क्या सकता है ? क्या वह राग कर सकता है ? राग या विकार का तो तेरे स्वभाव मे अभाव है। तथापि तू दया, दान आदि परद्रव्यो के भावो को व स्वय को एकरूप करके अनादि से मिथ्यात्व मे सो रहा है, ये तेरी भारी भूल है, अज्ञान है।

भगवान आत्मा अनादि से अपनी वस्तु को भूलकर, कृत्रिम, क्षणिक, उपाधिमय पुण्य-पाप के भावो को अपना मानकर अपने ही कारण अज्ञानी हुआ है। उसको श्रीगुरु पर-भाव का भेद करके बताते हैं कि भाई ! तू चैतन्यस्वरूप ज्ञानसम्पदा से भरा हुआ भण्डार है। इस राग या विकल्प से तेरी वस्तु भिन्न है। तू अपना स्वरूप देख ! तेरा स्वरूप तो ज्ञाता-दृष्टा है। राग तेरा स्वरूप नही है; ऐसा श्रीगुरु परभाव का विवेक कराते हैं। भाई ! जो राग से भिन्न आत्मा का ज्ञान करावे, वे ही यथार्थ गुरु हैं। आत्मज्ञान की अनुभवमय दशा जिनको हुई है, वे सच्चे गुरु हैं। ऐसें सच्चे गुरु परभावो को हेय बताते हैं। वे कहते हैं कि भाई ! ज्ञान आनंद तेरा सत्य स्वरूप है; पुण्य-पाप के कृत्रिम विकल्प तेरी चीज नही है।

जिसप्रकार दृष्टान्त मे अज्ञानी पुरुष दूसरे के वस्त्र को अपना मानकर सोता है और उसको कोई अन्य पुरुष, जिसका वस्त्र है, ज्ञान कराता है कि भाई ! ये वस्त्र तेरा नही है, तू भ्रम से इसे अपना मानकर बैठा है। उसीप्रकार अज्ञानी भी परभावरूप विकल्पो को अपना मानकर, उसमे एकाकार होकर सोता है, उसको श्रीगुरु राग व आत्मा का भेद करके विवेक उत्पन्न कराते हैं और एक आत्मभावरूप करते हैं। श्रीगुरु समझाते हैं कि भाई ! ज्ञान और आनन्द से भरा हुआ तू प्रज्ञाब्रह्म-स्वरूप है। राग तेरी स्वय की वस्तु नही है। जो चीज अपनी होती है, वह कभी जुदा नही होती और जो वस्तु पृथक् हो जाती है, वह कभी भी अपनी नही होती है।

जब आत्मा अंदर ध्यानमग्न होकर परमात्मा हो जाता है, तब राग नही रहता, राग स्वभाव से ही पृथक् हो जाता है। इसलिए ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी आत्मा से राग भिन्न वस्तु है। राग तुझमे नही है और तू राग मे नही है — दोनो वस्तुये सर्वथा जुदी-जुदी हैं।

जैसे नारियल मे ऊपर की जटाये व नरेटी हैं, और अन्दर गोलेपर लाल छिलका है, वे सब नारियल नही है; उनके अन्दर जो सफेद व मीठा गोला है, वह वस्तुतः नारियल है। उसी प्रकार शरीर नारियल के ऊपर की जटा के समान है, द्रव्यकर्म नरेटी के समान है, अन्दर के रागादिरूप — दया, दान, भक्ति, काम, क्रोध आदि पुण्य-पाप के विकार लाल छाल की की जगह हैं और अन्दर ज्ञानानद स्वरूपी भगवान आत्मा गोला के स्थान पर समझना चाहिए। इसप्रकार सब भिन्न-भिन्न हैं। ऐसा सन्तो का उपदेश है, जन्म-मरण रहित होने की वस्तु तो जगत से जुदी ही है। भाई ! तू अनादि से जन्म-मरण करके दुखी हो रहा है; तथापि तुझे थकान नही आती ?

आत्मा ज्ञानमयी चैतन्यरस से परिपूर्ण भरा हुआ तत्त्व है। वह सत् है और ज्ञान व आनन्द उसका सत्त्व है। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि शुभभाव या हिंसा, झूठ, चोरी, विषयवासना आदि अशुभभाव, ये सब विकार है, ये आत्मा के सत्त्व नही है। आत्मा व राग भिन्न-भिन्न सत्त्व है, राग तो बेडी के समान है। अशुभराग लोहे की बेड़ी है और शुभराग सोने की; परन्तु हैं तो दोनो बेडी ही। देखो ! शुभराग भी बेडी है। प्रभु ! तू अपनी प्रभुता को एकबार जान तो सही ! जानना, देखना व आनन्द — ये तेरी प्रभुता है। ये तेरे तत्त्व का सत्त्व है। आत्मा अनादि-अनन्त-वस्तु है, तथापि अज्ञानी अनादि से पुण्य-पाप के भावो को अपना मानकर मोह की नीद मे सो रहा है। उससे श्रीगुरु कहते हैं कि प्रभु ! जो

वस्तु-क्षणिक है और तेरे मे नही है, उसको तू अपनी मानकर सो रहा है, यह तेरी बडी भारी भूल है।

श्रीमद् रायचंद्रजी ने एकबार कहा था कि जैसे आत्मा के गुणो का पार नही है, उसीप्रकार इसके अपलक्षणो (दोषो) का भी पार नही है। अपनी जात को न पहचानना और राग तथा पुण्य-पाप को अपना मानना – ये इसके अपलक्षण है। ज्ञान निजलक्षण है। उसके स्थान पर राग को अपना स्वरूप मानना, यह अपलक्षण है भाई! मार्ग तो ऐसा ही है, भले तुझे न बैठे, परन्तु तेरी वस्तु ऐसी ही है नाथ!

कितने ही कहते है कि सस्कार सुधारो, परन्तु यह तो कोयला को धोने जैसे है। जैसे कोयला धोने से कालिमा ही निकलती है। यदि सफेदी चाहिए तो उसे अग्नि मे जलाना पडेगा। इसीतरह जो सुधार करना हो तो पुण्य-पाप के भाव मेरे मे नही हैं – ऐसा जानकर उन्हे जला दे; अन्यथा सुधार सभव नही है।

भगवान! मोक्ष का मार्ग कोई अलौकिक है। दया पालना, व्रत करना और देश की सेवा करना – इसमे लोग धर्म मान बैठे हैं, परन्तु बापू! इसमे रचमात्र भी धर्म नही होता। आत्मा की कभी तूने सेवा नही की, इस कारण धर्म नही हुआ। अरे रे! इसने अनादिकाल से अपनी मूलवस्तु को समझे बिना सबकुछ गमाया है।

छहढाला मे भी आता है —

'मुनिव्रत धार अनन्तवार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतम ज्ञान विना सुख लेश न पायो॥'

श्रीगुरु कहते हैं कि शीघ्र जाग! उठ! अनन्तकाल से पुण्य-पाप को अपना मानकर मिथ्यात्व मे सो रहा है। अब शीघ्र जाग! जो व्यवहार मे सावधान है, वह निश्चय मे सोता है और जो निश्चय मे सावधान है, वह व्यवहार मे सोता है। तेरा आत्मा तो एक ज्ञानस्वरूप ही है। वह ज्ञानस्वरूप भी है और रागरूप भी है – ऐसा नही है। राग तो अन्यद्रव्यरूप पुदगल का भाव है। राग मे चैतन्य के प्रकाश के नूर का अभाव है। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि शुभभाव चैतन्य के प्रकाश से रहित हैं, अन्धकारमय हैं। चैतन्यप्रकाश का बिम्ब प्रभु तू एक ज्ञायकभाव मात्र है। राग से लेकर सब अन्यद्रव्य के भाव परद्रव्य के भाव होने से परभाव है, इसलिए तू शीघ्र जागृत होकर स्वरूप मे सावधान हो!

अज्ञानी एक-दो बार मे समझता नही है; इसलिए श्रीगुरु उसे बारम्बार समझाते हैं कि 'राग व आत्मा भिन्न-भिन्न हैं; व्यवहार करते-करते निश्चय नही होता, राग करते-करते वीतरागता नही होती, इत्यादि।' बारम्बार सुनने से शिष्य को जिज्ञासा हुई कि अहो! ये क्या कहते है? तब श्रीगुरु आगम के वाक्य कहते हैं कि "शुद्ध चैतन्यघन स्वरूप भगवान आत्मा को राग से भिन्न करके अन्तरदृष्टि द्वारा ज्ञान व रमणता करना आत्मव्यवहार है और शुभरागरूप मनुष्य व्यवहार ससार का व्यवहार है। राग का भाव – दया, दान, व्रत, भक्ति, यात्रा इत्यादि का भाव चाहे जितना भी मन्द हो, परन्तु यह आत्मा की वस्तु नही है। देखो! भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर की दिव्यध्वनि और आगम का यह सिद्धान्त है।

इसमे तीन सिद्धान्त सिद्ध किये हैं :–

(१) भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप होते हुये भी अपने भ्रम से शुभ विकल्प को अपना मानता है।

(२) चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा को और राग को अपने अज्ञान से, भ्रम से एक मानकर अज्ञानी होता है। अज्ञानी जीव कर्म के कारण या कुगुरु के कारण परद्रव्य मे एकत्व करता है – ऐसा नही है; बल्कि अपने ही अज्ञान के कारण सोता है, पर मे एकत्व करता है।

(३) श्रीगुरु उसको बारम्बार वीतरागभाव का, भेदज्ञान करने का आगम वाक्य द्वारा उपदेश देते हैं और जिज्ञासु शिष्य उसे बारम्बार सुनता है, एकबार सुनकर नही चला जाता। देशसेवा, जनसेवा या प्रभुसेवा से धर्म होता है, यह उपदेश वीतराग भाव का उपदेश नही है; ये तो लौकिक बातें हैं।

आत्मा का स्वरूप वीतरागभावरूप है। इसकारण राग या विकल्प आत्मा की वस्तु नही है, आत्मा इनसे भिन्न है। राग में धर्म नही है और धर्म मे राग नही है। श्रीगुरु बारम्बार ऐसा उपदेश देते हैं। आगम का वाक्य भी ऐसा ही है तथा श्रीगुरु भी ऐसे ही वाक्य को कहते हैं, सुननेवाला शिष्य भी इसी भाव से सुनता है। शिष्य जिज्ञासा से बारम्बार उपदेश सुनता है, इसलिए श्रीगुरु बारम्बार कहते है। बारम्बार सुनने से शिष्य की रुचि (प्रमोद) जागृत होती है। अहो! यह बात तो कही भी नही सुनी – ऐसी कोई अलौकिक बात है। जीव का स्वरूप वीतराग-विज्ञानता है; ऐसा जो बारम्बार कहें, वे ही गुरु की पदवी से अलंकृत होते हैं। राग से आत्मा मे धर्म होता है, ऐसा वचन आगम का वाक्य

नही है और ऐसा वचन कहनेवाला गुरु नही है। अहाहा! टीका मे कैसा सब-कुछ खुलासा करके सिद्ध किया है।

इसी समयसार ग्रंथ की ३८वी गाथा मे आता है कि जो अनादि मोहरूप अज्ञान से उन्मत्तपने के कारण अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था और विरक्त गुरु से निरन्तर समझाये जाने पर अर्थात् सुननेवाला शिष्य सुनी हुई बात को बारम्बार विचार करता है, बारम्बार इसी का घोलन करता है। इससे शिष्य की जिज्ञासा व रुचि सिद्ध होती है। निरतर समझाने का अर्थ यह नही है कि गुरु चौबीसो घण्टे सुनाते होगे, बल्कि यह है कि जो कुछ गुरु ने कहा, शिष्य उसका निरन्तर चिन्तन–मनन करता रहता है।

जो पूर्ण वीतरागता व सर्वज्ञता को प्राप्त हो गये हैं, वे जैन परमेश्वर हैं। उनकी दिव्यध्वनि आगम है। उस दिव्यध्वनि मे ऐसा आया है कि भगवान! तू वीतराग-विज्ञानघनस्वरूप है। तुझमे आनन्द और ज्ञान की लक्ष्मी परिपूर्ण भरी पड़ी है। उसमे तू राग को एकरूप करके मिलाता है, यह तेरा भ्रम है। राग तो भगवान आत्मा से भिन्न वस्तु है। इसलिए शीघ्र जाग और राग से भिन्न होकर स्वरूप मे सावधान हो जा, आत्मदृष्टि कर!

भगवान की वाणी मे भी ऐसा आया है और गणधरदेवो ने भी जो श्रुत रचा, उसमे भी यही कहा है। अहाहा! इसमे देव सिद्ध किया, गुरु सिद्ध किया, आगम का वाक्य सिद्ध किया और राग से भिन्न एकरूप आत्मा मे दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन आदि धर्म होता है – ऐसा धर्म भी सिद्ध किया। अहो! देव, गुरु, शास्त्र और धर्म आदि सबकुछ सिद्ध करने वाली आचार्य भगवान की कैसी गजब की शैली है। दिगम्बर संतो की बलिहारी है कि उन्होने जगत मे परमसत्य को स्थापित किया है और टिका कर रखा है। देखो! श्री गुरु कहते हैं कि शीघ्र जाग! सावधान हो जा, अन्दर जगमगज्योति चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा है, उसका अनुभव करने का पुरुषार्थ कर! जो राग के प्रति सक्रियता है, उसे छोड दे; क्योकि वह परद्रव्य का भाव होने से तेरी वस्तु नही है, परवस्तु है। भगवान आत्मा मे ऐसी कोई गुण या शक्ति नही है कि जो विकाररूप परिणमन करे। तथापि तू राग से एकता मानता है – यह तेरी भूल है, यह भूल तेरे उपादान से हुई है, कर्म के कारण नही। भाई! तू एक ज्ञान मात्र आत्मा है, राग के साथ एकरूपता तेरा स्वरूप नही है।

"प्रभु जहाँ तू है, वहाँ राग नही है और जहाँ राग है, वहाँ तू नही है।" सिद्धान्त के इस आगम-वाक्य को गुरु बारम्बार कहते हैं और अज्ञानी शिष्य बारम्बार सुनता है। अहाहा....! आगमवाक्य बहुत सक्षिप्त और सरल होते हुये भी गभीर और महान है। यह समयसार तो भगवान की वाणी है। उसमे थोड़ा लिखा है, परन्तु बहुत जानना। जैसे पत्र मे लिखते हैं कि थोडा लिखा बहुत जानना – ऐसी ही बात यहाँ है।

शिष्य इस बात को सुनकर स्व-पर के समस्त चिन्हो से भलीभाँति परीक्षा करता है। मेरा लक्षण ज्ञानानद है और राग का लक्षण जड़ता और आकुलता है। मेरा और राग का लक्षण भिन्न-भिन्न है। मैं ज्ञान के लक्षण से लक्षित हूँ और राग दुःख के लक्षण से लक्षित है।

समयसार गाथा २९४ मे आता है कि आत्मा का लक्षण ज्ञान और बध का लक्षण राग है, इसलिए दोनो भिन्न-भिन्न हैं। गुरु की वात सुनकर अज्ञानी स्वय हरप्रकार से अच्छी तरह परीक्षा करता है, प्रमाद नही करता। यद्यपि गुरु परीक्षा कराते नही हैं, तथापि वह स्वयं परीक्षा करता है। भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप, शान्तिस्वरूप, धीरजस्वरूप है और राग अचेतनस्वरूप, दु खस्वरूप और आकुलतास्वरूप है। इसप्रकार वह अच्छी तरह परीक्षा करके ऐसा निर्णय करता है।

अहो! सन्तो ने जगत को निहाल कर दिया है। देव, शास्त्र, गुरु और धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है? यह सब सिद्ध करके बताया है।

'मैं ज्ञानमात्र चैतन्यप्रकाश का पुञ्ज हूँ' जब ऐसा अनुभव मे आवे, तब राग से भिन्न; परभाव से भिन्न आत्मा को जाना कहा जाय। 'मेरी सत्ता चैतन्यबिम्बमय है, जब अस्ति से ऐसा भान होता है, तव राग, परभाव मेरे मे नही है – इसप्रकार का नास्ति का ज्ञान हो जाता है। एक ज्ञानस्वरूप आत्मा के जानने पर ज्ञान मे ज्ञान ही है, ज्ञान मे राग नही है – इसप्रकार का ज्ञान भी हो जाता हैं। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि होने पर उस ज्ञायकस्वभाव मे राग नही है, इसप्रकार का राग से आत्मा की भिन्नता का ज्ञान भी हो जाता है। 'मैं एक ज्ञानमात्रभाव ही हूँ', ऐसा जानने पर यह आत्मा परभावो से भिन्न हो जाता है। परन्तु यह सब समझने की आवश्यकता किसे है? जिसे संसारदु ख कडुवे लगे हो, जो जन्म-मरण करते-करते थक गया हो और जिसे समझने की अत्यधिक जरूरत हुई हो, उसके लिए यह वात है।

यह भगवान आत्मा सुखस्वरूप है और राग दु खरूप है, आत्मा ज्ञान है और राग अज्ञान है, आत्मा जीव है और राग अजीव है, आत्मा

चेतनमय है और राग अचेतनमय है, पुद्गलमय है – इसप्रकार लक्षणो द्वारा दोनो मे भिन्नता जानकर ज्ञानस्वभाव मे एकता स्थापित कर जब 'मैं ज्ञानमात्र हूँ' – ऐसा जानता है, तब रागादिभाव परभाव हैं – इसका ज्ञान हो जाता है।

अब कहते हैं कि ऐसा जानकर ज्ञानी होकर सर्व परभावो को तत्काल छोड़ता है, उनका आश्रय नही करता। यहाँ प्रत्याख्यान की बात है। अत स्वभाव का स्वीकार होते ही रागादि परभाव छूट जाते हैं, इसी को राग छोड़ा – ऐसा कहा जाता है।

अहाहा ! वीतराग सर्वज्ञ की वाणी और उनके आगम का क्या कहना ? मक्खन ही मक्खन भरा है। सर्वज्ञदेव ने क्या कहा, उन्होने क्या किया, गुरु क्या उपदेश देते हैं और सुननेवालो को कब भेदज्ञान होता है – यह सब आगम मे बताया गया है। दूसरे तरीके से कहे परमागम की वाणी मे जो उपदेश है, वही निमित्त होता है; अज्ञानी का उपदेश भेदज्ञान होने में निमित्त नही होता।

स्वरूप मे एकाग्र होने पर परभावो का आश्रय मिट गया और परभाव छूट गये – इसी का नाम प्रत्याख्यान है, चारित्र है। एक सेकन्ड का प्रत्याख्यान अनन्त जन्म-मरण का नाश करनेवाला है। वीतराग परमेश्वर के मार्ग की यही रीति है और यह रीति मात्र दिगम्बर धर्म मे ही है, अन्यत्र कही नही है। यही जैनधर्म है, दूसरा कोई जैनधर्म नही है।

ज्ञानी होकर सर्व परभावो को तत्काल छोड देता है। 'सर्व परभावो को' ऐसी भाषा है; इससे यह कहना चाहते हैं कि सूक्ष्म से सूक्ष्म गुण-गुणी के भेद के विकल्प रूप भी जो परभाव हैं, उन्हे भी तत्काल छोड देता है अर्थात् वे भी स्थिरता के काल मे छूट जाते हैं, इसे भगवान राग का त्याग कहते हैं। 'ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा है' – ऐसा बोध हुआ, उसमे स्थिर हुआ, तो राग स्वत. छूट गया – इसी को भगवान प्रत्याख्यान कहते हैं।

गाथा ३५ के भावार्थ पर प्रवचन

जबतक यह आत्मा भूल से परवस्तु को अपनी जानता है, तबतक ही उससे ममत्व रहता है; किन्तु जब यथार्थ ज्ञान हो जाने से परवस्तु को पर जानने लगता है, तो उससे ममत्व भी नही रहता।

जिसप्रकार साधारण-स्थिति के लोग शादी के अवसर पर अन्य के घर से गहना लाकर पहनते हैं, किन्तु जिससमय वे उस गहने को पहने

हुए भी है, तव भी उसे अपना नही समझते। उन्हे इस वात का ज्ञान व ध्यान निरन्तर वना रहता है कि यह मेरा नही है, अन्य का है, इसे काम हो जाने पर दो-चार दिन मे ही वापिस देना है। उसीप्रकार ज्ञानी जीव रागादि भावो को पर जानकर उनका त्याग कर देते हैं।

अव इसी अर्थ का सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं :-

(मालिनी)

अवतरित न यावद् वृत्तिमत्यंतवेगा-
दनवमपरभावत्यागदृष्टांतदृष्टिः।
झटिति सकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता
स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव ॥२९॥

श्लोकार्थ :- [**अपर-भाव-त्याग-दृष्टान्त-दृष्टिः**] यह परभाव के त्याग के दृष्टान्त की दृष्टि, [**अनवम् अत्यन्त-वेगात्-यावत् वृत्तिम् न अवतरति**] पुरानी न हो इसप्रकार अत्यन्त वेग से जवतक प्रवृत्ति को प्राप्त न हो, [**तावत्**] उससे पूर्व ही [**झटिति**] तत्काल [**सकल-भावैः अन्यदीयैः विमुक्ता**] सकल अन्य भावो से रहित [**स्वयम् इयम् अनुभूतिः**] स्वयं ही यह अनुभूति तो [**आविर्बभूव**] प्रगट हो जाती है।

भावार्थ :- यह परभाव के त्याग का दृष्टान्त कहा, उस पर दृष्टि पड़े उससे पूर्व, समस्त अन्य भावो से रहित अपने स्वरूप का अनुभव तो तत्काल हो गया; क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि वस्तु को पर की जान लेने के वाद ममत्व नही रहता ॥२९॥

कलश २९ पर प्रवचन

इस कलश में अमृतचंद्राचार्यदेव पूर्वोक्त ३५वीं गाथा का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि सकल अन्यभावों के त्यागरूप प्रत्याख्यान एव शुद्धचैतन्यवस्तु की प्रत्यक्षानुभूति एकसाथ होती है, उनमे कोई कालभेद नही पडता। गाथा मे दिये गये दृष्टान्त की ओर सकेत करते हुए कहा है कि यह परभाव के त्याग के दृष्टान्त की दृष्टि पुरानी न हो अर्थात् एकसमय का भी अन्तर न पडे। इसप्रकार अत्यन्त वेग से तत्काल अनुभूति प्रगट हो जाती है।

जैसे अज्ञानी दूसरे के वस्त्र को भूल से अपना मानकर ओढ़कर सोता था, परन्तु जव ख्याल में आया कि यह वस्त्र दूसरे का है तो उसीसमय वस्त्र छूट गया, अभिप्राय मे से वस्त्र जुदा पड़ गया, वस्त्र मे ममत्व

नही रहा । उसीप्रकार आत्मा से राग भिन्न है, क्योकि परभाव है, दोनो के लक्षण जुदे-जुदे हैं अर्थात् आत्मा ज्ञानलक्षण से लक्षित है और राग बंध लक्षण से लक्षित है – ऐसी बात सुनते ही शिष्य को भेदज्ञान की बात ख्याल मे आ गई कि आत्मा तो रागरहित है । ऐसा ख्याल आते ही भेदज्ञान की आँख खुल गई तथा वह ज्ञानी होकर राग मे स्व को न जोडता हुआ अन्दर मे चला गया; तब अन्य सकलभावो से रहित, यह आत्मानुभूति तत्काल स्वय ही प्रगट हो गई ।

दूसरे प्रकार से कहे तो यह परभाव के दृष्टान्त की दृष्टि पुरानी न पडे अर्थात् तत्काल समय का अन्तर पडे बिना अत्यन्त वेग से आत्मानुभूति प्रगट हो जाती है । पहले मिथ्यात्व का व्यय हुआ, पीछे सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति हुई – ऐसा नही है; परन्तु स्वभाव की ओर झुकते ही अन्य भावो से रहित स्व की अनुभूति हो गई ।

जैसे – जिससमय कोई मनुष्य आये और उसीसमय काम पूरा हो तो ऐसा कहा जाता है कि तुम आये नही कि उसके पहले ही यह काम पूरा हो गया । वास्तव मे तो मनुष्य का आना व काम का होना दोनो एकसाथ ही हुए हैं, पहले पीछे का समयभेद नही रहा । इसीप्रकार यहाँ भी समय का अन्तर नही है, किन्तु कथन मे ऐसा ही कहने मे आता है ।

परभाव के त्याग की दृष्टि के पहले परभाव से रहित आत्मा की अनुभूति हुई हो – ऐसा नही है । परभावो के त्याग की दृष्टि अर्थात् ज्ञायकस्वभाव की जहाँ दृष्टि हुई, वही परभावरहित आत्मा की अनुभूति हो गई है । दृष्टान्त मे पहले पीछे कहा, पर अनुभव मे कालभेद नही समझना ।

दया, दान, भक्ति, व्रत आदि लाखो क्रियाएँ करे, परन्तु ये सब विकल्प हैं, बन्धलक्षण से लक्षित है । भगवान आत्मा ज्ञान लक्षण से लक्षित है । राग का विकल्प आकुलतामय है और बन्धलक्षण वाला है । निराकुल ज्ञानस्वभावी आत्मा का ये भाव नही है । ऐसा सुनने पर 'ये रागभाव परभाव हैं' ऐसा पर (राग) की ओर का विकल्प उठे, उसके पहले ही ज्ञान ज्ञान मे स्थिर हो गया और निर्विकल्प अनुभूति प्रगट हो गई । मै अनाकुल चैतन्यघन ज्ञानानदस्वरूप हूँ – ऐसा जहाँ दृष्टि मे जोर आया, वही तत्काल अनुभूति प्रगट हो गई, आत्मा के आनन्द का प्रत्यक्ष स्वाद आ गया ।

लोग कहते है कि 'व्यवहार से लाभ होता है' – ऐसा कहो, क्योकि भगवान जिनेन्द्रदेव ने दो नयो से वस्तु की प्ररूपणा की है । नियमसार मे आता है कि मैं उस वाणी की वदना करता हूँ, जो दो नयो से वस्तु को

कहती है। ऐसे शिष्य से आचार्य कहते है कि दो नय हैं, दो नयो के विषय भी हैं और शास्त्रो मे कथन भी दो नयो से आता है; परन्तु उनमे से एकनय (आश्रय की अपेक्षा) हेय है और एकनय (आश्रय की अपेक्षा) उपादेय है, क्योकि दोनो नय परस्पर विरुद्ध हैं। द्रव्यनय से पर्यायनय विरुद्ध है व पर्यायनय से द्रव्यनय विरुद्ध है। निश्चयनय से व्यवहारनय विरुद्ध है व व्यवहारनय से निश्चयनय विरुद्ध है। इनमे से निश्चयनय एक ही आश्रय करने योग्य है, जबकि व्यवहारनय हेयपने मात्र जानने लायक है। इसप्रकार दोनो नय परस्पर विरुद्ध होते हुए भी व्यवहार से निश्चय होता है—ऐसा माने तो दोनो नयो को कहाँ माना ? भाई ! वाद-विवाद से पार नही पड़ेगा, गंभीरता से विचार करना पड़ेगा; क्योकि वस्तुस्वरूप ही ऐसा है।

यहाँ आचार्य कहते हैं कि रागपर्याय व्यवहारनय का विषय है और निर्विकल्प ध्रुववस्तु निश्चयनय का विषय है—इसतरह दो-नयो के दो विषय हैं। ऐसे विचार मे, विकल्पो की प्रवृत्ति मे, जिसने अपने उपयोग को नही अटकाया, उसको निश्चयस्वरूप मे ढलते, झुकते ही आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है।

कलश टीका में आता है कि जिसकाल मे मोह-राग-द्वेषरूप अशुद्ध परिणमन का संस्कार छूट जाता है, उसीकाल मे उसे अनुभव है। शुद्ध-चेतनामात्र का आभास आये बिना अशुद्धभावस्वरूप परिणाम छूटता नही है और अशुद्ध सस्कार छूटे बिना शुद्धस्वरूप का अनुभव नहीं होता। पहले अशुद्धता छूटे पश्चात् शुद्धता हो अथवा पहले शुद्धता हो पश्चात् अशुद्धता छूटे—ऐसा नही है। सबकुछ एक ही काल मे है। एक ही वस्तु, एक ही ज्ञान और एक ही स्वाद है।

अहाहा ! जब शुद्धाशुद्ध का विकल्प नही उठता, उपयोग अन्दर शुद्धस्वरूप की ओर ढल जाता है तथा शुद्ध-आनंद का अनुभव होता है, तभी उसीकाल मे अशुद्धपरिणाम का व्यय हो जाता है। अशुद्ध परिणाम का व्यय और शुद्ध आनंद का अनुभव एक ही काल मे होता है। भाई ! यह तो मूल मुद्दे की बात है। अहाहा ! राग से, विकल्प से विमुक्त होकर अन्दरस्वरूप मे ढल जाना ही सत्य पुरुषार्थ है।

पर्याय की ओर के विकल्प होते हैं, भेदो के विकल्प भी उठते हैं। कलश टीका मे तो यह भी कहा है कि प्रथम भूमिका मे विकल्परूप भेदज्ञान आता है। राग जुदा है और मैं जुदा हूँ, ऐसे विकल्प भी होते

हैं। परन्तु यहाँ तो यह कहते है कि – 'यह मैं नही हूँ, और यह मैं हूँ' – ऐसे विकल्प उठने के पूर्व ही अन्तर मे निमग्न हो गया और अनुभूति प्रगट कर ली। वस्तु तो वस्तु है, परन्तु वस्तु का आश्रय लेकर जब पर्याय मे अनुभूति प्रगट हुई, तब 'राग पर है; इसलिए भिन्न है' – ऐसा लक्ष्य भी नही रहा; इसी का नाम प्रत्याख्यान है। यहाँ तो प्रत्याख्यान का स्वरूप समझना है न ? जब-जब आचार्यों ने प्रत्याख्यान या चारित्र की बात की है, तब-तब सबसे पहले अनुभूति से ही बात आरभ की है। समयसार के सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार मे गाथा ३८७ से ३८९ की टीका मे ४९ भग आते हैं, उसमे भी अनुभव से ही बात उठाई है।

निर्विकल्पस्वरूप अस्तित्व पर दृष्टि पडने से विकल्प से शून्य होता है। स्वय का अस्तित्व कितना, क्या व कैसा है, जब तक इस बात की खबर न हो तो तब तक आत्मा विकल्प से शून्य कैसे हो ? ऊपर की सीढी पर पग रखे तो नीचे की सीढी से पग उठ सकता है। किन्तु यदि ऊपर की सीढी पर पग रखे बिना नीचे की सीढी छोड दे तो नीचे ही गिरेगा। इसीप्रकार भगवान आत्मा जो महा-अस्तित्वरूप परमपदार्थ है, उसपर दृष्टि पडते ही 'यह राग मेरा नही है' – ऐसे नास्तिरूप विकल्प की भी सत्ता नही रहती और ज्ञाता स्वय ही विकल्पो से शून्य निर्विकल्प हो जाता है, क्योकि तब ही निर्विकल्प अनुभूति प्रगट हो जाती है।

भाई ! वस्तु ही ऐसी है। समयसार गाथा ३८ मे आता है कि जैसे कोई मनुष्य मुट्ठी मे रखे हुए सोने को भूल गया हो और फिर स्मरण करके उस सोने को देखे – इस न्याय से अपने परमेश्वर आत्मा को भूल गया था, उसे जानकर, उसका श्रद्धानकर और उसका आचरण करके (उसमे तन्मय होकर) जो सम्यक् प्रकार एक आत्माराम हुआ, वह मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि मैं चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा हूँ कि जो मेरे ही अनुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है। तब 'राग पर का है' – ऐसा द्वैत लक्ष्य मे नही रहता। जब द्वैत नही रहा तो आत्मा एकत्व मे स्थित हो जाता है।

अहाहा ! ये शुभभाव मेरे मे नही है – ऐसे विकल्प को भी वहाँ अवकाश नही है। प्रभु तेरी प्रभुता – परमेश्वरता इतनी महान है कि उसके अनुभव के लिए पर का लक्ष्य नही करना पडता। 'स्वयम् इयम्' यह शब्द पडा है न ? अर्थात् यह अनुभूति पर के त्याग की अपेक्षा किये बिना स्वय से ही प्रगट होती है। उसे पर के त्याग के भी अपेक्षा नही है। गाथा ३४ मे यह बात आ गई है कि स्वय को राग के त्याग का कर्त्तापना कहना नाममात्र कथन है, परमार्थ नही है। राग करने की बात तो दूर रही, राग के

नाश का कर्त्तव्य भी नाममात्र है, व्यवहारमात्र है। अहो! वस्तु के प्रस्तुतिकरण की आचार्यों की कोई गजब शैली है।

कलश २६ के भावार्थ पर प्रवचन

यह परभाव के त्याग का दृष्टान्त कहा, तदनुसार स्वपर का विवेक होते ही स्वभाव पर दृष्टि पड़ने से समस्त परभावो से रहित अपने स्वरूप का अनुभव तत्काल हो गया। भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ है, उसकी ओर झुकाव होते ही तुरन्त अनुभूति प्रगट हो जाती है, इसी का नाम प्रत्याख्यान है। भाई! जिनेन्द्र का मार्ग अलौकिक है। इसकी प्राप्ति स्वभाव से होती है अर्थात् वह स्वभाव से ही जानने मे आये–ऐसा है।

प्रश्न :– व्रत, दया आदि शुभराग अनुभूति के साधन हैं या नही ?

उत्तर :– नही, राग से भिन्न होकर अदर मे प्रज्ञाछैनी से भेद करना ही आत्मानुभूति का एकमात्र साधन है। प्रज्ञा द्वारा अदर आत्मा मे जाना ही उसका साधन है, अन्य रागादि उसके साधन नही है।

'स्वयम् इयम् अनुभूति आविर्बभूव.' अर्थात् आत्मा मे करण या साधन नाम की शक्ति त्रिकाल रहती है। गुणी आत्मा का आश्रय करने से स्वयमेव ही यह शक्ति निर्मलपर्याय का साधन हो जाती है। अन्य किसी को साधन नही बनना पड़ता–ऐसा ही स्वरूप है

परभावत्यागः दृष्टान्त-दृष्टि

जैसे कोऊ जन गयौ धोबी कै सदन तिन,
पहिर्‌यौ परायौ वस्त्र मेरौ मानि रह्यौ है।
धनी देखि कह्यौ भैया यह तौ हमारौ वस्त्र,
चीन्हैं पहिचानत ही त्यागभाव लह्यौ है।।
तैसैं ही अनादि पुद्‌गल सौ सयोगी जीव,
सग के ममत्व सौ विभाव तामैं वह्यौ है।
भेदज्ञान भयौ जब आपौ पर जान्यौ तब,
न्यारौ परभाव सौ स्वभाव निज गह्यौ है।।३२।।

समयसार नाटक, जीवद्वार, छन्द ३२

अथ कथमनुभूतेः परभावविवेको भूत इत्याशंक्य भावकभावविवेक-प्रकारमाह –

णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमेक्को ।
तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया बेंति ॥३६॥

नास्ति मम कोपि मोहो बुध्यते उपयोग एवाहमेकः ।
तं मोहनिर्ममत्वं समयस्य विज्ञायका ब्रुवन्ति ॥३६॥

इह खलु फलदानसमर्थतया प्रादुर्भूय भावकेन सता पुद्गलद्रव्येणा-भिनिर्वर्त्यमानष्टंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावभावस्य परमार्थतः परभावेन भावयितुमशक्यत्वात्कतमोपि न नाम मम मोहोस्ति । किञ्चतत्स्वयमेव च विश्वप्रकाशचंचुरविकस्वरानवरतप्रतापसंपदा चिच्छक्तिमात्रेण स्वभाव-भावेन भगवानात्मैवावबुध्यते यत्किलाहं खल्वेकः ततः समस्तद्रव्याणां

अब, 'इस अनुभूति से परभाव का भेदज्ञान कैसे हुआ ?' ऐसी आशका करके, पहले तो जो भावकभाव – मोहकर्म के उदयरूप भाव, उसके भेदज्ञान का प्रकार कहते हैं :–

कुछ मोह वो मेरा नहीं, उपयोग केवल एक मैं ।
इस ज्ञान को ज्ञायक समय के, मोहनिर्ममता कहे ॥३६॥

* **गाथार्थ :–** [**बुध्यते**] जो यह जाने कि [**मोहः मम कः अपि नास्ति**] 'मोह मेरा कोई भी (सम्बन्धी) नही है, [**एकः उपयोगः एव अहम्**] एक उपयोग ही मैं हूँ' – [**त**] ऐसे जानने को [**समयस्य**] सिद्धान्त के अथवा स्वपर स्वरूप के [**विज्ञायकाः**] जाननेवाले [**मोह-निर्ममत्वं**] मोह से निर्ममत्व [**ब्रुवन्ति**] कहते हैं ।

टीका :– निश्चय से (यह मेरे अनुभव मे) फलदान की सामर्थ्य से प्रगट होकर भावकरूप होनेवाले पुद्गलद्रव्य से रचित मोह मेरा कुछ

---

* इस गाथा का दूसरा अर्थ यह भी है कि —किंचित् मात्र भी मोह मेरा नही है, मैं एक हूँ – ऐसा उपयोग ही (आत्मा ही) जाने, उस उपयोग को (आत्मा को) समय के जाननेवाले मोह के प्रति निर्मम (ममता रहित) कहते हैं ।

परस्परसाधारणावगाहस्य निवारयितुमशक्यत्वात् मज्जितावस्थायामपि दधिखंडावस्थायामिव परिस्फुटस्वदमानस्वादभेदतया मोहं प्रति निर्मम-त्वोऽस्मि, सर्वदैवात्मैकत्वगतत्वेन समयस्यैवमेव स्थितत्वात् । इतीत्थं भावकभावविवेको भूतः ।

भी नही लगता, क्योकि टकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावभाव का परमार्थ से पर के भाव द्वारा [1]भाना अशक्य है। और यहाँ स्वयमेव, विश्व को (समस्त वस्तुओ को) प्रकाशित करने मे चतुर और विकासरूप ऐसी, निरन्तर शाश्वत् प्रतापसम्पत्तियुक्त है; ऐसा चैतन्यशक्ति मात्र स्वभाव भाव के द्वारा, भगवान आत्मा ही जानता है कि – परमार्थ से मैं एक हूँ, इसलिए यद्यपि समस्त द्रव्यो के परस्पर साधारण अवगाह का (एक-क्षेत्रावगाह का) निवारण करना अशक्य होने से मेरा आत्मा और जड, श्रीखड की भाति, एकमेक हो रहे हैं, तथापि श्रीखड की भाति, स्पष्ट अनुभव मे आनेवाले स्वाद के भेद के कारण, मैं मोह के प्रति निर्मम ही हूँ; क्योकि सदा अपने एकत्व मे प्राप्त होने से समय (आत्मपदार्थ अथवा प्रत्येक पदार्थ) ज्यो का त्यो ही स्थित रहता है। (दही और शक्कर मिलाने से श्रीखड बनता है, उसमें दही और शक्कर एक जैसे मालूम होते है, तथापि प्रगटरूप खट्टे-मीठे स्वाद के भेद से भिन्न-भिन्न जाने जाते है; इसी प्रकार द्रव्यो के लक्षण भेद से जड़-चेतन के भिन्न-भिन्न स्वाद के कारण ज्ञात होता है कि मोहकर्म के उदय का स्वाद रागादिक हैं, वह चैतन्य के निजस्वभाव के स्वाद से भिन्न ही है।) इसप्रकार भावकभाव जो मोह का उदय, उससे भेदज्ञान हुआ।

भावार्थ :– यह मोहकर्म जड़ पुद्गलद्रव्य है; उसका उदय कलुष (मलिन) भावरूप है; वह भाव भी, मोहकर्म का भाव होने से, पुद्गल का ही विकार है। यह भावक का भाव जब चैतन्य के उपयोग के अनुभव मे आता है, तब उपयोग भी विकारी होकर रागादिरूप मलिन दिखाई देता है। जब उसका भेदज्ञान हो कि 'चैतन्य की शक्ति की व्यक्ति तो ज्ञान-दर्शनोपयोगमात्र है और यह कलुपता रागद्वेषमोहरूप है, वह द्रव्यकर्मरूप जड पुद्गलद्रव्य की है,' तव भावकभाव जो द्रव्यकर्मरूप मोह के भाव उससे अवश्य भेदभाव होता है और आत्मा अवश्य अपने चैतन्य के अनु-भवरूप स्थित होता है।

---

[1] भाना=भाव्यरूप करना, बनाना।

गाथा ३६ की उत्थानिका, गाथा व उसकी टीका पर प्रवचन

अब यहाँ शिष्य विनयपूर्वक जिज्ञासाभाव से पूछता है कि इस अनुभूति से परभाव का भेदज्ञान किसप्रकार हुआ ? उसके उत्तर मे भावक-भाव अर्थात् मोहकर्म के उदयरूपभाव से भेदज्ञान कराते है।

फल देने की सामर्थ्यवाला-भावकरूप द्रव्यकर्म के उदय से उत्पन्न हुआ भाव्यरूप मोह निश्चय से मेरा कुछ भी नही लगता अर्थात् उससे मेरा कोई भी सम्बन्ध नही है, क्योकि मैं तो ज्ञायकभाव हूँ और रागभावरूप मेरा होना अशक्य है। मुझ मे मोह है ही नही, मैं तो निर्मोही भगवान आत्मा हूँ। चौदहप्रकार का अभ्यन्तर परिग्रह – एक मिथ्यात्व, चार कषाय, नौ नोकषाय तथा दसप्रकार का बाह्य परिग्रह – क्षेत्र-वास्तु सोना-चादी धन-धान्य, दास-दासी, वस्त्र व वर्तन – ये सब मुझमे नही है। बाह्य परिग्रह के प्रति होनेवाला राग भी मुझमें नही है। परिग्रह की ओर उन्मुख जो वृत्ति उठती है, वह भी मेरे स्वरूप मे नही है। जिसके अभ्यन्तरपरिग्रह का त्याग है, उसके बाह्य परिग्रह का त्याग असद्भूतव्यवहारनय से कहा जाता है। देखो! वस्त्र व बर्तन बाह्य परिग्रह मे कहे है, इसलिए वस्त्र व पात्र सर्व परिग्रहत्यागी निर्ग्रन्थमुनि के होते ही नही है।

यहाँ कहते हैं कि पुद्गलद्रव्य भावकरूप होकर मोह की रचना करता है। यहाँ जो मोह की बात की है, वह चारित्रमोह की अपेक्षा से है, सम्यग्दर्शन के बाद की बात है, मिथ्यात्व की बात नही है। पर की ओर झुकनेवाला भाव (राग-द्वेष) ही मोह है। वह मोह मेरा कोई भी सबधी नही है। पर की ओर सजग रहने का जो भाव है, वह मेरा नही है, परन्तु अपने स्वभाव की ओर सजग रहने का भाव मेरा है। भावकरूप मोहकर्म और उसकी ओर झुकनेवाले भावो के साथ मेरा कोई भी सबध नही है, क्योकि एक चैतन्यधातु ज्ञायकस्वभावभाव का परमार्थ से परभाव रूप होना या भाव्यरूप होना अशक्य है।

धर्मीजीव आगे बढकर जो प्रत्याख्यान करते है, उसकी यह बात है। जडमोहकर्म भावक है और आत्मा का उपयोग जो पर की ओर झुककर राग-द्वेषभावयुक्त परिणमता है, वह उस भावकमोहकर्म का भाव्य है। पुद्गलद्रव्य फल देने की सामर्थ्य से प्रगट होकर भावकरूप होता है, तब उसके निमित्त से पर की ओर का विकारीभावरूप मोह होता है। यहाँ कहते है, यह मोह मेरा कुछ भी सबधी नही है, क्योकि मै तो ज्ञान-दर्शन शक्ति की व्यक्तता रूप ज्ञान-दर्शन उपयोगस्वरूप हूँ।

जिसप्रकार कर्म भावकरूप होता है, तब मोह होता है; उसीप्रकार मैं ज्ञानदर्शन उपयोगस्वभावी तत्त्व हूँ, जिससे मेरी पर्याय मे ज्ञान-दर्शन शक्ति की व्यक्तता होती है। यह व्यक्ततारूप उपयोग मेरी चीज है, किन्तु मोह मेरी चीज नही है। कर्म के निमित्त से हुआ राग-द्वेष का परिणाम जो उपयोग मे झलकता है, वह मैं नही हूँ; क्योकि एक टकोत्कीर्ण ज्ञायक-स्वभावभावरूप शुद्धचैतन्य उपयोगस्वभावी वस्तु का विकाररूप (भाव्यपने) होना अशक्य है।

मैं तो चैतन्यशक्तिस्वभाववाला तत्त्व हूँ, इसलिए मेरा जो विकास होता है, वह भी जानने-देखने के परिणामरूप से ही होता है। भावकर्म के निमित्त से जो विकार होता है, वह मेरा विकास नही है। पर्याय मे भी विकार न हो – ऐसा मेरा स्वरूप है। शक्तिरूप से तो आत्मा ज्ञायक है ही, किन्तु उसकी जो व्यक्तता और प्रगटता होती है, वह भी ज्ञान-दर्शन उपयोगस्वरूप ही होती है। राग-द्वेष विकाररूप होने की शक्ति तो आत्मा मे है ही नही, किन्तु उस विकारी पर्याय की व्यक्तता या प्रगटता हो – यह भी नही है। अहाहा ! ये जीव अधिकार की अतिम गाथाएँ है, इसकारण से जीव से अजीव को सर्वथा प्रथक् किया है।

भगवान आत्मा शुद्धचैतन्यउपयोगस्वरूप है और उसकी व्यक्तता–प्रगटता जानने-देखनेरूप ही होती है। इसकी शक्ति मे से विकार का परिणाम प्रगट होना अशक्य है। ऐसा भगवान आत्मा चैतन्यशक्तिमात्र स्वभावभाव से अर्थात् जानने-देखने के स्वभावभाव से जानता है कि मैं एक हूँ। जानने-देखने के स्वभाव से मैं एक हूँ। देखो ! इसमे प्रभुत्वशक्ति ली है। आत्मा मे एक प्रभुत्वशक्ति है, जिससे वह अखण्ड प्रताप से स्वतत्र-रूप से शोभायमान है। ऐसे आत्मा की विश्व को प्रकाशित करने मे चतुर, विकासरूप, निरन्तर शाश्वती सम्पदा है। यह बाह्य मकान, कुटम्ब आदि सम्पदा आत्मा की नही है, यह तो जड है। यहाँ तो कहते है कि भगवान आत्मा चैतन्यशक्ति के स्वभाव की सामर्थ्य से ऐसा जानता है कि परमार्थ से मै एक हूँ। मै और राग – इसप्रकार दो मिलकर एक नही, किन्तु राग से भिन्न मै चैतन्यशक्तिमात्र एक हूँ।

यद्यपि मेरा चैतन्यस्वभाव और जगत के दूसरे जडद्रव्य एक क्षेत्र मे रहते है, तथापि भिन्न-भिन्न हैं। आत्मा और जडपदार्थ यद्यपि एक क्षेत्र मे रहते है, तथापि जिसप्रकार श्रीखण्ड की खटास व मिठास एक क्षेत्र मे रहकर भी पूर्णतया भिन्न हैं, उसीप्रकार आत्मा का चैतन्यलक्षण और अन्य द्रव्यो का जडस्वभाव एकमेकरूप से एक क्षेत्र मे रहता है, तथापि

स्पष्ट अनुभव मे आते हुए स्वादभेद के कारण भिन्न हैं। भगवान आत्मा का स्वाद अनाकुल आनन्दरूप और कर्म के फल का – राग का स्वाद दु:खरूप है। इसप्रकार दोनो भिन्न-भिन्न हैं।

भगवान आत्मा अनाकुल-आनन्द से भरा हुआ परिपूर्ण प्रभु पदार्थ है। अनाकुल-आनन्द वेदन करनेवाली पर्याय का स्वाद राग के स्वाद से सर्वथा भिन्न है। इस जीव को शक्कर आदि जडपदार्थों का स्वाद नही आता, उनकी ओर लक्ष्य करके जब यह जीव 'यह ठीक और यह बुरा' इस-प्रकार के विकल्परूप जो राग-द्वेष करता है, उनका स्वाद इसे आता है।

यहाँ तो कहते है कि यह स्वाद भी ज्ञानस्वभावी, अनाकुल-आनद-स्वभाव के सागर प्रभु आत्मा की व्यक्तदशा के स्वाद से भिन्न है। आत्मा और जड श्रीखण्ड की भाँति एकमेक हो रहे है, तो भी स्वादभेद के कारण भिन्न-भिन्न है। जिसप्रकार श्रीखण्ड मे मीठा और खट्टा दोनो स्वाद भिन्न-भिन्न है उसीप्रकार जड व आत्मा का स्वाद अनुभव मे स्पष्ट भिन्न-भिन्न ज्ञात होता है। ज्ञानी की दृष्टि वस्तुस्वभाव पर होने से वस्तु की शक्ति की व्यक्तता से जो आनद प्रगट होता है, वह स्वाद मे जाना जाता है। इसलिए वे कहते है कि इस स्वाद-भेद के कारण मैं मोह के प्रति निर्मम हूँ।

यहाँ मोह की बात की है, इसमे पर की ओर के राग-द्वेषादि सभी भाव आ जाते हैं। उसका स्वाद कलुषित है, जबकि भगवान आत्मा का स्वाद आनदरूप है, जो कलुषित से भिन्न है। इसकारण मैं मोह के प्रति निर्मम ही हूँ। मैं तो सदा ही अपने एकपने मे प्राप्त होने से एकरूप ज्ञायक हूँ। ज्ञायकपने के कारण ज्ञानरूप परिणमन करके सदैव ऐसा का ऐसा ही स्थित हूँ। अहाहा ! कर्म के निमित्त से – भावक से जो रागादि भाव्य होते है, उनका स्वाद और ज्ञायकस्वभाव की परिणति मे जो आनन्द आया है, उसका स्वाद भिन्न-भिन्न है। इसप्रकार भेदज्ञान होने से मैं तो ज्ञायकस्वरूप ही हूँ। यह जो दूसरा स्वाद है, वह अन्य का है, मेरा नही है।

दही और शक्कर मिलाने से श्रीखण्ड बनता है। उसमे दही और शक्कर एकमेक मालूम पडते हैं, तथापि प्रगट खट्टे-मीठे स्वाद के भेद से दोनो पृथक्-पृथक् ज्ञात होते हैं। उसीप्रकार द्रव्यकर्म के उदय का स्वाद जो रागादिरूप है, वह भगवान आत्मा के ज्ञायकस्वभाव की प्रगट परिणति से स्वादभेद के कारण भिन्न है। जड द्रव्यकर्म भावक और उनके भाव्य-रूप राग के स्वाद की जाति आत्मा से भिन्न है। राग का स्वाद कलुषित, आकुलतामय है और भगवान आत्मा का स्वाद, अनाकुल-आनदमय है।

इसप्रकार स्वादभेद से – लक्षणभेद से भेदज्ञान करना धर्मधारा है, धर्म है। कर्म के सबध से जितनी अस्थिरता व्याकुलता होती है, वह मेरी चीज नही है, क्योकि मैं तो ज्ञायकस्वभावी चैतन्यमात्र हूँ। मोह रागादि और ज्ञायकभाव – इसप्रकार मैं दो रूप नही हूँ। मैं तो एक ज्ञायकमात्र ही हूँ, एकरूप ही हूँ – इसप्रकार जो आत्मा के उपयोग से जानते हैं, उसे 'समय' के ज्ञाता पुरुष निर्मम कहते हैं। अन्त.स्वभाव की सावधानी से उपयोग मे राग का स्वाद नही आता, इसकारण जो उसके प्रति निर्ममत्व होते है, वे ज्ञानी राग से अपने उपयोग को नही जोडते। यहाँ जबतक परिपूर्ण स्थिरता होकर एव परभावो से पूर्णरूप से भिन्न होकर पूर्ण वीतराग न हो जाय, तबतक की बात ली है।

चैतन्यदल जो सम्पूर्ण वस्तु है तथा जो जीवत्वशक्ति, चेतन्यशक्ति, सुखशक्ति, वीर्यशक्ति इत्यादि अनन्त शक्तियो की सामर्थ्यवाला आत्मतत्त्व है, उस चैतन्यदल भगवान आत्मा के सन्मुख होकर जब स्वीकार किया, तभी आनन्द की धारा पर्याय मे व्यक्त हो जाती है। मैं तो उपयोगमय हूँ, जो रागादिरूप भावक का भाव्य होता है, वह मैं नही हूँ। जैसे धूलधोया[1] धूल को, पीतल की कणी को और सोने की कणी को हल्के व भारी वजन के लक्षण-भेद से भिन्न करता है, उसीप्रकार यह भगवान आत्मा राग और स्वभाव के स्वादभेद से भिन्न-भिन्न जानकर – ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करके स्वयं को राग से भिन्न कर लेता है।

पूर्ण आनन्द का धाम ऐसे स्वभाव की सत्ता का स्वीकार होने से ज्ञानी आनन्द के स्वाद को व राग के स्वाद को व्यक्तपर्याय में भिन्न जानते हैं। भाई! धर्म बहुत सूक्ष्म है, अपूर्व है। अनन्तकाल मे अनेक क्रियाकाण्ड-भक्ति, व्रत, तप, पूजा इत्यादि किये, किन्तु यह भेदज्ञान नही किया; इसका उपदेश भी विरल है।

इसप्रकार राग की ओर के झुकाव को छोड़कर चैतन्यस्वभाव की सामर्थ्य की ओर झुकाव करने पर शक्ति मे से जो आनन्द की धारा स्वाद मे आती है, वह राग से भिन्न है। राग तो जड़ है, अचेतन है; उसमे चैतन्य या ज्ञान की किरण का अश भी नही है। राग का स्वाद मलिन है, दु.खरूप है तथा भगवान चैतन्य का स्वाद आनन्दमय है। इसप्रकार स्वादभेद के कारण दोनो भिन्न है। जीव को अजीव से सर्वथा पृथक् – भिन्न करना है

---

[1] सोना आदि धातुओ की सभावनावाले स्थानो पर धूल को धोकर धातुओ की तलाश करनेवालो को धूलधोया कहते हैं।

न ? मोहकर्म के उदय का स्वाद रागादिरूप है, वह चैतन्य के स्वाद से सर्वथा भिन्न ज्ञात होता है। इसप्रकार भावक के भाव्यरूप जो मोह का उदय है, उससे भेदज्ञान हुआ अर्थात् कर्म के निमित्त से जो रागभाव होता था, उसे लक्षणभेद से भिन्न जानकर आत्मा के स्वभाव से भिन्न किया।

गाथा ३६ के भावार्थ पर प्रवचन

यह मोहकर्म जड पुद्गल द्रव्य है, तथा इसका जो उदय आता है है, वह मलिनभावरूप है। अर्थात् कर्म जड – अजीव है और उनके निमित्त से हुए रागादिभाव कलुषित व मलिनभाव हैं। रागादि विकारीभाव मोह-कर्म के भाव्य होने से पुद्गल के ही विकार हैं, ये ज्ञायक की अवस्थायें नहीं हैं। आचार्य यहाँ कहते हैं कि भावकरूप जो कर्म हैं, उनके निमित्त से हुआ विकार जब चैतन्य के उपयोग के अनुभव मे आता है, तब उपयोग भी विकारी होकर रागादिरूप मलिन दिखाई देता है; किन्तु चैतन्य की शक्ति की व्यक्ति तो ज्ञान-दर्शन उपयोगमात्र है अर्थात् सामर्थ्य की व्यक्ति ज्ञान-दर्शन के परिणामरूप है, राग-द्वेष के परिणामरूप नही हैं। चैतन्य मे तो अनतशक्तियो की सामर्थ्य भरी है। ज्ञानस्वभाव की सामर्थ्य, दर्शन-स्वभाव की सामर्थ्य, सुख की सामर्थ्य, आनन्द की सामर्थ्य और सत्ता आदि अनतशक्तियो की सामर्थ्य भगवान-आत्मा मे है। ऐसी अनतसामर्थ्य से मडित चैतन्य की दशा तो ज्ञान-दर्शन के उपयोगमय शुद्ध ही होती है। उपयोग मे सब ज्ञात होता है – अत उपयोग की मुख्यता से बात कही है।

आत्मा की ज्ञान-दर्शन शक्ति की व्यक्तता जानने-देखनेरूप होती है, रागरूप नही। राग की रचना करे – ऐसा कोई गुण या शक्ति आत्मा मे नही है। चेतन द्रव्य है, उसकी चैतन्यशक्ति है तथा उसकी पर्याय-व्यक्ति जानने देखनेरूप होती है। भाई! वीतरागमार्ग जगत से जुदा है। लोगो ने उसे क्रियाकाण्ड मे मान रखा है। यहाँ तो कहते हैं व्रतादि का जो विकल्प है, वह भी अचेतन है, जड है। यह कोई चैतन्यशक्ति की व्यक्तता – प्रगटता नही है। अहाहा? वस्तु सम्पूर्ण चैतन्यदल है, उसकी शक्तियाँ व गुण चैतन्यमय हैं तो उसकी पर्यायें-व्यक्तियाँ ज्ञान-दर्शन के उपयोगमय क्यो नही होगी? उसकी प्रगटता मे जड-रागद्वेष किसप्रकार हो सकते हैं?

निश्चय से राग पुद्गल का है, क्योकि रागरूप विकार चैतन्य-शक्ति की व्यक्तता नही है। व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प भी निश्चय से ज्ञान-स्वभाव की जाननेरूप शक्ति की सामर्थ्य मे से नही आया है, इसकारण वह भी जड है। जाननेरूप शक्ति की सामर्थ्य मे से तो मात्र जानने देखने-

रूप परिणाम होता है। वह परिणमन रागादि को जानता है किन्तु ये रागादि मेरे है, ऐसा नही जानता।

भावक अर्थात् कर्म का उदय, उस कर्म के उदयरूप भावक से हुए राग-द्वेष के भाव, वे भावक के ही भाव्य है, ज्ञायक के नही। अहाहा! यह समझने के लिए कितनी धीरज चाहिए? जब स्वभाव के अवलम्बन से भेदज्ञान प्रगट होता है, तब राग की कलुषता उपयोग से भिन्न जड पुद्गलद्रव्य की है, ऐसा भासित होता है और तब भावकभाव जो द्रव्य कर्मरूप मोह का भाव्य है, उससे अवश्य ही भेदज्ञान होता है। मोहकर्म के उदय से जो जो राग होता है वह भावक का भाव्य है, ज्ञायक का भाव नही है। यह बात सूक्ष्म है, परन्तु भाई! तुझमें ऐसी सूक्ष्म बात समझने की ताकत है, योग्यता है। अरे! तुझमें तो अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त कर लेने की ताकत है। प्रभु! तेरी प्रभुता की क्या बात?

भगवान पूर्ण-आनन्द का नाथ शुद्ध चैतन्यस्वरूप से अचलपने अन्दर विराजमान है। वह अनत-अनत शान्ति, सुख, ज्ञान व आनंद का सागर है। वह उछले, तब उसमे से ज्ञान व आनद की परिणति आती है। जैसे पम्प की मशीन चालू करने पर कुए मे से फुव्वारे के समान पानी की धारा फूट पडती है, उसीप्रकार चैतन्यस्वरूप आत्मा पर दृष्टि का जोर पड़ते ही जितना अन्दर स्वभाव मे एकाग्रता का दबाव पडता है, उतनी ही आनंद की धारा अन्दर से प्रवाहित होने लगती है। भेदज्ञान होते ही भावकभाव जो द्रव्यकर्मरूप मोहभाव है, उससे ज्ञायकभाव का भाव भिन्न हो जाता है और आत्मा अपने चैतन्यस्वरूप के अनुभव में स्थित हो जाता है। जिसे ज्ञायकभाव का आदर आया है अर्थात् यह पूर्ण आनन्द का नाथ स्वभाव का सागर है, गुणों का गोदाम है, इसप्रकार जिसकी दृष्टि में—प्रतीति में जोर आया है, वह आत्मा अन्तर मे विशेपरूप से स्थिर होकर ज्ञान व आनन्द की पर्याय प्रगट करके राग से—भावक के भाव्य से भिन्न हो जाते हैं।

अब इस अर्थ का द्योतक कलशरूप काव्य कहते हैं :—

(स्वागता)

सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं
चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम् ।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः
शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि ॥३०॥

श्लोकार्थ :–[**इह**] इस लोक मे [**अहं**] मैं [**स्वयं**] स्वत ही [**एकं स्व**] अपने एक आत्मस्वरूप का [**चेतये**] अनुभव करता हूँ, [**सर्वतः स्व-रस-निर्भर-भावं**] जो स्वरूप सर्वत अपने निजरसरूप चैतन्य के परिणमन से पूर्ण भरे हुए भाववाला है, इसलिये यह [**मोहः**] मोह [**मम**] मेरा [**कश्चन नास्ति नास्ति**] कुछ भी नही लगता अर्थात् इसका और मेरा कोई भी सम्बन्ध नही है। [**शुद्ध-चिद्घन -महः-निधिः अस्मि**] मैं तो शुद्ध चैतन्य के समूहरूप तेज पु ज का निधि हूँ। (भावभावक के भेद से ऐसा अनुभव करे।) ॥३०॥

कलश ३० पर प्रवचन

इस कलश के भाव का पद्यानुवाद करके पण्डित बनारसीदासजी ने जीवद्वार का ३३वाँ छद लिखा है, जो इसप्रकार है :—

कहै विचच्छन पुरुष सदा मैं एक हौं,
अपने रस सौं भर्यौ आपनी टेक हौं।
मोहकर्म मम नाँहि नाँहि भ्रमकूप है,
शुद्ध चेतना सिंधु हमारौ रूप है ॥३३॥

धर्मात्माजन ज्ञानी को विचक्षण पुरुष कहते हैं। उनकी दृष्टि मे तो दुनियादारी मे चतुर वस्तुत' पागल है। यहाँ सम्यग्दृष्टि विचक्षण पुरुष ऐसा विचार करते हैं कि "मैं तो सदा एकरूप हूँ। रागादि विकारी-भाव मेरे स्वभाव मे नही हैं। मैं तो ज्ञायक की निर्मल आस्वादरूप परिणति के स्वभाववाला एकरूप हूँ। मेरे ज्ञायकभाव मे रागरूप विकार है ही नही। मैं तो निज चैतन्यरस से भरा हुआ भगवान आत्मा ज्ञायक-तत्त्व हूँ और सदैव अपने ही आश्रय से अपने मे निवास करता हूँ। अर्थात् मेरी पर्याय मेरे ध्रुवस्वभाव की ओर सन्मुख होकर तन्मय हो गई है, इसलिए मैं कहता हूँ कि मैं तो सदैव एकरूप ही हूँ। राग का आश्रय मुझे नही है। अहाहा ! मैं तो अनादि से अतीन्द्रिय आनदरस और ज्ञानरस से भरपूर भरा हुआ हूँ। मुझे इस ज्ञान-दर्शनस्वभाव की रुचि उत्पन्न हुई है अथवा स्वभाव का रस प्रगट हुआ है, इस कारण राग के रस की रुचि नष्ट हो गई है। रागादि तो भ्रम का कुआँ है, यह मेरा स्वरूप नही है। ये राग-द्वेष तथा पुण्य-पाप के विकार भ्रम का कुआँ है। भावक के भाव से उत्पन्न हुई विकारी दशा, पर के ओर की सावधानी की दशा, यह मेरा स्वरूप नही है, क्योकि मैं तो मात्र शुद्ध चैतन्यसिन्धुस्वरूप हूँ"।

अरे ! स्वय आत्मा कौन है, कैसा है ? यह बात कभी सुनी नही है और अनादि से व्यर्थ के क्रियाकाण्ड मे अटक रहा है, उसी मे मर-पच रहा है।

जीव अधिकार की ये अतिम गाथाएँ हैं। इसलिए कहते हैं कि "इस लोक मे मैं अपने से ही अपने एक आत्मस्वरूप का अनुभव करता हूँ। मेरा ज्ञायकस्वरूप है, उसे मैं अनुभव मे लेता हूँ। एक ज्ञायक को अनुभवता हूँ, उसी का वेदन करता हूँ। मेरे वेदन मे राग का वेदन नही है।" —ऐसी बात समझने मे भी कठिन लगती है तो प्रयोग कैसे करे ? वीतराग जिनेश्वरदेव का यह मार्ग अपूर्व है। जिसने तीनों काल व तीनो लोको को केवलज्ञान मे प्रत्यक्ष जाना है, यह अपूर्व मार्ग उन्ही की दिव्यध्वनि मे प्रस्फुटित हुआ है। सन्तो ने भी उसी के अनुसार ही कहा है।

धर्मी कहते है कि "मैं उस स्वरूप का अनुभव करता हूँ, जो सर्वत निजरसरूप चैतन्य के परिणमन से परिपूर्ण भरे हुए भाववाला है।" यहाँ परिणमन का अर्थ निर्मलस्वभाववाला आत्मपदार्थ है। यह त्रिकाली द्रव्य की बात है। चैतन्य का परिणमन चैतन्य के स्वभाव से परिपूर्ण भरे हुए भाववाला है। इसलिए "यह मोह मेरा कुछ भी नही लगता। उसका और मेरा कुछ भी नाता नही है, क्योकि मैं तो शुद्ध चैतन्य के समूहरूप तेजपुञ्ज की निधि हूँ" — ज्ञानी ऐसी परिणति का वेदन करता है, जानता है। यह परिणति धर्म है।

कितने ही कहते है कि कानजी स्वामी ने यह सोनगढ से नया धर्म निकाला है, परन्तु क्या यह सोनगढ का है ? यह शुद्धचिद्घन महोनिधि तो अनादि है न ? धर्मीजीव ऐसा जानते है कि "मैं शुद्धचिद्घन अर्थात् शुद्धज्ञान समूह का निधान, शुद्ध आनदघन का निधान, शुद्ध वीर्यघन का निधान, शुद्धकर्त्ताशक्ति का निधान, शुद्धकर्मशक्ति का निधान भडार हूँ।"

कर्म के चार प्रकार है —

(१) कोई भी जड की अवस्था होती है, वह कर्म है। जैसे यह जो शरीरादि की अवस्था है, वह उसके कर्त्ता का कर्म है। जड परमाणु कर्त्ता है, उसका यह कार्य है, अतः कर्म है, पर्याय है। जो द्रव्यकर्म हैं, वे भी जड कर्त्ता के कर्म है — परिणमन हैं।

(२) पुण्य-पाप का विकार व मिथ्यात्व का भाव भावकर्म या विकारी कर्म है। राग-द्वेष-मोह का परिणाम विकारीकर्म है।

(३) निर्मलपरिणति भी कर्म है। आत्मा के आनद के वेदन की क्रिया—शुद्धता का अनुभव, वह भी निर्मल परिणमनरूप कर्म है।

(४) त्रिकाल रहनेवाली शक्ति-सामर्थ्य जो अन्दर पडी है, वह भी कर्म है। कार्य होने की सामर्थ्य कर्मशक्ति है। कार्य होने की सामर्थ्य स्वय मे होने से उसके कार्य के लिए निमित्त या पर की अपेक्षा नही है। कार्य रूप होने की सामर्थ्य वस्तु मे त्रिकाल मौजूद है।

ऐसा चिद्घन परिपूर्ण शक्तियो से भरा हुआ भण्डार मैं स्वय हूँ – ऐसा जिसके अनुभव मे आता है, उसका वह अनुभव एक निर्विकारी कर्म या कार्य है और उसे मोक्षमार्ग कहते है।

कर्म अर्थात् कार्य या पर्याय। आत्मा मे कर्म नाम का त्रिकाल गुण है। उसमे से कार्य अर्थात् पर्याय आती है, इस कर्म गुण का रूप दूसरे अनत गुणो मे है। एक गुण मे दूसरा गुण नही है, किन्तु एक गुण के आश्रय से दूसरे गुण नही हैं। गुण तो सब द्रव्य के आश्रय से है, किन्तु एक गुण मे दूसरे गुण के रूप की सामर्थ्य है। कर्त्तागुण ज्ञानगुण से भिन्न है, किन्तु ज्ञानगुण मे कर्त्तागुण का रूप है, कर्मगुण का भी रूप है।

ऐसे शुद्ध चैतन्यघन की निधि मैं हूँ – ऐसा ज्ञानी अनुभव करता है। अहाहा! उनके स्वभावसामर्थ्य की क्या शक्ति है। रागरूप होना, ये कोई गुण या शक्ति नही है। वस्तु तो शुद्ध चिद्घन अर्थात् शुद्ध आनदघन, शुद्ध ज्ञानघन, शुद्ध वीर्यघन – इसप्रकार अनतगुणो का घन – समूह है। भाई! उसे प्राप्त करने के लिए योग्य पुरुषार्थ करना चाहिए!

वीर्य का वेग जब अन्तर मे बढता है, तब ज्ञानी ऐसा अनुभव करते हैं कि मैं तो पूर्णस्वरूप निधि हूँ। मैं शरीर नही हूँ, राग नही हूँ, पुण्य-पाप नही हूँ तथा अल्पज्ञ भी नही हूँ। भाई! मैं तो एक गुणरूप भी नही हूँ, मैं तो अनत गुणो का एक अखण्ड निधान हूँ।

कलश ३० के बाद की गाथा ३६ की टीका

एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडस व्याख्येयानि। अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि।

इसीप्रकार गाथा मे जो 'मोह' पद है, उसे बदलकर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन – इन सोलह पद के भिन्न-भिन्न सोलह गाथासूत्र व्याख्यान करना और इसी उपदेश से अन्य भी विचार लेना।

कलश ३० के बाद की गाथा ३६ की टीका पर प्रवचन

इसीप्रकार गाथा मे जो 'मोह' पद है, उसे बदलकर 'राग' ले। राग के भावकपने मैं नही हूँ। कर्म भावक है और राग उसका भाव्य है, वह राग मै नही हूँ, मै तो ज्ञायक हूँ। इसकारण वह राग मेरे ज्ञान मे ज्ञात होने योग्य है, किन्तु वह राग मेरे ज्ञान की पर्याय मे (तद्रूप) आ जाये – ऐसा मेरा स्वरूप नही है।

इसीप्रकार 'द्वेष' भी भावककर्म का भाव्य है, वह द्वेष भी ज्ञायक का भाव्य नही है। ज्ञायक का भाव्य तो द्वेप को लक्ष मे लिए विना 'जानना' मात्र है। उसीप्रकार क्रोध भावक कर्म का भाव्य है, ज्ञायक का भाव्य नही है। हाँ, ज्ञायक का भाव्य जो ज्ञान है, उस ज्ञान मे क्रोध जाना अवश्य जाता है, किन्तु वह क्रोध मै नही हूँ। ज्ञान मे क्रोध ज्ञात होता है – ऐसा कहना व्यवहार है। वास्तव मे तो ज्ञान की पर्यायका स्व-परप्रकाशक रूप जो व्यक्त होता है, वह मै हूँ, किन्तु क्रोध मै नही हूँ। यह प्रवीण-विचक्षण पुरुपो के अनुभव की वात है।

जव आचार्य भगवन्त इतनी चमत्कारिक वात करते हैं, तो भगवान की दिव्यध्वनि की क्या वात ! अहाहा ! पचमकाल मे छद्मस्थ मुनि ऐसा कहते है कि हम तो पूर्ण निधि स्वरूप है, इसमे से अनत आनन्द व अनन्त ज्ञान प्रतिसमय वहता रहता है, तथापि कभी उसका अन्त नही आता, वह कभी भी समाप्त नही होता। वह शाश्वत निधि है।

अरे ! अज्ञानी को ऐसा आत्मा प्रतीति मे नही आता, क्योकि मै पैसावाला हूँ, बगला (मकान) वाला हूँ, कुटुम्ब-परिवारवाला हूँ, रागवाला, पुण्यवाला हूँ – इसप्रकार वह आत्मा को पामर मानता है। किन्तु 'मै तो जगत मे एक अनन्त गुणो की सामर्थ्य से भरा हुआ महानिधान आत्मा हूँ' धर्मी की परिणति तो ऐसी पुकार करती है। वस्तु तो वस्तु ही है। किन्तु इसे कौन जाने ? ज्ञानी जानता है कि मै तो ऐसी ही महानिधिस्वरूप हूँ।

'मोह' पद बदलकर मान, माया, लोभ लेना वे सव भावककर्म के भाव्य है। ये सव ज्ञायक के स्वरूप नही है। ये मेरे ज्ञायक मे नही है। शरीर, वाणी, मन व पाँच इन्द्रियाँ भी मेरी नही हैं।

इसीप्रकार असख्यप्रकार के शुभाशुभभाव है, वे सव समझ लेना। 'ये सब जो विभावभाव है, उनरूप मै नही हूँ, क्योकि ये सब भावककर्म के भाव्य हैं, ज्ञायक के भाव्य नही है, और मै तो एक ज्ञायकमात्र हूँ।' ऐसा विचार करना।

अथ ज्ञेयभावविवेकप्रकारमाह—

णत्थि मम धम्मआदी बुज्झदि उवओग एव अहमेक्को ।
तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्य वियाणया बेंति ॥३७॥

नास्ति मम धर्मादिर्बुध्यते उपयोग एवाहमेकः ।
तं धर्मनिर्ममत्वं समयस्य विज्ञायका ब्रुवन्ति ॥३७॥

अमूनि हि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवांतराणि स्वरसविजृम्भितानिवारितप्रसरविश्वघस्मरप्रचडचिन्मात्रशक्तिकवलिततयात्यंतमंतर्मग्नानीवात्मनि प्रकाशमानानि टंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावत्वेन तत्त्वतोऽन्तस्तत्त्वस्य तदतिरिक्तस्वभावतया तत्त्वतो बहिस्तत्त्वरूपतां परित्यक्तुमशक्यत्वान्न नाम मम सन्ति । किञ्चैतत्स्वयमेव च नित्यमेवोपयुक्तस्तत्त्वत

अब ज्ञेयभाव के भेदज्ञान का प्रकार कहते है —

धर्मादि वे मेरे नहीं, उपयोग केवल एक हूँ ।
—इस ज्ञान को, ज्ञायक समय के धर्मनिर्ममता कहे ॥३७॥

[1]**गाथार्थ :**—[बुध्यते] यह जाने कि [धर्मादि] 'यह धर्म आदि द्रव्य [मम नास्ति] मेरे कुछ भी नही लगते, [एकः उपयोगः एव] एक उपयोग ही [अहम्] मैं हूँ' — [तं] ऐसा जानने को [समयस्य विज्ञायकाः] सिद्धान्त के अथवा स्वपर के स्वरूप समय के जाननेवाले [धर्मनिर्ममत्वं] धर्मद्रव्य के प्रति निर्ममत्व [विंदंति] जानते है, कहते हैं ।

टीका :—अपने निजरस से जो प्रगट हुई है, जिसका विस्तार अनिवार्य है तथा समस्त पदार्थो को ग्रसित करने का जिसका स्वभाव है—ऐसी प्रचण्ड चिन्मात्रशक्ति के द्वारा ग्रासीभूत किये जाने से, मानो अत्यन्त अन्तर्मग्न हो रहे हो, ज्ञान मे तदाकार होकर डूब रहे हो—इसप्रकार आत्मा मे प्रकाशमान यह धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीव—ये समस्त परद्रव्य मेरे सम्बन्धी नही हैं, क्योकि टकोत्कीर्ण एक

---

[1] इस गाथा का अर्थ ऐसा भी होता है — धर्म आदि द्रव्य मेरे नही हैं, मैं एक हूँ'— ऐसा उपयोग ही जाने, उस उपयोग को समय के जाननेवाले धर्म के प्रति निर्मम कहते है ।

एवंकमनाकुलमात्मानं कलयन् भगवानात्मैवावबुध्यते यत्किलाहं खल्वेकः ततः सवेद्यसवेदकभावमात्रोपजातेतरेतरसवलनेऽपि परिस्फुटस्वदमानस्वभावभेदतया धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवांतराणि प्रति निर्ममत्वोस्मि, सर्वदैवात्मैकत्वगतत्वेन समयस्यैवमेव स्थितत्वात् । इतीत्थं ज्ञेयभावविवेको भूतः ।

ज्ञायकस्वभावत्व से परमार्थत अन्तरङ्गतत्त्व तो मैं हूँ और वे परद्रव्य मेरे स्वभाव से भिन्न स्वभाववाले होने से परमार्थत वाह्यतत्त्वरूपता को छोडने के लिये असमर्थ हैं (क्योकि वे अपने स्वभाव का अभाव करके ज्ञान मे प्रविष्ट नही होते)। और यहाँ स्वयमेव (चैतन्य मे) नित्य उपयुक्त और परमार्थ से एक, अनाकुल आत्मा का अनुभव करता हुआ भगवान आत्मा ही जानता है कि—मैं प्रगट निश्चय से एक ही हूँ, इसलिये ज्ञेयज्ञायकभावमात्र से उत्पन्न परद्रव्य के साथ परस्पर मिलन होने पर भी, प्रगट स्वाद मे आते हुये स्वभाव के कारण धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीवो के प्रति मैं निर्मम हूँ, क्योकि सदा ही अपने एकत्व मे प्राप्त होने से समय (आत्मपदार्थ अथवा प्रत्येक पदार्थ) ज्यो का त्यो ही स्थित रहता है, (अपने स्वभाव को कोई नही छोडता)। इसप्रकार ज्ञेयभावो से भेदज्ञान हुआ।

गाथा ३७ की उत्थानिका, गाथा और उसकी टीका पर प्रवचन

अब ज्ञेयभाव के भेदज्ञान का प्रकार कहते है। निजात्मा से भिन्न निगोदिया से लेकर सिद्ध भगवान तक परजीव एव छहो द्रव्य – सभी ज्ञेय हैं, उनसे ज्ञायक आत्मा भिन्न है – इसप्रकार के भेदज्ञान की व्याख्या अब करते हैं। आत्मा अपने ज्ञानस्वभाव के कारण ही ज्ञेयो को जानता है, ज्ञेयो के कारण नही। जानना ज्ञान की स्वय की परिणति है, ज्ञेयो की नही। ऐसा होने पर भी अज्ञानी ज्ञेयो को अपना मानता है – यही मिथ्यादर्शन है।

ज्ञान की परिणति ज्ञेयो को जानती है, इसलिये ज्ञेयो के कारण हुई हो – ऐसा नही है। वह तो ज्ञान के स्वरस से ही प्रगट हुई है, अपने प्रकाश से ही परिणमित हुई है। चैतन्य की परिणति ऐसी प्रकाशमय है कि उसका फैलाव – विस्तार किसी से रोका नही जा सकता। समस्त पदार्थो को ग्रसने का अर्थात् जानने का इसका स्वभाव है। चाहे वह शरीर हो भगवान हो, मूर्ति हो, गुरु हो, शास्त्र हो – सभी ज्ञेयो को अपने स्वभाव से ही जानने का उसका स्वभाव है। ग्रसने का स्वभाव है

अर्थात् ज्ञान मे जान लेने का स्वभाव है। ज्ञान का स्वभाव समस्त पदार्थों को जानने का है, तथापि ज्ञान का परिणमन ज्ञेय के कारण नही होता।

जैसे दर्पण मे परवस्तु का जो प्रतिबिम्ब ज्ञात होता है, वह परवस्तु नही है; दर्पण मे वह परवस्तु आयी भी नही है। तथा दर्पण मे जो प्रतिबिम्ब पडा है, वह भी पर के कारण नही, किन्तु दर्पण की स्वच्छता के कारण है। परवस्तु मानो दर्पण मे आ गई हो – ऐसा मालूम पडता है, तथापि वह दर्पण की स्वच्छता की ही दशा है, वह कोई परवस्तु नही है। तथा सामने परवस्तु है, उसके कारण दर्पण की स्वच्छता की परिणति हुई है – ऐसा भी नही है। उसीतरह यह ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा का अपनी दशा मे परवस्तु को जानने का, ग्रहण करने का, ग्रसने का, प्रवेश करने का स्वभाव है, समस्त पदार्थों को जानने का ज्ञानपरिणति का स्वभाव है। चाहे सर्वज्ञपरमेश्वर हो, समवशरण हो या मन्दिर हो – इन सभी को अपने चैतन्यप्रकाश की सामर्थ्य से जानने का स्वभाव है। ऐसी प्रचण्ड चिन्मात्रशक्ति से ग्रासीभूत होने से मानो अत्यन्त अन्तर्मग्न हो रहे हैं– इसप्रकार समस्त पदार्थ आत्मा मे प्रकाशमान हैं।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय पदार्थ हैं, ये जगत की वस्तुएँ हैं, इन्हे केवली भगवान ने प्रत्यक्ष देखा जाना है। सर्वज्ञपरमेश्वर के सिवाय इन्हे अन्य किसी ने प्रत्यक्ष नही देखा। ये दोनो द्रव्य लोकप्रमाण हैं। गमन करनेवाले जीव और पुद्गल जब स्वय गमन करते हैं, तब धर्मास्तिकाय उनके गमन मे निमित्त होता है और जब वे पदार्थ गतिपूर्वक स्वय स्थिर होते हैं, तब अधर्मास्तिकाय उनके स्थिर होने मे निमित्त होता है। पदार्थ अपने ही कारण या अपनी ही योग्यता से जब गमन करता है या स्थिर होता है, तब ही दूसरी वस्तु को निमित्त कहते हैं। धर्मास्तिकाय गति कराता हो या अधर्मास्तिकाय स्थिति कराता हो, ऐसा नही है। उसीप्रकार आकाश लोक-अलोक मे व्यापक है और कालद्रव्य असख्यात हैं, वे लोक मे रहते है। कालद्रव्य भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त पदार्थ है। पुद्गलद्रव्य अनन्त हैं। कर्म, शरीर, वाणी इत्यादि सभी पुद्गल परज्ञेय रूप से अस्तित्व धारण करते हैं। उसीप्रकार अन्य जीव निगोद के जीव, सिद्धजीव, देव, गुरु, कुटुम्ब इत्यादि जीव – वे सब अन्यजीव हैं।

ज्ञानी कहते हैं कि ये सर्व परद्रव्य मेरे सम्बन्धी नही हैं। ये सभी छहद्रव्य ज्ञान के ज्ञेय हैं। ज्ञान उनको जानता है – यह कहना भी व्यवहार हैं। वास्तव मे तो उनको जानने सम्बन्धी जो अपनी ज्ञान की दशा है, उसरूप परिणमन करता हुआ ज्ञान स्वयं को ही जानता है।

ज्ञान मे ज्ञेयो को जानने का स्वभाव है ज्ञेय के कारण ज्ञान का जानने का स्वभाव नही है। चैतन्य स्वय ही उस काल मे अपनी शक्ति के विकास की सामर्थ्य से अनन्तज्ञेयो को जानने के भाव से परिणमनकर उसे निगल जाता है। परज्ञेयरूप से जगत मे जो अनन्त पदार्थ हैं, उन्हे ज्ञान अपने जानने की सामर्थ्य से जानता है। आत्मा अपने ज्ञान मे रहकर, ज्ञेयो का अवलम्बन लिए बिना अपने स्व-परप्रकाशक स्वभाव की सामर्थ्य से ज्ञेयो को प्रकाशित करता है।

परज्ञेय जीव के नही हैं, स्त्री, पुत्र, गुरु, शिष्य, रुपया, पैसा आदि कुछ भी जीव के नही हैं, ये तो सब परज्ञेय हैं। जीव की तो केवल परज्ञेयो को जानने की सामर्थ्य है। इसकारण धर्मीजीव तो यह जानते हैं कि कोई भी परद्रव्य मेरा सम्बन्धी नही है। वीतराग अर्हन्तदेव और निर्ग्रन्थगुरु भी मेरे सम्बन्धी नही है। ये सब तो पर-पदार्थ है।

प्रश्न :— देव-गुरु को तो आत्मा का मानो ? ये तो परिपूर्ण शुद्ध है न ?

उत्तर :— अरिहतदेव तथा अनन्तसिद्ध अपने-अपने मे परमशुद्ध पवित्र परमात्मपद मे विराजमान होते हुए भी अपने लिए तो पर ही हैं 'ये अरिहन्त है, ये सिद्ध है' इसप्रकार के विकल्पो को भी अपना मानना मिथ्यात्व है। ये सब परद्रव्य देव, गुरु, शरीर व कर्म आदि मेरे सम्बन्धी नही है, जो आठकर्म हैं, वे भी मेरे सम्बन्धी नही है। ये तो जड-पुद्गल है तथा मै तो चैतन्य ज्ञानप्रकाश की मूर्ति हूँ।

प्रश्न — कर्म तो जीव के होते है न ?

उत्तर :— भाई ! कर्म जीव के नही होते, क्योकि ये तो जड-पुद्गलमय है। जीव का तो ज्ञान होता है। जीव के कर्म है — यह तो सयोग का ज्ञान कराने के लिए व्यवहार का कथन है। भगवान ! तेरे चैतन्य की सामर्थ्य कितनी है। एकबार देख तो सही ! तेरे ज्ञान का स्वभाव तो ऐसा है कि पर के आश्रय बिना ही पर को जान लेता है। किसी भी परवस्तु को जानने के लिए उस वस्तु का होना आवश्यक नही है।

यह धर्म की बात चल रही है। पर-पदार्थों को जानने का मेरा (चैतन्य का) सहज स्वभाव है। ऐसा जानने का नाम ही धर्म है। पर-पदार्थ और मुझमे कुछ भी सम्बन्ध नही है, किन्तु पर-पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान करने की मुझमे स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य है। इस स्वपरप्रकाशक सामर्थ्य मे स्वय का परिणमन करना धर्म है। सर्व परद्रव्य मेरे सम्बन्धी

नही, इसकारण ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध कहना भी व्यवहार है। इस लोकालोक का अस्तित्व है, इसकारण केवलज्ञानी की परिणति केवलज्ञानरूप होती है – ऐसा नही है, किन्तु ज्ञान का परिणमन अपने स्वभाव की सामर्थ्य से ही केवलज्ञानरूप होता है। ज्ञान के स्वभाव की सामर्थ्य ही ऐसी है कि वह स्व को जाने और पर को भी जाने। पर का अस्तित्व होने पर भी ज्ञान पर के अस्तित्व के कारण नही, बल्कि अपनी ज्ञान की सत्ता के सामर्थ्य के कारण स्व-पर को जानता है।

प्रश्न :– तो क्या भगवान और भगवान की वाणी से भी कोई लाभ नही होता ?

उत्तर :– भाई! भगवान व भगवान की वाणी तो पर-ज्ञेय है, परपदार्थ है। आत्मा का स्वभाव तो परपदार्थ को परपदार्थ के अस्तित्व मे जानने का है। वह ज्ञान पर के कारण नही है, किन्तु अपने स्व-पर-प्रकाशक ज्ञानसामर्थ्य की परिणति के कारण है।

समयसार गाथा ३२० मे तो यहाँ तक आता है कि भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह बध को भी जानता है, मोक्ष को भी जानता है, उदय को भी जानता है, निर्जरा को भी जानता है, वह तो मात्र जानता है। लो, अब क्या बाकी रहा ? स्वयं ज्ञानस्वभावी प्रभु है न ? उसके लिए उदय भी परज्ञेय, बध भी परज्ञेय, निर्जरा भी परज्ञेय और कर्म का छूटना भी परज्ञेय है। इसलिए आत्मा उदय, बध, निर्जरा व मोक्ष को मात्र जानता है, करता नही है। जैसे दृष्टि पर को मात्र जानने का काम करती है। वह पर को टिकाने का, बदलने का, परिणमन कराने का या परिणमन मे फेरफार कराने का काम नही करती। उसीप्रकार भगवान आत्मा लोक की आँख है। इस चैतन्य की दृष्टि का परिणमन तो ज्ञानरूप है। अपनी सामर्थ्य से अपने मे रहकर पर को स्पर्श किए बिना सभी द्रव्यो को ज्ञेयरूप से जानने का उसका स्वभाव है। इसमे पर की दया मैं पाल सकता हूँ, यह कहाँ रहा ? अहाहा ! तत्व कितना स्पष्ट है ? ऐसा अन्यत्र कही नही है। अरे प्रभु ! यह तो सनातन मार्ग है।

अनादि से आत्मा का स्वभाव स्व-परप्रकाशक की सामर्थ्यवाला है। इसकारण जो ज्ञान पर को प्रकाशित करता है, वह पर के अस्तित्व के कारण प्रकाशित नही करता। वास्तव मे तो पर सम्बन्धी अपना जो ज्ञान है, उसे ही वह प्रकाशित करता है। जहाँ ऐसी सूक्ष्म बात है, वहाँ मेरा पैसा, मेरी देह, मेरी पत्नी, मेरी सतान इत्यादि कहाँ रहा ? किसका लडका और किसकी पत्नी ? किसकी माँ और किसका बाप ? कैसा देश

व कैसा परदेश ? बापू ! तेरा देश तो असख्यप्रदेशी प्रभु अन्दर है, जिसमे अनन्तगुणो की प्रजा निवास करती है तथा स्वरूप मे रहकर मात्र जानना – यही तेरा स्वभाव है ।

यहाँ मुख्यरूप से ज्ञेय-ज्ञायक की वात की है, अन्य गुणो की अपेक्षा ज्ञान गुण विशिष्ट है । ज्ञान के अलावा दूसरी शक्तियाँ तो निर्विकल्प है, ज्ञानशक्ति सविकल्प है । स्व व पर को जानने की सामर्थ्यवाली – वह एक ही शक्ति है । ऐसी ज्ञानस्वभावी वस्तु मे 'पर को मार सकू, या पर की दया पाल सकूँ, या पर के पास से कुछ प्राप्त कर सकू' – ऐसी सामर्थ्य कहाँ है ? अरे ! शास्त्र को जानते हुए शास्त्र मे से जाननेरूप पर्याय नही आती, क्योकि शास्त्र तो पर है, पुद्गलमय है । जवकि ज्ञानपर्याय तो स्व-पर को प्रकाशित करने के सामर्थ्यवाले ज्ञायकतत्त्व मे से आती है । अहाहा ! धर्मी ऐसा मानता है कि मेरा पर-द्रव्य के साथ कोई सम्वन्ध नही है, देव मेरा सम्वन्धी नही है, गुरु मेरा सम्वन्धी नही है और मन्दिर भी मेरा नही है । मैं तो एक चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा हूँ । पर मे गये विना व परवस्तु मेरे मे आये विना उसे जानने के स्वभाववाला मै हूँ ।

सर्व परद्रव्य मेरे सम्वन्धी नही हैं, क्योकि टकोत्कीर्ण एक ज्ञायक-स्वभावपने के कारण वास्तव मे अन्तरङ्ग तत्त्व ही मैं हूँ । मैं तो ज्ञायक-स्वभावमय स्वरस के सत् का सत्त्व हूँ । मैं आत्मा सत् हूँ और ज्ञायकपना मेरा सत्त्व है, इसकारण ज्ञायकस्वभावपने से मै अन्तरङ्ग तत्व हूँ और परद्रव्य मेरे स्वभाव से भिन्न स्वभाववाले होने से परमार्थ से वाह्य तत्त्वपने को छोडने मे असमर्थ है । अहाहा ! सिद्ध भगवान व सर्वज्ञ परमेश्वर अरहन्त परमेष्ठी भी मेरे स्वभाव से भिन्न स्वभाववाले हैं । इसकारण वे परमार्थ से वाह्यतत्त्वपने को छोडने मे असमर्थ है अर्थात् वे अपने स्वभाव मे ही रहने से अपने स्वभाव का अभाव करके ज्ञान मे प्रवेश नही करते । अनन्त वाह्यतत्त्व अपने स्वभाव के सत्व को छोडने मे असमर्थ है तथा मै भी अपने अन्तरङ्गतत्त्व अर्थात् ज्ञायकपने को छोडने मे असमर्थ हूँ । ज्ञान स्व व पर को अपने अस्तित्व मे रहकर जानता है तथा ज्ञेय ज्ञान मे प्रवेश नही करते । इसप्रकार दो विभाग सर्वप्रकार भिन्न ही है । (१) अन्तरङ्गतत्व ज्ञायक स्वय तथा (२) वाह्यतत्त्व सर्व परज्ञेय ।

देखो ! यह ज्ञेयभाव के भेदज्ञान का प्रकार कहा है ।

ज्ञेयभाव से तेरा तत्त्व जुदा है, ऐसा तू अनुभव कर ! तू अपनी दृष्टि को त्रिकाली ज्ञायक तत्त्व से जोड़ दे तथा जो तू नही है – ऐसे परज्ञेयो से दृष्टि हटा ले – ऐसा यहाँ कहते है ।

अब कहते हैं कि मै स्वय ही नित्य उपयुक्त, परमार्थ से एक, अनाकुल आत्मा को अनुभवता हुआ भगवान आत्मा हूँ। नित्य उपयुक्त अर्थात् नित्य जानने-देखने के स्वभाववाला हूँ, नित्य ज्ञान के उपयोग के व्यापारवाला हूँ। परमार्थ से एक हूँ अर्थात् ज्ञानमयी होने से एकरूप हूँ। जिसमे भेद नही है—ऐसा मैं एक अनाकुल शान्तरस का कन्द प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड हूँ। मेरे आनन्द के लिए मुझे निमित्त की अपेक्षा नही है, क्योकि निमित्त मे मेरा आनन्द नही है। उसीप्रकार मुझे मेरे ज्ञानप्रकाश के लिए भी निमित्त की जरूरत नही है, क्योकि मेरे ज्ञान का प्रकाश निमित्त मे नही है। भगवान समवशरण मे साक्षात् विराजते हैं और उनकी वाणी खिरती है। उसका ज्ञान मुझे मेरे द्वारा ही होता है और तब मै अनाकुल आनन्द का वेदन करता हूँ, परन्तु वहाँ पर के कारण मुझे ज्ञान और आनन्द होता है, ऐसा नहीं है, क्योकि मेरा ज्ञान व मेरा आनन्द पर मे है ही नही।

भाई! चैतन्य की स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य को जिसने जाना नही, जिसने अनुभव मे उसकी सत्ता को स्वीकार किया नही, उसे धर्म कहाँ से हो, कैसे हो? यहाँ कहते हैं कि स्वय से ही नित्य उपयोगमय और परमार्थ से एक अनाकुल आत्मा को अपनी ज्ञानपरिणति मे अनुभव करता हुआ, अनाकुल आनन्द का वेदन करता हुआ भगवान आत्मा ही जानता है कि मै प्रगट निश्चय से एक ही हूँ। वास्तव मे एक ज्ञायकभाव-स्वरूप से अनाकुल आनन्द का वेदन करता हुआ मै एक हूँ। निश्चय से एक होने से पर्याय के भेद भी मुझ मे नही हैं।

भाई! जिनेश्वरदेव का मार्ग बहुत सूक्ष्म तथा अपूर्व है। जैसे—सर्प को पकडने की मोटी सडासी हीरा-मोती को पकडने के काम नही आ सकती। उसीप्रकार अतिसूक्ष्म भगवान आत्मा को ग्रहण करने मे—पकडने में स्थूल विकल्प काम नही आ सकते। यह तो निर्विकल्प ज्ञान व आनन्द से पकडने मे आता है। ऐसा निर्विकल्पज्ञान व आनन्द जिसे प्रगट है, वे सम्यग्दृष्टि आत्मा को ऐसा अनुभवते हैं कि—'मैं तो एक हूँ'। मै एक ज्ञायक चैतन्यस्वरूप हूँ तथा यह शरीर-मन-वाणी, देव-गुरु-शास्त्र आदि सब परज्ञेय है। वे मेरी वस्तु नही है या मेरे मे नही हैं। वे मेरे कारण से नही हैं और मैं भी उनके कारण से नही हूँ। मै ज्ञायक हूँ तथा वह ज्ञेय है, इतना मात्र ज्ञेय-ज्ञायकभाव है।

ज्ञेय-ज्ञायकभाव मात्र से परद्रव्यो के साथ परस्पर सम्बन्ध होने पर भी, प्रगट स्वाद मे आते हुए स्वभावभेद के कारण भिन्नता है।

शिखरणी (श्रीखण्ड) की तरह मीठा व खट्टा—दोनो स्वाद मिले हुए होने पर भी मीठा स्वाद खट्टे से पृथक् जाना जाता है। उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को भगवान आत्मा का स्वाद पर के स्वाद से जुदा ज्ञात होता है, ऐसा जाने व श्रद्धान करे, तब आत्मा को जाना, माना व अनुभव किया – ऐसा कहा जाता है। यह सम्यग्दर्शन तथा धर्म की रीति है। इस मूल को छोडकर जीव ने महाव्रत धारण किए, ब्रह्मचर्य पाला, केशलोच किए इत्यादि बाह्य क्रियाकाण्ड मे धर्म मानकर मूर्छित हो गया, किन्तु ये सब आत्मज्ञान के बिना नि सार है। ये तो शुभ विकल्प है, जबकि भगवान आत्मा निर्विकल्प है। भाई! 'मै शुभविकल्पवाला हूँ', ऐसा विचार करने के बदले 'मै चैतन्यघनस्वरूप अनादि-अनन्त तत्त्व हूँ' – ऐसा विचार क्यो नही करते? ज्ञानी तो कहते है कि 'मै तो अनादि अनाकुल आत्मा का अनुभव करता हुआ भगवान आत्मा हूँ।'

अज्ञानी को भी जडपदार्थों का स्वाद नही आता। मात्र उनका लक्ष्य करके 'यह ठीक है' ऐसे राग का ही स्वाद आता है। परन्तु धर्मी तो कहते हैं कि राग का भाव भी पर है, वह मेरे ज्ञान मे मात्र परज्ञेयपने रहनेवाला तत्त्व है। राग है, इसलिए उसके कारण ज्ञान होता है – ऐसा भी नही है। भाई! तुझे अपने स्वभाव के सामर्थ्य की खबर नही है, श्रद्धा नही है। एक समय से लोकालोक को जाने, ऐसा तेरा स्वभाव है। भले ही श्रुतज्ञान हो, श्रुतज्ञान परोक्ष है व केवलज्ञान प्रत्यक्ष है, मात्र इतना ही अन्तर है। श्रुतज्ञान मे भी स्वय स्व को जानता हुआ अपने मे लोकालोक ज्ञात हो जाता है। वस्तुत तो लोकालोक जाना जाता है – यह कहना भी व्यवहार है। अहाहा! वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म है।

भाई! भगवान आत्मा जानता है कि मैं तो प्रगट निश्चय से एक ही हूँ। अनेक परज्ञेयो को जानता हुआ मैं अनेकरूप नही हो जाता। अनेक परज्ञेय को जानता हुआ भी मैं अनेक मे चला नही जाता तथा वे अनेक ज्ञेय भी मेरे ज्ञान मे प्रवेश नही कर जाते। मैं ज्ञायकमात्र अनाकुल आनन्द को अनुभवता हुआ आत्मा हूँ। यहाँ अकेला 'जानना' नही लिया, क्योकि ज्ञान के साथ आनन्द भी है, जैसे आत्मा मे ज्ञान है, उसी तरह अतीन्द्रिय आनन्द भी है; इसलिए आत्मा की स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य है – ऐसा जाना तो ज्ञान के साथ आनन्द भी आता ही है। आनन्द आये बिना अकेला ज्ञान, ज्ञान ही नही कहलाता। यह सर्वज्ञ त्रिलोकीनाथ की दिव्यध्वनि मे आई हुई बात है। भाई! तू आत्मा है न? अरे? तू प्रभु है, पामर नही है। प्रभु को पामर मानना मिथ्यात्व है।

अहाहा ! अनन्त ज्ञेयो को, ज्ञेयो मे प्रवेश किए बिना तथा ज्ञेय ज्ञान मे आये विना, जानने को ताकतवाला तू आत्मा है। ऐसी तेरी प्रभुता है और ये ही तेरी ईश्वरता है। ३६वी गाथा मे भी आ गया है कि 'जिसकी निरन्तर शाश्वती प्रतापसम्पदा है' – इसमे भी आत्मा की प्रभुता बताई है। जैसा ज्ञानस्वभाव है, वैसा प्रभुता भी स्वभाव है। जिसने अपने ज्ञानस्वभाव व प्रभुतास्वभाव का भान किया, उसे पर्याय मे प्रभुता प्रकट होती है। उसकी स्वय की पर्याय स्वय की सामर्थ्य से, अखण्ड प्रताप से स्वतन्त्ररूप से सुशोभित होती हुई प्रगट होती है।

प्रश्न :– इसके लिए हमको क्या करना चाहिए ?

उत्तर :– भाई ! यह करना कि – "मैं अन्दर ज्ञानस्वरूपी भगवान अनन्त-अनन्त गुणो का गोदाम, अनन्तस्वभाव का सागर प्रभु तथा अनन्त-शक्तियो का सग्रहालय हूँ, धाम हूँ।" – ऐसा जानना, किन्तु अज्ञानी को इसकी कहाँ खबर है ? वह इसे छोडकर पर मे (शरीरादि सयोगो मे) सन्तुष्ट हो जाता है। भगवान ! तुझे यह क्या हो गया है ? तू अपना भिखारीपन तो देख ! यह तेरा पागलपन है ! अहा ! तू तीनलोक का नाथ ! इन छुद्र सयोगो मे (सासारिक सुखाभास मे) सन्तुष्ट कैसे हो जाता है ? भगवान ! तू तो आनन्द का नाथ प्रभु है। ये परवस्तुये (सयोग) तेरे मे नही है और तू इनमे नही है। तेरा ज्ञान परवस्तुओ के कारण है – ऐसा भी नही है। तू अपनी सत्ता से स्व-पर को जानता है। स्व-पर को जानने की सामर्थ्यवाला तू भगवान है। उसे जाने अर्थात् अपनी भगवत्ता को पहिचाने तो अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आयेगा।

प्रश्न :– यहाँ 'ज्ञेय-ज्ञायकभावमात्र से' – ऐसा जो कहा, उसका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर :– तात्पर्य यह है कि 'मैं ज्ञायक हूँ और ये परज्ञेय हैं' – यह तो कहनेमात्र का सम्बन्ध है। ऐसे ज्ञेय-ज्ञायकसम्बन्ध होने से परद्रव्यो का जैसा स्वरूप है, वैसा ज्ञान होता है। परन्तु प्रगट स्वाद मे आने पर स्वभाव-भेद के कारण वे मुझसे भिन्न हैं – ऐसा ज्ञान भी होता है। मेरी आत्मा का स्वाद अतीन्द्रिय आनन्द है, जबकि धर्मास्तिकाय आदि परज्ञेय मुझसे भिन्न हैं। अहाहा ! भगवान के द्वारा देखे-जाने गये धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, काल, अन्यजीव व कर्म आदि पुद्गलद्रव्य–ये सब परज्ञेय हैं और मैं तो ज्ञानस्वभाव मे स्थित ज्ञायक अतीन्द्रिय आनन्द से भरा हुआ भगवान हूँ।

गुजराती में एक कहावत प्रचलित है कि – 'कर्मे राजा, कर्मे रंक, कर्मे वाल्यो, आडो अंक', किन्तु भाई ! ये सव निमित्त के कथन है। अपनी पर्याय विकाररूप से परिणमे, तव घातिया कर्म को निमित्त कहा जाता है और सयोगी दशा मे अघातियाकर्म निमित्त होता है। ये आठों ही कर्म, उनकी प्रकृतियाँ, प्रदेश, स्थिति व अनुभाग – ये सभी ज्ञान में परज्ञेय हैं। तीर्थंकरप्रकृति भी ज्ञान में परज्ञेय है। जैसे श्रीखण्ड मे मीठास्वाद, खट्टे-स्वाद से भिन्नपने अनुभव मे आता है; उसीप्रकार मेरा आत्मा का स्वाद, धर्मास्तिकाय आदि परज्ञेयो से भिन्न है। मेरा अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद परज्ञेयो से भिन्न है, इसलिए मैं उनसे भिन्न हूँ। ऐसा जिनेश्वर का मार्ग कोई अपूर्व है। परन्तु लोगो ने दया पालना, वाह्यव्रत पालने आदि मे ही धर्म मान रखा है किन्तु ऐसा तो अनन्तवार किया है, यह तो राग की क्रिया है। इसमे आत्मा कहाँ है ? आत्मा तो ज्ञायक-स्वभाव है। लेकिन अज्ञानी को अपनी महिमा ख्याल में नही आती। पर के कारण मुझे ज्ञान होता है – ऐसा मानकर अज्ञानी अपना वडप्पन (प्रतिष्ठा) दूसरो को देता है। अरे भगवान ! यह तुझे क्या हो गया है ? तू तो अनादि ब्रह्मस्वरूप भगवान है।

भगवान आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूपी ब्रह्मानन्द का नाथ है। उसका प्रकट स्वाद अतीन्द्रिय आनन्द है। धर्मादि परज्ञेयों का स्वभाव मुझसे भिन्न है। ऐसा प्रकट स्वाद आते ही स्वभावभेद से मैं धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल व अन्य जीव के प्रति निर्मम हूँ। मैं तीनलोक के नाथ तीर्थंकरदेव के प्रति निर्मम हूँ। तीर्थंकर मेरे नही है, देव मेरे नही है, गुरु व शास्त्र मेरे नही है। जव शुभभाव होता है, तव उनके प्रति लक्ष्य जाता है, किन्तु शुभभाव पर के कारण नही होते। ये शुभभाव तथा सव परवस्तुएँ परज्ञेय हैं। उन परज्ञेयो को मैं अपने ज्ञान मे रहकर, अपने अतीन्द्रियस्वाद का वेदन करता हुआ, अपने से जुदा जानता हूँ। यह सम्यग्दर्शन व धर्म है। सम्यग्दृष्टि के जैसा स्वरूप है, वैसी प्रतीति हुई है। ज्ञानस्वरूप चैतन्यसूर्य भगवान आत्मा के अतिरिक्त समस्त परज्ञेय अपने वाह्यतत्वपने को छोड़ने मे असमर्थ हैं और मैं अन्तरंगतत्त्व हूँ। जो अपने अनुभव में आनन्द को जानता हुआ, पर को भिन्न जानता हूँ। इसलिए मैं इन सर्व परज्ञेयो के प्रति निर्मम हूँ – ऐसा ज्ञानी जानता है।

अज्ञानी ऐसा मानता है कि मेरी पत्नी, मेरा लड़का, मेरा मकान आदि। परन्तु भाई ! यह शरीर भी तेरा नही है तो मकान आदि तो तेरे कैसे होंगे ? अरे ! अन्दर जो राग है, वह भी तेरा नही है तो फिर पर

वस्तु तेरी कहाँ से होगी ? ज्ञानी ऐसा जानता है कि मैं तो ज्ञान-आनन्द का अनुभव करनेवाला हूँ, राग का अनुभव करनेवाला मैं नही हूँ। अहो! कैसी अद्भुत टीका है। आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने अमृत वर्षाया है।

यहाँ ऐसा कहते हैं कि धर्मी वह है कि जो अपने ज्ञान-आनन्दरूप अपने से ही स्वयमेव परिणमे। इसमे परसम्बन्धी ज्ञान आता है, परन्तु परसम्बन्धी ज्ञान कहना – यह व्यवहार है। वास्तव मे तो यह ज्ञान आत्मा का ही है। ४७ शक्तियो मे एक सर्वज्ञत्वशक्ति है। इसका वर्णन करते हुए 'आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्ति' ऐसा कहा है। सर्वज्ञ अर्थात् सबको जाननेवाला, ऐसा नही, परन्तु सर्व का ज्ञान आत्मा का ही है। सर्वज्ञता का स्वभाव स्वय आत्मा का है। इसकारण ज्ञानी कहते हैं कि मैं जो अभी जानता हूँ, यह जानना मुझसे मुझमे हुआ है, परज्ञेय के कारण नही हुआ है। तथा इसकारण मैं अतीन्द्रिय आनन्द को वेदन करता हुआ अकेला हूँ। पर से भिन्न हूँ, निर्मम हूँ। क्योकि सदा ही स्वय एकपने से प्राप्त होने से आत्मपदार्थ ऐसा का ऐसा ही स्थित रहता है अर्थात् ज्ञातास्वभाव मे ही स्थित रहता है, अपने स्वभाव को कोई पदार्थ छोडता नही है।

इसप्रकार ज्ञेयभावो से भेदज्ञान हुआ और आत्मा परज्ञेयो से भिन्न हुआ।

यहाँ इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं –

(मालिनी)

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके
स्वयमयमुपयोगो बिभ्रदात्मानमेकम्।
प्रकटितपरमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तैः
कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः॥ ३१॥

श्लोकार्थ :– [**इति**] इसप्रकार पूर्वोक्तरूप से भावकभाव और ज्ञेयभावो से भेदज्ञान होने पर जब [**सर्वैः अन्यभावैः सह विवेके सति**] सर्व अन्यभावो से भिन्नता हुई, तब [**अयं उपयोगः**] यह उपयोग [**स्वय**] स्वय ही [**एकं आप्मानम्**] अपने एक आत्मा को ही [**बिभ्रत्**] धारण करता हुआ, [**प्रकटितपरमार्थैः दर्शनज्ञानवृत्तैः कृतपरिणतिः**] जिनका परमार्थ प्रगट हुआ है – ऐसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र से जिसने परिणति की है ऐसा, [**आत्म-आरामे एव प्रवृत्तः**] अपने आत्मरूपी बाग (क्रीडावन) मे प्रवृत्ति करता है, अन्यत्र नही जाता।

भावार्थ :– सर्व परद्रव्यों से तथा उनसे उत्पन्न हुए भावों से जब भेद जाना, तब उपयोग के रमण के लिए अपना आत्मा ही रहा, अन्य ठिकाना नहीं रहा। इसप्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र के साथ एकरूप हुआ, वह आत्मा में ही रमण करता है, ऐसा जानना ।।३१।।

कलश ३१ पर प्रवचन

इसप्रकार पूर्वोक्तानुसार भावकभाव तथा ज्ञेयभावों से भेदज्ञान होने पर अर्थात् ज्ञान व आनन्दस्वरूपी आत्मा पुण्य-पाप तथा राग-द्वेष के विकारीभावों से तथा शरीर, मन, वाणी, कर्म इत्यादि सब परज्ञेयों से भिन्न है। जीव अनादि से संसार में तो रखड़ ही रहा है। दया, दान, भक्ति तथा खाना-पीना-कमाना इत्यादि पुण्य व पाप के भाव आदि चार गति में भटकने के भाव हैं। इनसे जीव दुःखी है। जिन्हें जन्म-मरण मिटाना हो तथा धर्म प्रकट करना हो, उन्हें क्या करना चाहिए? इसकी यह बात है। प्रथम तो यह भगवान आत्मा भावक के भाव पुण्य-पाप, राग-द्वेष, दया-दान-भक्ति आदि के विकारीभावों से अपने को पृथक् जानता हुआ अनुभवता है। तथा परज्ञेयों के भाव शरीर, मन, वाणी, कर्म, स्त्री, कुटुम्ब, लक्ष्मी, देव, गुरु, शास्त्र से भी स्वज्ञेयरूप आत्मा को भिन्न जानता है।

यहाँ कहते हैं कि अनादि से यह जीव विकार को तथा परज्ञेयों को अपना मानता था, वह मिथ्यात्व, भ्रम तथा अज्ञान था; परन्तु अब ज्ञानानन्दस्वरूप भगवान आत्मा को भेदज्ञान के द्वारा रागादि विकार से तथा परज्ञेयों से भिन्न करके आत्माराम हुआ है।

सर्व अन्यभावों से अर्थात् राग, दया, दान, व्रत, भक्ति हिंसा, झूठ, चोरी, क्रोध, मान आदि विकारीभावों से तथा शरीर, वाणी, मन, कर्म, देव, गुरु, शास्त्र आदि परज्ञेयों से जब भिन्नता होती है, तब उपयोग आत्मरूप हो जाता है। भिन्न तो है ही, किन्तु जब परभाव और पर-ज्ञेय दोनों भिन्न हैं – ऐसी भिन्नता ज्ञान में ज्ञात होती है, तब उपयोग आत्मरूप हो जाता है। वस्तुधर्म अलौकिक है भाई! किन्तु जिसको सुनने को ही नहीं मिला हो तो क्या करे? बेचारे बहुत से जीव ऐसे ही दुःखी हो-होकर चार गति, चौरासीलाख योनियों में रखड़ते हैं। ये करोड़पति व अरबपति सब बेचारे हैं, क्योंकि इन्हें आत्मा की ज्ञानानन्दलक्ष्मी क्या है? इसकी खबर नहीं है। जो अपने में नहीं है, उसे अपना मान रहे हैं; अतः मूर्ख हैं, मिथ्यात्व के भ्रम में पड़े हैं।

आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूप प्रभु है। उसमे जो राग, पुण्य व पाप के शुभाशुभ भाव है; वे भावककर्म के निमित्त से हुए औपाधिक भाव है, वे आत्मा के स्वभावभाव नही है – इसप्रकार जब आत्मा से उन्हे भिन्न किया तथा परज्ञेय – चाहे वे देव-गुरु-शास्त्र हो या सम्मेदशिखर जैसा पावन-तीर्थ हो, उन सबसे भी स्वज्ञेय को भिन्न किया, तब उपयोग स्वय स्वरूप मे एकाकार हो जाता है अर्थात् जाननेवाला उपयोग जो अनादि से राग व पर-ज्ञेयो को अपना जानता-मानता था, वह अब राग व ज्ञेय से भिन्न होकर आत्मारूप हो गया, स्वभावरूप हो गया। यहाँ भेद करके व्यवहार से बात की है कि जो उपयोग है, वह स्वय ही अपने एक आत्मा को धारण करता है। वास्तव मे तो जो उपयोग है, वह स्वय स्वरूप मे एकाकार हो जाता है।

'यह उपयोग स्वय ही अपने आत्मा को धारण करता है' – इसका अर्थ है कि उपयोग आत्मारूप हो गया। दया, भक्ति, पूजा, यात्रा आदि भाव तो विकार है, राग है, तथा देव-गुरु-शास्त्र परज्ञेय हैं, पर है। इन परज्ञेयो से व रागादि भावो से भेद करके निर्विकार उपयोग जब अन्दर स्व-ज्ञेय एक ज्ञायकभाव मे जम जाता है, तब उपयोग आत्मारूप हुआ – ऐसा कहा जाता है और तभी आत्मा का धर्म प्रकट होता है।

अब कहते है कि जिनका परमार्थ प्रकट हुआ है, ऐसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र से जिसने परिणति की है – ऐसा ज्ञानी अपने आत्मारूपी बाग मे ही प्रवृत्ति करता है। क्या कहते हैं? सुनो! भगवान आत्मा ज्ञान व आनन्दस्वरूप हैं। जब उपयोग अन्दर ज्ञायक मे लीन हुआ, तब शक्ति मे से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की परिणति प्रकट हो गई। रागादि विकार तथा पर-ज्ञेयो से भेद करके, उपयोग जब वस्तु की ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि सामर्थ्य मे जमा, तब शक्ति मे से दर्शन-ज्ञान-चारित्र का परिणमन पर्याय मे हो गया। ऐसा वीतराग का मार्ग है, भाई! इस जीव ने इसे कभी सुना नही है।

यहाँ कहते है कि भगवान आत्मा अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु शुद्ध है। उसे जिनेश्वरदेव केवलज्ञानी, परमेश्वर ने आत्मारूप से देखा है, वह आत्मा राग व पर-ज्ञेयो से भिन्न है। वह राग से भिन्न निर्विकारी है तथा पर-ज्ञेयो से भिन्न स्व-ज्ञेयरूप है। पर्याय मे हुआ राग मेरा और परज्ञेय मेरे – ऐसी जो मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र की परिणति थी, अब उस परिणति के पलटने पर ऐसा मानने लगा कि 'मैं तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा हूँ; परमानन्द का नाथ प्रभु मैं स्वय हूँ' – ऐसा उपयोग अन्तर्लीन होकर

अन्दर मे जमते ही श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की निर्मलपरिणतिरूप पर्याय प्रगट हो जाती है। इसप्रकार जिसने श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की परिणति की है, ऐसा ज्ञानी अपने आत्मारूपी आराम (वाग) या क्रीडावन मे ही रमण करता है। यह भेद से वात की है। वास्तव मे तो वह उपयोग ही आत्मारूप हो जाता है। 'राग, दया, दान हिसा आदि के परिणाम मेरे है तथा परज्ञेयो मे 'यह मै हूँ' और ये मुझे लाभदायक है—ऐसा जो मानता था, उस मान्यता से तथा रागादि से भिन्न होकर उपयोग आत्मा मे जाता है, क्रीडा करता है व आत्मारूप हो जाता है। अहाहा ! यह तो एक समय मे तीन लोक व तीनकाल को जाननेवाले वीतराग परमात्मा अरहन्तदेव की वाणी है भाई ! जिसका भाग्य हो, उसे सुनने को मिलती है।

आचार्य कहते है कि तू आत्मा परमानन्द की मूर्ति प्रभु है। तेरा उपयोग राग व परज्ञेयो मे जाए तो यह व्यभिचार है और वह उपयोग पर से हटकर स्व मे जमे तो अव्यभिचारी परिणाम है। ऐसी सूक्ष्मवात है। जो इसे तो समझे नही और यात्रा करे, पूजा करे, दान करे और माने कि धर्म हो गया, किन्तु इसमे तो धर्म नही होता है। सुन ! मुक्ति का सोपान तो राग व परज्ञेयो से भिन्न होकर स्व मे एकाकार होना है।

अरेरे ! वीतराग के मार्ग को समझने की दरकार भी नही की और यो ही पशुओ की तरह वोझा ढो-ढोकर मरा जा रहा है। यहाँ कहते है कि भगवान आत्मा का उपयोग अर्थात् जानने-देखने का भाव विकार-भाव से भी भिन्न है और जिसे अपना मानता था, उन परज्ञेयो से तो भिन्न है ही। अब वह जीव ऐसा विवेक—भेदज्ञान करके गुलाँट खाता है; अपनी मान्यता को पलटता है कि विकार व पर-ज्ञेयरूप मै नही हूँ। मैं तो निर्विकारी स्वज्ञेय हूँ। ज्ञानी ऐसा भेदज्ञान करके अपने आत्मारूपी क्रीडावन से प्रवृत्ति करता है। यह तो व्यवहार से भेदज्ञान करके समझाया है। वास्तव मे तो उपयोग आत्मारूप ही हो जाता है। उपयोग आत्मा मे ही क्रीडा करता है, अन्य स्थान पर नही जाता अर्थात् जाननहारस्वरूप मे एकाकार हुआ, इससे अब राग व पर मे नही जाता। 'राग व पर मेरे हैं'—ऐसी मान्यतासहित उपयोग मलिन नही होता। इसी का नाम आत्मा को जानना है।

स्वय को जो रागरूप व पर-ज्ञेयरूप मानता है तथा यह स्त्री, पुत्र, परिवार, धन, दौलत, महल, मकान, गाडी आदि को अपना मानता है, उसका पूरा जीवन ही मर गया है। अन्तर मे जिसने विकार को व पर को अपना माना है, वह आत्मा के भाव बिना मर ही चुका है। भगवान

आनन्द का नाथ जीवती चैतन्य-ज्योति है। उसे जीवित न रखकर, 'राग व पर मेरा है' – ऐसी मान्यता से इस अज्ञानी जीव ने अपने जीवन का घात किया है, हिंसा की है। भाई! ऐसे जिनेश्वरदेव का वीतराग मार्ग सुनने को मिलना ही मुश्किल है, फिर उसको समझना श्रद्धा-ज्ञान-रमणता करना तो अतिमुश्किल है। यह तो जन्म-मरण मिटाने का मार्ग है। सौ इन्द्रो द्वारा पूजित भगवान जिनेश्वरदेव की दिव्य-ध्वनि मे आई हुई यह बात है। उसे छोडकर जो दूसरो के पास यहाँ-वहाँ भटकता है, वह पाखण्ड मे अटकता है।

कलश ३१ के भावार्थ पर प्रवचन

सर्व परद्रव्यो से तथा उनसे उत्पन्न हुए भावो से अर्थात् ज्ञेयपरद्रव्यो से और भावक के भावो से जव भेद जाना, तव उपयोग के रमने के लिए अपना आत्मा ही रह गया। अहाहा! मैं तो चैतन्यसूर्य भगवान चैतन्य के तेज के नूर का पूर हूँ और ये रागादिभाव और परज्ञेय मुझ से भिन्न हैं, मुझ मे नही हैं – ऐसा जव भेदज्ञान किया, तव उपयोग एक आत्मा मे ही लीन हो गया और जम गया, क्योकि उसे रमने के लिए आत्मा के सिवाय कोई अन्य स्थान रहा ही नही। इसप्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र के साथ एकरूप होकर वह आत्मा मे ही रमण करता है। अहाहा! वात संक्षेप मे ही है, पर कितना सार भरा है! अनमोल रहस्य भरा है!!

तत्त्वज्ञान की महिमा

तत्त्व की प्रतीति सौं लख्यौ है निज-परगुन,
दृग-ज्ञान-चरण त्रिविधि परिनयौ है।
विसद विवेक आयौ आछौ विसराम पायौ,
आपुही मे आपनौ सहारौ सोधि लयौ है॥
कहत वनारसी गहत पुरुपारथ कौं,
सहज सुभाव सौं विभाव मिटि गयौ है।
पन्ना के पकायें जैसैं कचन विमल होत,
तैसैं सुद्ध चेतन प्रकासरूप भयौ है॥

– समयसार नाटक, जीवद्वार, छन्द ३४

अथैवं दर्शनज्ञानचारित्रपरिणतस्यात्मनः कीदृक् स्वरूपसंचेतनं भवतीत्यावेदयन्नुपसंहरति—

अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी ।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमेत्तं पि ॥३८॥

अहमेकः खलु शुद्धो दर्शनज्ञानमयः सदाऽरूपी ।
नाप्यस्ति मम किंचिदप्यन्यत्परमाणुमात्रमपि ॥३८॥

यो हि नामानादिमोहोन्मत्ततयात्यंतमप्रतिबुद्धः सन् निर्विण्णेन गुरुणानवरतं प्रतिबोध्यमानः कथंचनापि प्रतिबुध्य निजकरतलविन्यस्त-विस्मृतचामीकरावलोकनन्यायेन परमेश्वरमात्मानं ज्ञात्वा श्रद्धायानुचर्य च सम्यगेकात्मारामो भूतः स खल्वहमात्मात्मप्रत्यक्षं चिन्मात्रं ज्योतिः,

---

अब, इसप्रकार दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूप परिणत आत्माको स्वरूपका संचेतन कैसा होता है, यह कहते हुए आचार्य इस कथन को समेटते हैं :—

मैं एक, शुद्ध, सदा अरूपी, ज्ञानदृग हूँ यथार्थ से ।
कुछ अन्य वो मेरा तनिक, परमाणुमात्र नहीं अरे ! ॥३८॥

गाथार्थ :—दर्शनज्ञानचारित्ररूप परिणत आत्मा यह जानता है कि—[**खलु**] निश्चय से [**अहम्**] मैं [**एकः**] एक हूँ, [**शुद्ध**] शुद्ध हूँ, [**दर्शनज्ञानमय**] दर्शनज्ञानमय हूँ, [**सदा अरूपी**] सदा अरूपी हूँ, [**किंचित् अपि अन्यत्**] किंचित्मात्र भी अन्य परद्रव्य [**परमाणुमात्रम् अपि**] परमाणुमात्र भी [**मम न अपि अस्ति**] मेरा नहीं है, यह निश्चय है ।

टीका :—जो अनादि मोहरूप अज्ञान से उन्मत्तता के कारण अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था और विरक्त गुरु से निरन्तर समझाये जाने पर जो किसी प्रकार से समझकर, सावधान होकर, जैसे कोई (पुरुष) मुट्ठी मे रखे हुए सोने को भूल गया हो और फिर स्मरण करके उस सोने को देखे—इस न्याय से, अपने परमेश्वर (सर्व सामर्थ्य के धारक) आत्मा को भूल गया था; उसे जानकर, उसका श्रद्धान कर और उसका आचरण करके (—उसमे तन्मय होकर) जो सम्यक् प्रकार से एक आत्माराम हुआ, वह

समस्तक्रमाक्रमप्रवर्त्तमानव्यावहारिकभावैश्चिन्मात्राकारेणाभिद्यमानत्वादेकः, नारकादिजीवविशेषाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षलक्षणव्यावहारिकनवतत्त्वेभ्यष्टंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावभावेनात्यंतविविक्तत्वाच्छुद्धः, चिन्मात्रतया सामान्यविशेषोपयोगात्मकतानतिक्रमणाद्दर्शनज्ञानमयः, स्पर्शरसगंधवर्णनिमित्तसंवेदनपरिणतत्वेपि स्पर्शादिरूपेण स्वयमपरिणमनात्परमार्थतः सदैवारूपी, इति प्रत्यगयं स्वरूपं संचेतयमानः प्रतपामि। एवं प्रतपतश्च मम बहिर्विचित्रस्वरूपसंपदा विश्वे परिस्फुरत्यपि न किञ्चनाप्यन्यत्परमाणुमात्रमप्यात्मीयत्वेन प्रतिभाति यद्भावकत्वेन ज्ञेयत्वेन चैकीभूय भूयो मोहमुद्भावयति, स्वरसत एवापुनःप्रादुर्भावाय समूलं मोहमुन्मूल्य महतो ज्ञानोद्योतस्य प्रस्फुरितत्वात्।

मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि — मैं चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा हूँ कि जो मेरे ही अनुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है, चिन्मात्र आकार के कारण मैं समस्त क्रमरूप तथा अक्रमरूप प्रवर्तमान व्यावहारिकभावो से भेदरूप नही होता इसलिए मैं एक हूँ। नर, नारक आदि जीव के विशेष, अजीव पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्षस्वरूप जो व्यावहारिक नवतत्त्व हैं, उनसे टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावरूप भाव के द्वारा, अत्यन्त भिन्न हूँ, इसलिये मैं शुद्ध हूँ। चिन्मात्र होने से सामान्य-विशेष उपयोगात्मकता का उल्लंघन नही करता, इसलिये मै दर्शनज्ञानमय हूँ। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण जिसका निमित्त हैं। ऐसे संवेदनरूप परिणमित होने पर भी स्पर्शादिरूप स्वयं परिणमित नही हुआ, इसलिये परमार्थ से मैं सदा ही अरूपी हूँ। इसप्रकार सबसे भिन्न ऐसे स्वरूप का अनुभव करता हुआ मैं प्रतापवंत हूँ। — इसप्रकार प्रतापवंत वर्तते हुवे ऐसे मुझे यद्यपि (मुझसे) बाह्य अनेकप्रकार की स्वरूप-सम्पदा के द्वारा समस्त परद्रव्य स्फुरायमान हैं, तथापि कोई भी परद्रव्य परमाणुमात्र भी मुझरूप भासते नही कि जो मुझे भावकरूप तथा ज्ञेयरूप से मेरे साथ एक होकर पुनः मोह उत्पन्न करें, क्योंकि निजरससे ही मोहको मूलसे उखाडकर पुनः अंकुरित न हो इसप्रकार नाश करके, महान ज्ञानप्रकाश मुझे प्रगट हुआ है।

भावार्थ – आत्मा अनादिकाल से मोह के उदय से अज्ञानी था, वह श्री गुरुओ के उपदेश से और स्वकाललब्धि से ज्ञानी हुआ तथा अपने स्वरूप को परमार्थ से जाना कि मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, अरूपी हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ। ऐसा जानने से मोह का समूल नाश हो गया, भावकभाव और ज्ञेयभाव से भेदज्ञान हुआ, अपनी स्वरूपसंपदा अनुभव मे आई, तब फिर पुनः मोह कैसे उत्पन्न हो सकता? नही हो सकता।

गाथा ३८ की उत्थानिका गाथा, एवं उसकी टीका पर प्रवचन

ज्ञेयभावो एव भावकभावो से भिन्न होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणत आत्मा को स्वरूप का सचेतन किसप्रकार होता है ? —यह वात इस ३८वी गाथा मे वताकर आचार्यदेव रगभूमि का उपसंहार करते हैं।

आचार्य कहते हैं कि अनादि मोहरूप अज्ञान के कारण अज्ञानी जीव चारगति मे रखडता है। देखो ! ऐसा नही कहा कि अनादिकर्म के कारण रखडता है। कर्म विचारा क्या करे ? मोहरूप अज्ञान के कारण उन्मत्तपना है। स्वय आनद का नाथ सच्चिदानंद भगवान है, जो उसे भूलकर पुण्य-पाप के परिणाम और उसके फल को अपना माने, उसे उन्मत्त अर्थात् पागल कहा है। ये सेठ लोग ऐसा मानते है कि हम करोड़पति हैं, अरवपति है तथा इस बाह्यधनादि से गौरवान्वित होते हैं; परन्तु वे सव मोह से उन्मत्त है, पागल है—ऐसा यहाँ कहते हैं। अपने स्वरूप की सावधानी छोडकर यह जीव विकार व सयोगी चीज मे सावधान हो रहा है, यही मिथ्यात्व है, मोह है।

'जो अनादि मोहरूप अज्ञान से · ·'इन शव्दो से आचार्य ने टीका का प्रारम्भ किया है। इस गाथा मे जीव अधिकार पूर्ण होता है, इसलिए जीव का पूर्णस्वरूप प्राप्त होने पर कैसी दशा होती है तथा इसके पूर्व अज्ञानदशा मे इसकी भूल कैसी होती है ? —यह वताते हैं। पैसा, धन, दौलत, आवरू मे मजा—आनद मानता था, तव मोह से पागल था, अत्यन्त अप्रतिवुद्ध था। अहाहा ! आत्मा एकसमय मे ज्ञान, आनद इत्यादि अनत-अनत शक्तियो का पिण्ड है, किन्तु इसके ऊपर इसकी अनत काल से नजर नही गई है, क्योकि वर्त्तमान पर्याय तो व्यक्त—प्रगट है, इसके ऊपर इसकी नजर है। जिनमत मे साधु हुआ, दिगम्बर मुनि हुआ, जगल मे रहा, परन्तु इसकी दृष्टि का जोर वर्त्तमान पर्याय पर ही रहा, क्योकि पर्याय का अश प्रगट है, वह इसके ख्याल मे आती है—इसकारण इसी मे रुक गया है, अटक गया है। जीव की प्रगट पर्याय की दृष्टि जव और अधिक लम्वी होती है तो परपदार्थो पर जाकर अटकती है। इससे इस जीव को पर्याय, राग तथा पर की ही आत्मापने से स्वीकृति है। यह अनादि का भ्रम व अज्ञान है तथा इसीकारण अप्रतिवुद्ध है।

कोई कहे जिनमत मे तो 'सव कर्म के कारण होता है'—ऐसा कथन आता है, इसलिए जीव कर्म के कारण अप्रतिवुद्ध है, ऐसा कहो तो क्या हानि है ? भाई जिनमत की मान्यता ऐसी नही है। कर्म तो जड़—

अचेतन है, जड के कारण आत्मा मे कुछ नही होता। जो शास्त्रो मे ऐसा कथन आता है कि 'कर्म के कारण हुआ' सो वह तो निमित्त का ज्ञान करानेवाला कथन है। 'कर्म से जीव का कुछ होता है' – ऐसा है ही नही। जीव अनादि मोहरूप अज्ञान के कारण ही अप्रतिबुद्ध है।

अब ऐसा जीव जब स्वय ही सुलटकर सम्यक् परिणमन करता है, तब इसे समझानेवाले कैसे गुरु का निमित्त प्राप्त होता है, वह कहते हैं –

देखो! यहाँ समझानेवाला गुरु 'विरक्त' लिया है। जो सम्यग्दृष्टि हो तथा चारित्रवान हो वे ही निर्ग्रन्थ मुनिराज सच्चे गुरु है। जो अन्तर मे राग से मुक्त हो गये हैं तथा बाहर मे वस्त्र-पात्र आदि से रहित हैं, उन्हे ही सच्चा गुरु कहते है। ऐसे विरक्त गुरु से 'निरन्तर समझाये जाने पर' – यहाँ निरन्तर समझाये जाने पर का यह अर्थ नही है कि गुरु चौबीसो घटे समझाते हैं, बल्कि गुरु ने जो समझाया तो उस बात को सुननेवाले शिष्य को ऐसी धुन लग गई कि जो समझाया वह निरन्तर उसके चिन्तन मे रहता है। इससे यहाँ 'निरन्तर समझाने पर' – ऐसा कहा है।

'तू स्वय विकार व कर्म से भिन्न है। तू अनत-अनत ज्ञान व आनद का सागर है।' – ऐसी देशना देनेवाले दिगम्बर भावलिंगी सन्त होते हैं। देखो, यहाँ कहते हैं कि अज्ञानी की देशना धर्म को प्राप्त करने मे निमित्त नही हो सकती। जैनधर्म मे साधु दिगम्बर होते हैं, वनवासी होते हैं। वे राग से विरक्त और स्वरूप मे विशेष रक्त होते है। ऐसे निर्ग्रन्थ गुरु की देशना धर्म प्राप्त करने मे निमित्त होती है। ऐसे गुरुओ के पास से जो देशना मिले, उसे सुनकर शिष्य निरन्तर विचार करता है, मन्थन करता है, जुगाली करता है। इसी कारण 'निरन्तर समझाने पर' – ऐसा कहा है।

श्री गुरु ने देशना मे कहा है कि 'भगवान तू चैतन्यस्वरूप है, तुझमे अनतगुण भरे हैं। अहाहा प्रभु! तू अनतज्ञान, अनतसुख, अनत-आनद, अनतशान्ति, अनतस्वच्छता, अनतप्रभुता आदि अनतशक्तियो का सग्रहालय है, स्थान है; तू विकार व देह का स्थान नही' – इस उपदेश को सुनकर शिष्य को स्वभाव की ऐसी धुन लगी कि उसका जीवन ही बदल गया और वह महाभाग्य से आत्मा का स्वरूप समझ गया। महाभाग्य अर्थात् महापुरुषार्थ से उसने स्वसवेदन प्रगट कर लिया। अहो! मै अतीन्द्रिय आनद अतीन्द्रिय शान्ति आदि अनतशक्तियो का समुदाय आत्मा हूँ। – ऐसा सम्यग्दर्शन पर्याय मे भान हुआ। ऐसा समझकर शिष्य स्वरूप के प्रति सावधान हुआ और उसने अभूतपूर्व एकमात्र करणीय सम्यग्दर्शन जैसा

महान कार्य कर लिया। शिष्य पहले राग व सयोगो मे सावधान था, अब असयोगी व अरागी आत्मा मे सावधान हुआ।

'मै तो ज्ञायकस्वरूप चैतन्यस्वभाव से भरा हुआ चैतन्य तेज के नूर का पूर हूँ।' – इसप्रकार सावधान होकर, जिसप्रकार कोई मुट्ठी मे रखे स्वर्ण को भूल गया हो, फिर स्मरण करके उस सोने को देखता है – इस न्याय से अपने परमेश्वर आत्मा को भूल गया था, उसे जानता है।

देखो! पेटी या पिटारे मे रखे सोने को भूलने का उदाहरण नही दिया, किन्तु अपनी मुट्ठी मे रखे सोने को भूलने की बात ली है। उसीप्रकार यहाँ अज्ञानी भी पुण्य-पाप की रुचि मे अपने अन्दर विराजते हुए भगवान आत्मा को भूल गया था, उसे याद करके देख लिया। जैसे – लापसी (हलुआ) बनती है और गीली लकडी का धुआँ निकलता है, तब बर्तन व लापसी दिखती नही है, उसीप्रकार पुण्य-पाप के धुआँ की आड मे अन्दर बैठा भगवान आत्मा दिखाई नही देता। ये शुभाशुभ-विकल्प धुआँ है, मैल है तथा इनकी रुचि मे अटक जाने से आत्मा जानने मे नही आ पाता है।

जब विरक्त गुरु के उपदेश का निमित्त होने पर सावधान होकर शिष्य ने जाना कि अहो! मै तो अतीन्द्रिय आनद व शान्ति का सागर हूँ। आनद, ज्ञान तथा वीतरागता के रस से छलाछल भरा हुआ परमेश्वर हूँ। पाठ मे है न कि – 'अपने परमेश्वर आत्मा को भूल गया था, उसे जानकर' – किसी-किसी को यह बात सुनकर ऐसा लगता है कि आत्मा अभी परमेश्वर कहाँ है? भाई! अभी जो आत्मा परमेश्वरस्वरूप न हो तो पर्याय मे परमेश्वरपना प्रगट कहाँ से होगा? आत्मा शक्ति से वीतराग मूर्ति है, इसकारण उसकी पर्याय मे वीतरागता प्रगट होती है।

यहाँ कहते है कि भगवान! तू तेरे (अपने) परमेश्वर को भूल गया है। "अपने को आप भूल के हैरान हो गया" या 'अपने को भूल आप, आप दु ख उपायो" आदि छद मे भी यही कहा गया है।

अहाहा! भगवान आत्मा की सत्ता परमेश्वर स्वभाव से भरी है। अनत सामर्थ्य से मडित एक-एक शक्ति है और ऐसी अनतशक्तिस्वभाव से भरा हुआ परमेश्वर स्वय है। ऐसे निज परमेश्वर आत्मा को स्वय भूल गया था, उसे याद करके ज्ञान लेना है और इसमे दृष्टिपात करते ही क्षणभर मे नर से नारायण हो जाता है। भाई! जैसे पानी कुए मे ही न हो तो बर्तन मे कहाँ से आयेगा? उसीप्रकार शक्ति मे यदि परमेश्वरपना न हो तो पर्याय मे कहाँ से आवेगा?

आत्मा मे ज्ञान की सामर्थ्य पूर्ण है, दर्शन की सामर्थ्य पूर्ण है। ऐसे अनतगुणो की परिपूर्ण सामर्थ्यवाला प्रभु आत्मा है। आत्मा मे एक प्रभुता गुण भी है। अनतगुणो मे उस प्रभुता गुण का रूप है। प्रभुत्वगुण दूसरे गुणो मे नही है, किन्तु प्रभुता का रूप दूसरे गुणो मे रहता है। जिसप्रकार ज्ञानगुण मे अस्तित्वगुण का रूप है। देखो, ज्ञान 'है' पने स्वय से है। ज्ञान है, ऐसा कहते ही ज्ञान का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। ज्ञानगुण व अस्तित्वगुण भिन्न-भिन्न है, किन्तु ज्ञानगुण मे अस्तित्वगुण का रूप है। इसप्रकार एक-एक गुण मे अनतगुणो का रूप है। 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' अर्थात् जिसका सिद्धसमान पद सदैव है, ऐसे अपने सच्चिदानद परमेश्वर को भूल गया था। जब उसका भान हुआ तब विकार व पर को भूल गया। पहले आत्मा को भूल गया था, अब आत्मा मे नजर करते ही पुण्य-पाप व पर को भूल गया। अब जान लिया कि अपनी शान्ति व आनद का लाभ, राग व पर मे से नही, किन्तु अपने परमेश्वर आत्मा मे से मिलता है।

'अपने परमेश्वर आत्मा को भूल गया था, उसे जानकर उसका श्रद्धानकर तथा उसी का आचरण करके जो सम्यक्-प्रकार एक आत्मा राम हुआ' — अहो! इन वचनो मे अमृतचन्द्राचार्यदेव ने अमृत वर्षाया है। वे एक हजार वर्ष पहले भरत क्षेत्र मे विराजमान थे। वे टीका मे कहते हैं कि अज्ञानी जीव अपने परमेश्वर को भूल गया था, उसे जानकर उसका श्रद्धान किया। अपनी वर्त्तमान ज्ञान की पर्याय मे स्वय को पूर्णानद के नाथ प्रभु आत्मा को ज्ञेय बनाकर जाना। अहाहा! अपने परमेश्वर को स्वसवेदन मे जानकर ऐसा श्रद्धान किया कि मैं एकज्ञायकभावस्वरूप आत्मा पूर्ण आनन्द का नाथ हूँ। जाने विना श्रद्धान किसका करे? इससे जानकर श्रद्धान करके, उसका आचरण किया अर्थात् उसमे रमणता की।

भगवान आत्मा अनंतज्ञान व आनद की सामर्थ्यवाला परमेश्वर है, उसे जानकर, श्रद्धान कर उसमे रमणता करना ही उसका आचरण है, चारित्र है। बाहर मे वस्त्रो का त्याग करे, नग्नता धारण करे तथा महाव्रत ले, उससे वास्तविक चारित्र प्राप्त नही हो जाता। अन्दर भगवान आनद का नाथ ज्ञाता-दृष्टास्वरूप से विराजता है। उसमे उग्रता से लीनता करके उसमे ही स्थित रहने का नाम चारित्र है। वहाँ वस्त्र का त्याग व नग्नता सहजरूप से होती ही है। वस्त्र रखकर साधुपना मानना मिथ्यात्व है। जैनदर्शन मे वस्त्रसहित साधुपना तीनकाल मे भी नही होता। वस्त्रो को छोडा हो, परन्तु आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र से रहित हो तो

वह भी मिथ्यादृष्टि है। भले ही पंच-महाव्रतो को पाले, किन्तु महाव्रत के विकल्प को धर्म माने तो मिथ्यादृष्टि ही है। पंचमहाव्रत का विकल्प तो राग है, राग मे रमने को चारित्र कैसे कहा जा सकता है ? आत्मा के आनन्द में रमणता करना ही चारित्र है, धर्म है।

जो भगवान आत्मा मे रमे, उसे आत्माराम कहते हैं। पहले राग मेरा व परज्ञेय मेरे — ऐसे परभावो मे अनेकरूप होकर रमता था, वह अब अपने परमेश्वर आत्मा को जानकर, उसका श्रद्धान व आचरण करके, सम्यक् प्रकार से एक आत्माराम हुआ।

अब वह स्वयं स्वय को कैसा अनुभव करता है, यह कहते है :—

"मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि मैं चैतन्य मात्र ज्योतिरूप आत्मा हूँ, जो मेरे ही अनुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है। अग्नि की ज्योति, दीपक की ज्योति तो जड है मैं तो चैतन्यमात्र ज्योति अर्थात् देखने-जानने के स्वभावरूप ज्योति हूँ। यह मेरे स्वयं के ही अनुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है।" यहाँ वजन अनुभव पर या आत्मा के आनन्द के वेदन पर है। पर से, विकल्प से या निमित्त से नही; किन्तु अपने ही अनुभव से मैं आत्मा को प्रत्यक्ष जानता हूँ। समयसार नाटक मे भी कहा है कि :—

वस्तु विचारत ध्यावतैं, मन पावै विश्राम।
रस स्वादत सुख ऊपजै, अनुभव ताकौ नाम॥

जिसमे आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्दरस का स्वाद आता है, ऐसे आनन्द के वेदनसहित मैं अपने आत्मा को प्रत्यक्ष जानता हूँ। यह जैन परमेश्वर का मार्ग है। वर्त्तमान मे विदेहक्षेत्र मे श्री सीमन्धर भगवान साक्षात् अरिहंतपद मे विराजते है। इन्द्र व गणधर नतमस्तक होकर बहुत विनयपूर्वक उनकी दिव्यध्वनि सुनते हैं। यह मार्ग उस दिव्यध्वनि में भगवान के द्वारा कहा गया है। व्रत करो, दया पालो, दान करो, यात्रा करो, इत्यादि वीतराग जैनमार्ग नही है। क्या ऐसा मार्ग भगवान कहते होंगे ? अरे! ऐसा तो बाल-गोपाल-कुम्भार आदि भी कहते हैं अर्थात् ऐसा उपदेश तो कोई भी दे सकता है, इसमे भगवान के द्वारा कहने जैसी क्या बात है ? भाई! इस जैनमार्ग की बात, मोक्षमार्ग की बात महाभाग्यशालियों को ही सुनने को मिलती है।

यहाँ आचार्यदेव छद्मस्थदशा मे सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा जीवो को कैसा अनुभव होता है — यह बताते हुए कहते हैं कि मैं चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा हूँ। अहाहा ! मैं त्रिकाली ज्ञानसत्त्व, सर्वज्ञस्वभाव, 'ज्ञ' भाव,

एकज्ञायकभावस्वरूप चैतन्यमात्र जलहल ज्योति हूँ, राग व पर मैं नही हूँ। एक समय की प्रगट पर्याय जितना भी मैं नही हूँ। तथा यह ज्ञायकस्वभावी आत्मा मेरे ही अनुभव से प्रत्यक्ष जाना जाता है। अहाहा! यह ज्ञायक-भावस्वरूप आत्मा मेरे स्वसवेदन ज्ञान मे प्रत्यक्ष जाना जाता है। इसका अनुभव करने मे किसी पर का, या विकल्प का सहारा लेने की आवश्यकता नही है। मैं तो सीधा स्व तथा पर को अपने ज्ञान से ही जानता हूँ।

अरे! अज्ञानी चौरासी लाख योनियो मे चक्कर काटकर जन्म-मरण के दु ख भोग रहा है, मर रहा है। जीवती-ज्योति को इसने मार डाला है। यह चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा मैं ही हूँ—ऐसा स्वीकार नही करता, किन्तु एक समय की रागादि पर्यायस्वरूप ही मै हूँ—ऐसा जिसने माना उसने चैतन्यजीव का मानो घात ही कर दिया है, क्योकि जीवित-सत् के सत्त्व से उसने इन्कार किया है। वस्तु तो वस्तु है, वस्तु का तो नाश नही होता, किन्तु पर्याय मे चैतन्यजीव का घात हो जाता है।

यहाँ 'मैं चिन्मात्रज्योति आत्मा हूँ'—ऐसा कहकर जीव का स्वभाव ज्ञानमात्र है, ऐसा कहा। ज्ञानमात्र कहने से इसमे जो अन्य अनतगुण हैं, उनका निषेध नही किया है, परन्तु रागादि विकार का निषेध किया है। अहाहा! मैं चिन्मात्र ज्योतिस्वरूप आत्मा हूँ, ऐसा सम्यग्दृष्टि को सम्यग्दर्शन के काल मे अनुभव होता है।

अब कहते है कि "चिन्मात्र आकार के कारण मै समस्त क्रमरूप तथा अक्रमरूप प्रवर्तते हुए व्यावहारिक भावो से भेदरूप नही होता, इसलिए मै एक हूँ।"

नरकगति, मोक्षगति इत्यादि गतियाँ क्रम से होती है। एक के बाद एक होती है, इससे उन्हे क्रमरूपभाव कहा गया है। तथा पर्याय मे कषाय, लेश्या, ज्ञान का उघाड वगैरह एक साथ होते है, इसकारण उन्हे यहाँ अक्रमरूप भाव कहा गया है। यहाँ क्रम माने पर्याय, अक्रम माने गुण—ऐसा नही समझना, किन्तु एक के बाद एक होनेवाली गति के भावो को क्रमरूप व उदय के रागादिभाव, लेश्या के भाव व ज्ञान की एक समय की पर्याय का भाव इत्यादि एक साथ होते है, उन्हे अक्रमरूप लिया है। ये सब क्रम-अक्रमरूप प्रवर्तते हुए व्यावहारिक-भावो से भेदरूप नही होने से मै एक हूँ, क्योकि मै तो अभेद, अखण्ड, आनदकद प्रभु, एक, चिन्मात्र वस्तु हूँ।

अहाहा ! एक ज्ञायकभावपने के कारण मैं क्रम-अक्रमरूप प्रवर्तता व्यावहारिक-भावो से भेदरूप नही होता, इसलिए मैं एक हूँ। इस कारण इन क्रम-अक्रमरूप व्यावहारिक-भावो का अस्तित्व नही है—ऐसा नही समझना। गति, रागादि अवस्था, लेश्या का परिणाम या ज्ञान की पर्याय इत्यादि है ही नही—ऐसा नही है। उनकी अन्य-अन्य अपनी-अपनी अस्ति तो है, किन्तु उनकी अस्ति से मै अखण्ड आनद का नाथप्रभु भेदरूप नही होता। धर्म का उपदेश तो ऐसा है, परन्तु अज्ञानी जीव तो व्रत-उपवासादि बाह्यक्रिया करके उनमे ही धर्म मान लेता है, किन्तु ऐसी मान्यता तो मिथ्यात्व है।

जब सम्यग्दर्शन व उसका आचरण हुआ, तब ज्ञानी ने आत्मा को कैसा जाना – यह बात करते हैं। अखण्ड एक ज्ञान स्वभाव के कारण क्रम से होती हुई गतियाँ व अक्रम से होती हुई ज्ञानपर्याय, राग, लेश्या, कषाय आदि सभी व्यावहारिकभावो के भेदो से मै भेदरूप नही होता। अहाहा ! जैनदर्शन ऐसा सूक्ष्म व अपूर्व है। ऐसी बात अन्यत्र कही है ही नही। एकसमय मे तीनलोक व तीनकाल को देखनेवाले भगवान की जो दिव्यध्वनि खिरी है, उसी बात को सन्तो ने आगम मे दर्शाया है।

अरे प्रभु ! केवली भगवान का विरह पडा और मन.पर्ययज्ञान भी रहा नही, परन्तु वस्तुस्थिति को बतानेवाले ये शास्त्र रह गये है। अहो ! आचार्यों ने शास्त्रो की रचना करके केवलज्ञान के विरह को भुला दिया है। भाई ! तू कौन है ? कैसा है ? और अपने को यथार्थरूप से कैसे समझ सकता है ? आदि का अच्छी तरह स्पष्टीकरण आचार्यों ने शास्त्रो मे कर दिया है। पर्याय के भेदो से जो भेदा नही जाता, ऐसा मै चिन्मात्रज्योति एक हूँ। – ऐसा जानने पर ही यथार्थ जानना कहलाता है। तथापि यह समझना जरा कठिन पडता है, किन्तु मार्ग तो यही है। भाई ! इसे ही धीरे-धीरे समझना चाहिए भाई ! तूने बाहर की सभाल तो बहुत की है, किन्तु अन्दर जीती-जागती ज्योतिस्वरूप जो चैतन्य भगवान आत्मा विराजता है, उसकी अनतकाल मे एक क्षणमात्र भी सभाल नही की। वह चैतन्य भगवान आत्मा सम्यग्ज्ञान मे कैसा ज्ञात हुआ, वही समझाते हुए कहते है कि क्रम-अक्रम से प्रवर्तते हुए व्यावहारिकभावो से मै भेदरूप नही होता – ऐसा अभेद अखण्ड-आनदस्वरूप मै एक हूँ। वीतरागदेव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा के विकल्प तथा 'मै चिन्मात्र हूँ' ऐसे विकल्प से भी भेदरूप नही होता हुआ मै अभेद एकरूप हूँ।

आत्मा वस्तु त्रिकाल निर्विकल्प है। पहले एक बार सती अनुसूया का नाटक देखा था। उसमे माता अपने बालक को सुलाते समय गाती थी कि 'शुद्धोऽसि, बुद्धोऽसि, उदासीनोऽसि, निर्विकल्पोऽसि' – अर्थात् हे बेटा! तू शुद्ध है, ज्ञानपिण्ड है, समस्त दुनिया से तेरी चीज जुदी है, इसलिए उदासीन है, निर्विकल्प है। तू निर्विकल्प है अर्थात् पर्याय मे होनेवाले क्रमरूप व अक्रमरूपभावो से भेदी जा सके – ऐसी वस्तु तू नही है। आत्मा-वस्तु भेद रहित अभेद है। जब ऐसा जाने, तब आत्मा का यथार्थज्ञान हुआ – ऐसा कहा जायेगा। इसी आत्मा के श्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन है। इसप्रकार 'मै एक हूँ' – यह बोल पूरा हुआ।

अब 'मै शुद्ध हूँ' – यह बोल कहते हैं। "नर, नारक आदि जीव के विशेष, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बध तथा मोक्षस्वरूप जो व्यावहारिक नवतत्व हैं, उनसे टकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावरूप भाव के द्वारा अत्यत भिन्न हूँ, – इसलिए मै शुद्ध हूँ।"

अनादि से जीव पुण्यभाव, पापभाव, आस्रवभाव तथा बधभाव मे रुका हुआ है। यद्यपि अनादि से इस जीव को मोक्ष नही है, तथापि सवर, निर्जरा व मोक्ष के विकल्प हैं। तथा जब आत्मा के भानपूर्वक अन्तर एकाग्रतासहित जो सवर, निर्जरा व मोक्ष की पर्याय प्रगट होगी, उस पर्याय जितना मै नही हूँ, इन व्यावहारिक नवतत्वो से मै भिन्न हूँ। पुण्य, पाप, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा व मोक्ष ये सब व्यावहारिक नवतत्व है; इन सबसे मै भिन्न हूँ।

नियमसार, गाथा ३८ मे कहा है कि सात तत्त्व नाशवान हैं। सवर, निर्जरा व मोक्ष की पर्याय भी नाशवान है, परन्तु मै एक अविनाशी हूँ। मेरे अस्तित्व मे इन पर्यायो का भेद नही है। इन भेदो मे मै आता नही और ये भेद भी मुझमे नही समाते। इसीकारण सवर, निर्जरा व केवल-ज्ञान की पर्याय से भी मै भिन्न हूँ। मै तो एक अखण्ड चैतन्य का पिण्ड हूँ, ज्ञान का पिण्ड हूँ, आनद का कद हूँ तथा पुरुषार्थ का पिण्ड हूँ। और व्यवहारिक नवतत्वो से अत्यन्त भिन्न हूँ, इसलिए शुद्ध हूँ।

अहाहा! आत्मा केवल चैतन्य का दल है, त्रिकालस्वरूप है, एक समय की पर्याय मे वह त्रिकाली द्रव्य कहाँ से आ सकता है अर्थात् नही आ सकता। इसकारण व्यावहारिक नवतत्त्वो के भेद – पर्याये हैं ही नही। कोई ऐसा कहे तो उसका यह कहना ठीक नही है। क्योकि वे पर्यायरूप से तो है, परन्तु त्रिकाली ध्रुवद्रव्य मे उनका निषेध किया है। समयसार

गाथा ४९ मे अव्यक्त के ६ बोल आये है। वहाँ पाँचवे बोल मे कहा है कि – व्यक्त व अव्यक्त दोनो एक साथ ज्ञात होते हुए भी व्यक्त यानि पर्याय को मैं स्पर्श नही करता – ऐसा मै द्रव्य हूँ। प्रवचनसार मे भी ४७ नयो का वर्णन किया गया है, उसमे अतिम दो नय – एक अशुद्धनय व दूसरा शुद्धनय है। उसमे कहा है कि जो नय माटी को केवल माटीरूप से देखें, वह शुद्धनय है और माटी को अनेक जाति के आकार विशेषरूप से देखना अशुद्धनय है। इसी प्रकार भगवान आत्मा अकेली चिन्मात्र अभेद वस्तु शुद्ध है, यह शुद्धनय का विषय है तथा आत्मा को पर्यायरूप से देखना अशुद्धनय का विषय है। देखो, अशुद्धनय का विषय नवतत्त्व के भेदरूप पर्याय है तो अवश्य, परन्तु द्रव्य की सत्ता मे या त्रिकाल ध्रुवसत्व मे वे नही है। अत: कहते है कि नवतत्त्वो के व्यावहारिकभावो से भिन्न होने से मै शुद्ध हूँ।

यह ३८वी गाथा जीव अधिकार की अतिम गाथा है। संपूर्ण जीवतत्त्व का सार इसमे प्रगट किया गया है। ज्ञानी ऐसा अनुभव करता है कि 'मै शुद्ध हूँ' 'मैं शुद्ध हूँ' – ऐसा विकल्प नही, ऐसा साक्षात् अनुभव है। अहाहा ! वह ऐसा जानता है कि मेरा जो सत् का सत्त्व है, वह त्रिकाल है, ध्रुव है, नित्य है, अभेद व एकरूप है।

– इसकारण नवतत्वो के व्यावहारिक भावो से मै अत्यत भिन्न हूँ। भिन्नता के तीन प्रकार है –

(१) एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से अत्यन्त भिन्न है।

(२) पुण्य-पाप के विकारी भावो से भगवान आत्मा भिन्न है।

(३) निर्मल पर्याय से भी भगवान आत्मा भिन्न है।

पहले प्रकार मे स्वद्रव्य-परद्रव्य की भिन्नता, दूसरे प्रकार मे विकार-भाव व स्वभाव की भिन्नता तथा तीसरे प्रकार मे द्रव्य व पर्याय की भिन्नता बताई है। पुद्गलमय शरीर वगैरह परद्रव्य भगवान आत्मा को नही छूते, अन्दर पर्याय मे वर्तते हुए विकारीभाव भी भगवान चैतन्यस्वभाव को नही छूते। यह तो ठीक, किन्तु भगवान ज्ञायकस्वभावी ध्रुव आत्मा के आश्रय से प्रगट हुई निर्मल पर्याय भी द्रव्य का स्पर्श नही करती।

प्रवचनसार गाथा १७२ के अलिंगग्रहण के १९-२० बोल मे यह बात आई है। १९वें बोल मे ऐसा कहा है कि 'लिंग अर्थात् पर्याय ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध विशेष जिसके नही है, वह अलिंगग्रहण है, इसप्रकार आत्मा पर्यायविशेष से आलिंगित न होनेवाला शुद्धद्रव्य है।' कहते है कि पर्याय द्रव्य को छूती नही है। २०वे बोल मे ऐसा कहा है कि

लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारण, ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध सामान्य जिसके नही है, वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा द्रव्य से नही आलिंगित ऐसी शुद्धपर्याय है।' आचार्य कहते है कि वेदन पर्याय मे है, त्रिकाली ध्रुवद्रव्य मे वेदन नही है। द्रव्य तो अक्रिय है, इसलिए द्रव्य पर्याय को छूता नही है। भाई ! ये तो वस्तुस्थिति की अलौकिक वातें हैं। यही यहाँ कहते हैं कि नवतत्त्वो के व्यावहारिकभावो से मै अखण्ड एक चैतन्य स्वभावरूप भिन्न हूँ और इसीकारण मै शुद्ध हूँ। इस प्रकार 'मै शुद्ध हूँ' – यह वोल पूरा हुआ।

अव दर्शन-ज्ञानमय का तीसरा वोल कहते है। 'चिन्मात्र होने से सामान्य-विशेष उपयोगात्मकपने का उल्लघन नही करने से मै दर्शन-ज्ञानमय हूँ। अहाहा ! चिन्मात्र कहने से 'मै चैतन्यस्वभावमात्र हूँ' – यह समझना चाहिए। दया, दान, व्रतादि विकल्परूप मै नही हूँ, अल्पज्ञतारूप भी मै नही तथा 'मै ज्ञानदर्शनवाला हूँ' – ऐसा भेद भी मै नही हूँ। मै तो चिन्मात्र होने से दर्शन-ज्ञानमय हूँ। यहाँ चैतन्यसामान्य दर्शन है व चैतन्य-विशेप ज्ञान है। चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा का सामान्य-विशेष उपयोगात्मकपने का उल्लघन नही होने से मै दर्शन-ज्ञानमय हूँ। त्रिकाली वस्तुपने ऐसा हूँ। यह तीसरा वोल हुआ।

अव अरूपी का चौथा वोल कहते हैं। 'स्पर्श, रस, गध, वर्ण जिसका निमित्त है – ऐसा स्वसवेदनरूप परिणमित होता हुआ भी स्पर्शादिरूप से स्वय परिणमित नही हुआ, इसलिए परमार्थ से मै सदा अरूपी हूँ।' देखो ! स्पर्श, रस, आदि का जो ज्ञान होता है, वह मेरे स्वय से होता है, निमित्त से नही होता तथा स्पर्शादि निमित्त का अस्तित्व है, इसलिए मुझे ज्ञान होता है – ऐसा भी नही है। तत्त्वसम्बन्धी ज्ञानरूप से परिणमने की योग्यता मुझमे सहज स्वभाव से ही है।

स्पर्श, रस, गध वर्ण आदि को जानते हुए भी वे स्पर्शादि मुझ मे आते नही हैं और मै भी स्पर्शादिरूप से परिणमित नही होता। मेरा ज्ञान व स्पर्शादि भिन्न-भिन्न ही रहते हैं। ऐसा होने से मैं परमार्थ से सदा ही अरूपी हूँ। जवतक आत्मा ऐसा नही जानता – अनुभव नही करता, तवतक वह सम्यग्दृष्टि नही होता। तथा सम्यग्दर्शन के विना जो व्रत व तप करता है, वह सव वालव्रत व वालतप हैं। व्रत, तप, यात्रा आदि के विकल्प तो शुभभाव है, पुण्य, है, राग हैं, परन्तु धर्म नही है। भाई ! अन्दर तीनलोक का नाथ अखण्डानदस्वरूप चैतन्य का पर्वत है, इसमे आरोहण करने से सच्ची यात्रा होती है। यही धर्म की नीति है।

प्रश्न :— 'स्पर्श, रस, गध, वर्ण जिसका निमित्त है, ऐसे सवेदनरूप से परिणमित होते हुए भी ' '— इस मूल पाठ मे निमित्त का कथन है न ?

उत्तर :— हाँ, कहा है, इससे कौन इन्कार करता है, परन्तु इसका अर्थ स्पर्शादि निमित्त है, बस इतना ही लेना। निमित्त के अस्तित्व से इन्कार नही है, परन्तु स्पर्शादि निमित्तो से सवेदनरूप ज्ञान होता है— ऐसा नही मानना। ज्ञानरूप से परिणमन करने की मूलशक्ति तो मेरी अपनी है। मै स्वय सवेदनज्ञानरूप से परिणमित हुआ हूँ। यह मेरे शुद्ध उपादान से है, निमित्त से नही। स्पर्शादि निमित्तो के कारण तो मै ज्ञानरूप परिणमित होता ही नही, किन्तु स्पर्श आदि निमित्त के अस्तित्व के कारण भी मै ज्ञानरूप परिणमन नही करता। तथा स्पर्श आदि का ज्ञान होने पर भी ज्ञान स्पर्शादिरूप नही होता; सवेदनज्ञान तो मुझे स्वय से होता है और वह मेरा है, स्पर्शादि का नही है, इसलिए मै परमार्थ से सदा अरूपी हूँ।

कोई कहे कि ससार अवस्था मे जीव रूपी है, क्योकि रूपी कर्मों से जीव का सम्बन्ध है, किन्तु यह बात ठीक नही है। निमित्त की अपेक्षा से जीव को उपचार से रूपी कहा है। वास्तव मे तो जीव सदा ही अरूपी है।

अब कहते हैं कि "इसप्रकार सबसे भिन्न ऐसे निजस्वरूप का अनुभव करता हुआ प्रतापवत हूँ, ज्ञानी ऐसा जानता है कि सब से भिन्न अर्थात् राग व परज्ञेयो से भिन्न निज चैतन्यस्वरूप का अनुभव करता हुआ मै प्रतापवत हूँ। मेरी सत्ता प्रतापवत है, स्वतत्ररूप से शोभायमान है। मेरे प्रताप को कोई खण्डित कर सके व मेरी स्वतंत्रता की शोभा को कोई लूट सके— ऐसी शक्तिवाली जगत मे कोई वस्तु ही नही है।" 'ऐसा मै प्रतापवत हूँ'— इस वाक्य मे 'ऐसा' कहकर आत्म वस्तु का प्रत्यक्षपना बताया है। मेरे प्रताप से ही मैं स्वसवेदन मै आया हूँ, निमित्त या अन्य के प्रताप से नही।

इसप्रकार प्रतापवत वर्तते हुए ऐसे मुझे यद्यपि (मुझसे) बाह्य अनेक प्रकार की स्वरूप-सम्पदा के द्वारा समस्त परद्रव्य स्फुरायमान है, तथापि कोई भी परद्रव्य परमाणुमात्र भी मुझरूप नही भासते।

अहाहा ! धर्मीजीव ऐसा जानता है कि मैं निजस्वरूप का अनुभव करता हुआ स्वतत्रपने से शोभायमान हूँ। तथा जगत् के समस्त परद्रव्य— पुद्गलादि पदार्थ व रागादि आश्रव अपने स्वरूप की सम्पदा से प्रगट है, परन्तु ये समस्त परद्रव्य अनत पुद्गलरजकण, अनत आत्माएँ व रागादि-भाव मुझे निजरूप से (अपनत्वपने) भासित नही होते। परमाणुमात्र भी

परद्रव्य अर्थात् पुद्गल का एक रजकण या राग का एक अश भी मेरा है – ऐसा मुझे भासित नही होता ।

ज्ञानी ऐसा कहते हैं कि दया, दान, व्रतादि के जो विकल्प उठते हैं या व्यवहार-रत्नत्रय का जो विकल्प है, वह मुझे निजपने भासित नही होता । अहाहा ! यह धर्म है । जिसने ऐसा अनुभव किया, उसी ने आत्मा को जाना, धर्म किया – यह कहा जा सकता है, अन्यथा नही ।

'कोई भी परद्रव्य परमाणुमात्र भी मुझरूप भासते नही कि जो भावकरूप तथा ज्ञेयरूप से मेरे साथ एक होकर मुझे पुन मोह उत्पन्न करे ।' देखो ! कैसी स्वरूप की नि शकता व दृढता है । धर्मात्मा जीव अप्रतिहत-पने क्षायिकभाव प्राप्त करनेवाला है, ऐसी दृढता से बात करता है । वह कहता है कि कोई भी परद्रव्य परमाणुमात्र मुझरूप भासित नही होता तो भावकपने या ज्ञेयरूप से मेरे साथ एक होकर वह मुझे पुन मोह कैसे उत्पन्न कर सकता है ? अहाहा ! कैसा दृष्टि का जोर ! कैसा वैराग्य ! ! व कैसी उदासीनता ! ! ! इस जोर मे वे कहते हैं कि अब परद्रव्य मेरा है, ऐसा मोह उत्पन्न होना मुझे सभव ही नही, ऐसा हो ही नही सकता ।

श्री प्रवचनसार ९२वी गाथा मे भी इसीप्रकार बात आई है कि – जो मोहदृष्टि आगम की कुशलता व आत्मज्ञान द्वारा नाश को प्राप्त हुई है, वह अब पुन उत्पन्न होगी ही नही । यहाँ भी यही बात कही है कि वह मोह पुन किसलिए उत्पन्न हो ? क्योकि निजरस से ही मोह को मूल से उखाड कर, पुन. अकुर न उपजे – ऐसा नाश करके, महान ज्ञानप्रकाश मुझे प्रगट हुआ है । ज्ञान व आनद के रस से मैंने मोह को मूल से ही उखाड दिया है, पुन मोह उत्पन्न न हो – ऐसा नाश किया है ।

देखो ! पचमकाल के मुनिराज भगवान केवलज्ञानी का विरह होते हुए भी अपने अन्तर अनुभव की बात कहकर ऐसा फरमाते हैं कि मैं तो ज्ञानस्वरूपी भगवान हूँ, ऐसा महान ज्ञानप्रकाश मुझे प्रगट हुआ है । इसकारण राग व परज्ञेय मेरे हैं, ऐसा मोह अब पुन मुझे उपजनेवाला नही है, क्योकि इसको मैंने मूल से ही उखाड दिया है । इसी का नाम आत्मा का जानना है और यही धर्म है ।

गाथा ३८ के भावार्थ पर प्रवचन

आत्मा अनादिकाल से मोह के उदय से अज्ञानी था अर्थात् दर्शनमोह का उदय था तथा इसको परतरफ का जुडान था । चैतन्यस्वभाव के प्रति

जुडान करना चाहिए था, वह तो नही करके इस आत्मा ने स्वभाव को छोडकर भावकरूप मोहकर्म मे जुडान किया। उससे उत्पन्न हुआ भाव्य जो मिथ्यात्व, उसके कारण यह आत्मा अनादिकाल से अज्ञानी था, परन्तु अब श्रीगुरु के उपदेश व अपनी काललब्धि से ज्ञानी हुआ। श्री समयसार-कलशटीका मे २८वे कलश मे आता है कि अनादि से जीव मरणतुल्य हो रहा है। दया, दान, व्रत के परिणाम से मुझे लाभ होता है—ऐसा मानकर जीव ने अपना घात किया है, अपने को मरणतुल्य बना लिया है। वह भ्रान्ति परमगुरु तीर्थंकरदेव के उपदेश सुनने से मिटती है। श्रीगुरु भी जो तीर्थंकर का उपदेश है, उसे ही कहते हैं। अरेरे! दया दान के विकल्प से मुझे लाभ होता है—ऐसा मानकर इस जीव ने इस जागती-जीवती चैतन्यज्योति का घात कर लिया है।

ऐसा अज्ञानीजीव श्रीगुरु के उपदेश से व अपनी काललब्धि से ज्ञानी हुआ। पुरुषार्थ करते हुए काललब्धि पक गई और वह ज्ञानी हो गया (यहाँ पाँचो समवाय एकसाथ होते है, ऐसा समझना) तथा उसने ही अपने स्वरूप को परमार्थ से जाना 'कि मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, अरूपी हूँ, दर्शन ज्ञानमय हूँ'।

शास्त्र पढकर तो विकल्पो मे स्वरूप को अनन्तबार जाना, परन्तु परमार्थ से स्वरूप नही जाना। अहाहा! सम्यग्दर्शन क्या वस्तु है, इसकी लोगो को खबर नही है। स्वरूप को परमार्थ से जानने से मोह का समूल नाश हुआ, मिथ्यात्व का नाश हुआ। भावकभाव व ज्ञेयभाव से भेदज्ञान हुआ। भावकभाव अर्थात् मोहकर्म। जिसके निमित्त से जीव मे राग-द्वेष-मोहरूप विकारी भाव्य-अवस्था प्रकट होती है, वह भावक है। ऐसे भावकभाव तथा ज्ञेयकभाव से अर्थात् समस्त परद्रव्यो से उसे भेदज्ञान हुआ तथा अपनी स्वरूप-सम्पदा अनुभव मे आ गई। अहाहा! अनंत अतीन्द्रिय आनद की लक्ष्मी, अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय श्रद्धा, अतीन्द्रिय शाति आदि स्वरूप-सम्पदा अनुभव मे आ गई। दया, दानादि राग जीव की स्वरूप-सम्पदा नही हैं, ये तो विभाव हैं। किसी को ऐसा लगे कि इसप्रकार से तो व्यवहार उड जाएगा, व्यवहार नष्ट हो जाएगा, परन्तु भाई! व्यवहार तो राग है, राग से जुदा पडा व भेदज्ञान हुआ तो लाभ ही हुआ। राग से भिन्न पडते ही स्वरूप-सम्पदा अनुभव मे आयी तो पुन: मोह उत्पन्न कैसे हो? अर्थात् नही होगा। मोह को जड से उखाड देने से पुन: मोह उत्पन्न नही होगा।

अब ऐसा जो आत्मानुभव हुआ, उसकी महिमा कहकर आचार्यदेव प्रेरणारूप काव्य कहते हैं कि ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा मे समस्त लोक निमग्न हो जाओ ! –

(मालिनी)

मज्जन्तु निर्भरममी सममेव लोका
आलोकमुच्छलति शान्तरसे समस्ताः ।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करणीं भरेण
प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिन्धुः ।।३२ ।।

श्लोकार्थ :– [**एषः भगवान् अवबोधसिन्धुः**] यह ज्ञानसमुद्र आत्मा [**विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण आप्लाव्य**] विभ्रमरूपी आडी चादर को समूलतया डुबोकर (दूर करके) [**प्रोन्मग्न**] स्वय सर्वांग प्रगट हुआ है; [**अमी समस्ताः लोकाः**] इसलिये अब समस्तलोक [**शातरसे**] उसके शातरस मे [**समम् एव**] एक साथ ही [**निर्भरम्**] अत्यन्त [**मज्जन्तु**] मग्न हो जाओ; जो शातरस [**आलोकम् उच्छलति**] समस्त लोकपर्यंत उछल रहा है।

भावार्थ :– जैसे समुद्र के आडे कुछ आ जाये तो जल दिखाई नही देता और जब वह आड दूर हो जाती है, तब जल प्रगट होता है, वह प्रगट होने पर लोगो को प्रेरणायोग्य होता है कि 'इस जल मे सभी लोग स्नान करो।' इसीप्रकार यह आत्मा विभ्रम से आच्छादित था, तब उसका स्वरूप दिखाई नही देता था, अब विभ्रम दूर हो जाने से यथास्वरूप (ज्यो का त्यो स्वरूप) प्रगट हो गया, इसलिये अब उसके वीतरागविज्ञानरूप शातरस मे एक ही साथ सर्वलोक मग्न होओ' – इसप्रकार आचार्यदेव ने प्रेरणा की है।

अथवा इसका अर्थ यह भी है कि जब आत्मा का अज्ञान दूर होता है, तब केवलज्ञान प्रगट होता है और केवलज्ञान प्रगट होने पर समस्त लोक मे रहनेवाले पदार्थ एक ही समय ज्ञान मे झलकते हैं, उसे समस्त लोक देखो ।।३२।।

कलश ३२ पर प्रवचन

आत्मानुभव की महिमा कहकर आचार्य देव ने इस प्रेरणा रूप काव्य मे कहा है कि ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा मे समस्त लोक निमग्न हो जाओ ! यह ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा विभ्रमरूपी आडीचादर को दूर करके स्वय सर्वांग प्रकट हुआ है। जीव अधिकार का यह अन्तिम कलश

है। इसमे कहते हैं कि भगवान आत्मा ज्ञानसिन्धु है, स्वय ज्ञानस्वरूप ही है। यहाँ 'यह' शब्द द्वारा इसका प्रत्यक्षपना बताया है।

जैसे अपने सामने बडा भारी समुद्र हो, किन्तु आँख व समुद्र के बीच चार हाथ की चादर हो तो समुद्र दिखाई नही देता। उसीप्रकार राग व पुण्यादिभाव मेरे है, इनमे ही मेरा अस्तित्व है, जब तक ऐसी मिथ्यात्वरूपी चादर की आड है, तब तक ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा दिखाई नही देता। चैतन्यस्वरूप से विपरीत राग, वह मेरा व एकसमय की पर्याय, वह मैं, अब तक ऐसी जो पर्यायबुद्धि थी, वही विभ्रम था। जब भेदज्ञान से उस विभ्रम की चादर को दूर कर दिया, हटा दिया, विभ्रम का नाश कर दिया, तब भगवान आत्मा स्वय सर्वाङ्ग प्रकट हो गया।

आत्मा परमपरमेश्वरस्वरूप चिदानन्द भगवान है। 'रागादि मेरे हैं' – ऐसे विभ्रम का नाश करके स्वय ज्ञान का समुद्र पर्याय मे प्रकट हुआ। अतीन्द्रिय आनद, अतीन्द्रिय शाति व अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा का आश्रय लेने पर विभ्रम की चादर नष्ट हुई तथा वह स्वय पर्याय मे सर्वाङ्ग प्रकट हो गया। वस्तु तो ध्रुव है। ध्रुव प्रकट नही होता, वह तो प्रकट ही है। ध्रुव पर दृष्टि जाते ही मिथ्यात्वदशा का नाश हुआ और जैसा इसका शुद्धस्वरूप है, वैसा पर्याय मे प्रकट हुआ अर्थात् शाति व अतीन्द्रिय आनद की निर्मलदशा प्रकट हुई। अन्दर पूर्णानन्द का नाथ चैतन्यभगवान ज्ञान व आनद से भरा हुआ है, उसकी दृष्टि होने पर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय प्रगट परिणमित हुई।

यहाँ जीव अधिकार पूरा होता है। देखो! जैसा स्वरूप है, वैसा प्राप्त होने पर अधिकार पूरा होता है। यहाँ लिखने मे भी यह अधिकार (अध्याय) पूरा हो रहा है और भाव मे भी। अत. आचार्य कहते हैं कि 'प्रोन्मग्न' सर्वाङ्ग प्रकट हुआ। असख्यप्रदेश मे जो परिपूर्ण ज्ञान व आनद स्वरूप है, उसमे दृष्टि करने से यह पर्याय मे भी परिपूर्ण प्रकट हुआ। व्रत पालने से, दयादानादि करने से या उपवासादि करने से भगवान आत्मा प्रकट हुआ – ऐसा नही कहा, क्योकि ये सब तो राग की क्रियाएँ हैं और राग से आत्मा प्रकट हो, यह तो भ्रम है। इस भ्रम को मिटाकर शुद्ध चैतन्यसागर पर दृष्टि निमग्न करने से अतीन्द्रिय आनंद से प्रकट होता है।

चैतन्यसिन्धु अर्थात् चैतन्य का पात्र। भगवान आत्मा चैतन्य का पात्र है, राग का नही है। कहा भी है 'शुद्धचेतनासिन्धु हमारो रूप है'।

अहाहा! आचार्यदेव ने सबके लिए न्यौता (आमन्त्रण) दिया है। वे कहते हैं कि यह चैतन्यसिन्धु प्रकट हुआ है, इसलिए समस्तलोक अर्थात्

सभी जीव उस आनदसागर मे निमग्न हो जाओ ! अध्यात्मतरगिणी शास्त्र मे इस कलश की टीका करते हुए सम्बोधन मे 'भव्यजीव' लिया है। अभव्यजीव आत्मस्वरूप को नही पा सकते, इसलिए उन्हे नही लिया है।

अहाहा ! सन्तो की करुणा की धारा तो देखो ! ! कहते हैं कि तू आनन्द व शान्तरस का पात्र है, तू पूर्णप्रभुता का धाम है। प्रभु ! तू उसमे ठहर ! लोग बेचारे बाहर के क्रियाकाण्ड मे पडकर अज्ञान मे जीवन बिता रहे हैं। यद्यपि व्रत, तप, उपवास, भक्ति वगैरह क्रियाकाण्ड के विकल्प आत्मा के स्वरूप नही है, तथापि अज्ञानीजीव क्रियाकाण्ड मे जीवन बर्बाद कर देते हैं। उन्हे आचार्य आह्वान करके कहते हैं कि भगवान ! तू अकेला ज्ञान, आनन्द व शाति का धाम है। तू अपने इस धाम मे आ जा ! पुण्य-पाप के स्थान मे से निकल जा ! और अपने इस आनन्द के धाम मे आ जा !

भगवान आत्मा शान्तरस का समुद्र चैतन्यसिन्धु अब प्रकट हुआ है। इससे समस्तलोक उस शान्तरस मे एक साथ ही मग्न हो जाओ। आचार्यदेव कहते हैं हे कि समस्त भव्यजीवो ! तुम अतीन्द्रिय आनन्दगर्भित शातरस मे अर्थात् वीतराग-रस मे एक ही साथ अत्यन्त मग्न हो जाओ ! अर्थात् ऐसे मग्न होओ कि फिर कभी इस आनन्द से बाहर निकलना होवे ही नही। अहाहा ! देखो तो सही, कैसी अचूक रामबाण वाणी है। नही पा सकोगे या थोडी सी ही प्राप्त कर सकोगे — ऐसी निराशाजनक बात नही की। आचार्यदेव ने स्वय आनन्दरस प्राप्त कर लिया है, अत वे यह चाहते हैं कि सभी जीव इस अतीन्द्रिय आनन्दरस को प्राप्त करे। सभी जीव शान्तरस — वीतरागरस मे मग्न हो जाओ, ऐसा मधुर सदेश आचार्य देव ने दिया है। अभ्यास नही है, इसलिए कठिन लगता है, किन्तु वस्तु स्वरूप ही ऐसा है। भगवान त्रिलोकीनाथ जिनेन्द्रदेव ने भी इसी रीति से ही पूर्णदशा प्रकट की है और लोकालोक को जाननेवाला केवलज्ञान प्रकट किया है। अत. उन्होने उपदेश भी ऐसा ही दिया है।

प्रश्न :— समयसार कलश ४ मे तो आता है कि जिनवाणी मे रमना चाहिए, परन्तु वह दो नयो के आश्रित है, अत हम क्या करें ?

उत्तर :— श्री समयसार कलश ४ मे आता है कि जिनवाणी मे रमना, सो तो ठीक है, पर उसका अर्थ क्या ? इस पर भी थोडा गम्भीरता से विचार करना चाहिए। कलशटीका मे उसका ऐसा स्पष्ट अर्थ लिखा है कि दिव्यध्वनि मे कहा है कि उपादेयरूप शुद्धजीववस्तु है, उसमे सावधानपने रुचि — श्रद्धा — प्रतीति करना। सर्वज्ञ भगवान ने शुद्धात्मा,

पूर्ण-आनन्द के नाथ, प्रभु, जीवद्रव्य को उपादेय कहा है, वह ही आदर करने लायक है – ऐसा कहा है। राग मे रमने की बात वहाँ नही कही, व्यवहार को तो मात्र जानने लायक कहा है।

भगवान आत्मा एकसमय मे पूर्ण 'पूर्ण' पूर्ण अनन्तगुणो से भरपूर आश्रय करने योग्य उपादेयतत्त्व है। ऐसा भगवान की वाणी मे आया है। वह एक ही आदरणीय है, वही स्वीकार करने योग्य है, वही एक सत्कार करने योग्य है। प्रभु ! तू इसकी पूजा कर ! इसकी आरती उतार ! अपनी निर्मलपरिणामो की धारा से इस एक ही की भक्ति कर ! इसे भज !

आचार्य कहते है कि समस्तलोक इस शान्तरस मे अत्यन्त मग्न हो जाओ। ऐसे मग्न होओ कि जिससे बाहर नही आना पडे। यह तो जीव-अधिकार की अन्तिम गाथा है न, अत. कहते हैं कि शरीर को मत देख, क्योकि यह तो मिट्टी है, हाड-मास का पिंजडा है। अन्दर राग है इसे भी मत देख, क्योकि आत्मा राग का पात्र नही है। आत्मा तो शुद्ध-बुद्ध, चैतन्यघन, स्वयज्योति, सुखधाम है। निर्मलपर्याय प्रकट करके इस आत्मा को देख ! इसी मे मग्न हो जा ! क्योकि यही मार्ग है। जिनेश्वरदेव भी दिव्यध्वनि मे ऐसा ही कहते थे और सन्तो ने भी भगवान का आडतिया बनकर यही कहा है। भाई ! यह काम तो स्वयं ही करना है। स्वयं सर्वाङ्ग प्रकट हुआ है – ऐसा काम है न ? देव-शास्त्र-गुरु इसमे कुछ भी मदद नही करते, क्योकि जो स्वभाव प्रकट करना है; उसका स्वयं ही पात्र है, स्थान है।

आत्मा अनन्त वीतरागी शाति का समुद्र है। आचार्य कहते हैं कि तू अपने स्वभाव को पर्याय मे प्रकट कर ! तू स्वय ही वीतरागी परिणति-रूप मोक्षमार्ग प्रकट कर ! व्यवहार से या निमित्त से मोक्षमार्ग का कार्य नही होता, तीनकाल मे भी इनसे नही होता। वास्तव में तो जो मोक्षमार्ग प्रकट हुआ है, यह इसका जन्मक्षरण है। स्वभाव के सागर भगवान आत्मा ने स्वय अपना श्रद्धान-ज्ञान करके जो चारित्र प्रकट किया है; यह इस पर्याय की उत्पत्ति का जन्मक्षरण है, इसको अन्य किसी की भी अपेक्षा नही है। वस्तु के क्रमबद्ध परिणमन मे पर्याय का जब आने का क्रम होता है, तब वह स्वय ही अकर्तापने से दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त होती है।

अब कहते है कि वह शान्तरस समस्त लोकपर्यन्त उछल रहा है। भगवान आत्मा ज्ञान व आनन्द आदि अनन्तगुणो से भरा शान्तरस का

समुद्र है। इसे उपादेय करके, इसी मे एकाग्र होने पर, विभ्रम का नाश करके शक्तियो का समूह पर्याय मे प्रकट हुआ है। पूनम की रात्रि मे जैसे सागर उछलता है, उसीप्रकार यह पूर्णवस्तु पूर्णपने उछल रही है। अहाहा! आचार्य कहते हैं कि जिसमे शान्तरस उत्कृष्टपने से उछल रहा है, ऐसे भगवान आत्मा मे हे भव्यजीवो! तुम अत्यन्त निमग्न हो जाओ! जिससे भगवान आत्मा स्वय चारित्र, शान्ति व अत्यन्त आनन्दरूप सुख की दशारूप परिणमित हो जाय। अहो! कैसी वीतरागवाणी!! कैसा समयसार!!!

जो शुद्धपने परिणमे उसको ही जीव कहा है। वस्तु तो जीवरूप से त्रिकाल है, किन्तु शुद्धपने परिणमे, तब उसे जीव कहा जा सकता है। कारणपरमात्मा तो त्रिकालशुद्ध ही है, इसको स्वीकार करने पर पर्याय मे शुद्धता प्रकट होती है। निगोद की पर्याय हो या सिद्ध की, आत्मा तो पूर्णानन्द का नाथ प्रभु त्रिकालशुद्ध एकरूप ही है। 'मैं ऐसा हूँ' – ऐसा जो स्वीकार करे, उसको तो ऐसा आत्मा है और जो ऐसे निजरूप से विमुख होकर राग व विकल्प को अपना मानता है, उसे तो ऐसा आत्मा है ही नही, क्योकि 'मैं ऐसा हूँ' – ऐसा इसने स्वीकार ही नही किया। मौजूद वस्तु भी इसे गैरमौजूद भासित होती है और रागादि जो आत्मा के स्वभाव मे मौजूद हैं ही नही, वे मौजूद भासित होते है। भाई! इन रागादि का लक्ष्य छोडकर शान्तरस के स्थान स्वरूप सच्चिदानन्द प्रभु भगवान आत्मा का लक्ष्य करके, इसमे अत्यन्त निमग्न हो जा! जिससे तुझे अतीन्द्रिय आनन्द होगा – ऐसा आचार्यदेव का सदेश है।

कलश ३२ के भावार्थ पर प्रवचन

जैसे समुद्र के आडे कोई वस्तु आ जाती है तो समुद्र का पानी दिखाई नही देता और जब आड दूर हो जाती है, तब समुद्र का पानी प्रकट दिखाई देने लगता है। पानी के प्रकट दिखाई देने पर ही लोगो को यह प्रेरणा मिलती है कि इस शीतल जल मे सर्वलोक स्नान करे। उसीप्रकार आत्मा विभ्रम से आच्छादित था अर्थात् दया-दान-भक्ति के जो रागरूप परिणाम है, उनसे मुझे लाभ (धर्म) होगा – ऐसे मिथ्याभ्रम मे था, उस राग की रुचि मे ही रुक गया था, इसकारण भगवान आत्मा आच्छादित था, ढक गया था, इसलिए अपना स्वरूप दिखाई नही देता था। राग की रुचि की आड मे आनन्द से भरा हुआ भगवान दिखाई नही देता था। बहिर्लक्षी वृत्तियो के प्रेम मे ज्ञान व आनन्दरूपी जल से भरा हुआ भगवान चैतन्यसमुद्र दिखाई नही देता था।

अब विभ्रम दूर हुआ। दया, दान, भक्ति का विकल्प भले ही वह मन्दकषायरूप हो; तथापि राग ही है, धर्म नही है, आत्मा का स्वरूप नही है। यह राग बंध का कारण है, हेय है। इसप्रकार जब भ्रम दूर हुआ, तब यथार्थस्वरूप प्रकट हुआ। अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ प्रकट हुआ। सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुआ, अत. आनद प्रकट हुआ। इसलिए सर्व जगत् अब उस वीतराग-विज्ञानस्वरूप शान्तरस मे एक साथ मग्न हो जाओ! – ऐसी आचार्यदेव ने प्रेरणा की है।

भाई! वीतराग सर्वज्ञदेव परमेश्वर का मार्ग जुदा है; व्रत, तप, भक्ति आदि से धर्म मानना तो राग से धर्म मानना है; किन्तु ये जैनधर्म नही है। पर की दया पालने का भाव राग है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय मे आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी ने राग को आत्मा की हिंसा का भाव कहा है। सुन प्रभु! सच्चा तत्त्व तूने सुना ही नही है। यह पूर्णानन्द का नाथ जीवती चैतन्यज्योति है – ऐसे आत्मा को यथार्थ समझना, निज-आत्मा की दया है। उस आत्मा को इससे उल्टा मानना, आत्मा की हिंसा है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव व श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव तो परमेष्ठी थे, वे स्वंय वीतराग शान्तरस मे निमग्न थे तथा यहाँ परमकरुणा करके जगत को भी उसमे मग्न होने की प्रेरणा करते है। वे कहते है कि प्रभु! तुम भी आत्मा हो न? दुनिया के मानापमान को छोड़कर निर्मानस्वभावी आत्मा मे अहंपना स्थापित होने पर वीतराग शान्तरस प्रकट होता है। अत. इस शान्तरस मे सर्व जगत् निमग्न हो जाओ!

अथवा ऐसा भी अर्थ होता है कि जब आत्मा का अज्ञान दूर होता है, तब केवलज्ञान प्रकट होता है और केवलज्ञान प्रकट होने पर समस्त लोकालोक के पदार्थ एक ही साथ ज्ञान मे झलकने लगते है। जिनका मिथ्यात्व व अज्ञान नाश हो जाता है, उसे अल्पकाल मे केवलज्ञान प्रकट हो ही जाता है अथवा अज्ञान अर्थात् अल्पज्ञपना दूर हो जाता है, तब केवलज्ञान प्रकट होता ही है। केवलज्ञान एक समय मे तीनलोक व तीनकाल को जानता है, सर्वजीव ऐसे केवलज्ञान को प्राप्त करो – ऐसी प्रेरणा की है।

पूर्वरङ्ग का उपसंहार

इति श्री समयसार व्याख्यायामात्मख्यातौ पूर्वरङ्गः समाप्त ।

इसप्रकार इस समयप्राभृत ग्रथ की आत्मख्याति नामक टीका मे टीकाकार ने पूर्वरङ्गस्थल कहा ।

यहाँ टीकाकार का यह आशय है कि इस ग्रथ को अलङ्कार शैली मे नाटक रूप मे वर्णन किया है । नाटक मे पहले रङ्गभूमि रची जाती है । वहाँ देखनेवाले, नायक तथा सभा होती है । नृत्य (नाट्य, नाटक) करनेवाले होते हैं, जो विविधप्रकार के स्वाग रखते है तथा शृङ्गारादिक आठ रसो का रूप दिखलाते हैं । वहाँ शृङ्गार, हास्य, रौद्र, करुणा, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत – ये आठ रस लौकिक रस हैं, नाटक मे इन्ही का अधिकार है । नववाँ शातरस है, जो कि अलौकिक है, नृत्य मे उसका अधिकार नही है । इन रसो के स्थायीभाव, सात्विकभाव, अनुभावीभाव, व्यभिचारीभाव और उनकी दृष्टि आदि का वर्णन रसग्रथो मे है, वहाँ से जान लेना । सामान्यतया रस का यह स्वरूप है कि ज्ञान मे ज्ञेय आया, उसमे ज्ञान तदाकार हुआ, उसमे पुरुष का भाव लीन हो जाये और अन्य ज्ञेय की इच्छा नही रहे, सो रस है । उन आठ रसो का रूप नृत्य मे नृत्यकार बतलाते है । और उनका वर्णन करते हुए कवीश्वर जब अन्यरस को अन्यरस के समान भी वर्णन करते है, तब अन्यरस का अन्यरस अङ्गभूत होने से अन्यभाव रसो का अङ्ग होने से, रसवत् आदि अलङ्कार से उसे नृत्यरूप मे वर्णन किया जाता है ।

यहाँ पहले रगभूमिस्थल कहा । वहाँ देखनेवाले तो सम्यग्दृष्टि पुरुष है और अन्य मिथ्यादृष्टि पुरुषो की सभा है, उनको नृत्य दिखलाते हैं । नृत्य करनेवाले जीव-अजीव पदार्थ हैं और दोनो का एकपना, कर्ताकर्मपना आदि उनके स्वाग हैं । उनमे वे परस्पर अनेकरूप होते हैं, आठ रसरूप होकर परिणमन करते है, सो वह नृत्य है । वहाँ सम्यग्दृष्टि दर्शक जीव-अजीव के भिन्न स्वरूप को जानता है, वह तो इन सब स्वागो को कर्मकृत जानकर शातरस मे ही मग्न है और मिथ्यादृष्टि जीव-अजीव मे भेद नही जानते, इसलिये वे इन स्वागो को ही यथार्थ जानकर उसमे लीन हो जाते हैं । उन्हे सम्यग्दृष्टि यथार्थस्वरूप बतलाकर, उनका भ्रम मिटाकर, उन्हे शातरस मे लीन करके सम्यग्दष्टि बनाता है । उसकी सूचनारूप मे

रगभूमि के अन्त मे आचार्य ने 'मज्जंतु · इत्यादि' – इस श्लोक की रचना की है, वह अब जीव-अजीव के स्वाग का वर्णन करेंगे, इसका सूचक है; ऐसा आशय प्रगट होता है। इसप्रकार यहाँ तक रंगभूमि का वर्णन किया है।

नृत्य कुतूहल तत्त्व को, मरियवि देखो धाय।
निजानन्द रस मे छको, आन सवै छिटकाय ॥

इसप्रकार (श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री समयसार परमागम की (श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित) आत्मख्याति नामक टीका मे पूर्वरंग समाप्त हुआ।

पूर्वरंग के उपसंहार पर प्रवचन

इसप्रकार जीव अधिकार की पूर्णता करते हुए जीव का वास्तविक स्वरूप क्या है? – यह वताया है। इस ग्रन्थ को अलंकार से नाटक के रूप मे वर्णित किया हैं। नाटक मे पहले रगभूमिस्थल रचा जाता है। वहाँ देखनेवाली सभा होती है तथा नृत्य (नाटक) करनेवाला नायक (नट) होता है, जो अनेक स्वाग धारण करता है। तथा शृङ्गारादि आठ रसो के रूप प्रदर्शित करता है। नाटक मे शृङ्गार, हास्य, रौद्र, करुण, वीर, भयानक, वीभत्स व अद्भुत – इसप्रकार आठ रस होते हैं, वे लौकिक-रस हैं (इन आठ रसो को भी श्री वनारसीदासजी ने लोकोत्तरस्वरूप में वताये हैं) नववाँ शान्तरस है, वह अलौकिक है। वीतरागभावरूप शान्तरस आत्मा का अलौकिकरस है। अतीन्द्रिय आनन्द व शान्ति का विम्व प्रभु आत्मा है। इस त्रिकाली शान्ति के विम्व भगवान आत्मा का आश्रय लेने पर परिणमन मे जो शान्त⋯शान्त⋯ शान्त अकपायभाव उत्पन्न होता है, उसे यहाँ शान्तरस कहा है। इसको शान्तरस, आनन्दरस, स्वरूपरस, अद्भुतरस, इसप्रकार अनेक नामो से कह सकते हैं।

जीव का वास्तविक स्वरूप ज्ञाता-दृष्टास्वभावी है। क्रमवद्धपर्याय के सिद्धान्त से भी न्यायपूर्वक जीव ज्ञाता-दृष्टा मात्र है – यह सिद्ध होता है। अहाहा! जीव की पर्याय क्रमवद्ध है। जिससमय जो पर्याय होना होती है, वही होती है – ऐसा कहकर जीव के अकर्तास्वभाव का वर्णन किया है। जो कुछ होता है, इसका कर्त्ता जीव नही है। इसलिए इसका अर्थ यह हुआ कि जीव ज्ञाता-दृष्टा है।

वीतराग का कोई भी वचन हो, उसका तात्पर्य तो वीतरागता ही है। क्रमवद्धपर्याय के सिद्धान्त का भी तात्पर्य वीतरागता है। जीव को क्रमवद्धपर्याय का जव निर्णय होता है, तव वह ज्ञाता-दृष्टा हो जाता है।

स्वय ज्ञाता-दृष्टा होकर शास्त्र के तात्पर्यरूप वीतरागता प्रकट होती है। यह वीतरागता अपने त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से प्रकट होती है। इसलिए क्रमबद्धपर्याय के निर्णय मे भी ज्ञाता का निर्णय हुआ।

यह ग्रथ नाटक के रूप मे बनाया गया है। इसमे नाटक देखनेवाले सम्यग्दृष्टि (ज्ञानी) हैं। जो सम्यग्दृष्टि हैं, वे तो ज्ञाता-दृष्टा हैं। अनेक प्रकार के स्वाग आते हैं, किन्तु सम्यग्दृष्टि दर्शक उन्हे ज्ञाता-दृष्टा होकर देखते हैं, उसमे अनुरजित नहीं होते। चाहे अजीव का दृश्य आवे या कर्त्ता-कर्म का, वे इन सबको जानने-देखनेवाले हैं, इसी भाव से देखते हैं। ज्ञानी आश्रव-बध, कर्त्ता-कर्म इत्यादि किसी स्वाग मे क्यो न हो, परन्तु वह प्रत्येक स्वाग को ज्ञाता-दृष्टापने मात्र जानते ही हैं। बध के स्वाग को व मोक्ष के स्वांग को भी मात्र जानते ही हैं। जो ज्ञाता है, वही वस्तुत: ज्ञायक है।

सम्यग्दृष्टि वास्तविक स्वाँग (भेष) का देखने-जाननेवाला है। तथा वह मिथ्यादृष्टियो की सभा को भी यथार्थस्वरूप बताता है। नृत्य करनेवाले अर्थात् बदलनेवाले, परिणमन करनेवाले, स्वाँग धरनेवाले जीव-अजीव द्रव्य है। वे दोनो एकरूप होकर प्रवेश करते हैं। जीवद्रव्य राग व शरीर के साथ एक है, ऐसा स्वाँग रखकर आता है। तथा जीव कर्त्ता व परद्रव्य इसका कार्य, जीव कर्त्ता व राग इसका कार्य – ऐसा कर्त्ता-कर्म का स्वाँग भी आता है। वहाँ सम्यग्दृष्टि जीव-अजीव व स्वभाव-विभाव के भिन्न-भिन्न स्वरूप को यथार्थपने जानता है। वह तो इन सर्व स्वाँगो को कर्मकृत जानकर शान्तरस मे ही मग्न रहता है। दया, दान व काम, क्रोध इत्यादि जो विकल्प आते हैं, वे सब कर्मकृत स्वाँग हैं, मेरे स्वय के स्वाँग नही, मैं तो एकमात्र ज्ञायकस्वरूप हूँ – ऐसी अन्तर एकाग्रता करके, वह शान्तरस मे लीन रहता है। अहाहा! भगवान आत्मा आनन्द व शान्तरस का पिण्ड प्रभु अकेला ज्ञायक है। उसका जिसे अनुभव मे सम्यक् भान हुआ, वह जीव रागादि या शरीरादि के सयोग को अपने से भिन्न जानता है और अपने आनन्द के रस मे निमग्न हो जाता है।

मिथ्यादृष्टि जीव-अजीव के भेद को नही जानते। वे तो ऐसा मानते हैं कि शरीर मेरा, राग मेरा, इसप्रकार वे राग व शरीरादि के साथ एक-पना करके जानते हैं। राग को तो भावकभाव कहा है। भावक अर्थात् कर्म। राग कर्म के निमित्त से होनेवाला भाव है, इसलिए उसे भावकभाव कहा है, वह स्वभाव नही। जीव की पर्याय मे होता है, तथापि ये स्वभावभाव नही है। रागादि निश्चय से अजीव है, उन्हे अपना मानकर अज्ञानी इसमे

ही लीन हो जाता है और अशान्तभाव का अनुभव करता है। शरीर, राग, पुण्य, पाप इत्यादि जो स्वाग हैं, वे अजीव हैं। वास्तव मे वे भगवान आत्मा के सच्चे भेष नही है, तथापि अज्ञानी इन सब स्वाँगों को अपने स्वरूपमय जानकर उनमे तल्लीन हो जाते है और आकुलता का, दु ख का वेदन करते है।

भाई ! धर्म बहुत सूक्ष्म वस्तु है। आत्मा ज्ञायकस्वरूप है – ऐसा जहाँ भान हुआ, वहाँ जीव को पर्याय मे रागादि का सयोग होता है, अजीव का सयोग होता है, चक्रवर्ती आदि पदो का सयोग होता है; तथापि इन सबको अपने ज्ञानस्वभाव मे अर्थात् शान्तरसस्वरूप भगवान आत्मा मे स्थित रहकर भिन्न जानता है। अहो ! आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञान व अतीन्द्रिय आनन्द इत्यादि गुणो का पिण्ड है। उसको जिसने निजस्वरूपपने अनुभव किया है, वे धर्मात्मा शान्तरस मे निमग्न रहकर पर को मात्र परपने जानते हैं। अज्ञानी उनको अपना मानकर आकुलतामय अशान्त-भाव मे रहता है।

उन अज्ञानियो को सम्यग्दृष्टि यथार्थस्वरूप बताकर, उनका भ्रम मिटाकर सम्यग्दृष्टि (ज्ञानी) बनाते है। सम्यग्दृष्टि अज्ञानी को अन्तर की बात समझाते है कि भाई ! यह रागादि व शरीरादि तो बाह्य स्वाँग हैं, तेरी वस्तु नही है, ये तेरे मे नही है, तू इनमे नही है। राग, पुण्य व शरीर – ये जीव के अधिकार में नही है। जीव के अधिकार मे तो ज्ञान, दर्शन, वीर्य, आनन्द, शान्ति इत्यादि हैं। भाई ! तू तो ज्ञायकस्वभावी त्रिकाल अखण्ड एकरूप वस्तु है। तेरी पर्याय मे भी ज्ञान व आनन्द का रस आवे – ऐसा तेरा स्वरूप है। अत रागादि का लक्ष्य छोडकर अन्तर मे एकाग्र हो जा, जिससे शान्तरस प्रकट होगा, आनन्दरस प्रकट होगा।

राग से भिन्न आत्मा चिदानन्दघन प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ है – ऐसा समकिती मिथ्यादृष्टि जीव को बताता है। तब ऐसा जानने-वाला स्वय आनन्द के नाथ आत्मा मे रम जाता है। राग से छूटकर निराकुल आनन्द व शान्ति को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार वस्तु के यथार्थस्वरूप को जानकर भ्रम मिटाकर, शान्तरस मे लीन होकर अज्ञानी सम्यग्दर्शन को प्राप्त होता है। उसकी सूचनारूप से रगभूमि के अन्त मे आचार्य 'मज्जन्तु' इत्यादि श्लोक कहते हैं। इसप्रकार रगभूमि का वर्णन समाप्त हुआ।

रङ्गभूमि के अन्त मे पंडित श्री जयचन्दजी छाबडा मगलस्वरूप प्रेरणात्मक छन्द कहते है कि :–

नृत्य कुतूहल तत्त्व को, मरियवि देखो धाय।
निजानन्दरस मे छको, आन सबै छिटकाय ।।

भाई ! मरकर भी – महाकष्ट हो, तथापि उग्र पुरुषार्थ करके तुम तत्त्व को देखो। सर्वज्ञ परमेश्वर भगवान जिनेश्वरदेव ने जैसा कहा है, वैसे निजज्ञानानन्दस्वरूपी आत्मा मे स्थित हो जाओ। वे कहते हैं कि भाई ! तू राग के रस को छोड दे। तू इस जीवती ज्योतिस्वरूप जीव को जीवता देख ! (राग से जीव की हिंसा होती है।) चैतन्य जीवन से जीवित भगवान आत्मा को जानकर राग से निवृत्त हो जा ! दया, दान, व्रत, भक्ति इत्यादि भाव आकुलता व दु खमय हैं। उसमे तुझे जो रस आता है, उसे छोड दे। भगवान आत्मा शान्तरस का समुद्र है, उसमे निमग्न होकर शान्तरस को प्राप्त कर आत्मा के आनन्द के रस मे मस्त हो जा ! अत्यन्त लीन हो जा ! समकिती सन्त व सर्व भगवन्त आनन्दरस का सागर एक भगवान आत्मा को ही बताते हैं। इसकारण अन्य सब छोड़कर एक निजानन्दरस मे अत्यन्त लीन हो जाओ। इसप्रकार जीव-अजीव अधिकार का पूर्वरग पूर्ण हुआ।

मिथ्यात्व-ग्रन्थि का भेदन

जैसैं कोऊ पातुर बनाय वस्त्र आभरन,
आवति अखारे निसि आडौ पट करिकैं।
दुहूँ ओर दीवटि सवारि पट दूरि कीजैं,
सकल सभा के लोग देखैं दृष्टि धरिकैं ।।
तैसैं ग्यान सागर मिथ्याति ग्रथि भेद करि,
उमग्यौ प्रगट रह्यौ तिहूँ लोक भरिकैं।
ऐसौ उपदेस सुनि चाहिए जगत जीव,
सुद्धता सभारैं जगजालसौं निसरिकैं ।।

– समयसार नाटक, जीवद्वार, छन्द ३५

अनुभव सम नहिं और

अनुभव चिन्तामणि रतन,
अनुभव है रसकूप।
अनुभव मारग मोख को,
अनुभव मोक्षस्वरूप ॥१८॥

अनुभौ के रस कौ रसायन कहत जग,
अनुभौ अभ्यास यहु तीरथ की ठौर है।
अनुभौ की जो रसा कहावै सोई पोरसा सु,
अनुभौ अधोरसा सौं ऊरध की दौर है॥
अनुभौ की केलि यहै कामधेनु चित्रावेलि,
अनुभौ को स्वाद पंच अमृत कौ कौर है।
अनुभौ करम तोरैं परम सौं प्रीति जोरैं,
अनुभौ समान न धरम कोऊ और है॥१९॥

अनुभव चितामणि-रत्न है, शान्तिरस का कुआँ है, मुक्ति का मार्ग है और मुक्तिस्वरूप है ॥१८॥

अनुभव के रस को जगत के ज्ञानी लोग रसायन कहते हैं, अनुभव का अभ्यास एक तीर्थभूमि है, अनुभव की भूमि सकल पदार्थों को उपजानेवाली (ज्ञान करानेवाली) है, अनुभव नर्क से निकालकर स्वर्ग-मोक्ष मे ले जाता है, अनुभव का आनन्द कामधेनु और चित्रावेलि के समान है, अनुभव का स्वाद पंच अमृतो के भोजन के समान है। अनुभव कर्मो को क्षय करता है और परम-पद से प्रेम जोड़ता है, (कहाँ तक कहा जाय?) अनुभव के समान अन्य कोई धर्म नही है ॥१९॥

— समयसार नाटक, जीवद्वार, छन्द १८-१९

जीव-अजीव अधिकार

अथ जीवाजीवावेकीभूतौ प्रविशतः ।

अब जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य – वे दोनो एक होकर रगभूमि मे प्रवेश करते हैं।

इसके प्रारम्भ मे मगल के आशय से (काव्य द्वारा) आचार्यदेव ज्ञान की महिमा करते हैं कि सर्व वस्तुओ को जाननेवाला यह ज्ञान है, वह जीव-अजीव के सर्व स्वाँगो को भलीभाँति पहिचानता है। ऐसा (सभी स्वाँगो को जाननेवाला) सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है – इस अर्थरूप काव्य कहते हैं –

(शार्दूलविक्रीडित)

जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा प्रत्याययत्पार्षदान्
आसंसारनिबद्धबंधनविधिध्वसाद्विशुद्ध स्फुटत् ।
आत्मारामअनतधाम महसाध्यक्षेण नित्योदितं
धीरोदात्तमनाकुल विलसति ज्ञानं मनो ह्लादयत् ।।३३।।

श्लोकार्थ :– [**ज्ञान**] ज्ञान है वह [**मनो ह्लादयत्**] मन को आनन्द-रूप करता हुआ [**विलसति**] प्रगट होता है। वह [**पार्षदान्**] जीव-अजीव के स्वाँग को देखनेवाले महापुरुषो को [**जीव–अजीव–विवेक–पुष्कल–दृशा**] जीव-अजीव के भेद को देखनेवाली अति उज्ज्वल निर्दोष दृष्टि के द्वारा [**प्रत्याययत्**] भिन्न द्रव्य की प्रतीति उत्पन्न कर रहा है। [**आससार–निबद्ध–बन्धन–विधि–ध्वसात्**] अनादि ससार से जिनका बन्धन दृढ बँधा हुआ है – ऐसे ज्ञानावरणादि कर्मों के नाश से [**विशुद्ध**] विशुद्ध हुआ है, [**स्फुटत्**] स्फुट हुआ है – जैसे फूल की कली खिलती है उसीप्रकार विकासरूप है। और [**आत्म–आरामम्**] उसका रमण करने का क्रीडावन आत्मा ही है, अर्थात् उसमे अनन्त ज्ञेयो के आकार आकर झलकते है, तथापि वह स्वय अपने स्वरूप मे ही रमता है, [**अनन्तधाम**] उसका प्रकाश अनन्त है और वह [**अध्यक्षेण महसा नित्य-उदितं**] प्रत्यक्ष

तेज से नित्य उदयरूप है। तथा वह धीर है, उदात्त (उच्च) है और इसीलिये अनाकुल है – सर्व इच्छाओ से रहित निराकुल है। (यहाँ [**धीरोदात्तम्**] धीर, उदात्त, [**अनाकुलं**] अनाकुल – यह तीन विशेषण शान्तरूप नृत्य के आभूषण जानना।) ऐसा ज्ञान विलास करता है।

भावार्थ :– यह ज्ञान की महिमा कही। जीव-अजीव एक होकर रगभूमि मे प्रवेश करते हैं, उन्हे यह ज्ञान ही भिन्न जानता है। जैसे नृत्य मे कोई स्वाँग धरकर आये और उसे जो यथार्थरूप मे जान ले (पहिचान ले) तो वह स्वाँगकर्ता उसे नमस्कार करके अपने रूप को जैसा का तैसा ही कर लेता है; उसीप्रकार यहाँ भी समझना। ऐसा ज्ञान सम्यग्दृष्टि पुरुषो को होता है, मिथ्यादृष्टि इस भेद को नही जानते ॥३३॥

कलश ३३ पर प्रवचन

यहाँ जीव-अजीव – दोनो एक होकर रगभूमि मे प्रवेश करते है। प्रारभ मे मगलाचरण के रूप मे आचार्यदेव ज्ञान की महिमा प्रगट करते हुए कहते है कि यह सम्यग्ज्ञान-सूर्य सर्व वस्तुओ को जानता हुआ, जीव-अजीव के सर्व स्वागो को भली-भाँति पहचानता हुआ प्रगट होता है।

यहाँ आचार्य कहते है कि सम्यग्ज्ञान मन को आनदरूप करता हुआ प्रगट होता है। यहाँ ज्ञान व आनद मुख्यरूप से दो की बात की है। ज्ञान अर्थात् शुद्ध जीव की सम्यग्ज्ञानरूप अवस्था, मन को अर्थात् आत्मा को आनदरूप करती हुई प्रगट होती है। ज्ञान प्रगट होने के साथ अतीन्द्रिय आनंद प्रगट हो तो ही ज्ञान प्रगट हुआ कहा जाता है। ज्ञान प्रगट होने की यह मुख्य पहचान है। अतीन्द्रिय आनद प्रगट न हो तो ज्ञान का प्रगटपना भी नही कहा जाता।

अब कहते है कि वह भेदज्ञान जीव-अजीव का स्वाग देखनेवाले महापुरुषो को जीव-अजीव का भेद दिखानेवाली अति उज्वल निर्दोष दृष्टि द्वारा भिन्न-भिन्न द्रव्य की प्रतीति उत्पन्न कर रहा है। भगवान आत्मा त्रिकाल एकरूप अखण्ड ज्ञान व आनद का निधान है। तथा चैतन्यस्वभाव की जो दृष्टि प्रगट हुई अथवा निज-निधान को परखनेवाली जो दृष्टि उत्पन्न हुई वह दृष्टि अति उज्वल व निर्मल है, यह दृष्टि जीव-अजीव को भिन्न-भिन्न करके देखती है। इस निर्मल दृष्टि द्वारा प्राप्त हुआ ज्ञान अचेतन शरीर व रागादि से चैतन्यधाम प्रभु आत्मा भिन्न है – यह स्पष्ट बता रहा है। अनादिकाल से निबद्ध ज्ञानावरणादि कर्मो के दृढ बन्धनों के नाश से विशुद्ध स्फुटित, फूल की कली की तरह विकासरूप; आठो कर्म व

उनके निमित्त से हुए भावो से रहित वह ज्ञान भगवान आत्मा के शुद्ध चैतन्यस्वभाव को प्रगट करता हुआ आनद सहित प्रगट होता है।

भगवान आत्मा ससार अवस्था मे भी आठकर्म व उनके निमित्त से हुए भावो से भिन्न ही है। सिद्धदशा मे जो आठकर्मों से रहित होता है, वह तो पर्याय की अपेक्षा से कथन है। किन्तु जीवद्रव्य के स्वभाव मे तो आठो ही अजीवकर्मों का त्रिकाल अभाव है। निश्चय से भगवान आत्मा द्रव्यकर्म, भावकर्म से भिन्न ही है। ऐसे भिन्न आत्मा का भान होने पर कर्मों का नाश करके ज्ञान प्रगट होता है। जब स्वय स्वभाव-सन्मुख होता है, तब विकार व कर्म दोनो छूट जाते हैं, इसे ही कर्मों का नाश करना कहा जाता है।

जैसे फूल की कली अनेक पाखुडीरूप विकसित होकर खिल उठती है, उसीप्रकार ज्ञान प्रगट होने पर भगवान आत्मा अनन्तगुणो की पखुडियो से पर्याय मे खिल जाता है। सम्यग्दर्शन होने पर अनन्तगुणो का विकास पर्याय मे हो जाता है। शक्तिरूप से विद्यमान ज्ञान व आनन्द आदि अनन्तगुण पर्याय मे प्रगट हो जाते हैं।

तथा वह ज्ञान कैसा है? यद्यपि उसमे अनन्त ज्ञेयो के आकार झलकते है, तथापि स्वय अपने स्वरूप मे ही अन्तर्मग्न रहता है, रमता है। देखो, अनन्त ज्ञेयो को जाननेवाला ज्ञान अपनी सामर्थ्य से ही प्रगट होता है, ज्ञेयो से नही। वह ज्ञान कही ज्ञेयो मे नही जाता। अपने भाव मे तथा अपने क्षेत्र मे ही रमता है, आराम पाता है। अनन्त ज्ञेयो को जानते हुए भी स्वय अपने ज्ञान मे ही रमता है। अहाहा! ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा पर से पृथक् होकर जब अपनी ही सामर्थ्य से अपने स्वरूप मे खिला, तब ज्ञेयों के प्रति अपनत्व की मान्यता छूट गई और अब ज्ञान ज्ञेयो को मात्र जाननेवाला है। अहो! एक-एक कलश मे अमृतचन्द्राचार्य-देव ने गजब की बात की है। उनके वचनो मे कैसी गम्भीरता है। अनन्त ज्ञेयो को जानता हुआ ज्ञान, ज्ञान मे ही रमता है, अन्यत्र नही।

और कैसा है वह ज्ञान? वह अनन्त-अनन्त प्रकाशवाला है तथा प्रत्यक्ष तेज से नित्य उदयरूप है। भगवान ज्ञानस्वरूप आत्मा जब प्रगट होता है, तब से नित्य उदयरूप ही रहता है। केवलज्ञान हुआ हो या सम्यग्ज्ञान हुआ हो, वह सदैव प्रगट ही रहता है। वह ज्ञान धीर है अर्थात् चचल नही है, निश्चल है, अचचल है तथा उसमे प्रत्येक समय नई-नई पर्यायें प्रगट होती है—ऐसा उदात्त है। तथा अनाकुल है, इच्छाओ से

रहित निराकुल अतीन्द्रिय सुखस्वरूप है। धीर, उदात्त व अनाकुल – ये तीन विशेषण आत्मा के परिणमन के तीन आभूषण जानना। ऐसा ज्ञान-स्वरूप भगवान आत्मा अपने ज्ञानस्वभाव मे ही सदा विलास करता है।

कलश ३३ के भावार्थ पर प्रवचन

यहाँ वर्त्तमान प्रगट ज्ञान की महिमा वताई गई है। जीव-अजीव एक होकर रगभूमि मे प्रवेश करते हैं। उन्हे यह ज्ञान ही भिन्न जानता है। जैसे नृत्य मे कोई स्वाँग धर कर आये, उसे जो यथार्थरूप से जान ले (पहिचान ले) तो वह स्वाँगकर्त्ता उसे नमस्कार करके अपने असलीरूप को धारण कर लेता है। उसीप्रकार यहाँ भी जव ज्ञान राग को रागरूप व ज्ञान को ज्ञानरूप से यथार्थ जान लेता है, तव जिसका जो असली स्वरूप है, वे अपने उसी स्वरूप से भिन्न-भिन्न होकर रह जाते हैं। ज्ञान ज्ञानरूप से रहता है व राग रागरूप से रहता है। अपने-अपने स्वरूप मे दोनो भिन्नपने रहते है।

ऐसा ज्ञान सम्यग्दृष्टि पुरुषो को होता है। जैसी वस्तु पूर्ण सत्य है, उसकी वैसी ही दृष्टि का नाम सत्दृष्टि या सम्यग्दृष्टि है। भगवान आत्मा पूर्ण प्रभु सच्चिदानन्दस्वरूप है। सत् अर्थात् शाश्वत ज्ञान व आनन्द-स्वरूप परिपूर्ण वस्तु। ऐसे सत् की जिसको दृष्टि हुई, वह सम्यग्दृष्टि जीव है। सम्यग्दृष्टि को ही ऐसा भिन्नपने का यथार्थ ज्ञान होता है, मिथ्यादृष्टि इस भेद को नही जानते। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का जो राग आता है, उसे अज्ञानी अपना मानता है तथा उसका कर्त्ता वनता है। मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तवार साधु हुआ व इन विकल्पो को कर्त्ता होकर करता है, क्योकि वह राग व ज्ञान के भेद को नही जानता। राग व स्वभाव को अज्ञानी एकपने से मानता है। सम्यग्दृष्टि को ही राग व स्वभाव की भिन्नता का यथार्थ ज्ञान व श्रद्धान होता है।

समयसार गाथा ३९ से ४३

अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई ।
जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूवेंति ।।३९।।

अवरे अज्झवसाणेसु तिव्वमंदाणुभागगं जीवं ।
मण्णंति तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवो त्ति ।।४०।।

कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभागमिच्छंति ।
तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो ।।४१।।

जीवो कम्मं उहयं दोण्णि वि खलु केइ जीवमिच्छंति ।
अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति ।।४२।।

एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा ।
ते ण परमट्ठवादी णिच्छयवादीहिं णिद्दिट्ठा ।।४३।।

अब जीव-अजीव का एकरूप वर्णन करते हैं –

को मूढ, आत्म अजान जो, पर आत्मवादी जीव है,
है कर्म, अध्यवसान ही जीव – यो हि वो कथनी करे ।।३९।।

अरु कोई अध्यवसान मे, अनुभाग तीक्षण-मंद जो ।
उसको ही माने आत्मा, अरु अन्य को नोकर्म को ।।४०।।

को अन्य माने आत्मा बस, कर्म के ही उदय को ।
को तीव्र-मंदगुणोसहित, कर्मोंहि के अनुभाग को ।।४१।।

को कर्म आत्मा, उभय मिलकर जीव की आशा धरें ।
को कर्म के संयोग से, अभिलाष आत्मा की करें ।।४२।।

दुर्बु द्धि यो ही और बहुविध, आतमा पर को, कहै ।
वे सर्व नहिं परमार्थवादी, ये हि निश्चयविद् कहै ।।४३।।

आत्मानमजानंतो मूढास्तु परात्मवादिनः केचित् ।
जीवमध्यवसानं कर्म च तथा प्ररूपयन्ति ।।३६।।

अपरेऽध्यवसानेषु तीव्रमंदानुभागगं जीवम् ।
मन्यंते तथाऽपरे नोकर्म चापि जीव इति ।।४०।।

कर्मरण उदयं जीवमपरे कर्मानुभागमिच्छंति ।
तीव्रत्वमंदत्वगुणाभ्यां यः स भवति जीवः ।।४१।।

जीवकर्मोभयं द्वे अपि खलु केचिज्जीवमिच्छंति ।
अपरे संयोगेन तु कर्मणां जीवमिच्छंति ।।४२।।

एवंविधा बहुविधाः परमात्मानं वदंति दुर्मेधसः ।
ते न परमार्थवादिनः निश्चयवादिभिर्निर्दिष्टाः ।।४३।।

गाथार्थ :– [**आत्मानम् अजानंतः**] आत्मा को न जानते हुए [**परात्मवादिनः**] पर को आत्मा कहनेवाले [**केचित् मूढाः तु**] कोई मूढ, मोही, अज्ञानी तो [**अध्यवसानं**] अध्यवसान को [**तथा च**] और कोई [**कर्म**] कर्म को [**जीवम् प्ररूपयंति**] जीव कहते है । [**अपरे**] अन्य कोई [**अध्यवसानेषु**] अध्यवसानो मे [**तीव्रमंदानुभागगं**] तीव्र-मद अनुभागगत को [**जीवं मन्यते**] जीव मानते है [**तथा**] और [**अपरे**] दूसरे कोई [**नोकर्म अपि च**] नोकर्म को [**जीवः इति**] जीव मानते है [**अपरे**] अन्य कोई [**कर्मणः उदय**] कर्म के उदय को [**जीवम्**] जीव मानते है, कोई [**यः**] जो [**तीव्रत्वमंदत्वगुणाभ्यां**] तीव्र-मदतारूप गुणो से भेद को प्राप्त होता है [**सः**] वह [**जीवः भवति**] जीव है – इसप्रकार [**कर्मानुभागम्**] कर्म के अनुभाग को [**इच्छंति**] जीव इच्छते है(– मानते है)। [**केचित्**] कोई [**जीवकर्मोभयं**] जीव और कर्म [**द्वे अपि खलु**] दोनो मिले हुओ को ही [**जीवम् इच्छंति**] जीव मानते हैं [**तु**] और [**अपरे**] अन्य कोई [**कर्मणां संयोगेन**] कर्म के सयोग से ही [**जीवम् इच्छंति**] जीव मानते है । [**एवंविधा**] इसप्रकार के तथा [**बहुविधाः**] अन्य भी अनेक प्रकार के [**दुर्मेधस**] दुर्बु द्धि – मिथ्यादृष्टि जीव [**परम्**] पर को[**आत्मानं**]आत्मा [**वदंति**] कहते हैं । [**ते**] उन्हे [**निश्चयवादिभिः**] निश्चयवादियो ने (–सत्यार्थवादियो ने) [**परमार्थवादिन**] परमार्थवादी (–सत्यार्थवक्ता) [**न निर्दिष्टाः**] नही कहा है ।

इह खलु तदसाधारणलक्षणाकलनात्क्लीबत्वेनात्यंतविमूढाः सतस्तात्त्विकमात्मानमजानंतो बहवो बहुधा परमप्यात्मानमिति प्रलपंति । नैसर्गिकरागद्वेषकल्माषितमध्यवसानमेव जीवस्तथाविधाध्यवसानात् अंगारस्येव कार्ष्ण्यादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । अनाद्यनंतपूर्वापरीभूतावयवैकसंसरणक्रियारूपेण क्रीडत्कर्मैव जीवः कर्मणोऽतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । तीव्रमंदानुभवभिद्यमानदुरंतरागरसनिर्भराध्यवसानसंतान एव जीवस्ततोऽतिरिक्तस्यान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । नवपुराणावस्थादिभावेन प्रवर्तमानं नोकर्मैव जीवः शरीरादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । विश्वमपि पुण्यपापरूपेणाक्रामन् कर्मविपाक एव जीवः शुभाशुभभावादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । सातासातरूपेणाभिव्याप्तसमस्ततीव्र-

---

टीका :— इस जगत मे आत्मा का असाधारणलक्षण न जानने के कारण नपुसकता मे अत्यन्त विमूढ होते हुए, तात्त्विक (परमार्थभूत) आत्मा को न जाननेवाले बहुत से अज्ञानीजन अनेक प्रकार से पर को भी आत्मा कहते है, बकते है । कोई तो ऐसा कहते है कि स्वाभाविक अर्थात् स्वयमेव उत्पन्न हुए राग-द्वेष के द्वारा मलिन जो अध्यवसान (मिथ्या-अभिप्राययुक्त विभावपरिणाम) वह ही जीव है, क्योकि जैसे कालेपन से अन्य अलग कोई कोयला दिखाई नही देता, उसीप्रकार अध्यवसान से भिन्न अन्य कोई आत्मा दिखाई नही देता ।।१।। कोई कहते हैं कि अनादि जिसका पूर्व अवयव है और अनन्त जिसका भविष्य का अवयव है — ऐसी एक ससरणरूप (भ्रमणरूप) जो क्रिया है, उसरूप से क्रीडा करता हुआ कर्म ही जीव है, क्योकि कर्म से भिन्न अन्य कोई जीव दिखाई नही देता । ।।२।। कोई कहते है कि तीव्र-मद अनुभव से भेदरूप होते हुए, दुरन्त (जिसका अन्त दूर है ऐसा) रागरूप रस से भरे हुये अध्यवसानो की सतति (परिपाटी) ही जीव है, क्योकि उससे अन्य अलग कोई जीव दिखाई नही देता ।।३।। कोई कहता है कि नई और पुरानी अवस्था इत्यादि भाव से प्रवर्तमान नोकर्म ही जीव है, क्योकि इस शरीर से अन्य अलग कोई जीव दिखाई नही देता ।।४।। कोई यह कहते है कि समस्त लोक को पुण्यपापरूप से व्याप्त करता हुआ कर्म का विपाक ही जीव है, क्योकि शुभाशुभ भाव से अन्य अलग कोई जीव दिखाई नही देता ।।५।। कोई कहते हैं कि साता-असातारूप से व्याप्त समस्त तीव्र-मन्दत्वगुणो से

मंदत्वगुणाभ्यां भिद्यमानः कर्मानुभव एव जीवः सुखदुःखातिरिक्तत्वेनान्य-स्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । मज्जितावदुभयात्मकत्वादात्मकर्मोभय-मेव जीव कात्स्र्न्यंतः कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । अर्थक्रियासमर्थः कर्मसंयोग एव जीवः कर्मसंयोगात्खट्वाया इवाष्टकाष्ठसंयोगादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । एवमेवंप्रकारा इतरेऽपि बहुप्रकाराः परमात्मेति व्यपदिशन्ति दुर्मेधस, किन्तु न ते परमार्थवादिभिः परमार्थवादिन इति निर्दिश्यंते ।

भेदरूप होनेवाला कर्म का अनुभव ही जीव है, क्योकि सुख-दुःख से अन्य अलग कोई जीव दिखाई नही देता ।।६।। कोई कहते है कि श्रीखण्ड की भाँति उभयरूप मिले हुए आत्मा और कर्म, दोनो ही मिलकर जीव है, क्योकि सम्पूर्णतया कर्मो से भिन्न कोई जीव दिखाई नही देता ।।७।। कोई कहते है कि अर्थक्रिया मे (प्रयोजनभूतक्रिया मे) समर्थ ऐसा जो कर्म का संयोग, वह ही जीव है, क्योकि जैसे आठ लकडियां के सयोग से भिन्न अलग कोई पलग दिखाई नही देता, इसीप्रकार कर्मो के सयोग से अन्य अलग कोई जीव दिखाई नही देता । (आठ लकड़ियाँ मिलकर पलग वना, तव वह अर्थक्रिया मे समर्थ हुआ, इसीप्रकार यहाँ भी जानना) ।।८।। इसप्रकार आठ प्रकार तो यह कहे और ऐसे-ऐसे अन्य भी अनेक प्रकार के दुर्बुद्धि (विविध प्रकार से) पर को आत्मा कहते है, परन्तु परमार्थ के ज्ञाता उन्हे सत्यार्थवादी नही कहते ।

भावार्थ :– जीव-अजीव दोनो अनादिकाल से एकक्षेत्रावगाहसयोग-रूप से मिले हुए है और अनादिकाल से ही पुद्गल के सयोग से जीव की अनेक विकारसहित अवस्थाये हो रही है । परमार्थदृष्टि से देखने पर, जीव तो अपने चैतन्यत्व आदि भावो को नही छोड़ता और पुद्गल अपने मूर्तिक जड़त्व आदि को नही छोड़ता, परन्तु जो परमार्थ को नही जानते वे सयोग से हुए भावो को ही जीव कहते हैं । क्योकि पुद्गल से भिन्न परमार्थ से जीव का स्वरूप सर्वज्ञ को दिखाई देता है तथा सर्वज्ञ की परम्परा के आगम से जाना जा सकता है, इसलिये जिनके मत मे सर्वज्ञ नही हैं वे अपनी वुद्धि से अनेक कल्पनाये करके कहते है । उनमे से वेदान्ती, मीमासक, साख्य, योग, वौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक, चार्वाक आदि मतो के आशय लेकर आठ प्रकार तो प्रगट कहे हैं, और अन्य भी अपनी-अपनी वुद्धि से अनेक कल्पनाये करके अनेक प्रकार से कहते हैं, सो उन्हे कहाँ तक कहा जाये ?

गाथा ३९ से ४३ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

अब जीव-अजीव का एकरूप वर्णन करते है।

इस जगत मे बहुत से अज्ञानीजन आत्मा का असाधारणलक्षण नही जानने के कारण नपुसकता से अर्थात् पुरुषार्थहीनता से अत्यन्त विमूढ होते हुए तात्त्विक (परमार्थभूत) आत्मा को नही जानने से नानाप्रकार की कल्पनाएँ करके पर को आत्मा मानते हैं।

आत्मा का असाधारणलक्षण ज्ञान है। ज्ञान द्वारा ही यह आत्मा जाना जाता है एव ज्ञान द्वारा ही आत्मा की अनुभूति व उपलब्धि हो सकती है। ज्ञान अर्थात् स्व-सवेदनज्ञान – सम्यग्ज्ञान। इस सम्यग्ज्ञान से ही आत्मलाभ हो सकता है, परन्तु भगवान आत्मा ज्ञानस्वभावी है, ऐसा नही जानने के कारण अज्ञानीजन विमूढ हो रहे हैं। दया, दान, व्रत, तप, भक्ति आदि शुभराग से – पुण्यभाव से धर्म होता है, इन्ही से आत्मलाभ होता है – ऐसा माननेवालो को यहाँ आचार्यदेव ने 'नपुसक' कहा है। जैसे नपुसक को सतान नही होती, उसीप्रकार शुभभावो मे धर्म माननेवालो को धर्म (रत्नत्रयरूप धर्म) की सतति नही होती। अज्ञानी को शुभभावो से भिन्न भगवान आत्मा की खबर नही है, इसकारण वह शुभभाव से हटकर शुद्ध मे नही आता। इसीकारण वह नपुसक है, पुरुषार्थहीन है। शुभाशुभभावो से भिन्न होकर अपने ज्ञानस्वभाव से जो निज को जाने, अनुभवे – उसे पुरुष कहा है, भले ही वह स्त्री का आत्मा हो। भाई! स्त्री तो देह है, आत्मा कहाँ स्त्री है? आत्मा तो शुभाशुभभावो का उच्छेदक अनतवीर्य का स्वामी है।

भाई! राग तो आत्मा के चैतन्यस्वभाव को घायल करता है, यह आत्मा का घातक है। जो घातक हो या घायल करे, उससे आत्मा का लाभ कैसे हो सकता है? श्री समयसार की गाथा १५४ मे कहा है कि मोक्ष के कारणभूत सामायिक की प्रतिज्ञा लेकर जो अत्यन्त स्थूल सक्लेशरूप अशुभ परिणामो को तो छोडता है, परन्तु अत्यन्त स्थूल विशुद्ध परिणामो (शुभभावो) मे सतुष्ट होकर उन विशुद्ध परिणामो को छोडता नही है, वह सम्यग्दृष्टि नही है। इसकारण उसको सामायिक नही होता। राग की मदता हो तो पुण्य तो होता है, परन्तु वह पुण्य पवित्रता मे बाधक है, आत्मा की पवित्रता का घात करनेवाला है। धर्म की बात अलौकिक व सूक्ष्म है। भाई! धर्म की पर्याय शुद्ध है, क्योकि भगवान आत्मा स्वय परमपवित्र शुद्धस्वरूप है। पवित्र के आश्रय मे ही पवित्रता प्रगट होती है और पवित्रता प्रगट होना ही धर्म है।

श्री समयसार के परिशिष्ट मे ४७ शक्तियो का वर्णन किया है। वहाँ ऐसा कहा है कि आत्मा मे एक वीर्य नाम की शक्ति है तथा अपने स्वरूप की रचना करना ही वीर्य गुण का कार्य है। स्वरूप की रचना करने के बदले में जो दया, दान, व्रत इत्यादि शुभभावरूप राग को रचे, उसे यहाँ नपुंसक कहा है।

भगवान आत्मा अनंतबलस्वरूप है। इसका बलगुण परिणमन करके निर्मलता प्रगट करता है। सम्यग्दर्शन आदि निर्मल निश्चयरत्नत्रय प्रगट करे—ऐसा ही इसका स्वरूप है। भगवान की स्तुति वन्दना, सेवा, पूजा करो, व्रतादि पालो, उससे आत्मलाभ होगा—ऐसा कहने तथा माननेवाले सभी वीर्यगुण को नही जानते और आत्मा को भी नही जानते। भाई! ज्ञान व शुद्धता जिसका स्वभाव है—ऐसे निर्मलानंद प्रभु आत्मा के लक्ष्य से जो निर्विकार स्वसंवेदनरूप निर्मल शुद्धज्ञान का परिणाम होता है, उससे आत्मा जाना जाता है। व्रत, तप, पूजा भक्ति व्यवहार-रत्नत्रय के साधनो से आत्मा का ज्ञान नहीं होता। निश्चयरत्नत्रय स्वभाव के बल से प्रगट होता है अर्थात् निश्चयरत्नत्रय स्वसन्मुखता के पुरुषार्थ से प्रगट होता है, व्यवहाररत्नत्रय के साधन से नही।

प्रश्न :— परमात्मप्रकाश, द्रव्यसंग्रह इत्यदि शास्त्रो मे तो ऐसा आता है कि व्यवहाररत्नत्रय साधन है।

समाधान :— भाई! वहाँ तो जब निश्चय प्रगट होता है, तब बाह्य निमित्त क्या होता है—इसका ज्ञान कराया है। करण (साधन) नाम का आत्मा में एक गुण है। इस गुण के कारण आत्मा स्वयं ही अपने निर्मलभाव का साधकतम साधन है। अंतर्मुख होकर निजस्वभाव को साधकपने से परिणमन करती हुई जो आत्मा की निर्मल (निश्चय-रत्नत्रयरूप) पर्याय प्रगट हुई, वह आत्मा के साधन गुण का कार्य है, व्यवहाररत्नत्रय का कार्य नहीं है।

पुण्यभाव से धर्म का लाभ है यह आत्मा का कर्त्तव्य है—ऐसा माननेवाले तो अत्यन्त विमूढ़ हैं। 'अत्यन्त विमूढ़' ऐसा कठोर शब्द आचार्य ने प्रयोग किया है, परन्तु इसमे आचार्यदेव की करुणा ही टपकती है।

परमार्थरूप से भगवान आत्मा तो शुभाशुभ भाव से पार शुद्धता—पवित्रता का पिण्ड है, परन्तु अनेक अज्ञानीजन ऐसी पवित्रता से युक्त परमात्मस्वरूप शुद्धात्मा को नही जानते हुए राग, अध्यवसान विभावभाव आदि को आत्मा कहते हैं, वे नपुंसकपने से अत्यन्त विमूढ़ हो रहे हैं।

वे अज्ञानीजन ऐसा कहते हैं कि शुभभाव शुद्धभाव मे जाने के लिए नसैनी (सोपान या सीढी) है। पहले अशुभ से छूटकर शुभ मे आता है, पीछे शुभ के द्वारा शुद्ध मे जाता है। परन्तु भाई! यह परमार्थ से नसैनी (सोपान) नही है। क्या कभी राग से वीतरागता मे जाया जा सकता है? राग की दिशा परतरफ है व वीतराग की दिशा स्वतरफ है। दोनो की दिशा परस्पर विरुद्ध है। जिसकी दिशा विरुद्ध है, उसे शुद्धभाव की नसैनी कैसे कहा जा सकता है? परतरफ की ओर जानेवाले कदम रखते-रखते स्व मे कैसे जाया जा सकता है? शास्त्रो मे जो व्यवहार को निश्चय का साधन कहा है, वह तो निश्चय के साथ जो व्यवहार निमित्तरूप होता है, उसका ज्ञान कराने के लिए उपचार से कहा है।

कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने बहुत जोर देकर पुकार-पुकार कर कहा है कि मुनि तो नग्न दिगम्बर ही होते है। जो वस्त्र सहित हो, वे मुनि नही हैं। तथा जो वस्त्र सहित को मुनि माने-मनावे, स्त्री-मुक्ति माने-मनावे, जो इसीप्रकार की और भी अनेक अन्यथा बाते कहे, वे शास्त्र जैनशास्त्र नही हैं, वह शासन वीतराग शासन नही है।

(१) कोई तो ऐसा कहते है कि स्वाभाविक अर्थात् स्वयमेव उत्पन्न हुए राग-द्वेष से मलिन जो अध्यवसान हैं, वेही जीव हैं, क्योकि जैसे कालेपने से भिन्न कोई कोयला देखने मे नही आता; उसीप्रकार अध्यवसान से जुदा कोई जीव दिखाई नही देता। उन अध्यवसानो से जुदा कोई आत्मा ही नही है—ऐसी भी किन्ही-किन्ही अज्ञानियो की मान्यता है।

(२) कोई कहते है कि अनादि जिसका पूर्व अवयव है व अनत जिसका भावी अवयव है—ऐसी एक संसरणरूप (भ्रमणरूप) क्रिया से क्रीडा करता हुआ कर्म ही जीव है, क्योकि कर्म से भिन्न कोई जीव दिखाई नही देता। इसी बात को दूसरे प्रकार से कहे तो अनादि-अनन्त परिपाटी-रूप राग-द्वेषमय क्रिया के व्यापाररूप अवयव को धारण करनेवाला अवयवी आत्मा राग-द्वेषमय ही दिखाई देता है। अनादि सतानरूप चले आ रहे द्रव्यकर्मों का प्रवाह तथा उसमे जुडानरूप रागादि भावकर्म ही आत्मा है, क्योकि आत्मा का इससे भिन्न कोई अन्य स्वरूप हमे भासित ही नही होता। जडकर्म का उदय और उसके साथ रागरूप क्रिया ही जिसका अनादि-अनन्त कार्य है, वही आत्मा है, क्योकि इनसे भिन्न कोई अन्य आत्मा हमारे ज्ञान मे नही आता। द्रव्यकर्म के उदय व भावकर्म को एकमेक माननेवालो का ऐसा अभिप्राय है।

आत्मा त्रिकालशुद्ध चिद्रूप वस्तु है, उसे नही जानने के कारण स्वरूप से भ्रष्ट होकर रागादि कर्मरूप क्रिया मे ही जो तीनो काल वर्त रहा है, अर्थात् जो रागादिरूप क्रिया मे पहले था, अभी है व आगे रहेगा, बस, वही आत्मा है – ऐसी कुछ अज्ञानियो की मान्यता है। वे कहते है कि संसरण क्रियारूप से क्रीडा करता हुआ जो कर्म है, वही आत्मा है। कर्म के कारण जीव रखडता है और कर्म की क्रिया आत्मा की क्रिया है – ऐसा जो मानते हैं, उन्हे यहाँ मूढ व नपुसक कहा है।

(३) अन्य कोई कहते है कि तीव्र-मन्द अनुभव से भेदरूप होते हुए दुरन्त (जिसका अन्त दूर है) रागरूप रस से भरे हुए अध्यवसानो की सतति (परिपाटी) ही जीव है, क्योकि उससे अन्य अलग कोई जीव दिखाई नही देता। कितने ही अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि "राग तीव्र से मन्द व मन्द से तीव्र होता रहता है, राग का कभी अन्त नही आता, राग का अभाव हो – ऐसा आत्मा का स्वरूप ही नही है, अनादि-अनन्त राग की सतति ही आत्मा है, राग की सतति से रहित आत्मा का कोई स्वरूप नही है।" उन्हे यहाँ आचार्य ने मूढ व नपुसक कहा है।

बहुत से ऐसा कहते हैं कि जीव का मोक्ष हो जाने के बाद भी वह पुन ससार मे जन्म धारण करता है। अरे भाई! यह बात सर्वथा असत्य है। क्या चना अग्नि मे भुन जाने के बाद पुनः उग सकता है? जिसकी दृष्टि मे शुभभाव का निषेध हुआ, वह पुन कभी शुभ को नही करता (उसका कर्त्ता नही बनता), तो फिर मुक्त होने के बाद राग करे व ससार मे आवे यह कैसे हो सकता है?

अज्ञानियो ने राग के रस से रहित आत्मा अनादिकाल से भूतकाल मे कभी देखा नही है तथा भविष्य मे भी अनन्तकाल तक आत्मा रागमय ही रहेगा – इसप्रकार वे राग की संतति को ही आत्मा कहते है।

(४) कोई कहता है कि नई व पुरानी अवस्था के भाव से प्रवर्तमान नोकर्म ही जीव है, क्योकि इस शरीर से भिन्न कोई अलग आत्मा दिखाई नही देता। परन्तु भाई! दिखाई नही देता – ऐसा निर्णय किसने किया? जिसने यह निर्णय किया, वही आत्मा है। अर्थात् इसप्रकार तो आत्मा का ही अस्तित्व सिद्ध होता है।

भगवान आत्मा तो शुद्धज्ञायकस्वभावी वस्तु है। परन्तु ज्ञायक की ओर जिसका लक्ष्य नही है – ऐसे अज्ञानी पर्यायबुद्धि से शरीर को ही आत्मा मान लेते हैं। वे कहते है कि शरीर की उत्पत्ति मे ही जीव की

उत्पत्ति है, शरीर का जब तक सद्भाव है तब तक जीव है, शरीर का अवसान होते ही जीव का भी अवसान हो जाता है – ऐसा अज्ञानी जीवो का भ्रम है। उनका तर्क है कि अपनी इच्छानुसार शरीर मे शारीरिक क्रियाये देखी जाती हैं। जैसे सोना, उठना, बैठना, चलना, फिरना, हाथ ऊपर उठाना – नीचे करना आदि सभी कार्य इच्छानुसार होते दिखाई देते है। अत शरीर ही आत्मा है। इसप्रकार यह चार्वाक मत की मान्यता है।

(५) कुछ लोग ऐसा मानते है कि समस्त लोक को पुण्य-पापरूप से व्याप्त करता हुआ कर्म का फल ही जीव है, क्योकि शुभाशुभभाव से पृथक् अन्य कोई जीव दिखाई नही देता। अज्ञानी को समस्त लोक मे पुण्य-पाप का कर्तृत्व ही मात्र दिखाई देता है। शुभाशुभभावो से भिन्न भगवान आत्मा उसे दिखाई नही देता। परन्तु पुण्य-पाप से भिन्न आत्मा नही है – ऐसा निर्णय तो ज्ञान ने ही किया है न ? किन्तु इस ज्ञान पर अज्ञानी की दृष्टि नही जाती। यहाँ पुण्य-पाप के कर्त्ता की बात कही है। शुभाशुभभाव से भिन्न कोई आत्मा अज्ञानी को दिखाई नही देता।

(६) इस छठवें बोल मे भोक्तृत्व की बात ग्रहण की है। कहते हैं कि साता-असातारूप से व्याप्त समस्त तीव्र-मन्दत्वरूप गुणो द्वारा भेदरूप होनेवाला कर्म का अनुभव ही जीव है, क्योकि सुख-दु ख से अन्य अलग कोई जीव दिखाई नही देता। भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त गुणो का धाम है, परन्तु अज्ञानी की इस ओर दृष्टि नही है। यह तो साता मे मन्द व असाता मे तीव्र – ऐसे भेदरूप कर्म के अनुभव को ही जानता है और यही जीव है – ऐसा मानता है। साता के अनुभव मे सुख (अल्प दु ख) का वेदन तथा असाता के उदय मे दुःख (तीव्र दु ख) का वेदन दिखाई देता है। इसकारण जो सुख-दु ख का अनुभव होता है, उसे ही जीव मान लेता है।

अज्ञानी की दृष्टि निरन्तर पर्याय पर ही रहती है। चैतन्यमूर्ति त्रिकाली शुद्धात्मा की ओर उसकी दृष्टि ही नही है। इसकारण साता-असाता के उदय मे जो मोहजनित सुख-दु ख का वेदन है, उससे भिन्न शुद्ध आत्मजनित वेदन भी हो सकता है – इस बात का भावभासन अज्ञानी को नही होता। ऐसा पर्यायबुद्धि जीव अनन्तशक्तियो से मण्डित त्रिकाली शुद्ध आत्मद्रव्य की दृष्टि का अभाव होने से सुख-दु'ख की कल्पनास्वरूप जो साता-असाता का वेदन होता है, उसे ही भ्रमवश आत्मा मानता है।

(७) अन्य कोई ऐसा कहते है कि श्रीखण्ड की भाँति उभयरूप मिले हुए आत्मा व कर्म – दोनो ही मिलकर जीव है, क्योकि सम्पूर्णतया कर्मो से भिन्न कोई जीव दिखाई नही देता। अज्ञानी कहता है कि समस्त कर्मो से रहित भी कोई आत्मा होता है – ऐसा ज्ञात नही होता, किन्तु भाई! निश्चय से तो वस्तु त्रिकाल कर्मरहित ही है। परन्तु वह वस्तु-स्वभाव पर दृष्टि करे तब न? यह तो पर्याय मे आत्मा व कर्म – उभयरूप मिले हुए देखता है और इसकारण इसी को आत्मा मानता है। वास्तव मे तो 'कर्म से भिन्न जीव नही है' – इसे जाननेवाला स्वयं जीव ही तो है।

एकसमय की पर्याय व्यक्त है, प्रगट है और त्रिकाली वस्तु (आत्मा) अप्रगट है। अव्यक्त वस्तु प्रगट पर्याय मे नही आती है, इसलिए अव्यक्त - अप्रगट कहलाती है। यद्यपि वस्तु पर्याय मे नही आती, तथापि उसका ज्ञान पर्याय में आता है। वस्तुतः ज्ञान की पर्याय मे चैतन्य आत्मा ही ज्ञात हो रहा है। ज्ञान का निश्चय से स्व-परप्रकाशक स्वभाव होने से ज्ञायक इसमे ज्ञात हो ही रहा है, परन्तु अज्ञानी जीव की दृष्टि ज्ञायक पर नही है। पर्यायबुद्धि से पुण्य-पाप करना तथा साता-असातारूप सुख-दु ख का वेदन करना ही जीव है – ऐसी अज्ञानी की मान्यता है।

जो शुद्धभाव का कर्त्ता व अतीन्द्रिय आनंद का भोक्ता है, वही जीव है, परन्तु यह बात अज्ञानी को बैठती नही है। इसका निर्णय करने के लिए उसके पास समय ही कहाँ है? परन्तु भाई! आत्मा नही है, नही है – ऐसा निर्णय तू ज्ञान मे करता है या पुण्य-पाप के भावो में करता है या सुख-दु.ख की कल्पना मे करता है? सुख-दु ख की कल्पना तो अचेतन है, तथा शुभाशुभभाव भी जड है, अचेतन है। ये अचेतन भाव चैतन्यस्वरूप जीव के निषेध का निर्णय कैसे कर सकते हैं? जो आप ऐसा कहोगे कि ये निर्णय चेतन करता है तो जीव इन सब कर्मो से जुदा है – यह बात स्वत. सिद्ध हो जाती है। परन्तु जिसकी मान्यता मे पर्याय ही सर्वस्व है – ऐसे अज्ञानी जीव के समक्ष कर्म और आत्मा अलग-अलग खडे दीखें, तब वह उन्हे अलग-अलग माने और ऐसा उसे कही दीखता नही, इसकारण वह आत्मा व कर्म दोनो मिलकर जीव है – ऐसा ही मानता है।

वैसे तो यह नववे ग्रैवेयक तक गया, तब शास्त्रो से धारणारूप मे यह बात तो जानी थी कि शुभाशुभभाव व सुख-दु ख की कल्पना से आत्मा जुदा है। परन्तु यह बात धारणारूप से थी, वस्तुतत्त्व की यथार्थ श्रद्धा सहित नही थी। ग्यारह अंग पढा तो इसमे आत्मा और भेदज्ञान की सब बातें आई थी, यहाँ तक कि तब यह अज्ञानी दूसरो को उपदेश भी देता

था कि आत्मा शुभाशुभभाव से भिन्न, अखण्ड, एक है, परन्तु इसे शुभाशुभ भाव से भिन्न आत्मा का अनुभव नही हुआ था। 'भगवान आत्मा आनद-स्वरूप है' इस ओर इसकी दृष्टि नही गई थी। ऐसे आत्मा की प्रतीति नही हुई थी, शास्त्र के अनुसार कहता था, अनुभव के आधार पर नही।

यहाँ इस गाथा मे तो स्थूलपने जो ऐसा मानता है कि 'कर्म से जुदा जीव दिखाई नही देता' उसकी बात कही है। किन्तु वास्तव मे तो ग्यारह अग के पाठी अज्ञानी की भी अतरग मे ऐसी ही मान्यता है। शुभाशुभभाव का कर्त्तृत्व आत्मवस्तु मे नही है, आत्मवस्तु तो ज्ञायक ही है। इसप्रकार की धारणा तो की, परन्तु पर्यायबुद्धि नही टूटी। कर्म व आत्मा पृथक् है, इसप्रकार नवतत्त्वो को जुदा जानता तो था, किन्तु भेद-ज्ञानपूर्वक उनसे आत्मा को जुदा अनुभव नही कर सकता था। यह ज्ञान-दर्शनरूप चैतन्यशक्तिमय जो स्वतत्त्व है, वह पुण्य-पाप व सुख-दुख के वेदन से भिन्न है – ऐसी धारणा (क्षयोपशमज्ञान मे याद रखनेरूप जानकारी) तो थी, परन्तु भेदज्ञान प्रगट कर भिन्नता नही की थी, मान्यता नही पलटी थी, दृष्टि नही फिरी थी। पर व पर्याय पर जो लक्ष्य था वह वही अटका था। स्वद्रव्य की सन्मुखता किये बिना विमुखपने मात्र बाहर से धारणा की। परन्तु उससे क्या? आत्मा कही परलक्ष्य से, शास्त्रज्ञान से जाना जा सके – ऐसा पदार्थ नही है।

शुभभाव से रहित आत्मा चैतन्यस्वरूप है, ऐसा व्यवहार श्रद्धा मे इसने माना था। व्यवहार श्रद्धा मे अर्थात् अचेतन श्रद्धा मे (राग मे) माना था, परन्तु वस्तु जो त्रिकाल आनद का नाथ प्रभु अकेला ज्ञायक सत्त्वपने विराजमान है, उसका अन्तर मे माहात्म्य नही आया। यह तो पुण्य-पाप की महिमा मे ही अटका रहा। इसने ऐसा तो सुना था कि 'जो आत्मा का शुद्ध वेदन करे, वही आत्मा है,' परन्तु वह पुण्य-पापसहित वेदन की धारणा थी। ज्ञायक अखण्ड चैतन्यशक्ति चिदानदरूप ध्रुव-ध्रुव-ध्रुव एकाकारस्वरूप ही वास्तव मे है, पर्याय मे इसका स्वीकार करके, यह चेतनतत्त्व ही मैं हूँ – ऐसा वेदन किये बिना विकल्प मे ही अहपने की धारणा की थी, परन्तु आत्मा का प्रत्यक्ष वेदन करके शुद्ध आत्मा मे अह स्थापित नही किया था। स्वभाव के अन्तर मे जाकर 'यह मैं हूँ' ऐसी प्रतीति नही की थी। 'अन्तर मे जाकर' का अर्थ ऐसा नही है कि वर्त्तमान पर्याय ध्रुव मे एकमेक होकर जानती है। 'अन्तर मे जाकर' अर्थात् स्वसन्मुख होकर। पर्याय जब ध्रुव के सन्मुख होती है, तब परिपूर्ण तत्त्व का प्रतिभास होता है। यही 'अन्तर मे जाकर' का अर्थ है।

श्री समयसार की १४४वी गाथा की टीका मे यह बात कही है कि श्रुतज्ञान तत्त्व को भी आत्मसन्मुख करके अत्यन्त विकल्परहित होकर तत्काल निजरस से ही प्रगट होता हुआ आदि, मध्य और अन्त से रहित, अनाकुल, केवल एक सम्पूर्ण ही विश्व पर मानो तैरता हो; ऐसे अखण्ड प्रतिभासमय "अर्थात् पर्याय मे अखण्ड का प्रतिभास होता है। अखण्ड वस्तु पर्याय मे नही आती, परन्तु अखण्ड प्रतिभासमय आत्मा का ज्ञान पर्याय मे आता है, पर्याय मे परमात्मस्वरूप का ज्ञान हो जाता है – ऐसा ज्ञात हो तब पर्याय मे परमात्मपना कार्यरूप मे परिणमित होता है। पर्याय तो खण्ड है, अश है। वह जब आत्मा की ओर ढलती है, तव उसमे अखण्ड प्रतिभासमय आत्मवस्तु सम्पूर्ण ज्ञात होती है, अनुभव मे आती है।

वास्तव मे तो द्रव्य, गुण, पर्याय मे प्रमेयत्वगुण व्याप्त है, इस कारण पर्याय मे (ज्ञान मे) द्रव्य-गुण-पर्याय ज्ञात होते हैं; परन्तु अज्ञानी को त्रिकाली आत्मद्रव्य अपनी पर्याय मे ही ज्ञात होता है – ऐसा लक्ष्य नही है, क्योकि उसकी दृष्टि अन्तर्मुख नही है। अतर्मुख ज्ञान की बात इसने (अज्ञानी ने) पर्याय मे धारण तो की थी, परन्तु ज्ञान की वर्त्तमान प्रगट अवस्था को (प्रगट पर्याय को) स्वज्ञेय मे नही ढाली थी। इसकारण धारणा मे आकर के भी अज्ञानी ही रह गया। ज्ञान की प्रगट पर्याय त्रिकाली आत्मद्रव्य को तथा स्वय को भी जानती है, परन्तु वस्तु के स्वभाव को स्पर्श नही करती। ज्ञान ज्ञान को जानता तो है, परन्तु 'मैं ज्ञान को जानता हूँ' – ऐसी इसको खबर नही। ज्ञान ज्ञान को जानता है – ऐसा निश्चित हो जावे तो ज्ञेय इसमे ज्ञात होते है – यह भी निश्चित हो जावे।

श्री नियमसार की ३८वी गाथा मे ऐसा आता है कि पर्याय है – यह तो व्यवहार आत्मा है। मोक्षमार्ग की पर्याय भी व्यवहार है। निश्चय आत्मा तो त्रिकाली, शुद्ध, ध्रुव ध्रुव ध्रुव पर्याय की सक्रियतारहित, निष्क्रिय वस्तु है। श्री समयसार की ३२०वी गाथा की श्री जयसेनाचार्य की टीका मे भी कहा है कि आत्मा निष्क्रिय है। परन्तु यह निष्क्रिय (आत्मा) सक्रिय (पर्याय) मे ज्ञात होता है। सर्वज्ञ का यह ऐसा अद्भुत मार्ग है। जिसके पथ मे सर्वज्ञ नही है अर्थात् जो सर्वज्ञ को नही मानता उसके पथ मे सत्य बात होती ही नही है।

जो केवली के पहले दर्शनोपयोग पीछे ज्ञानोपयोग – ऐसा क्रम मानते है तथा केवली के क्षुधा की पीडा एव उसकी निवृत्ति के लिए आहार का ग्रहण मानते हैं – उन्हे सर्वज्ञ के सच्चे स्वरूप की खबर नही है। पूर्ण

ज्ञान की महिमा व ज्ञान से वे परिचित नही हैं। आत्मा अन्दर सर्वज्ञशक्ति से परिपूर्ण भरा हुआ है। इसके सन्मुख होकर इसमे पूर्ण एकाग्र होने पर पर्याय मे सर्वज्ञता प्रगट हो जाती है। सर्वज्ञपना प्रगट होने पर अतीन्द्रिय आनद की पूर्ण बाढ आती है – इसकी अज्ञानी को खबर नही है। केवली सर्वदर्शी व सर्वज्ञ एक ही साथ हैं, सर्वज्ञत्व व सर्वदर्शित्व मे कालभेद नही है।

यहाँ इस गाथा मे अज्ञानी कहता है कि 'कर्म व आत्मा दोनो एक है, क्योकि कर्म की क्रिया के अनुभव से जुदा आत्मा हमे कही दिखाई नही देता।' परन्तु भाई! कहाँ से दीखे, जहाँ प्रभु (आत्मा) पडा है, वहाँ तू देखता ही नही है। 'कर्म व आत्मा दोनो मिलकर जीव हैं – यह तेरी मान्यता पूर्ण शुद्ध आनदघन, प्रभु आत्मा की हिंसा करनेवाली है। इस मान्यता से तू अपनी ही हिंसा करता है। जीवती जागती ज्योति (त्रिकाली जीवद्रव्य) का तू निषेध करता है, यही हिंसा है। भाई! वीतराग का, अहिंसा का मार्ग बहुत सूक्ष्म है। जगत बेचारा व्रत, उपवास इत्यादि शुभभावरूप क्रियाकाण्ड मे उलझ गया है, परन्तु निश्चय से शुभभाव व अशुभभाव – दोनो मे चैतन्यस्वरूप की नास्ति है।

(८) इस आठवें बोल मे अन्य कोई यह कहता है कि अर्थक्रिया मे (प्रयोजनभूत क्रिया मे) समर्थ ऐसा जो कर्म का सयोग है, वही जीव है, क्योकि जैसे आठ लकडियो के सयोग से भिन्न अलग कोई पलग दिखाई नही देता, इसीप्रकार कर्मों के सयोग से भिन्न अलग कोई जीव दिखाई नही देता। यहाँ पलग का दृष्टान्त देकर समझाया है कि खाट आठ लकडियो के सयोग से बनती है। चार पाये, दो पाटी एव दो सियरा – इसप्रकार आठ लकडियो से मिलकर बनी खाट आठ लकडियो के अलावा कुछ नही है। इसीप्रकार अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि आठ कर्मों का सयोग ही जीव है। जबकि आत्मा सयोग से रहित असयोगी शुद्धवस्तु है। अज्ञानी की वहाँ दृष्टि नही है। इसकारण उसे 'आठकर्म' मिलकर ही जीव है – ऐसा विपरीत भासित होता है।

इसप्रकार मिथ्या मान्यता के कितने ही प्रकार (भेद) यहाँ बताये हैं, इनके अतिरिक्त भी असख्य प्रकार की मिथ्या मान्यताएँ होती हैं, परन्तु वस्तु को यथार्थ जाननेवाले गणधर आदि उन्हे सच्चा नही कहते।

गाथा ३९ से ४३ के भावार्थ पर प्रवचन

जीव-अजीव दोनो अनादि से एकक्षेत्रावगाह सयोगरूप मिल रहे हैं। दोनो आकाश के एक प्रदेश मे रहते है। अनादि से ही जीव की पुद्गल

के सयोग से विकारसहित अवस्था हो रही है। परमार्थदृष्टि से देखने पर जीव तो अपने चैतन्य आदि भावो को नही छोडता और पुद्गल अपने मूर्तत्व, जडत्व आदि को नही छोडता। आत्मा अपने ज्ञान-दर्शनस्वरूप आनदस्वरूप, शान्तस्वरूप, स्वच्छतास्वरूप इत्यादि निजस्वभाव को कभी नही छोडता। पर्याय मे अनेक प्रकार के विकारीभाव होने पर भी वस्तु मे अपनी अनतशक्ति से भरा हुआ जो एक चैतन्यस्वभाव है, वह उसे कैसे छोडे ? जीव अपना अस्तित्व मिटाकर अजीव कैसे हो ? उसीप्रकार पुद्गल भी अपना जड़त्व छोड़कर जीवरूप कैसे हो ?

जीव-अजीव सर्वद्रव्य अपने-अपने स्वभाव मे ही स्थित रहते है – ऐसी ही वस्तु के स्वरूप की मर्यादा है। परन्तु जो परमार्थ को नही जानते वे सयोग से हुए भावो को ही जीव कहते है। परमार्थ से पुद्गल से भिन्न जीव का स्वरूप सर्वज्ञ को दिखाई देता है, उसीप्रकार सर्वज्ञ की परम्परा द्वारा आगम से जाना जा सकता है। इसीकारण जिसके मत मे सर्वज्ञ नही है – वे अपनी बुद्धि से अनेक कल्पना करके कहते हैं। वेदान्ती, मीमासक, साख्य, योग बौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक, चार्वाक आदि मतो के आशय लेकर आठ प्रकार तो प्रगट कहे तथा अन्य भी अपनी-अपनी बुद्धि से अनेक प्रकार से कथन करते है, उन्हे कहाँ तक कहे ? ऐसा कहनेवाले सत्यार्थवादी क्यो नही है ? यह बात अब आगे की गाथा मे कहेगे।

परम प्रतीति उपजाय गनधर की सी,
अन्तर अनादि की विभावता विदारी है।
भेदग्यान दृष्टि सौ विवेक की सकति साधि,
चेतन अचेतन की सदा निरवारी है॥
करम कौ नास करि अनुभौ अभ्यास धरि,
हिए मैं हरखि निज उद्धता सँभारी है।
अतराय नास भयौ सुद्ध परकास थयौ,
ग्यान कौ विलास ताकौ वदना हमारी है॥

– समयसार नाटक, अजीवद्वार, छद २

कुत :–

एदे सव्वे भावा पोग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा ।
केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति वुच्चंति ।।४४।।

एते सर्वे भावाः पुद्गलद्रव्यपरिणामनिष्पन्नाः ।
केवलिजिनैर्भणिताः कथ ते जीव इत्युच्यते ।।४४।।

यतः एतेऽध्यवसानादयः समस्ता एव भावा भगवद्भिर्विश्वसाक्षिभिरर्हद्भिः पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वेन प्रज्ञप्ताः संतश्चैतन्यशून्यात्पुद्गलद्रव्यादतिरिक्तत्वेन प्रज्ञाप्यमानं चैतन्यस्वभावं जीवद्रव्यं भवितु नोत्सहंते ततो न खल्वागमयुक्तिस्वानुभवैर्बाधितपक्षत्वात् तदात्मवादिन· परमार्थवादिनः । एतदेव सर्वज्ञवचनं तावदागमः । इय तु स्वानुभवगर्भिता युक्तिः । न खलु नैसर्गिकरागद्वेषकल्माषितमध्यवसान जीवस्तथाविधाध्यवसानात्कार्तस्व-

---

ऐसा कहनेवाले सत्यार्थवादी क्यो नही हैं सो कहते हैं –

पुद्गलदरव परिणाम से, उपजे हुए सब भाव ये ।
सब केवली जिन भाषिया, किस रीत जीव कहो उन्हे ।।४४।।

गाथार्थ :– [एते] यह पूर्वकथित अध्यवसान आदि [सर्वे भावाः] भाव हैं, वे सभी [पुद्गलद्रव्यपरिणामनिष्पन्ना] पुद्गलद्रव्य के परिणाम से उत्पन्न हुए है, इसप्रकार [केवलिजिनै] केवली सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेव ने [भणिताः] कहा है । [ते] उन्हे [जीवः इति] जीव – ऐसा [कथं उच्यंते] कैसे कहा जा सकता है ?

टीका :– यह समस्त अध्यवसानादि भाव, विश्व के (समस्त पदार्थों के) साक्षात् देखनेवाले भगवान (वीतराग सर्वज्ञ) अरहतदेवो के द्वारा, पुद्गलद्रव्य के परिणाममय कहे गये हैं, इसलिये वे चैतन्यस्वभावमय जीवद्रव्य होने के लिये समर्थ नही हैं कि जो जीवद्रव्य चैतन्यभाव से शून्य ऐसे पुद्गलद्रव्य से अतिरिक्त (भिन्न) कहा गया है, इसलिये जो इन अध्यवसानादिक को जीव कहते हैं – वे वास्तव मे परमार्थवादी नही हैं, क्योकि आगम, युक्ति और स्वानुभव से उनका पक्ष बाधित है । उसमे 'वे जीव नही हैं' – यह सर्वज्ञ का वचन है, वह तो आगम है और यह (निम्नोक्त) स्वानुभवगर्भित युक्ति है – स्वयमेव उत्पन्न हुए राग-द्वेष के द्वारा मलिन

रस्येव श्यामिकाया अतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात्। न खल्वनाद्यनंतपूर्वापरीभूतावयवैकसंसरणलक्षणक्रियारूपेण क्रीडत्कर्मैव जीवः कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात्। न खलु तीव्रमंदानुभवभिद्यमानदुरन्तरागरसनिर्भराध्यवसानसंतानो जीवस्ततोतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात्। न खलु नवपुराणावस्थादिभेदेन प्रवर्तमानं नोकर्म जीवः शरीरादतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात्। न खलु विश्वमपि पुण्यपापरूपेणाक्रामन् कर्मविपाको जीवः शुभाशुभभावादतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात्। न खलु सातासातरूपेणाभिव्याप्तसमस्ततीव्रमंदत्वगुणाभ्यां भिद्यमानः कर्मानुभवो जीवः सुखदुःखातिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य

अध्यवसान हैं वे जीव नही है, क्योकि कालिमा से भिन्न सुवर्णकी भाँति; अध्यवसान से भिन्न अन्य चित्स्वभावरूप जीव भेदज्ञानियो के द्वारा स्वय उपलभ्यमान है अर्थात् वे चैतन्यभाव को प्रत्यक्ष भिन्न अनुभव करते हैं ।।१।। अनादि जिसका पूर्व अवयव है और अनन्त जिसका भविष्य का अवयव है— ऐसी एक ससरणरूप क्रिया के रूप मे क्रीडा करता हुआ कर्म भी जीव नही है, क्योकि कर्म से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियो के द्वारा स्वय उपलभ्यमान है अर्थात् वे उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।।२।। तीव्र-मद अनुभव से भेदरूप होनेपर, दुरत रागरस से भरे हुये अध्यवसानो की सतति भी जीव नही है, क्योकि उस सतति से अन्य पृथक् चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियो के द्वारा स्वय उपलभ्यमान है अर्थात् वे उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।।३।। नई पुरानी अवस्थादिक के भेद से प्रवर्तमान नोकर्म भी जीव नही है, क्योकि शरीर से अन्य पृथक् चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियो के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे उसे प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।।४।। समस्त जगत को पुण्यपापरूप से व्याप्त करता कर्मविपाक भी जीव नही है, क्योकि शुभाशुभभाव से अन्य पृथक् चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियो के द्वारा स्वय उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वय उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते है ।।५।। साता-असातारूप से व्याप्त समस्त तीव्रमदतारूप गुणो के द्वारा भेदरूप होनेवाला कर्म का अनुभव भी जीव नही है, क्योंकि सुख-दु ख से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियो के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वय उसका 'प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।।६।। श्रीखण्ड की भाँति उभयात्मकरूप से मिले हुए आत्मा और कर्म

विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खलु मज्जितावदुभयात्मकत्वादात्म-कर्मोभयं जीवः कात्स्न्र्यतः कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खल्वर्थक्रियासमर्थः कर्मसंयोगो जीवः कर्मसंयोगात्खट्वाशायिनः पुरुषस्येवाष्टकाष्ठसयोगादतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वादिति ।

दोनो मिलकर भी जीव नही है, क्योकि सम्पूर्णतया कर्मों से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियो के द्वारा स्वय उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वय उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।।७।। अर्थक्रिया मे समर्थ कर्म का सयोग भी जीव नही है, क्योकि आठ लकडियो के सयोग से (—पलग से) भिन्न पलग पर सोनेवाले पुरुष की भाँति, कर्मसयोग से भिन्न अन्य चैतन्य-स्वभावरूप जीव भेदज्ञानियो के द्वारा स्वय उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वय उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते है ।।८।। (इसीप्रकार अन्य किसी दूसरे प्रकार से कहा जाये तो वहाँ भी यही युक्ति जानना ।)

भावार्थ :— चैतन्यस्वभावरूप जीव, सर्व परभावो से भिन्न, भेद-ज्ञानियो के अनुभवगोचर है, इसलिये अज्ञानी जैसा मानते हैं, वैसा नही है।

गाथा ४४ की उत्थानिका, गाथा व उसकी टीका पर प्रवचन

पिछली गाथाओ मे अनेक प्रकार की मिथ्या मान्यताएँ वताईं । अब यहाँ गाथा ४४ मे उनका निराकरण करते हैं।

इन अध्यवसानादि भावो का अस्तित्व है। अशुद्धता है ही नही — ऐसा कोई कहे तो उसका यह कहना भी ठीक नही है । यदि अशुद्धता हो ही नही तो फिर दु ख से छूटने का उपदेश ही क्यो हो ? दु ख न हो तो दु ख से छूटने की बात ही नही रहती । दु ख से मुक्त होने का जो जिनोपदेश है, उसका अर्थ ही यह है कि एक (शुद्ध) आत्मा के सिवाय ससारी जीवो को पर्याय में दु ख भी है । कोई ऐसा कहे कि आत्मा मे गुण नही हैं तो भी ठीक नही है । हाँ प्रकृति मे जो रजोगुण तमोगुण इत्यादि हैं, वे आत्मा मे नही हैं, यह वात तो ठीक है, किन्तु वस्तु के गुण तो वस्तु मे हैं ही ।

प्रश्न :— श्री प्रवचनसार मे अलिंगग्रहण के १८वे बोल मे आता है कि 'आत्मा गुणविशेष से आलिंगित नही होता' — ऐसा शुद्धद्रव्य है ?

उत्तर :— भाई ! वहाँ बात दूसरी है । वहाँ ऐसा कहा है कि जो सामान्यवस्तु ध्रुव ध्रुव ध्रुव अखण्ड एकाकार है, वह गुणविशेषरूप से हुई नहीं है । ध्रुव सामान्य चिद्रूपवस्तु मे गुण हैं तो अवश्य, परन्तु गुण व

गुणी का भेद नही है। गुण-गुणी का भेद लक्ष्य मे लेने पर विकल्प – राग उठता है। इसकारण ध्रुवसामान्य गुणविशेषों का आलिंगन न करता हुआ शुद्धद्रव्य है। भाई! सूक्ष्म बात है। सम्यग्दर्शन का विषय अभेद एकाकार है, गुण-गुणी का भेद सम्यक्त्व का विषय नही है। सम्यग्दर्शन पूर्णसत्, अभेद, एकरूप, सामान्य, चैतन्यस्वरूप आत्मवस्तु के लक्ष्य से होता है। वस्तु त्रिकाल अभेद है। यद्यपि भेद की दृष्टि से देखने पर उसमे भेद भी हैं, तथापि वह कभी भी भेदरूप नही हुई है। वस्तु का सहजस्वरूप ही ऐसा है।

अरिहंत सर्वज्ञ परमात्मा के अनुसार ये सभी अध्यवसानादि भाव पुद्गलद्रव्यमय हैं। देखो! श्री अरिहन्तदेव विश्व के समस्त पदार्थों को साक्षात् जानते-देखते हैं। उनके केवलज्ञान व केवलदर्शन मे स्व-परप्रकाशकपने की पूर्ण सामर्थ्य प्रगट हुई है, इससे वे विश्व को जानते-देखते हैं।

वास्तव मे तो आत्मज्ञता ही सर्वज्ञता है। केवलज्ञान-पर्याय का स्वभाव ही ऐसा है कि वह स्व व पर को सम्पूर्णतया प्रकाशित करती है। लोकालोक है – इसकारण केवलज्ञानपर्याय मे उसका ज्ञान होता है, ऐसी पराधीनता ज्ञान मे नही है। स्व-परप्रकाशकपने की सामर्थ्य स्वयं से ही प्रगट हुई है। अरिहन्तदेव विश्व को साक्षात् देखते हैं अर्थात् अपनी पर्याय मे ही पूर्णता को देखते हैं। जैसे रात्रि मे सरोवर के पानी मे तारे, चन्द्र वगैरह दिखाई देते हैं, वह वास्तव मे तो पानी की अवस्था ही दिखाई देती है, उसीप्रकार ज्ञान वास्तव मे तो ज्ञान को ही सम्पूर्णरूप से जान रहा है। श्री अरिहंतदेव के केवलज्ञान की दशा ऐसी स्वच्छ व निर्मल प्रगट हुई है कि इसे देखते ही सम्पूर्ण लोकालोक ज्ञान मे आ जाता है। यहाँ सिद्ध भगवन्तो की बात नही की है, क्योकि सिद्धो मे अरिहत की तरह वाणी (दिव्यध्वनि) नही होती। उन वीतराग सर्वज्ञ अरिहन्तदेव ने दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, पूजा, शील, संयम आदि शुभभावो को पुद्गलद्रव्य के परिणाममय कहा है।

प्रश्न :– शुभभावो को पुद्गलद्रव्य के परिणाममय क्यो कहा ?

उत्तर :– आत्मवस्तु तो चैतन्यघनस्वरूप है और ये शुभभाव चैतन्य के स्वभावमय नही हैं। श्री समयसार गाथा ६८ की टीका मे कहा है कि 'कारण के अनुसार ही कार्य होता है' जैसे – जौ मे से जौ ही होते हैं, उसीप्रकार चैतन्य में से चैतन्य परिणाम ही होते हैं। आत्मा ज्ञानानदस्वभावी है; अतः उसमे से ज्ञान व आनद की दशा ही उत्पन्न होती है। उसमे से जड़-अचेतन शुभाशुभभाव कैसे होगे ? इसकारण पाँच महाव्रत, बारह व्रत,

आदि के जो शुभविकल्प हैं, वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय हैं, चैतन्य के परिणाममय नही हैं।

अशुद्धनिश्चयनय से उन्हे जीव के कहते हैं। अशुद्धनिश्चनय अर्थात् व्यवहारनय। वास्तव मे तो वे पर के आश्रय (कर्मोदय के निमित्त) से होने से पर के ही हैं। यहाँ उनको पुद्गलद्रव्य के परिणाम भी न कहकर अभेदपने पुद्गलद्रव्य के परिणाममय, अर्थात् पुद्गलद्रव्य के परिणामो से एकमेक कहा है। भाई! भगवान जिनेश्वर का मार्ग अद्भुत व अलौकिक है। भले ही मदकषाय का भाव हो, भगवान केवली ने इसे पुद्गलद्रव्य का परिणाम कहा है, क्योकि उसमे चैतन्य के नूर का अश नही है। कोई इन्हे मोक्ष का मार्ग कहे तो यह महान विपरीतता है। भले ही इस राग के परिणाम मे स्पर्श, रस, गध, वर्ण नही हैं, परन्तु इस परिणाम मे चैतन्यपने का अभाव है, इसकारण पुद्गल के परिणाममय है। आगे गाथा ६८ की टीका मे अतिस्पष्टरूप से कहा है कि ये मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान पौद्गलिक मोहकर्म की प्रकृति के उदयपूर्वक होने से सदा ही अचेतन हैं, अत पुद्गल हैं, जीव नही हैं, क्योकि कारण जैसा ही कार्य होता है।

अब कहते है कि वे अध्यवसान आदि भाव चैतन्यस्वभावमय जीवद्रव्य होने मे समर्थ नही है। इसीकारण जीवद्रव्य को चैतन्यभाव से शून्य – ऐसे पुद्गलद्रव्य से अतिरिक्त (भिन्न) कहा गया है। भगवान आत्मा चैतन्यस्वभावमय एक ज्ञायकमात्र है। तथा जो ये रागादि परिणाम दया, दान, व्रत, भक्ति आदि शुभभावरूप परिणाम हैं, उनको अरिहन्तदेव ने पुद्गलद्रव्य के परिणाममय कहा है, इसकारण वे चैतन्यभावमय जीवद्रव्य होने मे समर्थ नही हैं। अहाहा! गजब की बात है। चाहे भगवान की स्तुति हो, वदना हो, भक्ति हो या व्रत-तप के विकल्प हो अथवा छहकाय के जीवो की रक्षा के परिणाम हो – ये सभी पुण्यभाव जीवद्रव्य होने मे समर्थ नही हैं, क्योकि पुद्गलपरिणाममय हैं; अत अधर्म के परिणाम है।

श्री समयसार कलश के १०८ वें कलश मे प्रश्न उठाकर कहा है कि "यहाँ कोई जानेगा कि शुभाशुभक्रिया के आचाररूप जो चारित्र है, वह करने योग्य नही है, तो निषेध करने योग्य भी तो नही है? उत्तर इसप्रकार है कि – वर्जन करने योग्य है – कारण कि व्यवहारचारित्र होता हुआ दुष्ट है, अनिष्ट है, घातक है, इसलिए विषय-कषाय के समान क्रियारूप चारित्र निषिद्ध है" – ऐसा कहा है। अत शुभभावो की प्रतिज्ञा लेकर कोई ऐसा माने कि धर्म हो गया तो वह अज्ञान का पोषण करता है। शुभभाव भी विषय-कषाय की तरह ही अनिष्ट व आत्मघातक है। इसकारण

जिसप्रकार विषय-कषाय का निषेध है, उसीप्रकार पुण्य-परिणामरूप बाह्य चारित्र का भी निषेध है। यह बात लोगो को कठिन लगती है, परन्तु क्या करे ? व्यवहारचारित्र का परिणाम चैतन्यभाव से शून्य है, इसकारण वह जीवद्रव्य होने मे समर्थ नही है तथा जो जीव होने मे समर्थ नही है, वह मोक्षमार्ग कैसे हो सकता है ?

इस पंचमकाल के साधु परमेष्ठी भगवान कुन्दकुन्दाचार्य व अमृतचन्द्राचार्य ने सर्वज्ञ भगवान की दिव्यध्वनि का सदेश हम तक पहुँचाया है कि – ज्ञायकस्वभावमय, चैतन्यस्वभावमय जीवद्रव्य चैतन्यस्वभाव से शून्य पुद्‌गलद्रव्य से भिन्न है; इसलिए जो अध्यवसानादि को जीव कहते हैं, वे वास्तव मे परमार्थवादी नही हैं। व्यवहार से निश्चय होता है – ऐसा कहने व माननेवाले परमार्थवादी नही हैं। शुभभावरूप जो व्यवहार है, वह तो अजीव है। यह अजीव मोक्षमार्ग का साधन कैसे हो ? जो बधस्वरूप है, वह मोक्ष का साधन कैसे हो ?

श्री प्रवचनसार मे आता है कि 'मोक्षमार्ग का भाव' यह जीव का व्यवहार है, आत्म व्यवहार है। निश्चयसमकित, निश्चयज्ञान व निश्चयचारित्र – ऐसी निश्चयरत्नत्रयरूप निर्विकल्प वीतराग परिणति आत्मा का सद्‌भूतव्यवहार है, रागादि विकल्प तो असद्‌भूतव्यवहार है, चारगतियो मे रखडने का व्यवहार है। आत्मा परिपूर्ण आनदस्वरूप चैतन्यघनस्वभावी भगवान है, उसके आश्रय से जो निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वीतरागी पर्याय प्रगट होती है, वह आत्मा का व्यवहार है। ऐसा मार्ग जिसके अन्तर मे बैठे, उसकी दशा अलौकिक होती है।

यहाँ कहते है कि शुभभाव से आत्मा को लाभ होता है – इसप्रकार शुभभाव को जीव कहनेवाले व्यक्ति परमार्थवादी नही हैं, क्योकि आगम, युक्ति व स्वानुभव से उनका पक्ष बाधित है।

शुभाशुभभाव मे जीव नही है, ऐसा यह सर्वज्ञ का वचन आगम है। जिस आगम मे पर की दया से धर्म माना हो, पर की दया को सिद्धात का सार कहा हो, वह जैनागम नही है। जैनागम मे तो पूजा, भक्ति, व्रत, तप, दया, दान आदि के विकल्पो मे जीवपने का स्पष्ट निषेध किया है। आगमस्वरूप अर्हंत्-प्रवचन मे शुभभावो को अजीव कहा है। 'पर की दया मैं पाल सकता हूँ' – ऐसी मान्यता जैनागम मे मिथ्यात्व कही गई है। 'पर की मै रक्षा करूँ', ऐसा जो विकल्प है – वह शुभभाव है, राग है। ये मिथ्या मान्यताएँ व राग जीव नही है – ऐसा जो सर्वज्ञ का वचन है, वह आगम है।

कोई ऐसा माने कि 'जीव की रक्षा करने के लिए या दूसरे जीव की हिंसा न करने के लिए भगवान की दिव्यध्वनि हुई है,' सो उसका यह मानना ठीक नही है, क्योकि भगवान की वाणी मे तो आत्मा के पूर्ण आनद की व वीतरागी शान्ति की दशा प्रगट करने की बात कही है। भगवान की दिव्यध्वनि मे तो ऐसा आया है कि पर जीव को तू मार या बचा नही सकता। तथा पर जीव की रक्षा करने का जो भाव होता है, वह सम वास्तव मे तो अपने आत्मा की हिंसा करनेवाला परिणाम है। पर जीव की दया पालनेवाला भाव राग है, इसकारण वह स्वरूप की हिंसा करने वाला भाव है। पुरुषार्थसिद्धयुपाय मे अमृतचन्द्राचार्य ने रागादि के प्रादुर्भाव को हिंसा तथा रागादि के अप्रादुर्भाव को अहिंसा कहा है। ऐसा मोक्षमार्ग है और ऐसे मोक्षमार्ग का कहनेवाला वीतराग सर्वज्ञदेव का वचन आगम है। उस आगम मे राग को जड़स्वभाव अजीव कहा है, वह अजीवमय राग जीव को लाभकारी कैसे हो सकता है? कदापि नही हो सकता।

(१) अब स्वानुभवगर्भित युक्ति से यही कहते हैं। स्वयमेव उत्पन्न हुए राग-द्वेष से मलिन अध्यवसानादिभाव जीव नही हैं, क्योकि कालिमा से जुदे स्वर्ण की भाति अध्यवसानादि भावो से भिन्न चित्स्वभावरूप जीव भेदज्ञानियो द्वारा स्वय उपलभ्यमान है अर्थात् वे प्रत्यक्ष चैतन्यभाव का भिन्न अनुभव करते है।

अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि जैसे कालिमा से भिन्न कोई कोयला नही है, उसीप्रकार अध्यवसानादि भावो से भिन्न कोई आत्मा नही है। उनको युक्ति से उत्तर देते है कि कालिमा से भिन्न जैसे स्वर्ण है, उसीप्रकार अध्यवसान से भिन्न अन्य चित्स्वभावमय आत्मा है। स्वर्ण मे जो कालिमा (मैल) दिखाई देती है, उससे स्वर्ण भिन्न है। जो कालिमा है, वह स्वर्ण नही है, किन्तु मैल है; उसीप्रकार पर्याय मे जो पुण्य-पापरूपभाव हैं, वे आत्मा नही हैं, वे तो मैल हैं। इसप्रकार कालिमा से भिन्न स्वर्ण की भाँति अध्यवसान से भिन्न चित्स्वभावमय जीव है – यह युक्ति कही है।

अब इसी बात को अनुभव से सिद्ध करते है। भेदज्ञान करनेवाले जीवो को राग से भिन्न – अध्यवसानादिभावो से भिन्न भगवान आत्मा स्वय उपलभ्यमान है। अहाहा! अखण्ड एक ज्ञानानदस्वभावी आत्मा को भेदज्ञानी अध्यवसानादिभावो से भिन्न प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। अध्यवसान से जुदा अर्थात् इसके आश्रय व अवलवन के विना आत्मा स्वय को स्वय से प्राप्त होता है, अनुभव मे आता है। अहो! कैसी अद्भुत टीका है! इसे

सिद्धान्त व आगम कहते है। इसमें कहते हैं कि राग का लक्ष्य छोडकर स्वभाव की दृष्टि करने पर भेदज्ञानी सम्यग्दृष्टियों को राग से भिन्न चित्स्वभावमय जीव अनुभव मे आता है।

देखो ! यहाँ आगम, युक्ति व अनुभव से यह सिद्ध किया है कि ये अध्यवसानादिभाव जीव नही है, परन्तु इनसे भिन्न शुद्ध चैतन्यमय वस्तु जीव है। ऐसी बात दूसरी जगह कही नही है। वस्तु को सिद्ध करने के लिए कैसे-कैसे न्याय, तर्क एव युक्तियाँ दी हैं। इन्द्रियाँ तथा राग के आश्रय के बिना भेदज्ञानियो को स्वय शुद्ध जीववस्तु अनुभव मे आती है। स्वय को स्वय से ही अनुभव मे आती है। व्यवहार साधन व निश्चय साध्य — ऐसा जहाँ कहा है, वहाँ निमित्त का ज्ञान कराने के लिए व्यवहार-नय से कथन किया है। भाई ! वस्तु तो रागादि से भिन्न त्रिकालशुद्ध चैतन्यस्वभावमय है, और उसके सन्मुख होने पर वह अनुभव मे आती है।

स्वसन्मुखता का अभ्यास न होने से यह बात कठिन लगती है। अनादि से पर की ओर झुकाव है, उसे अन्तर्मुख करना ही पुरुषार्थ है। जो ज्ञान की पर्याय रागादि की ओर ढल रही है, वह तो किसी तरह भी अन्दर नही जा सकेगी; परन्तु ज्यो ही दृष्टि द्रव्यस्वभाव पर जावे तो उसी क्षण पर्याय स्वय अन्दर मे ढल जाती है। तब उसको अन्दर मे ढाल लिया — ऐसा कहा जाता है। यहाँ 'स्वयमेव उत्पन्न हुए ऐसे राग-द्वेष' — कहा है। इसका यह अभिप्राय है कि वे (राग-द्वेष) आत्मा से उत्पन्न नही हुए है। तथा 'भेदज्ञानियो द्वारा स्वय उपलभ्यमान हैं' — ऐसा कहकर यह बताना है कि आत्मा का अनुभव करने मे अन्य (राग, इन्द्रियाँ आदि) किसी की भी अपेक्षा नही है। आत्मा स्वयमेव स्वय से ही अनुभव मे आता है।

भाई ! ऐसे यथार्थस्वरूप का पहले निर्णय तो कर। अहाहा ! वस्तु ऐसी सहज चित्स्वभावमय है — ज्ञान मे ऐसा विकल्पात्मक निर्णय तो कर। श्री समयसार गाथा १४४ मे कहा है कि हे भाई ! 'तू सर्वप्रथम भगवान द्वारा कहे गये आगम से यह निर्णय कर कि आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है। तत्पश्चात् मतिज्ञान व श्रुतज्ञान को मर्यादा मे लाकर राग से भिन्न आत्मा का अनुभव न करे और राग से लाभ माने तो बाहर से भले ही कचन-कामिनी का त्यागी हो, निर्वस्त्र दिगम्बर अवस्थाधारी हो, तथापि उसे साधु कैसे कहा जा सकता है ? राग से लाभ (धर्म) मानना तो मिथ्या-दर्शन है। यह कोई व्यक्ति विशेष के अनादर की बात नही है, परन्तु वस्तुस्थिति की बात है। अमुक को बहुत से शास्त्रो का अभ्यास है,

इसकारण वह आत्मज्ञानी है – ऐसा नही है; ये तो सब राग की – विकल्प की बातें हैं। वस्तु आत्मा तो शास्त्रज्ञान के विकल्प से पार निर्विकल्प है। ऐसे निर्विकल्प शुद्ध चैतन्यमय आत्मा की दृष्टि करके उसका अनुभव करना आत्मदर्शन व आत्मज्ञान है।

इसप्रकार अध्यवसान को अर्थात् रागादि विभाव को जीव मानने वालो को आगम, युक्ति व अनुभव से असत्य ठहराया है।

यह एक बोल हुआ। अब दूसरा बोल कहते हैं।

(२) अनादि जिसका पूर्व अवयव है, अनन्त जिसका भविष्य अवयव है – ऐसी एक ससरण क्रियारूप से क्रीडा करता हुआ कर्म भी जीव नही है, क्योकि कर्म से जुदा अन्य चैतन्य स्वभावरूप जीव भेदज्ञानियो द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे उसे प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

केवली भगवान ने कर्म को जीव नही कहा – यह आगम हुआ। तथा जिसप्रकार कालिमा से सोना भिन्न है, उसीप्रकार कर्म से भिन्न आत्मा है – यह युक्ति हुई। तथा भेदज्ञानी कर्म से जुदे चैतन्यस्वभावी जीव को प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं – यह अनुभव हुआ। टीका मे ऐसा कहा है कि ससरणरूप क्रिया अर्थात् राग की क्रिया मे कर्म क्रीडा करता है, राग मे आत्मा क्रीड़ा नही करता।

पर व पर्याय से भिन्न चैतन्यस्वभाव का प्रत्यक्ष अनुभव करने को सम्यग्दर्शनादि धर्म कहते हैं। इस सम्यग्दर्शन के बिना बाहर से व्रतादि धारण करके ऐसा मानने लगे कि – 'मैं सयमी हूँ' तो उसको सयम सम्बन्धी खोटी मान्यता से भारी नुकसान होता है, इस नुकसान की उसे खबर नही पडती – यह उसका अज्ञान है। किसी को इस बात की खबर न हो कि विष के सेवन से मृत्यु हो जायगी और सेवन कर ले तो उसके अज्ञान के कारण विष उसे माफ नही करेगा, जहर का परिणाम तो उसे मौत के रूप मे भुगतना ही पडेगा। इसीप्रकार शुभभाव मे धर्म मानने से जो आत्मघात-रूप हानि होती है, उसका परिणाम भी अज्ञानी को भुगतना ही पडता है।

देखो! जिनवाणी मे सब जगह ऐसा लिखा है कि जीव तो चैतन्य स्वभावी ही है। चैतन्य स्वभावी अखण्ड, एकरूप त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव रूप जीव राग से व कर्म से भिन्न है। सम्यग्दृष्टि उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। यह अनुभव ज्ञान व आनन्द के वेदनसहित होता है। प्रत्यक्ष अनुभव करते है – ऐसा कहा है। राग व मन के सम्बन्ध से जानते और अनुभव करते हैं – ऐसा नही कहा। प्रत्यक्ष अनुभव मे पर का आश्रय

बिल्कुल नही है। आत्मा पर के आश्रयरहित मतिश्रुतज्ञान से प्रत्यक्ष अनुभव मे – वेदन मे आता है। यह दूसरा बोल हुआ।

(३) तीव्र-मन्द अनुभव से भेदरूप होने पर, दुरन्त राग रस से भरे हुए अध्यवसानादि भावो की सतति भी जीव नही है, क्योकि वह सतति से अन्य जुदा चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियो द्वारा स्वय उपलभ्यमान है अर्थात् वे उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। देखो! भगवान ने ऐसा कहा है, युक्ति से भी सिद्ध है तथा तीव्र-मन्द राग की परम्परा – संतति से अन्य चैतन्यस्वभावमय जीव भेदज्ञानी प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

अज्ञानी को अनादि से तीव्र-मन्द राग की सतति का ही अनुभव है। उसमे जो मन्दराग है, उससे स्वयं का कुछ तो लाभ है – ऐसा वह मानता है; परन्तु भाई! इससे कुछ भी लाभ नही है। मन्दराग तो अभव्यो के भी होता है। मिथ्यात्व की मन्दता व अनन्तानुबधी कषाय की मन्दता तो अभव्य जीव को भी हो जाती है, किन्तु मन्दराग कोई वस्तु (आत्मा) नही है। राग मन्द हो या तीव्र, जाति तो कषाय की ही है। ये जीव नही हैं। जीव तो तीव्र-मंदराग की सतति से भिन्न, नित्य एकरूप चैतन्यस्वभाव-मय है। भेदज्ञानी अर्थात् राग व आत्मा की भिन्नता को यथार्थरूप से जाननेवाले धर्मात्मा जीव आत्मा का ऐसा ही अनुभव करते हैं।

(४) अब चौथा बोल कहते है – नयी-पुरानी अवस्था के भेद से प्रवर्तता हुआ नोकर्म भी जीव नही है, क्योकि शरीर से जुदा चैतन्य-स्वभावरूप जीव भेदज्ञानियो द्वारा स्वय उपलभ्यमान है, अर्थात् वे उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते है।

नयी-पुरानी अवस्था, रोग-निरोग अवस्था, बाल-युवा-वृद्ध अवस्था, पुष्ट-जीर्णरूप अवस्था इत्यादि अवस्थाओं के भेद से नोकर्म अर्थात् शरीर प्रवर्तन करता है। अहा! भाषा का मर्म व भाव तो देखो। बाल-युवा-वृद्धपने या पुष्ट-जीर्णपने या रोग-निरोगपने – पुद्गल के स्कन्धरूप शरीर ही परिणमता है, जीव नही परिणमता। शरीर की अवस्था का स्वतंत्र 'जन्मक्षण' है, जिससे शरीर की अवस्था स्वकाल मे शरीररूप स्वय परिणमन करती है। इन अनेक अवस्थाओ मे परिणमन करनेवाला शरीर जीव नही है, क्योकि शरीर से जुदा अन्य चिदानन्दस्वभावी जीव भेदज्ञानियो द्वारा स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव मे आता है। शरीर का प्रवर्तन कराना, जीव का स्वभाव नही है।

प्रश्न :— ईर्यासमिति मे देखकर चलना — ऐसा तो कहा है न ?

उत्तर :— ईर्यासमिति मे जीव शरीर को चलनेरूप प्रवर्तन कराता है — ऐसा नही है, किन्तु यह तो मुनि की भूमिका मे शरीर कैसे चलता है, इसका कथन किया है — ज्ञान कराया है। अहो ! शरीर से जिसको भेद-दृष्टि हुई है — ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव शरीर से भिन्न चैतन्यस्वभावमय शुद्ध आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव करते है।

भाई ! निवृत्ति लेकर इसका अभ्यास करना चाहिए। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि "देह की चिन्ता से अनन्तगुणी चिन्ता आत्मा की रखना; क्योकि इस एक भव मे ही अनन्त भव टालना है। यह भव अनन्त भव टालने के लिए है। अनन्त भव के जन्म-मरण को एक भव मे टालना — यह कोई अलौकिक, असाधारण, अद्भुत काम है। प्रभु ! जो यह काम इस भव मे नही किया तो अनन्त भव मे अनन्त जन्म-मरण के दु ख भोगने पड़ेंगे। यहाँ से मरकर कहाँ जा पडेगा, क्या इसकी खबर है ? अरे ! कही नरक, निगोद, तिर्यञ्च में चला जायगा। तथा जिसकी इसी भव मे त्रसपर्याय मे रहने की स्थिति पूरी हो रही है और यदि वह आत्मानुभूति, भेदविज्ञान (सम्यग्दर्शन) आदि का कार्य नही कर पाया तो निगोद मे चला जायगा। त्रस अवस्था मे रहने की उत्कृष्ट स्थिति दो हजार सागर से कुछ अधिक है। इस दो हजार सागर की स्थिति पूरी होने पर मिथ्यादृष्टि नियम से निगोद मे — एकेन्द्रिय मे चला जाता है। कदाचित् इस बीच पचेन्द्रिय मे रहे तो एक हजार सागर रहता है तथा समग्रपने त्रस मे रहने का अधिक से अधिक समय दो हजार सागर है। इस काल मे जो सम्यग्दर्शनादि प्रगट करे तो अनत सुखमय सिद्धपद प्राप्त करता है और जो सम्यग्दर्शनादि न करे तो महादुखमय निगोद अवस्था को प्राप्त होता है। वहाँ अनन्तकाल तक दुःख भोगता है।

सम्यग्दृष्टि जीव को अपनी ज्ञान की मति-श्रुतरूप दशा से आत्मा प्रत्यक्ष अनुभव मे आता है। देह आत्मा नही है, देह से भिन्न आत्मा चैतन्य-स्वभावमय जुदी वस्तु है, श्री समयसार गाथा ९५ की टीका मे आता है कि यह शरीर मृतक-कलेवर है, मुर्दा है। इसमे अमृत का सागर भगवान मूर्छित हो गया है। 'मैं चैतन्यस्वभावमय अमृत का सागर हूँ' — इसप्रकार अनुभव करने के वदले 'यह मृतक शरीर मै हूँ, यह शरीर मेरा है' — इसप्रकार मूर्छित हो गया है। प्रभु ! तू अमृत का सागर मृतक शरीर मे उत्पन्न हुआ है — यह महान् कलक की वात है, तुझे शोभा नही देती।

पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल एवं अन्य जीव ये छह द्रव्य हैं, ये सब मन के विषय हैं। तीनलोक का नाथ सर्वज्ञ परमात्मा भी अन्य जीव होने से मन का विषय है। इसीकारण सर्वज्ञ परमात्मा को इन्द्रिय भी कहा है। अन्दर जो खण्ड-खण्ड ज्ञान हो रहा है, वह भी भावेन्द्रिय है। भावेन्द्रियाँ ज्ञान को खण्ड-खण्डरूप जनाती हैं, जबकि आत्मा चैतन्यस्वरूप अखण्ड है। इसकारण खण्ड-खण्ड का ज्ञान करानेवाली भावेन्द्रियाँ अखण्ड आत्मा से भिन्न परवस्तु हैं, ज्ञेय हैं। एकप्रकार से उन भावेन्द्रियो को पुद्गल का परिणाम भी कहा है; क्योकि क्षयोपशमभाव आत्मा का स्वभाव नही है। श्री समयसार गाथा ४९ की टीका मे कहा है कि क्षयोपशमभाव जीव का स्वभाव नही है। स्वभावदृष्टि से देखने पर क्षयोपशमभाव का आत्मा मे अभाव है। अहो ! वस्तु का स्वरूप अतिसूक्ष्म एवं गम्भीर है।

श्री समयसार गाथा ५० से ५५ में आता है कि शब्द, वाणी, शरीर, इन्द्रियाँ, मन – इन सब नोकर्मों से अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा भिन्न है। 'मैं शरीर से जुदा हूँ' – भले ही ऐसा विकल्प ज्ञान मे, धारणा मे लिया हो; किन्तु ऐसे भिन्न चैतन्यस्वभावमय आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहिए। भेदज्ञानी देह से भिन्न आत्मा को प्रत्यक्ष शुद्ध चिदानंदमय अनुभव करते हैं।

(५) समस्त जगत के जीवो को पुण्य-पापरूप से व्यापता हुआ कर्म का फल भी जीव नहीं है; क्योकि शुभाशुभभाव से अन्य भिन्न चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियो द्वारा सदा ही उपलभ्यमान है, अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

जगत के सभी संसारी जीवो को पुण्य-पापरूप कर्म का फल अनुभव मे आता है। अतः वे पुण्य-पाप को ही जीव कहते हैं। यहाँ आचार्य कहते हैं कि जो पुण्य-पाप कर्म का विपाक है, वह आत्मा नही है। श्री कलश टीका के कलश १८९ मे कहा है कि पठन-पाठन, श्रवण, चिन्तवन, स्तुति, वन्दना – ये सब क्रिया-कलाप विकल्प है, राग हैं। विकल्प व राग आत्मा नहीं हैं। पर जिन्हे पठन-पाठन की भी फुरसत नही है, उनकी यहाँ बात ही क्या करना ? उन्हे तो शुभाशुभभाव से रहित शुद्ध चैतन्यधातुस्वरूप आत्मा की बात बैठ ही नही सकती। भाई ! हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि पाप के भाव तो जहर हैं ही, परन्तु ये पठन-पाठन, श्रवण, चिन्तन, स्तुति, वंदना, पूजन आदि के शुभभाव भी कोई अमृतस्वरूप आत्मा नही हैं। जिसको आत्मा के आनद का अनुभव होता है, उसके शुभभाव को आरोप से अमृत कहा जाता है। त्रिकाल, ध्रुव, अखण्ड, एक चैतन्यस्वरूप के

अवलम्बन से जो निश्चयधर्म हुआ है, वही वास्तव मे अमृत है, परन्तु उस धर्म का शुभभाव पर आरोप करके शुभभाव को भी अमृत कहा है, वास्तव मे नही। अरे ! जगत् को सत्य सुनने को मिलता नही है, ये विचारे कहाँ जायेंगे। ये लाखो रुपयो का दान देते हैं, दान देने का भाव पुण्यभाव है, इससे कही जन्म-मरण नही मिटता और इसे धर्म माने तो मिथ्यादर्शन है। पैसा तो अजीव है, जीव अजीव का स्वामी नही है। पैसा मेरा है — ऐसा माननेवालो ने स्वय को अजीव माना है। भाई ! पैसा पैदा करना, इसका सचय करना, उपयोग मे लेना — ये कोई आत्मा की क्रिया नही हैं और दान देने का जो शुभभाव है, वह राग है, ससार है। शुभभाव जो कि ससार मे प्रवेश करता है, उसे भला कैसे कहा जा सकता है ?

पुण्य-पाप का भाव तो कर्म का विपाक है, यह कही भगवान आत्मा नही है। जो पुण्य-पाप का कर्त्ता बनता है, वह जीव नही, जीव तो निर्मल ज्ञानानदस्वरूप है। वह तो ज्ञान का कर्त्ता है। जीव को विकार का कर्त्ता माननेवाले अपने स्वरूप को ही विकारी माननेवाले हैं। परन्तु भाई ! आत्मावस्तु तो विकार से रहित चिन्मात्र है, वस्तु-तत्त्व बहुत सूक्ष्म है। बापू ! जन्म-मरण के दु खो से मुक्त होने का उपाय अतिसूक्ष्म है।

लहसन व जमीकद मे जो निगोदिया जीव है, शुभाशुभभाव तो उनको भी होते हैं। क्षण मे शुभ व क्षण मे अशुभभाव तो उनको भी आते हैं। उनके भी शुभाशुभ कर्मधारा निरतर चलती रहती है। भाई ! यह सब तो कर्म का विपाक है। यह तो जड का फल है, यह कही चैतन्य का फल नही है। चैतन्यस्वरूप आत्मा तो पुण्य-पापरूप कर्म के फल से भिन्न है — ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है। युक्ति से भी यही सिद्ध होता है और भेदज्ञानियो द्वारा शुभाशुभभावो से भिन्न चैतन्यस्वभावमय आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव भी किया गया है।

(६) साता-असातारूप से व्याप्त समस्त तीव्र-मदतारूप गुणो से भेदरूप होता हुआ जो कर्म का अनुभव है, वह भी जीव नही है। साता का वेदन अर्थात् कल्पना मे अनुकूलपने सुख का वेदन होना, सुखरूप लगना तथा असाता का वेदन अर्थात् कल्पना मे प्रतिकूलपने दु खरूप लगना — ऐसे भेदरूप जो कर्म का अनुभव वह जीव नही है। शरीर तो रोग की मूर्ति है। शरीर के एक-एक रोम मे ९६ रोग हैं। ऐसे सम्पूर्ण शरीर मे रोग ही रोग भरे हैं। ये रोग जब प्रगट होते हैं, तब यह जीव असाता का वेदन करता है। यह पुद्गल का फल है। तथा जब शरीर

निरोगी रहे और बाहर की सामग्री – धन, सम्पत्ति, कुटुम्ब, परिवार आदि अनुकूल हो, तब जो सुख की कल्पना का वेदन हो, वह भी पुद्गल का फल है। इस कल्पनामय सुख-दु.ख के वेदन मे कर्म का अनुभव है, आत्मा का नही। शरीर हृष्ट-पुष्ट निरोगी हो व करोडो की साहबी हो, तब जो सुख का अनुभव होता है, वह कर्म का अनुभव है, आत्मा का नही। इस सुख-दु·ख में चैतन्यस्वरूप आत्मा नही है। यह साता-असाता का अनुभव आत्मा नही है। आत्मा तो सुख-दु ख से भिन्न चैतन्यस्वभावमय वस्तु है।

एक धर्मी सिवाय सारा जगत पागल है, क्योकि जगत् दु ख को सुख मानता है। रक से लेकर राजा तक व एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक सभी जीव सुख-दु ख मे रच-पच रहे है। सुख-दु·ख की कल्पना से भिन्न पडकर अनन्तसुख का धाम, जो शुद्ध चैतन्यस्वभावमय आत्मवस्तु है, इसमे दृष्टि करे तो स्वय प्रत्यक्ष आनद का अनुभव होता है। केवली को ही प्रत्यक्ष होता है, ऐसा नही है। चतुर्थ गुणस्थान मे भी स्वसवेदन से आत्मा प्रत्यक्ष अनुभव मे आता है। सम्यग्दर्शन होने पर भेदज्ञानी को मति-श्रुतज्ञान से आत्मा प्रत्यक्ष वेदन मे आता है।

(७) श्रीखण्ड की तरह उभयात्मकपने से मिले हुए-आत्मा व कर्म – दोनो मिलकर भी जीव नही है। जैसे दही व शक्कर मिलकर श्रीखण्ड बनता है, वैसे आत्मा व कर्म मिलकर जीव नही बना है। भगवान आत्मा तो चैतन्यस्वरूप प्रभु है। राग व कर्म वगैरह तो जड – अचेतन-स्वरूप है। इसकारण जीव व कर्म – दोनो भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु जैसे हाथी अनाज व घास को मिलाकर खाता है, उसीप्रकार अज्ञानी कर्म व आत्मा को एक करके अनुभव करता है।

जिसप्रकार कुत्ता हड्डी चबाता है और हड्डी की कनी डाढ मे चुभ जाती है, तब वहाँ से खून निकलता है और कुत्ता अपने ही खून को चूसता हुआ ऐसा मानता है कि हड्डी का स्वाद आ रहा है। इसीप्रकार शरीर तो हाड, मास, विष्टा व चमडी की भरी थैली है, उसका स्पर्श करके यह ऐसा मानता है कि यह अच्छा है; अत· उसमे राग होता है, उस राग का ही वह अनुभव करता है; परन्तु स्त्री आदि के शरीर को मैं भोगता हूँ – ऐसी मिथ्या मान्यता रखता है। उसीप्रकार सर्पदश हुआ हो तो उस दश को नही भोगता, उससमय उसके लक्ष्य से जो द्वेषभाव होता है, उस द्वेष का अनुभव करता है। यहाँ तो यह कहते हैं कि ये राग-द्वेषरूप विकारी भाव व आत्मा – ये दोनो मिलकर जीव नही है। दोनो भोगते भी नही है।

आत्मा विकार से भिन्न है – यह अनुभवसिद्ध है, क्योकि समस्तपने कर्म से जुदा चैतन्यस्वरूप आत्मा भेदज्ञानियो द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव मे आता है ।

(८) अर्थक्रिया मे समर्थ कर्म का सयोग भी जीव नही है । आठो कर्म मिलकर आत्मा हो – ऐसा भी नही है । जैसे पलग (चारपाई) पर सोनेवाला व्यक्ति जुदा है, उसीप्रकार आठो कर्मरूपी पलग से भगवान आत्मा भिन्न है । जो कभी विचार नही करता, मनन नही करता, पढता नही, ज्ञानियो की सुनता नही, समझने की कोशिश करता नही, उसे यह बात कैसे जँचे ? कलश टीका मे कलश १११ मे स्वच्छन्दी निश्चयाभासी का कथन करते हुए कहा है कि वे जीव शुद्ध चैतन्य का विचार मात्र भी नही करते । आठ कर्मों के विपाक से भगवान आत्मा भिन्न है । भगवान आत्मा तो ज्ञानानद स्वरूप, चैतन्यस्वरूप है । आठकर्मों से आत्मा बना है – यह तो स्थूल भूल है, मोटी भ्रमणा है, क्योकि आठकर्मों के सयोग से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावमय जीव भेदज्ञानियो द्वारा स्वय उपलभ्यमान है । भेदज्ञानी शुद्ध चैतन्यवस्तु का प्रत्यक्षरूप से अनुभव करते हैं ।

इसीप्रकार यदि कोई अन्यप्रकार से मिथ्या कल्पनाये करे, तो भी यही युक्ति जानना ।

गाथा ४४ के भावार्थ पर प्रवचन

जीव चैतन्यस्वभावमय है । जानना-देखना उसका स्वभाव है । स्वभाववान स्वय आत्मा और चैतन्य उसका स्वभाव है । समस्त अध्यवसानादि भावो से आत्मा भिन्न है । राग से भिन्न यह आत्मा धर्मात्माओ को अनुभवगम्य है । भेदज्ञानी – समकिती जीव शुद्ध चैतन्य-स्वभावी आत्मा को प्रत्यक्षपने स्वसवेदन द्वारा अनुभव करते हैं ।

इसकारण जैसा अज्ञानी मानता है, वैसा नही है । कर्म, राग, शुभाशुभ भाव, पुण्य-पाप भाव या सुख-दु ख की कल्पना इत्यादि भी जीव नही हैं ।

यहाँ पुद्गल से भिन्न आत्मा की उपलब्धि के प्रति विरोध करनेवाले (– पुद्गल को ही आत्मा जाननेवाले) पुरुष को (उसकी हितरूप आत्म-प्राप्ति की बात कहकर) मिठासपूर्वक (समभाव से) ही इसप्रकार उपदेश करना यह काव्य मे बतलाते हैं :–

इह खलु पुद्गलभिन्नात्मोपलब्धिं प्रति विप्रतिपन्नः साम्नैवैव-मनुशास्यः ।

(मालिनी)

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम् ।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः ॥३४॥

श्लोकार्थ :– हे भव्य ! तुझे [**अपरेण**] अन्य [**अकार्य – कोलाहलेन**] व्यर्थ ही कोलाहल करने से [**किम्**] क्या लाभ है ? तू [**विरम्**] इस कोलाहल से विरक्त हो और [**एकम्**] एक चैतन्यमात्र वस्तु को [**स्वयम अपि**] स्वयं [**निभृतः सन्**] निश्चल लीन होकर [**पश्य षण्मासम्**] देख; ऐसा छह मास अभ्यास कर और देख कि ऐसा करने से [**हृदय – सरसि**] अपने हृदय-सरोवर में, [**पुद्गलात् भिन्नधाम्नः**] जिसका तेज, प्रताप, प्रकाश पुद्गल से भिन्न है – ऐसे उस [**पुंसः**] आत्मा की [**ननु किम् अनुप-लब्धिः भाति**] प्राप्ति नहीं होती है [**किं च उपलब्धिः**] या होती है ?

भावार्थ :– यदि अपने स्वरूप का अभ्यास करे तो उसकी प्राप्ति अवश्य होती है, यदि परवस्तु हो तो उसकी तो प्राप्ति नहीं होती । अपना स्वरूप तो विद्यमान है, किन्तु उसे भूल रहा है, यदि सावधान होकर देखे तो वह अपने निकट ही है । यहाँ छह मास के अभ्यास की बात कही है, इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि इतना ही समय लगेगा । उसकी प्राप्ति तो अंतर्मुहूर्तमात्र में ही हो सकती है, परन्तु यदि शिष्य को बहुत कठिन मालूम होता हो तो उसका निषेध किया है । यदि समझने में अधिक काल लगे तो छहमास से अधिक नहीं लगेगा; इसलिए यहाँ यह उपदेश दिया है कि अन्य निष्प्रयोजन कोलाहल का त्याग करके इसमें लग जाने से शीघ्र ही स्वरूप की प्राप्ति हो जायेगी – ऐसा उपदेश है ।

कलश ३४ पर प्रवचन

हे भव्य ! अर्थात् धर्म प्राप्त करने की पात्रतावाले हे भव्य जीव ! वस्तुस्वरूप से विरुद्ध कोलाहल करने से तुझे क्या लाभ है ? चैतन्यस्वभाव से विरुद्ध पुण्य-पाप के अचेतन भावों से तुझे क्या लाभ है ? व्यवहार साधन और निश्चय साध्य – ऐसा कोलाहल व्यर्थ है, यह कथन तो निमित्त का ज्ञान कराने के लिए किया गया कथन है ।

आचार्यदेव प्रेरणा देते हुए कहते है कि 'ये अध्यवसानादि भाव जीव हैं।' – ऐसे मिथ्या विकल्पो के कोलाहल से तू विरक्त हो। व्यवहार से निश्चय होता है, राग से वीतरागता होती है, ऐसी वस्तुस्वरूप की विपरीतता के कोलाहल से विराम ले। राग से धर्म होगा – ऐसा माननेवाले राग को अपना स्वभाव मानते है, राग को ही आत्मा मानते हैं।

प्रश्न :– निर्विकल्प अनुभव होने के पहले अतिम समय मे शुभराग तो होता है, अत शुभभाव से निर्विकल्प हुआ या नही ?

उत्तर :– भाई! इस शुभराग को छोडकर निर्विकल्प हुआ है, शुभराग से निर्विकल्प नही हुआ। शुभभाव तो विभावस्वभाव व जड-स्वभाव है, वह चैतन्यस्वभाव नही है और आत्मा तो एकरूप चैतन्यघन-स्वभाव, ध्रुवस्वभाव, सामान्यस्वभाव, अभेदस्वभाव, चैतन्यमात्र वस्तु है।

अब कहते हैं कि स्वय निश्चल-लीन होकर एक चैतन्यमात्र वस्तु को प्रत्यक्ष करके देख! उसे देखने का छह महीना अभ्यास कर! चैतन्य वस्तु मे प्रमेयत्व नाम का गुण है – इसकारण तुझे यह प्रत्यक्ष अनुभव मे आयगी। इसलिए तू स्वरूप मे एकाग्र होकर स्वसवेदन द्वारा शुद्ध चिद्रूपमात्र वस्तु का अनुभव करने का प्रयत्न कर!

देखो! यहाँ यह नही कहा कि अमुक क्रिया करने पर आत्मानुभूति होगी। क्रिया पर नही बल्कि समझने पर वल दिया है। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी यही कहा है – 'सर्व जीव छे सिद्धसम, जो समझे ते थाय।'

भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य सामान्यस्वरूप है। उसका अनुभव कर! 'स्वय' शब्द कहकर यह ज्ञान कराया है कि आत्मानुभव मे पर की कोई अपेक्षा – आवश्यकता नही। भगवान आत्मा सीधा स्वसवेदन मे ज्ञात होता है। विकल्पो का कोलाहल अनुभव मे मददगार नही है, बल्कि उल्टे अटकाने वाला ही हैं, विघ्न करनेवाला ही है। नियमसार गाथा २ की टीका मे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्ध रत्नत्रयात्मकमार्ग परम निरपेक्ष कहा है। वस्तु के स्वभाव को पर की अपेक्षा कैसी ?

यहाँ कहते है कि छह महीना चैतन्य के अनुभव का अभ्यास कर। भाई! तू व्यापार-धधे मे तो वर्षो गमाता है, बाल-बच्चो के पालन-पोषण मे रात-दिन लगा रहता है, चौबीसो घटे पाप की मजदूरी मे निकालता है, परन्तु इसका फल मनुष्यभव खोकर पशुपर्याय प्राप्त करना है। इसलिए हे भाई! तू सर्व ससार के विकल्पो को त्यागकर एक छह महीना शुद्धात्मा का अभ्यास कर! वैसे तो अन्तर्मुहूर्त मे चैतन्य की प्राप्ति है

सकती है; परन्तु यदि तुझे अत्यन्त कठिन लगता हो तो छह महीना उसका अभ्यास कर! इसतरह छह महीना अभ्यास करने की बात की है। चिदानद प्रभु चैतन्यस्वभावी, ज्ञायकस्वभावी, ध्रुव, एकरूप निज आत्मा है, उसकी लगन लगा! एकमात्र इसी मे धुन लगा! तुझे वह शुद्धात्मा अवश्य प्राप्त होगा।

श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है :-

जो इच्छो परमार्थ तो करो सत्य पुरुषार्थ।
भवस्थिति आदि नाम लइ, छेदो नहि आत्मार्थ।।

परमानद के नाथ परम-पदार्थ भगवान आत्मा की उपलब्धि की भावना हो तो सत्य पुरुषार्थ अर्थात् स्वभाव-सन्मुखता का पुरुषार्थ कर! 'जैसी होनहार होगी, वही होगा' या 'जब काललब्धि आयेगी, तब आत्म-लाभ होगा'—ऐसी मिथ्या अटक छोड दे। 'जब काललब्धि होगी तब हित होगा'—यह दुराग्रह आत्मा के हित का घातक है; इसलिए 'होनहार' का बहाना छोडकर तू पुरुषार्थ कर! भाई! तुझे काललब्धि का बहाना करना है कि ज्ञान करना है? तुझे यथार्थ ज्ञान करना हो तो तू ज्ञायक के सन्मुख होकर पुरुषार्थ कर। ज्ञायक ज्ञान मे आते ही तुझे पाँचो समवायो का वास्तविक ज्ञान होगा।

स्वभाव की ओर का पुरुषार्थ करने पर सम्यक्त्व हुआ, तब ख्याल मे आया कि काललब्धि पक गई है। द्रव्यसग्रह, गाथा २१ की टीका मे आया है कि काललब्धि हेय है, क्योकि काल के—निमित्त के सन्मुख दृष्टि करने पर सम्यक्त्व नही होता। काल है, निमित्त है तथा अपनी पर्याय का जो स्वकाल है, वह भी है, परन्तु उस स्वभाव के सन्मुख जब पुरुषार्थ किया, तब काल पका—इसप्रकार स्वकाल (काललब्धि) का ज्ञान हुआ, भवितव्यता का भी ज्ञान हुआ तथा स्वभाव-सन्मुख पुरुषार्थ किया तो उस स्वभाव का भी ज्ञान हुआ और निमित्त (कर्म) का इतना अभाव है—ऐसा ज्ञान हुआ। इसप्रकार पाँचो ही समवायकारणो का यथार्थ ज्ञान हुआ।

यहाँ कहा है कि छह महीना चैतन्यस्वरूप निज शुद्ध आत्मद्रव्य के अनुभव का अभ्यास कर! इसकी ही अन्तर मे लगन लगा और देख कि ऐसा करने से तेरे हृदय-सरोवर मे जिसका तेज-प्रताप-प्रकाश पुद्गल से भिन्न है—ऐसे आत्मा की प्राप्ति होती है या नही?

समयसार नाटक मे कहा है कि—ज्ञानरूपी सरोवर मे तू ही स्वय चैतन्यकमल है। स्वभाव-सन्मुख पर्याय के पुरुषार्थ को भ्रमर कहा, वह तू

ही है। तू ही उस चैतन्यकमल मे भ्रमर बनकर एकत्व प्राप्त कर! चैतन्य के आनदरस का भोक्ता हो जा! स्वय चैतन्यकमल ज्ञानानद के रस से अत्यन्त भरा हुआ है। उसमे तू निमग्न होकर अकेला ज्ञानानदरस का पान कर। अहाहा! तू निर्मल पर्यायरूप भ्रमर बनकर त्रिकाली एकरूप चैतन्यरस मे निमग्न हो जा! इससे तुझे आनद का अद्भुत अनिर्वचनीय आस्वाद प्राप्त होगा। शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होगी। तू इसका अभ्यास करे और प्राप्ति न हो – ऐसा कभी नही हो सकता, अवश्य ही आत्मोपलब्धि होगी। आखिर क्यो नही होगी? नही होगी – ऐसी शका छोड दे।

भगवान आत्मा पुद्गल से भिन्न अर्थात् रागादि विकल्पो से भिन्न चैतन्य के तेज से भरा हुआ चैतन्य के नूर का पूर है, उसके सन्मुख होकर अन्तर्निमग्न होने पर अवश्य ही आत्मोपलब्धि होती है। पुरुषार्थ करे और प्राप्ति न हो ऐसा कैसे हो सकता है? इसकारण 'जब काललब्धि आयेगी तब प्राप्ति होगी', 'भगवान ने जब देखा होगा तब प्राप्त होगा' – इत्यादि अनेक प्रकार के विकल्पो की बाते रहने दे! ऐसी कमजोरी की बातो से आत्मा के पुरुषार्थ को ढीला मत कर! स्वभाव-सन्मुखता के पुरुषार्थ द्वारा स्वात्मोपलब्धिरूप प्रयोजन की सिद्धि कर!

तथा कोई समयसार मे उद्धृत 'जइ जिणमय पवज्जइ ता मा व्यवहारनिच्छए मुयह' आदि छन्द का आधार देकर कहते हैं कि जिनमत मे प्रवर्तन करना चाहते हो तो व्यवहार व निश्चय – दोनो नयो को मत छोडो! यह तो ठीक है, परन्तु इसका यथार्थ अर्थ तो यह है कि व्यवहार है अवश्य, परन्तु व्यवहार आश्रय करने योग्य नही है। साधकपने का भाव, चौदहगुणस्थान आदि भाव सब व्यवहार है, इसमे जरा भी सदेह नही, परन्तु वे आश्रय करने योग्य नही है। श्री समयसार की गाथा ११ मे कहा है कि भूतार्थ अर्थात् एक निश्चय का आश्रय करो, क्योकि त्रिकाली भगवान जो विद्यमान पदार्थ अस्तिरूप महाप्रभु है, उसके आश्रय से ही सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शन होने के बाद शेष रही अशुद्धता एव पर्याय की अपूर्णता, उस काल मे जानने के लिए प्रयोजनवान है – ऐसा अर्थ गाथा १२ की टीका मे आचार्य अमृतचन्द्र ने किया है।

सिद्ध, साधक व ससार – ये सब व्यवहार हैं। त्रिकाली ध्रुव निश्चय एव पर्याय व्यवहार – दोनो हैं। व्यवहार है अवश्य, परन्तु जाना हुआ प्रयोजनवान है और निश्चय आदरणीय एव प्रयोजनवान है। बापू! वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। भगवान ने ऐसा कहा है, शास्त्र मे ऐसा ही है, तथा वस्तु की स्थिति भी ऐसी है।

अमृतचन्द्राचार्यदेव कहते है कि इस शास्त्र की टीका करने का जो विकल्प है, वह हमारा स्वरूप नही है। हम तो उसके मात्र ज्ञाता हैं, स्वरूप-गुप्त हैं, टीका तो शब्दो द्वारा बन गई है। इसमे हमारा किंचित् भी कर्त्तव्य नही है। हम तो इन शब्दो व विकल्पो से भिन्न आत्मा मे गुप्त हैं, शब्दो व विकल्पो मे हमारा निवास नही है। आचार्य अमृतचन्द्र ने यह सत्य का ढिंढोरा पीटा है। थोडे मे ही सब-कुछ कह दिया है।

यहाँ तो कहते हैं वस्तु-स्वभाव की सन्मुखता कर, उसी मे ढलकर एकाग्र होने पर भी उसकी प्राप्ति न हो—ऐसा कैसे बने ? स्व-सन्मुखता के अभ्यास से आत्मोपलब्धि अवश्य होगी ही।

कलश ३४ के भावार्थ पर प्रवचन

चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा का अभ्यास करे तो उसकी प्राप्ति अवश्य होती है। अन्तर्मुख होने का पुरुषार्थ करे और प्राप्ति न हो—ऐसा तीनकाल मे भी नही हो सकता। यहाँ अभ्यास का अर्थ अकेला शास्त्रो को पढना व सुनना मात्र नही है; किन्तु अभ्यास अर्थात् निज शुद्ध चैतन्य मे एकाग्रता करने के पुरुषार्थ की बात है। भाई ! तू अपनी श्रद्धा मे तो ले कि वस्तु ऐसी ही है। श्रद्धा मे दूसरा कुछ लेगा तो आत्मा हाथ नही आयेगा, पुरुषार्थ अन्दर की ओर नही ढलेगा।

जिसने राग की रुचि छोड़ी और स्वभाव की रुचि की, उसे स्वभाव की प्राप्ति न हो—ऐसा होता ही नही है। जो स्वरूप प्राप्त न हुआ हो तो यह समझना चाहिए कि अभी स्वभाव की तरफ के पुरुषार्थ मे कुछ कमी है, त्रुटि है। हाँ, परवस्तु के प्रयत्न मे—पुरुषार्थ मे परवस्तु की प्राप्ति न हो तो कोई आश्चर्य नही, क्योकि पर मे तो पुरुषार्थ चलता ही नही है, परन्तु स्वरूप मे पुरुषार्थपूर्वक अनुभव का अभ्यास करे तो उसकी प्राप्ति अवश्य होती ही है। आत्मा मे वीर्य नाम का गुण है, उसका कार्य स्वरूप की ही रचना करना है। इसकारण अतर्मुख होकर आत्मा मे पुरुषार्थ करने पर स्वरूप की रचना निर्मल होती ही है, इसमे किंचित् भी सदेह नही करना।

भगवान ! तू है कि नही ? यदि है तो 'है' की प्राप्ति क्यो नही होगी ? परन्तु भाई ! 'मैं हूँ' ऐसे अपने अस्तित्व को अब तक अनतकाल मे स्वीकार ही नही किया। एकसमय की पर्याय व राग की स्वीकृति मे ही अनतकाल चला गया है, परन्तु अन्दर आत्मवस्तु चैतन्यघन महाप्रभु जो एकसमय की पर्याय मे नही आता तथा जो पर्याय मे ज्ञात हुए बिना

नही रहता—ऐसे शुद्धात्मा को तूने पूर्व मे कभी जाना नही, पहचाना नही और उसके अस्तित्व को स्वीकार किया नही, इसलिए कठिन लगता है।

श्री समयसार की १७-१८वी गाथा मे आता है कि अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा आबाल-गोपाल सबके अनुभव मे सदा स्वय ही आने पर भी अनादि बध के वश परद्रव्यो के साथ एकत्व के निश्चय से मूढ अज्ञानी जन को 'जो यह अनुभूति है, वही मैं हूँ'—ऐसा आत्मज्ञान उदित नही होता। अहाहा! इसकी ज्ञान की पर्याय मे सदा त्रिकाली वस्तु ज्ञात होती है, क्योकि ज्ञान की पर्याय का स्व-परप्रकाशक स्वभाव है। 'स्व' ऐसा जो द्रव्य वही उसके ज्ञान मे आता है, परन्तु अज्ञानी का झुकाव स्वद्रव्य पर नही है, इसकारण ज्ञान की पर्याय मे—प्रगट अवस्था मे जाननेवाला आत्मा स्वय ज्ञात होता है, ऐसा उसे भान नही होता, ऐसी उसे प्रतीति उत्पन्न नही होती। प्रभु! तेरा जो पूर्ण अस्तित्व है, वह एकसमय की पर्याय मे सदैव ज्ञात होता है। भाई! यह तो सर्वज्ञ की वाणी है, यह तो परमागम है। ऐसी बात अन्यत्र कही है ही नही।

अज्ञानी पर्यायबुद्धि मे, रागबुद्धि मे अटका है। इसकारण जानने-वाला ज्ञायक आत्मा, स्वय त्रिकाली आत्मा ज्ञात हो रहा है—ऐसा ख्याल मे नही आता। अरे! ऐसे तत्त्व का निर्णय करने के लिए लोगो के पास समय नही है। एक दिन मे २३ घटे तो खाने, कमाने, सोने और स्त्री, बच्चो व कुटुम्ब-परिवार की सभाल मे ही चले जाते है। कभी एकाध घटा धर्म के नाम पर निकालता भी है, सो वह भी कुगुरु-कुदेवादि की सेवा—उपासना मे खो देता है। अहो! धर्म के नाम पर निकाला गया समय भी मिथ्यादृष्टि [illegible] कुगुरु-कुगु[illegible] बता[illegible]र लूट लिया जाता है।

श्री मोक्षमार्गप्रकाशक मे १४वें पृष्ठ पर लिखा है कि 'जिन शास्त्रो मे वीतरागभाव का प्रयोजन प्रगट किया हो, वे ही शास्त्र वाचने-सुनने योग्य है। राग की मदता से ससार का अभाव होता है—ऐसा जहाँ लिखा हो वह शास्त्र ही नही है, क्योकि इसमे तो अतत्त्वश्रद्धान की पुष्टि करके मोहभाव को प्रगट किया है—ऐसे शास्त्र शास्त्र नही, बल्कि शस्त्र हैं, क्योकि राग-द्वेष-मोह द्वारा जीव अनादि से दु खी हो रहा है। [illegible] वासना तो उसे बिना सिखाये ही अनादि से है और इन शास्त्रो द्वारा भी इन्ही का पोषण किया तो यहाँ भला होने की क्या शिक्षा दी? यह बात सुनने मे जरा कठोर लगती है, परन्तु क्या करे? कहे बिना रहा भी तो नही जाता। जीवो को दु खी देखकर सच्ची बात, वस्तुस्वरूप की बात कहे

बिना भी तो नही रहा जाता। जिसे हित करना हो, उसे मध्यस्थ – तटस्थ होकर वस्तुतत्त्व का विचार अवश्य करना चाहिए।

श्री पचास्तिकाय गाथा १७२ मे कहा है कि सर्व शास्त्रो का तात्पर्य वीतरागता है। देखो, दिगम्बर सन्तो के बनाये शास्त्र यथार्थ व अविरुद्ध है। सर्व शास्त्रो मे वीतरागता का ही पोषण किया गया है।

यहाँ कहते है कि अपने स्वरूप का अभ्यास करे तो आत्मोपलब्धि अवश्य हो। यहाँ राग का अभ्यास करने को नही कहा। रागादि परवस्तु मे चाहे कोई कितना भी पुरुषार्थ क्यो न करे, प्राप्ति सभव नही है, क्योकि वह परवस्तु है न ? पर मे किसी का कोई पुरुपार्थ नही चलता। अहाहा ! विज्ञानघन स्वभावभावपने अस्ति धारण करनेवाली अपनी वस्तु प्रत्यक्ष मौजूद है, परन्तु उसे स्वय भूल गया है। चेतकर देखे तो पास ही है, क्योकि वह स्वय ही है। देखो तो सही, पण्डित श्री जयचन्दजी ने कैसा सरल भावार्थ लिखा है। वे कहते हैं कि अन्तर मे जागृत होकर देखे तो वह स्वय आप ही है। उसका अभ्यास करने पर वह प्राप्त होता ही है।

यहाँ छह महीना अभ्यास करने को कहा। उसका अर्थ यह नही समझ लेना कि इतना समय लगेगा ही, स्वरूप की प्राप्ति तो मात्र अन्तर्मुहूर्त मे होती है, परन्तु यदि अतिकठिन लगता हो तो धैर्य बधाने के लिए ऐसा कहा है कि छह माह से अधिक समय तो किसी भी हालत मे नही लगेगा। व्यर्थ का कोलाहल छोडकर ज्ञानानदस्वभावी भगवान आत्मा मे लगने से शीघ्र ही स्वरूप की प्राप्ति होगी – ऐसा उपदेश है।

भैया जगवासी तू उदासी ह्वै कै जगत सौं,
एक छह महिना उपदेस मेरौ मानु रे।
और सकलप विकलप के विकार तजि,
बैठि कैं एकन्त मन एक ठौरु आनु रे॥
तेरौ घट सर तामैं तू ही है कमल ताकौ,
तू ही मधुकर ह्वै सुवास पहिचानु रे।
प्रापति न ह्वै है कछु ऐसौ तू विचारतु है,
सही ह्वै है प्रापति सरूप यौं ही जानु रे॥

– नाटक समयसार, अजीवद्वार, छन्द ३

कथचिदन्वयप्रतिभासेप्यध्यवसानादयः पुद्गलस्वभावा इति चेत् –

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पोग्गलमयं जिरगा बेंति ।
जस्स फलं तं वुच्चदि दुक्खं ति विपच्चमारगस्स ।।४५।।

अष्टविधमपि च कर्म सर्वं पुद्गलमय जिना ब्रुवन्ति ।
यस्य फलं तदुच्यते दुःखमिति विपच्यमानस्य ।।४५।।

अध्यवसानादिभावनिर्वर्तकमष्टविधमपि च कर्म समस्तमेव पुद्गलमयमिति किल सकलज्ञज्ञप्तिः । तस्य तु यद्विपाककाष्ठामधिरूढस्य फलत्वेनाभिलप्यते तदनाकुलत्वलक्षरगसौख्याख्यात्मस्वभावविलक्षरगत्वात्किल

अब शिष्य पूछता है कि इन अध्यवसानादि भावो को जीव नही कहा, अन्य चैतन्यस्वभाव को जीव कहा, तो यह भाव तो भी कथचित् चैतन्य के साथ ही सम्बन्ध रखनेवाले प्रतिभासित होते है (वे चैतन्य के अतिरिक्त जड के तो दिखाई नही देते) तथापि उन्हे पुद्गल के स्वभाव क्यो कहा ? उसके उत्तरस्वरूप गाथासूत्र कहते है :–

रे ! कर्म अष्ट प्रकार का, जिन सर्व पुद्गलमय कहे ।
परिपाक मे जिस कर्म का फल दुःख नाम प्रसिद्ध है ।।४५।।

गाथार्थ :–[**अष्टविधम् अपि च**] आठो प्रकार का [**कर्म**] कर्म [**सर्वं**] सब [**पुद्गलमयं**] पुद्गलमय है –ऐसा [**जिनाः**] जिनेन्द्रभगवान सर्वज्ञदेव [**ब्रुवन्ति**] कहते है – [**यस्य विपच्यमानस्य**] जो पक्व होकर उदय मे आनेवाले कर्म का [**फलं**] फल [**तत्**] प्रसिद्ध [**दुःखम्**] दुःख है [**इति उच्यते**] – ऐसा कहा है ।

टीका :– अध्यवसानादि समस्त भावो को उत्पन्न करनेवाला जो आठो प्रकार का ज्ञानावरणादि कर्म है, वह सभी पुद्गलमय है – ऐसा सर्वज्ञ का वचन है । विपाक की मर्यादा को प्राप्त उस कर्म के फलरूप से जो कहा जाता है, वह (अर्थात् कर्मफल) अनाकुलतालक्षरग – सुखनामक आत्मस्वभाव से विलक्षरग है, इसलिये दुःख है । उस दुःख मे ही आकुलतालक्षरग अध्यवसानादि भाव समाविष्ट हो जाते है । इसलिये यद्यपि वे चैतन्य के

दुःखं; तदंतःपातिन एव किलाकुलत्वलक्षणा अध्यवसानादिभावाः। ततो न ते चिदन्वयविभ्रमेप्यात्मस्वभावाः किंतु पुद्गलस्वभावाः।

साथ सम्बन्ध होने का भ्रम उत्पन्न करते हैं, तथापि वे आत्मस्वभाव नही हैं, किन्तु पुद्गलस्वभाव है।

भावार्थ :– जब कर्मोदय आता है, तब यह आत्मा दु खरूप परिणमित होता है और दु खरूप भाव है, वह अध्यवसान है, इसलिये दु खरूप भावो मे (अध्यवसान मे) चेतनता का भ्रम उत्पन्न होता है। परमार्थ से दु खरूप भाव चेतन नही है; कर्मजन्य हैं इसलिये जड ही हैं।

गाथा ४५ की उत्थानिका, गाथा एवं उसकी टीका पर प्रवचन

गाथा ४४ मे अध्यवसानादि भावो को पुद्गलमय कहा है। अतः शिष्य यहाँ पूछता है कि हे गुरुदेव ! इन अध्यवसानादि भावो को आपने पुद्गलमय तथा जीव को इनसे भिन्न चैतन्यस्वरूप कहा है, किन्तु ये अध्यवसानादि भाव भी तो चैतन्य से सम्बन्धित प्रतिभासित होते है। राग-द्वेष आदि भाव जड़ के साथ सम्बन्ध नही रखते, बल्कि आत्मा के साथ सम्बन्ध रखते हैं। चैतन्य से भिन्न जड़ मे – शरीरादि में राग देखने मे नही आता। अत. आपने उनको पुद्गल का स्वभाव किस अपेक्षा से कहा ? ये राग-द्वेष, पुण्य-पाप के भाव व सुख-दु.ख का भोगना – ये सब चैतन्य की पर्याय मे होते हैं, इसकारण यद्यपि चैतन्य के साथ सम्बन्ध रखनेवाले प्रतिभासित होते हैं, तथापि उनको पुद्गल का स्वभाव क्यो कहा ? इसके उत्तरस्वरूप यह गाथा ४५ है।

अध्यवसान आदि समस्त भावो को उत्पन्न करनेवाले आठ प्रकार के ज्ञानावरणादि कर्म पुद्गलमय हैं – ऐसा सर्वज्ञ का वचन है। अध्यवसानादि भावो अर्थात् पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत, तप, भक्ति आदि शुभभावो तथा काम, क्रोधादि अशुभभावो को उत्पन्न करनेवाले कर्म है। व्यवहाररत्नत्रय का भाव भी शुभराग है। जब इस शुभराग को अपना माननेवाला भी मिथ्यादृष्टि है, तब फिर शुभराग से लाभ (धर्म) होता है – यह बात ही कहाँ रही ? यहाँ कहते है कि शुभभाव निमित्तरूप कर्म के लक्ष्य से होता है और ये कर्म पुद्गलमय है – ऐसा सर्वज्ञ का वचन है। भगवान सर्वज्ञदेव का यह वचन है कि व्रत-अव्रत के शुभाशुभ भाव, हर्ष-शोक के भाव पुण्य-पाप के भाव आदि सभी भावो को उत्पन्न करनेवाला कर्म है और वह कर्म पुद्गलमय जड़ है। राग दिभावो को उत्पन्न करे – ऐसा जीव

का द्रव्यस्वभाव नही है। देखो ! कैसी सरस बात है। भाई ! पर की दया तो तू पाल ही नही सकता, किन्तु पर की दया पालने की, छह काय के जीवो की रक्षा करने की जो वृत्ति उठती है, उस वृत्ति को उत्पन्न करनेवाला कर्म है और वह पुद्गलमय है, आत्म-स्वभावमय नही है। अहाहा ! बहुत सूक्ष्म बात है। वीतरागी जैनदर्शन बहुत सूक्ष्म है।

अब यहाँ कहते हैं कि विपाक की हद पर पहुँचे हुये कर्म के फलपने से कहे जानेवाले रागादि भाव दु खरूप है। कर्म का विपाक होने पर जो पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वे कर्म के फलपने से अनुभव मे आते हैं और वे दु खरूप हैं। अरे ! लोगो को सत्य बात समझ मे नही आती और व्यवहार को परम्परा से कारण मानकर हठ करके बैठ गये हैं, परन्तु भाई व्यवहार-रूप शुभभावो को उत्पन्न करनेवाले तो कर्म पुद्गल हैं—ऐसा सर्वज्ञ का वचन है। इसे परम्परा कारण किसप्रकार कहा जा सकता है ? विपाक को प्राप्त कर्म के फल कहे जानेवाले अध्यवसानादि दु खरूप भाव परम्परा मोक्षसुख के कारण कैसे हो सकते है ?

भगवान आत्मा त्रिकाल अनाकुल आनदस्वभावी वस्तु है। अनाकुल सुख आत्मा का स्वभाव है। पुण्य-पाप का भाव उससे विलक्षण है, विरुद्ध लक्षणवाला है, आकुलता लक्षणवाला है। आकुलता लक्षणवाले अध्यव-सानादिरूप पुण्य-पाप के भावो का दु ख मे ही समावेश होता है। आत्मा तो ज्ञानमय, श्रद्धामय, शान्तिमय, वीतरागमय, अतीन्द्रिय आनन्दमय है। आत्मा के अनाकुल आनन्दस्वभाव से विलक्षण पुण्य-पाप दु खरूप हैं। वे सुख का साधन कैसे हो सकते है ? फिर भी उन्हे साधन कहा जाता है। जैसे मोक्षमार्ग दो प्रकार का नही है, मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से है, उसीप्रकार साधन दो प्रकार के नही, उनका कथन दो प्रकार से है। जब निश्चयसम्यग्दर्शन होता है, तब साथ मे जो देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का राग होता है, उसे व्यवहारसम्यग्दर्शन कहते हैं। वस्तुत राग तो चारित्र का दोष है। देव-शास्त्र-गुरु, छह द्रव्य, सात तत्त्वो की या नव पदार्थो की जो श्रद्धा है, वह तो विकल्प है, राग है, परन्तु निश्चयसम्यग्दर्शन का सहचर देखकर समकित का आरोप करके कथन किया है। शुभभाव निश्चय से तो अमृत नही है, किन्तु निश्चयसमकित का सहचर जानकर उसपर अमृत का आरोप करके कथन किया है। यहाँ कहते हैं कि सभी रागादिभाव दु खरूप ही हैं, दु.ख मे ही समावेश पाते हैं, इसकारण वस्तुत तो वे अजीव हैं। जीववस्तु तो ज्ञानानन्दस्वभावी है और ये पुण्य-पाप आदि भाव दु खरूप हैं। आगे इसी ग्रथ मे इन्हे विषकुभ तक कहा है।

भाई ! त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव ऐसा कहते है कि मेरी ओर देखने से तुझे राग होगा। यह राग दु खरूप है। भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु अनाकुल आनन्दस्वरूप है। स्त्री आदि के लक्ष्य से अशुभभाव होता है और भगवान की वाणी आदि के लक्ष्य से शुभभाव होता है। इन दोनो को ही समयसार गाथा ३१ मे इन्द्रिय कहा है और इन्द्रियो को जीतने के लिए कहा है अर्थात् इनसे हटने का उपदेश दिया है। अहो ! ऐसी हित की बात दिगम्बर जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्यत्र कही नही है।

भगवान तेरा स्वभाव तो अनाकुल आनन्द है न ? उसे छोडकर तुझे जो राग का विकल्प, देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का विकल्प उठता है, वह आकुलतालक्षण, दु खरूप है। अहाहा ! गजब बात है भाई ! वस्तु का स्वरूप जैसा है, वैसा समझना पडेगा। सर्वज्ञ का वचन है कि शुभभाव पुद्गल से उत्पन्न हुआ भाव है, जीवद्रव्य से उत्पन्न हुआ नही है। पुद्गल के निमित्त से उत्पन्न हुआ है, इसलिए वह पुद्गलमय ही है। भगवान आत्मा अनाकुल आनन्दस्वरूप है और पुण्य उससे विपरीत लक्षणवाला दु खरूप भाव है, अनाकुल आनन्दस्वभावी आत्मा मे इसका समावेश नही होता। पर्याय मे जो शुभराग हैं, पुण्यभाव है – वह दु:ख है, इसकारण निश्चयनय से उसका आत्मस्वभाव के साथ सम्बन्ध नही है। तथा स्वभाव का पर्याय मे अनुभव होता है, उस निर्मल निर्विकारी पर्याय के साथ भी उस शुभराग का सम्बन्ध नही है।

चिन्मात्र वस्तु के अनाकुल आनन्दस्वभाव को जिसने साधा है तथा उसी मे ही दृष्टि, ज्ञान व रमणता होने पर जिसे निराकुल आनन्द का प्रगट स्वाद आया है, उस धर्मीजीव के मदराग के भाव को सहचर देखकर परम्परा कारण कहा है। उसने स्वभाव के आश्रय के जोर से शुभ के काल मे अशुभ को टाला है। वस्तुतः तो स्वभाव के जोर के कारण अशुभ टला है, किन्तु उसके बदले शुभभाव से अशुभ टला – ऐसा आरोप करके कहा है। मिथ्यादृष्टि के तो स्वभावतरफ का जोर ही नही है, इसकारण उसके अशुभ टला ही नही है। अत उसके शुभभाव पर परम्परा कारण का आरोप भी नही आ सकता। मिथ्यात्व सबसे बडा पाप है। उसका नाश नही किया, अत उसके सम्पूर्ण भावो को अशुभ कहा है।

अब कहते है कि यद्यपि ये रागादि भाव चैतन्य से सम्बन्धित होने का भ्रम उत्पन्न करते है, तथापि वे आत्मा के स्वभाव नही हैं, पुद्गल-स्वभाव हैं। देखो ! एक ओर राम व एक ओर ग्राम। 'निज पद रमे सो राम

कहिये' चिदानद भगवान निजपद है, उसमे रमते-रमते जो ग्रानद ग्राया, उसका राग-ग्राम के साथ सम्बन्ध नही है। (राम व ग्राम भिन्न हैं)।

साधक को ज्ञानधारा ग्रौर रागधारा – दोनो एक साथ रहती हैं, परन्तु रागधारा पुद्गल के सम्बन्ध से उत्पन्न हुई है, स्वभाव के सम्बन्ध से उत्पन्न नही हुई है। कहने का ग्रभिप्राय यह है कि साधक को जो व्यवहार रत्नत्रय का विकल्प होता है, वह दु ख मे समावेश पाता है – इसकारण वह ग्रात्मा का स्वभाव नही है। भाई ! तेरी वस्तु ग्रनन्त महिमावत है, उसकी तुझे महिमा क्यो नही ग्राती ? राग से लाभ होता है – ऐसी राग की महिमा क्यो ग्राती है ?

चैतन्य चिदानन्द प्रभु तेरा नाथ है। जो प्राप्त की रक्षा करता है तथा ग्रप्राप्त की प्राप्ति कराता है, उसे नाथ कहते हैं। ग्रात्मा के निज चैतन्य-स्वभाव का ग्राश्रय करने पर जो शान्ति व ग्रानन्द की निर्मल दशा प्रगट हुई, उसकी रक्षा करनेवाला है तथा वर्त्तमान मे परिपूर्ण शान्ति व परिपूर्ण ग्रानन्द की दशा जो प्रगट नही हुई, उसको देनेवाला है। इसकारण ग्रात्मा को नाथ कहते हैं। प्रगट शान्ति व वीतरागता की रक्षा करते-करते क्रमश पूर्ण वीतरागता व केवलज्ञान प्राप्त करावे – ऐसा भगवान ग्रात्मा नाथ है, परन्तु राग को प्राप्त करावे – ऐसा ग्रात्मा का स्वरूप नही है।

भाई ! सत्य को सत्यरूप मे रखना। श्रीमद् राजचन्दजी ने कहा है कि वस्तुरूप से रखना, फेरफार नही करना। भगवान ग्रात्मा ज्ञानानद-स्वभावी निराकुल सुखस्वरूप है, उसे उसी मे रखना। राग मे ग्रात्मा ग्रा गया या ग्रात्मा रागरूप हो गया – ऐसा नही मानना। श्री पण्डित बनारसीदासजी ने ग्रपने नाटक समयसार मे लिखा है –

सद्गुरु कहे सहज का धन्धा, वादविवाद करे सो ग्रन्धा।

शुद्ध ग्रानन्दघन प्रभु चैतन्यरूप ग्रात्मा ग्रन्दर विराजता है। उसका ग्राश्रय करने से सम्यग्दर्शन होता है। वस्तु का ऐसा सहज स्वभाव है। पर का ग्राश्रय करने से तीनकाल मे भी सम्यग्दर्शन नही होता।

समयसार के बध ग्रधिकार मे ग्राता है कि पर को जिवाऊँ-मारूँ, सुखी-दुःखी करूँ, पर के प्राणो की रक्षा करूँ, उन्हे हनूँ, दूसरो को सुख के साधन जुटाऊँ, दु ख के साधन मिलाऊँ – इत्यादि जो ग्रध्यवसान भाव हैं, वे ग्रज्ञान हैं, मिथ्यात्व हैं। ऐसी मान्यता का भगवान ने निषेध किया है।

इसकारण हम ऐसा जानते हैं कि उनका निषेध करके भगवान ने समस्त पराश्रित भावो का निषेध किया है।

ऐसी बात कभी कान मे भी नही पड़ी – इसकारण कितने ही लोग कहते हैं कि तुम कुछ करने का उपदेश तो कभी देते नही हो। परन्तु भाई ! निज-शुद्धात्मा का ज्ञान करना, उसका श्रद्धान करना और उसी मे रमणता करना, यह क्या कुछ करना नही है ? अरे ! मात्र यही करने लायक है, आत्मा यही कर सकता है। इसके सिवाय आत्मा अन्य कुछ कर सके, ऐसी योग्यता आत्मा मे है ही नही।

प्रश्न :–शुभभाव तो प्रशस्तविकल्प है न ?

उत्तर :–भाई ! प्रशस्तविकल्प भी आत्मा की हानि करनेवाला भाव है, आत्मा को क्षत-विक्षत करनेवाला भाव है – ऐसा पुण्य-पाप अधिकार मे कहा है। लोगो को अनादि सस्कार के कारण श्रद्धान मे आत्मा बैठता नही है और राग बैठ जाता है, परन्तु भाई ! यह राग का परिणाम तो दु ख मे समावेश पाता है। ये रागादि भाव आत्मा के चैतन्य-स्वभाव मे प्रतिष्ठा नही पाते, इसकारण ये पुद्गलस्वभाव ही हैं।

गाथा ४५ के भावार्थ पर प्रवचन

जब कर्म का उदय आता है, तब आत्मा दु खरूप परिणमन करता है और दु खरूप भाव अध्यवसान हैं। देखो, जब आत्मा कर्म के उदय के निमित्त से परिणमित होता है, तब रागरूप पुण्य-पाप के भावरूप होता है। शुभाशुभ राग के परिणाम दु खरूप हैं, अध्यवसान भाव हैं तथा उन दु खरूप अध्यवसान भावो मे अज्ञानी को चेतना का भ्रम उत्पन्न होता है, जबकि वे वास्तव मे चेतना के परिणाम नही हैं, किन्तु पुद्गल के ही हैं।

भगवान आत्मा तो ज्ञानानन्दस्वरूपी है। 'दुखरूप भाव मे आत्मा है' – ऐसा मानना तो भ्रम है। परमार्थ से दु खरूप भाव चेतन नही हैं। रागादि भावो मे चेतनपने का भ्रम उत्पन्न होता है, किन्तु वे परमार्थ से चेतन नही है। स्वभाव की दृष्टि से दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का राग कर्मजन्य है। समयसार के २४४वे कलश मे आया है कि इस परमार्थ का ही निरन्तर अनुभव करो अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञान व आनन्दरूप आत्मवस्तु का ही निरन्तर अनुभव करो।

यद्यध्यवसानादयः पुद्गलस्वभावास्तदा कथं जीवत्वेन सूचिता इति चेत् –

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं ।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ।।४६।।

व्यवहारस्य दर्शनमुपदेशो वर्णितो जिनवरैः ।
जीवा एते सर्वेऽध्यवसानादयो भावाः ।।४६।।

सर्वे एवैतेऽध्यवसानादयो भावा जीवा इति यद्भगवद्भिः सकलज्ञैः प्रज्ञप्तं तदभूतार्थस्यापि व्यवहारस्यापि दर्शनम् । व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छानां परमार्थप्रतिपादकत्वादपरमार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव । तमंतरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेद-

---

अब प्रश्न होता है कि यदि अध्यवसानादि भाव पुद्गलस्वभाव है तो सर्वज्ञ के आगम मे उन्हे जीवरूप क्यो कहा गया है ? उसके उत्तरस्वरूप गाथासूत्र कहते हैं –

व्यवहार ये दिखला दिया, जिनदेव के उपदेश मे ।
ये सर्व अध्यवसान आदिक, भाव को जँह जीव कहे ।।४६।।

गाथार्थ – [**एते सर्वे**] ये सब [**अध्यवसानादय भावा**] अध्यवसानादि भाव [**जीवा**] जीव हैं, इसप्रकार [**जिनवरैः**] जिनेन्द्रदेव ने [**उपदेश वर्णित**]जो उपदेश दिया है, सो [**व्यवहारस्य दर्शनम्**] व्यवहारनय दिखाया है ।

टीका – ये सब अध्यवसानादि भाव जीव है – ऐसा जो भगवान सर्वज्ञदेव ने कहा है, वह यद्यपि व्यवहारनय अभूतार्थ है, तथापि व्यवहारनय को भी बताया है, क्योकि जैसे म्लेच्छो को म्लेच्छभाषा वस्तुस्वरूप बतलाती है, उसीप्रकार व्यवहारनय व्यवहारी जीवो को परमार्थ का कहने वाला है, इसलिए अपरमार्थभूत होने पर भी धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करने के लिए वह (व्यवहारनय) बतलाना न्यायसगत ही है । परन्तु यदि व्यवहारनय न बताया जाये तो परमार्थ से (निश्चयनय से) शरीर से जीव को भिन्न बताया जाने पर भी जैसे भस्म को मसल देने से हिंसा का

दर्शनात् त्रसस्थावराणां भस्मन इव निःशंकमुपमर्दनेन हिंसाभावाद्भवत्येव बंधस्याभावः। तथा रक्तद्विष्टविमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेष-मोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभावः।

अभाव है, उसीप्रकार त्रस-स्थावरजीवो को नि.शकतया मसल देने – कुचल देने (घात करने) से भी हिंसा का अभाव ठहरेगा और इसकारण बन्ध का ही अभाव सिद्ध होगा। तथा परमार्थ के द्वारा जीव राग-द्वेष-मोह से भिन्न बताया जाने पर भी 'रागी, द्वेषी, मोही जीव कर्म से बँधता है – उसे छुडाना' – इसप्रकार मोक्ष के उपाय के ग्रहण का अभाव हो जायेगा और इससे मोक्ष का ही अभाव होगा। (इसप्रकार यदि व्यवहारनय न बताया जाए तो बन्ध-मोक्ष का ही अभाव ठहरता है।)

भावार्थ :– परमार्थनय तो जीव को शरीर तथा राग-द्वेष-मोह से भिन्न कहता है। यदि इसी का एकान्त ग्रहण किया जाये तो शरीर तथा राग-द्वेष-मोह पुद्गलमय सिद्ध होगे तो फिर पुद्गल का घात करने से हिंसा नही होगी तथा राग-द्वेष-मोह से बन्ध नही होगा। इसप्रकार परमार्थ से जो ससार-मोक्ष दोनो का अभाव कहा है, एकान्त से यह ही ठहरेगा, किन्तु ऐसा एकान्तरूप वस्तु का स्वरूप नही है। अवस्तु का श्रद्धान, ज्ञान, आचरण अवस्तुरूप ही है, इसलिये व्यवहारनय का उपदेश न्यायप्राप्त है। इसप्रकार स्याद्वाद से दोनो नयो का विरोध मिटाकर श्रद्धान करना सो सम्यक्त्व है।

गाथा ४६ की उत्थानिका, गाथा एवं उसकी टीका पर प्रवचन

अब शिष्य पूछता है कि हे गुरुदेव! यदि अध्यवसानादि भाव पुद्गलस्वभाव है तो उन्हे सर्वज्ञ के आगम मे जीवस्वरूप क्यो कहा है? शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप एव सुख-दु ख वेदन के भावो को यहाँ पुद्गलस्वभाव कहा है, परन्तु आगम मे अन्यत्र इनको जीवरूप भी कहा है। जैसे कि कषायी-जीव, योगी-आत्मा इत्यादि। दोनो ही बाते सर्वज्ञकथित आगम की हैं, किन्तु दोनो मे परस्पर विरोध-सा प्रतीत होता है। अध्यवसानादि भावो को कही तो जीव का कहा और कही पुद्गल का। अत. शिष्य की इस शका का उत्तर आचार्य भगवान ने इस गाथा मे दिया है।

'अध्यवसानादि भाव जीव के है' – ऐसा जो भगवान सर्वज्ञदेव ने कहा है, वह अभूतार्थ होने पर भी व्यवहारनय दिखाया है, क्योकि जिसप्रकार

म्लेच्छभाषा म्लेच्छो को वस्तुस्वरूप बताती है, उसीप्रकार व्यवहारनय व्यवहारीजनो को परमार्थ का कहनेवाला है। इसकारण अपरमार्थभूत होने पर भी धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करने के लिए व्यवहारनय का दिखाना न्यायसगत ही है।

व्यवहारनय स्वय परमार्थभूत न होने पर भी परमार्थ का कहनेवाला है। पर्याय मे जो राग-द्वेष हैं, पाप-पुण्य के भाव हैं; वे स्वभाव की दृष्टि मे अपरमार्थभूत हैं, फिर भी पर्याय मे धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करने के लिए पर्याय को बतानेवाले व्यवहारनय को दर्शाना न्यायसगत ही है।

पर्याय मे चौदह गुणस्थान है। यदि कोई गुणस्थानो का निषेध करेगा तो व्यवहार का ही निषेध हो जाएगा और चौथा, पाँचवाँ, छट्ठे आदि गुणस्थानो का निषेध हो जाने पर धर्मतीर्थ (मोक्षमार्ग) का ही निषेध हो जाएगा। अत धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति चलाने के लिए व्यवहारनय का दर्शाना न्यायसगत ही है। इससे ऐसा नही समझना कि व्यवहार से धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति होती है, व्यवहार से मोक्षमार्ग प्रगट होता है। मोक्षमार्ग तो स्वद्रव्य के आश्रय से ही प्रगट होता है, किन्तु पर्याय मे जो गुणस्थान आदि के भेद हैं, उन्हें न माने तो तीर्थ का नाश हो जायेगा, धर्मतीर्थ की व्यवस्था ही नही बन सकेगी — यह अभिप्राय है। व्यवहार है तो अवश्य, व्यवहार न हो तो चौदह गुणस्थानो की सिद्धि ही नही होगी, ससारी व सिद्ध पर्यायो की भी सिद्धि नही होगी।

चौदह गुणस्थानो के भेद जीव का मूलस्वरूप नही होने से उन्हें बताने वाला व्यवहारनय वस्तुत तो अपरमार्थभूत ही है, तथापि तीर्थ की प्रवृत्ति के लिए अर्थात् चौथे, पाँचवे, छट्ठे आदि गुणस्थानो की दशा का ज्ञान कराने के लिए जिनवाणी मे व्यवहारनय दर्शाया गया है। निश्चय से पर्यायें द्रव्य मे नही हैं, किन्तु पर्याये पर्यायरूप से तो हैं ही। बस, यहाँ इतना व्यवहार सिद्ध करना है। पर्याय के आश्रय से धर्म होता है, व्यवहार के आश्रय से तीर्थ प्रगट होता है — यह बात यहाँ नही है। लोगो को इसमे बडा भ्रम है कि व्यवहार से धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति होती है, परन्तु भाई! ऐसा नही है। धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति तो शुद्धनिश्चय के विषयभूत चैतन्यमात्र द्रव्य के आश्रय से ही होती है। यहाँ तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भाव तथा चौदह गुणस्थान आदि के भाव पर्यायरूप से हैं — इसप्रकार पर्यायरूप व्यवहार की सिद्धि की है।

श्री समयसार की १२वी गाथा की टीका मे 'जइ जिणमय पवज्जह .. ' गाथा उद्धृत की है, उसमे आता है कि यदि जिनमत को

प्रवर्ताना चाहते हो तो व्यवहार व निश्चय – दोनो नयो को मत छोड़ो, उसका अभिप्राय यह है कि यदि निश्चयनय को न माना जाएगा तो तत्त्व का नाश होगा तथा व्यवहारनय को नही मानोगे तो जीव के त्रस-स्थावरादि भेद, ससारी व सिद्ध और गुणस्थानादि के भेद आदि कुछ भी सिद्ध नही होगे । निश्चय से तो जीव अभेद एकरूप त्रिकाल है, इसमे पर्याय का भेद करना व्यवहार है । निश्चयदृष्टि मे व्यवहार अभूतार्थ होते हुये भी ऐसा भेद रूप व्यवहार होता अवश्य है, किन्तु वह आश्रय करनेलायक नही है । व्यवहार का अस्तित्व है, मात्र इतना ज्ञान कराने का प्रयोजन है।

राग को मोक्षमार्ग कहने का व्यवहार है अवश्य, परन्तु वस्तुत· राग मोक्षमार्ग नही है । इसीप्रकार पर्यायो के भेद व गुणस्थान आदि भेद भी हैं, परन्तु वे शुद्ध जीवद्रव्य मे नही हैं, त्रिकाली द्रव्यस्वभाव मे नही है । अत जब जीव त्रिकाली शुद्धद्रव्य का आश्रय करता है, तव पर्याय का आश्रय नही रहता, तथापि पर्याय का अस्तित्व तो है ही ।

अव कहते हैं कि यदि व्यवहार को न वताकर मात्र परमार्थ ही वताया जाय तो परमार्थ से तो जीव शरीर से सर्वथा भिन्न ही होने से जिसप्रकार जीव से सर्वथा भिन्न भस्म के मसल देने पर हिंसा नही होती है, उसीप्रकार त्रस-स्थावरादि जीवो का नि.शकरूप से घात करने पर भी हिंसा का अभाव ठहरेगा तथा फिर उससे वध भी नही होगा । यहाँ त्रस-स्थावर जीवो का घात आत्मा कर सकता है – यह प्रश्न नही है; परन्तु यदि एकेन्द्रिय आदि पर्यायो को स्वीकार न करे तो उनका घात करने का जो भाव होता है, उस भाव मे भी हिसा का अभाव सिद्ध होगा । हिंसा के अभाव होने की जो युक्ति दर्शाई है, उसका तात्पर्य भावहिंसा का भी अभाव होगा – ऐसा समझना चाहिए ।

देखो ! परमार्थ से तो जीव शरीर से भिन्न ही है, परन्तु व्यवहार से जीव तथा शरीर का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है । एकेन्द्रिय, द्वि-इन्द्रिय आदि जो छहकाय हैं, वे परमार्थ जीव नही है, परन्तु एकेन्द्रिय आदि जो छहकाय की पर्यायें हैं, वे व्यवहार से जीव है – उन्हे व्यवहार से जीव सिद्ध भी किया है । यद्यपि व्यवहार हेय है, तथापि हेय होकर भी उसका अास्तित्व तो है ही । जो है, उसी मे हेयोपादेय का व्यवहार सभव होता है । जिसका अस्तित्व ही न हो, उसमे हेयपने की कल्पना कैसी ?

द्रव्य स्वय निश्चय है तथा मोक्षमार्ग की पर्याय व्यवहार है । यदि पर्यायमात्र का निषेध करेगे तो निश्चयमोक्षमार्ग भी सिद्ध नही होगा ।

परमार्थवचनिका मे आया है कि अक्रियरूप शुद्धद्रव्य निश्चय है तथा यथार्थमोक्षमार्ग साधना व्यवहार है। सम्यग्दृष्टि जीव निश्चय-व्यवहार का स्वरूप जानता है, किन्तु मूढजीव स्वय जानते भी नही व सम्यग्दृष्टियो की मानते भी नही। यदि व्यवहार का सर्वथा अभाव हो तो फिर पर्याय, राग, एकेन्द्रिय आदि जीव, उनका शरीर के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध – इत्यादि कुछ भी सिद्ध नही होगा।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, गुणस्थान के भेद – ये सब व्यवहार हैं। निश्चय से तो आत्मा गुणस्थानादि से रहित है। निश्चय से राग आत्मा का नही है तथा व्यवहार से है – ये दोनो वचन सर्वज्ञकथित आगम के है। यहाँ पर्याय मे होनेवाला रागरूप आस्रव-बध तथा निज चैतन्यस्वभावी शुद्धद्रव्य के आश्रय से उन आस्रव-बध का अभाव होकर जो सवर-निर्जरारूप शुद्धपर्याये प्रगट होती हैं – उन सबका ज्ञान कराया है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो निश्चयमोक्षमार्ग है, वह सद्भूतव्यवहार मे तथा रागादि असद्भूतव्यवहार मे आते हैं।

भाई! ससार, मोक्षमार्ग व मोक्ष – ये सब पर्यायें हैं, धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति भी पर्यायरूप है। पर्याय है, इसलिए व्यवहार है। यद्यपि व्यवहार अपरमार्थभूत है, क्योकि उसके आश्रय से निर्मलता प्रगट नही होती, तथापि उसका दर्शाना न्यायसगत है, क्योकि उसका अस्तित्व तो है न? त्रिकाली शुद्धतत्त्व भूतार्थ है, सत्यार्थ है व पर्याय अभूतार्थ है, असत्यार्थ है। पर्याय आश्रय करने लायक नही है, इसलिए उसे अपरमार्थ कहा है। पर्याय है ही नही – ऐसा नही है। समयसार की १२वी गाथा मे ऐसा लिया है कि शुद्धता का अश, अशुद्धता का अश तथा शुद्धता-अशुद्धता का बढता-घटता अश – ये सभी व्यवहार जानने मे आते हुए प्रयोजनवान हैं। जानने मे आता हुआ प्रयोजनवान कहा। उससे वह है, ऐसी सिद्धि हो जाती है। जो व्यवहार ही नही तो उसको जानने का प्रश्न ही कहाँ रहा? भाई! वस्तु जैसी है, वैसी समझनी पड़ेगी। इसके बिना भव का अन्त नही आयेगा। जिसके करने से भव का अभाव नही हो, वह किस काम का? भव का अभाव तो एक द्रव्य के (शुद्धद्रव्य के) आश्रय से होता है। तथा इस भव का अभाव हुआ, मोक्ष हुआ या मोक्षमार्ग प्रगट हुआ – यह सब व्यवहार हैं। समयसार गाथा ११ मे कहा है कि सभी व्यवहार अभूतार्थ है। पर्यायमात्र अभूतार्थ है। वहाँ ऐसा लिया है कि व्यवहारनय अभूतार्थ होने से अभूत अर्थ को प्रगट करता है।

एकसमय की पर्याय व्यवहार है। पचाध्यायी मे द्रव्य को निश्चय व पर्याय को व्यवहार कहा है। केवलज्ञान की पर्याय को व्यवहार कहा है। परमात्मप्रकाश मे आता है कि मति, श्रुत, अवधि व मन पर्ययज्ञान भी विभावगुण हैं। श्री नियमसार मे भी कहा है कि मति-श्रुतादि चारो ज्ञान विभावस्वभाव हैं और केवलज्ञान शुद्धस्वभावभाव है। केवलज्ञान प्रगट होने पर स्थिर रहता है – इसकारण स्वभाव कहा है तथा चार ज्ञान स्थिर नही रहते, होकर नष्ट हो जाते हैं – इसकारण उन्हे विभावगुण कहा है। यद्यपि केवलज्ञान स्वभावभाव है, तथापि भेदरूप (अशरूप) होने के कारण उसे भी यहाँ व्यवहार कहा है। समयसार की शैली मुख्यरूप से परमार्थ को बतानेवाली है तथा साथ ही गौणरूप से अपरमार्थ का भी ज्ञान कराती है। समयसार की १४वी गाथा के भावार्थ मे कहा है कि मुख्य-गौण कथन सुनकर सर्वथा एकान्त नही करना। सर्व नयो का कथचित् सत्यार्थपने का श्रद्धान करने पर ही सम्यग्दृष्टि हो सकते है अर्थात् व्यवहारनय का भी यथार्थ ज्ञान करना चाहिये। कोई कहे कि पर्याय है ही नही तो उसका ज्ञान खोटा है। पर्याय है – ऐसा ज्ञान करके द्रव्य का आश्रय करना योग्य है।

पर्याय है, पर्याय मे राग है – इसे न जाने, न माने तो एकान्त हो जायेगा। अकेले निश्चय को ही ग्रहण करेगा, तो काम नही चलेगा। निश्चय को व्यवहार की अपेक्षा है। श्री फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री ने कहा है कि व्यवहार की उपेक्षा करना ही उसकी अपेक्षा है। पर्याय मे जो राग है, उसकी उपेक्षा करके द्रव्य की अपेक्षा करना। व्यवहार की उपेक्षा की, वही उसकी अस्ति सिद्ध हो गई अर्थात् उसकी इतनी अपेक्षा आ गई। भाई! इस तत्त्व को समझने के लिए मध्यस्थ होना चाहिये, मध्यस्थ हुए बिना तत्त्व समझ मे नही आयेगा।

शुद्धद्रव्यरूप वस्तु का निर्णय करनेवाला कौन है? उसका निर्णय करनेवाली अनित्य पर्याय ही है। भाई! स्याद्वाद की अपेक्षा से ही सब कुछ समझ मे आयेगा, एकान्त से कुछ भी हाथ नही आयेगा, परन्तु स्याद्वाद का अर्थ यह नही है कि मोक्षमार्ग निश्चय से भी होता है और व्यवहार से भी होता है। 'व्यवहार है' – बस यहाँ इतना ही कहने का अभिप्राय है। इसी शास्त्र की ८वी गाथा मे आता है कि म्लेच्छ को 'स्वस्ति' अर्थात् 'तेरा अविनाशी कल्याण हो' – ऐसा अर्थ म्लेच्छ भाषा द्वारा ही समझाया जा सकता है, उसीप्रकार व्यवहारीजनो को वस्तुस्वरूप व्यवहारनय द्वारा ही समझाया जा सकता है, परन्तु जिसप्रकार ब्राह्मण को म्लेच्छ हो जाना योग्य नही है, उसीप्रकार समझनेवाले या समझानेवालो को व्यवहार का

अनुसरण करना योग्य नही है। वहाँ ऐसा कहा है कि व्यवहारनय म्लेच्छ भाषा के स्थानापन्न होने के कारण परमार्थ का प्रतिपादक होने से स्थापन करने योग्य तो है, परन्तु वह अनुसरण करने योग्य नही है।

श्री पुरुषार्थसिद्धच्युपाय मे आता है कि जब एकनय की विवक्षा हो, तव दूसरा नय ढीला करना – गौण करना। वहाँ मक्खन बिलोती हुई ग्वालिन की मथानी का दृष्टान्त देकर समझाया है कि जब ग्वालिन एक हाथ से रस्सी खीचती है तो दूसरे हाथ को ढीला करती है। इसप्रकार तत्त्वमथन की प्रक्रिया से तत्त्व का मक्खन हाथ आता है, परन्तु यह तो तब की बात है, जब दोनो नयो के विषयो का ज्ञान करना हो। जब व्यवहार का ज्ञान करना हो, तब निश्चय को गौण रखे तथा जब निश्चय का ज्ञान करना हो, तब व्यवहार को गौण रखे, परन्तु आश्रय व श्रद्धा करने के लिए तो एक निश्चय ही मुख्य है। एक त्रिकाल भूतार्थ के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होता है। वहाँ तो एक निश्चय के आश्रय से व्यवहार को ढीला करके पर्याय को स्वभाव मे जोड देना है। एक भूतार्थ के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होता है, यह एक ही सिद्धान्त है। व्यवहार के आश्रय से भी समकित होता है – ऐसा स्याद्वाद का स्वरूप नही है।

स्याद्वाद का अर्थ यह नही है कि निश्चय से भी धर्म होता है व व्यवहार से भी धर्म होता है। जैसे म्लेच्छ भाषा म्लेच्छो को वस्तुस्वरूप वताती है, उसीप्रकार व्यवहारनय व्यवहारियो को परमार्थ का कहने वाला है, प्रगट करानेवाला नही, भेद अभेद का ज्ञान कराता है, अभेद का अनुभव नही कराता, इसलिए भेद आदरणीय नही है।

कहा है न कि व्यवहारनय का दिखाना न्यायसगत ही है, क्योकि वह विकारी-अविकारी पर्यायो के भेदो को वताता है, परन्तु इसकारण व्यवहारनय का आदर करना न्यायसगत नही है। भाई! यह तो दिगम्बर सन्तो की वाणी है, ऐसी वाणी अन्यत्र कही है ही नही। दिगम्बर कोई पक्ष नही है। वस्तु का जैसा स्वरूप है, वैसा ही यथार्थस्वरूप दिगम्बर सन्तो ने प्रसिद्ध किया है। निश्चय से रागरूपी वस्त्र से रहित ज्ञायकमात्र आत्मवस्तु दिगम्बर है और वस्त्ररहित शरीर की दशा बाह्य दिगम्बरपना है। अहो! दिगम्बरत्व कोई अद्भुत अलौकिक वस्तु है।

तथा परमार्थ द्वारा तो जीव राग-द्वेष-मोह से भिन्न ही वताया जाता है। यदि व्यवहारनय नही दिखाया जाय तो जो रागी, द्वेषी, मोही जीव कर्म से वधे है, उनको छुडानेरूप मोक्ष के उपाय को ग्रहण करने का

अभाव होगा, क्योकि परमार्थ ने तो जीव को राग-द्वेष से भिन्न ही बताया है। जब जीव बधा ही नही तो छूटने का उपाय क्या निरर्थक सिद्ध नही होगा? और मोक्षमार्ग का अभाव होने पर मोक्ष का भी अभाव सिद्ध होगा। अत व्यवहार का दिखाया जाना न्यायसगत ही है।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग – ये पाँच बन्ध के कारण वस्तु के स्वभाव मे नही है, परन्तु ये बन्ध के कारण पर्याय मे तो हैं ही। यदि व्यवहारनय नही दिखाया जाय तो बन्ध के कारण ही सिद्ध नही होगे तो रागी, द्वेषी, मोही जीव कर्म से बधे हैं – ऐसा भी नही कह सकेंगे। ऐसा होने पर मोक्ष के उपाय – सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के ग्रहण का भी अभाव होगा।

समयसार गाथा ३४ मे तो यहाँ तक आया है कि विकार के त्याग का कर्त्तापना आत्मा को नाममात्र है, परन्तु पर्याय मे विकार है व उसका नाश होता है – ऐसा व्यवहार है तो सही न? परमार्थ से आत्मा को विकार के नाश का भी कर्त्तापना नही है। त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करने पर विकार का नाश हो जाता है अर्थात् तब विकार ही उत्पन्न नही होता। इसकारण पूर्वपर्याय की अपेक्षा से विकार का नाश किया – ऐसा कहा जाता है। अत पर्याय मे विकार है तथा उसका उत्तर-पर्याय मे नाश होता है – ऐसा व्यवहार है।

श्री परमात्मप्रकाश गाथा ८८ मे आता है कि पर्याय होने से भाव-लिंगरूप शुद्धात्मस्वरूप का साधक निर्विकल्प मोक्षमार्ग भी जीव का स्वरूप नही है। भावलिंग भी पर्याय होने के कारण उपचारनय से जीव का स्वरूप होने पर भी परमसूक्ष्म निश्चयनय से भावलिंग भी जीव का स्वरूप नही है। निश्चय से तो बध-मोक्ष की पर्याय आत्मा मे है नही। वस्तु तो त्रिकाल एकरूप मुक्तस्वरूप ही है। मोक्ष की उत्पत्ति व ससार का नाश – ये दोनो पर्याय मे हैं, इसकारण व्यवहार हैं।

यदि व्यवहार नही दिखाया जाय तो बध-मोक्ष का ही अभाव ठहरेगा। नवीन मोक्ष की पर्याय प्रगट करना व बध का नाश करना – ये सब पर्याय मे है, इसलिए व्यवहार का दिखाना न्यायसंगत है, किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि मदरागरूप-व्यवहार मोक्षमार्ग का कारण है।

गाथा ४६ के भावार्थ पर प्रवचन

परमार्थनय तो जीव को शरीर तथा राग-द्वेष-मोह से भिन्न कहता है। यदि परमार्थ का ही एकान्त करेंगे तो शरीर तथा राग-द्वेष-मोह

पुद्गलमय ठहरेंगे। ऐसा होने पर पुद्गल के घातने से तो हिंसा नही होती और राग-द्वेष-मोह से बध नही होता — ऐसा ठहरेगा। तथा इसीप्रकार परमार्थ से जो ससार व मोक्ष — दोनो का अभाव कहा है, वह भी एकान्त ठहरेगा, किन्तु ऐसा एकान्तरूप वस्तु का स्वरूप नही है। परमार्थ से जो ससार-मोक्ष का अभाव कहा, वह एकान्त से नही है। बध-मोक्ष पर्याय मे तो है ही। बध, मोक्ष व मोक्ष का उपाय — ये सभी पर्यायरूप व्यवहार है।

एकान्तरूप वस्तु का स्वरूप नही है। अवस्तु का श्रद्धान, ज्ञान आचरण अवस्तुरूप ही होता है, इसलिए व्यवहारनय का उपदेश न्याय-प्राप्त है अर्थात् व्यवहारनय का विषय भी है। इसप्रकार स्याद्वाद से दोनो नयो का विरोध टालकर श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। इन नयो का विरोध स्याद्वाद से मिट जाता है। पर्यायदृष्टि से आत्मा का राग-द्वेष-मोह आदि के साथ सम्बन्ध है तथा वस्तुस्वभाव की दृष्टि से सम्बन्ध नही है। पर्याय है, पर्याय मे राग-द्वेष है — इनका ज्ञान करना, किन्तु जिनवचन मे जिस एक को ही उपादेय कहा है, उस आनन्द के नाथ शुद्ध त्रिकाली भगवान आत्मा का आश्रय करना। इसप्रकार दोनो नयो का विरोध दूर करके श्रद्धान करने पर सम्यग्दर्शन होता है।

यद्यपि जिनवचन मे शुद्ध त्रिकाली चैतन्यघनस्वरूप जीववस्तु उपादेय कही है, तथापि राग-द्वेष, बध-मोक्ष इत्यादि सब पर्यायनय के — व्यवहारनय के विषय भी हैं, किन्तु वे आश्रय करने लायक नही हैं तथा 'है ही नहीं' — इसप्रकार निषेध करने लायक भी नही है। ●

स्याद्वाद की महिमा

निहृचै मैं रूप एक विवहार मैं अनेक,
यही नय-विरोध मैं जगत भरमायौ है।
जग के विवाद नासिवे कौं जिन आगम है,
जामैं स्याद्वाद नाम लच्छन सुहायौ है।।
दरसनमोह जाकौ गयौ है सहजरूप,
आगम प्रमान ताके हिरदै मैं आयौ है।
अनैसौ अखडित अनूतन अनत तेज,
ऐसो पद पूरन तुरत तिनि पायौ है।।

— समयसार नाटक, जीवद्वार, छन्द ५

अथ केन दृष्टान्तेन प्रवृत्तो व्यवहार इति चेत् –

राया हु णिग्गदो त्ति य-एसो बलसमुदयस्स आदेसो ।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेक्को णिग्गदो राया ॥४७॥

एमेव य ववहारो अज्झवसाणादिअण्णभावाणं ।
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेक्को णिच्छिदो जीवो ॥४८॥

राजा खलु निर्गत इत्येष बलसमुदयस्यादेशः ।
व्यवहारेण तूच्यते तत्रैको निर्गतो राजा ॥४७॥

एवमेव च व्यवहारोऽध्यवसानाद्यन्यभावानाम् ।
जीव इति कृतः सूत्रे तत्रैको निश्चितो जीवः ॥४८॥

यथैष राजा पंच योजनान्यभिव्याप्य निष्क्रामतीत्येकस्य पंचयोजनान्यभिव्याप्तुमशक्यत्वाद्व्यवहारिणां बलसमुदाये राजेति व्यवहारः, परमार्थ-

---

अब शिष्य पूछता है कि व्यवहारनय किस दृष्टान्त से प्रवृत्त हुआ है ? उसका उत्तर कहते है :–

'निर्गमन इस नृप का हुआ,' – निर्देश सैन्यसमूह मे ।
व्यवहार से कहलाय यह, पर भूप इसमें एक है ॥४७॥

त्यो सर्व अध्यवसान आदिक, अन्यभाव जु जीव है ।
– शास्त्रन किया व्यवहार, पर जीव निश्चय एक है ॥४८॥

गाथार्थ :– जैसे कोई राजा सेनासहित निकला, वहाँ [राजा खलु निर्गतः] 'यह राजा निकला' [इति एषः] – इसप्रकार जो यह [बलसमुदयस्य] सेना के समुदाय को [आदेशः] कहा जाता है सो वह [व्यवहारेण तु उच्यते] व्यवहार से कहा जाता है, [तत्र] उस सेना मे (वास्तव मे) [एकः निर्गतः राजा] राजा तो एक ही निकला है; [एवम् एव च] इसीप्रकार [अध्यवसानाद्यन्यभावानाम्] अध्यवसानादि अन्य भावो को [जीवः इति] 'ये जीव हैं' – इसप्रकार [सूत्रे] परमागम मे कहा है सो [व्यवहारः कृतः] व्यवहार किया है, [तत्र निश्चितः] यदि निश्चय से विचार किया जाये तो उनमे [जीवः एकः] जीव तो एक ही है ।

तस्त्वेक एव राजा; तथैष जीवः समग्रं रागग्राममभिव्याप्य प्रवर्तत इत्येकस्य समग्रं रागग्राममभिव्याप्तुमशक्यत्वाद्व्यवहारिणामध्यवसानादिष्वन्यभावेषु जीव इति व्यवहारः, परमार्थतस्त्वेक एव जीवः।

टीका :– जैसे यह कहना कि यह राजा पाँच योजन के विस्तार मे निकल रहा है, सो यह व्यवहारीजनो का सेनासमुदाय मे राजा कह देने का व्यवहार है, क्योकि एक राजा का पाँच योजन मे फैलना अशक्य है, परमार्थ से तो राजा एक ही है। (सेना राजा नही है।) उसीप्रकार यह जीव समग्र (समस्त) रागग्राम मे (राग के स्थानो-मे) व्याप्त होकर प्रवृत्त हो रहा है – ऐसा कहना वह व्यवहारीजनो का अध्यवसानादिक भावो मे जीव कहने का व्यवहार है, क्योकि एक जीव का समग्र रागग्राम मे व्याप्त होना अशक्य है; परमार्थ से तो जीव एक ही है। (अध्यवसानादिक भाव जीव नही हैं।)

गाथा ४७–४८ की उत्थानिका, गाथा एव उनकी टीका पर प्रवचन

छियालीसवी गाथा मे व्यवहारनय की उपयोगिता बताई गई है। यहाँ सैतालीसवी तथा अडतालीसवी गाथा मे व्यवहारनय की प्रवृत्ति किस-प्रकार होती है, यह दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है।

गाथोक्त बात को ही अमृतचद्राचार्यदेव टीका मे कहते हैं कि जिस-प्रकार 'यह राजा पाँच योजन मे व्याप्त होकर निकल रहा है' – यह व्यवहारीजनो के द्वारा सेनासमुदाय मे राजा कहने का व्यवहार है, क्योकि एक राजा का पाँच योजन मे व्याप्त होना अशक्य है, परमार्थ से तो राजा एक ही है, उसीप्रकार 'यह जीव समस्त रागग्राम (राग के स्थान) मे व्याप्त होकर प्रवृत्त हो रहा हैं' – यह व्यवहारीजनो का अध्यवसानादि अन्य भावो मे जीव कहने का व्यवहार है, क्योकि एक जीव का समस्त रागग्राम मे व्याप्त होना अशक्य है, परमार्थ से तो जीव एक ही है।

जिसप्रकार सेना मे राजा तो व्याप्त नही होता, परन्तु सेना मे राजा का निमित्त है; अत 'राजा पाँच योजन मे व्याप्त है'– यह कथन होता है। उसीप्रकार शुद्ध आत्मवस्तु विकार के अनेक प्रकारो मे व्याप्त नही होती, परन्तु अशुद्ध-उपादानभूत विकार के अनेक प्रकारो मे आत्मा निमित्त है, अत 'यह आत्मा अध्यवसानादि भावो मे व्याप्त है' – ऐसा कहा जाता है। अशुद्ध-उपादान पर्याय का स्वतत्र है, वहाँ द्रव्य को तो निमित्तमात्र कहा जाता है। श्री योगसार ग्रन्थ मे भी कहा है कि विकार का मूल उपादान

आत्मा नही है। अशुद्ध-उपादान व्यवहार (पर्याय) का स्वयं स्वतंत्र है आत्मा विकार का उपादान नही है, परन्तु निमित्त है; अतः 'आत्मा राग में व्याप्त है' – यह व्यवहार से कहा जाता है। भाई ! वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा का शासन अलौकिक है और इसे बहुत गंभीरता से समझना चाहिए।

परमार्थ से तो राजा एक ही है, सेना राजा नही है, क्योकि सेना मे राजा का व्याप्त होना अशक्य है। इसीप्रकार निश्चय से आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द का पिड, शुद्ध, चैतन्यघन, वस्तु एक ही है और जो मिथ्यात्व के असंख्यात, शुभभाव के असख्यात और अशुभभाव के असंख्यात प्रकार हैं – वे आत्मा नही हैं, क्योकि समस्त प्रकार के राग के स्थानों में आत्मा का व्याप्त होना अशक्य है।

भाई ! त्रिकाल आनद का घनपिण्ड शुद्ध नित्य प्रभु, असंख्य प्रकार की अशुद्धता या विकार मे कैसे आये; अशुद्धता या विकार को करनेवाला तो आत्मा मे कोई गुण, शक्ति या स्वभाव ही नही है। पर्याय में जो भी और जैसी भी अशुद्धता होती है, वह स्वतत्ररूप से अशुद्ध-उपादान से होती है। अशुद्ध-उपादान कहे या व्यवहार कहे – एक ही बात है। शुद्ध-उपादानभूत वस्तु अशुद्ध-उपादान मे किसीप्रकार भी कारण नही है। निमित्त तो है और निमित्त होने के कारण ही जिसप्रकार सेना को राजा कहा जाता है, उसीप्रकार विकार को भी जीव कहा जाता है।

अज्ञानी जीवो को समझाने के लिए व्यवहारनय के माध्यम से उपदेश दिया जाता है। कोई जीव व्यवहार के द्वारा यथार्थ वस्तुस्वरूप का निर्णय करे तो सम्यक् है, परन्तु व्यवहार से निश्चय का ज्ञान तो न करे और व्यवहार मे ही चिपट जाये तो वह उपदेश का भी पात्र नही है। अरे भाई ! आत्मा कोई अद्भुत वस्तु है। यह तो भगवत्स्वरूप, परमात्मारूप, समयसार है। त्रिकाल, ध्रुव, परमानंदस्वरूप, चिद्घन वस्तु है। वही भूतार्थ है, सत्यार्थ है, परमार्थ है, और वही समयसार कारणपरमात्मा है। समयसार ग्रंथराज की ११वीं गाथा मे आता है कि त्रिकाली शुद्धवस्तु भूतार्थ है तथा असंख्यात प्रकार के विकार और समस्त प्रकार के पर्याय-भेद त्रिकाली की अपेक्षा से अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं। पर्याय की अपेक्षा पर्याय है, भूतार्थ है, सत्यार्थ है, परन्तु द्रव्य की अपेक्षा पर्याय अभूतार्थ है, असत्यार्थ है। रागादि के असंख्यात प्रकारो मे आत्मा उपादानभूत नही है, निमित्तरूप है। नित्य, एकरूप, सत्यार्थप्रभु आत्मा चिन्मात्रमूर्ति व पवित्रता का पिण्ड है; उसे राग में व्याप्त होनेवाला व्यवहारनय कहता है।

वस्तु तो शुद्ध-उपादानस्वरूप है, उसमे अशुद्धता की गध भी नही है, अत उसका अशुद्धतारूप अवस्था मे फैलना अशक्य है। पर्याय मे असख्यात प्रकार की अशुद्धता होती है, वह बिना कारण के नही होती, उसमे अशुद्ध-उपादान स्वतत्ररूप से कारण है। शुद्ध-उपादानस्वरूप द्रव्य वहाँ से कही चला नही गया है, वह वहाँ है, उसकी उपस्थिति है। अत व्यवहार या अभूतार्थनय से आत्मा विकार मे व्याप्त होनेवाला कहलाता है।

भाई ! यह बात सूक्ष्म तो है, परन्तु प्रयत्न करने से समझ मे आ सकती है। सर्वज्ञ परमेश्वर की दिव्यध्वनि मे यह बात आयी है तथा सन्तो ने इसे प्रसिद्ध किया है, इसका वाच्य अत्यन्त गहराईवाला, रहस्यमय और गभीर है। सर्वज्ञ भगवान कहते है कि पूर्णानद के नाथ, नित्यानन्द, ध्रुव, प्रभु का विकार के विस्तार मे व्यापना अशक्य है। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि शुभभाव, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, काम, आदि अशुभभाव तथा असख्यात प्रकार के मिथ्यात्व भाव – इनमे शुद्धजीववस्तु अनादिअनत ध्रुव एकरूप रहती है।

परमार्थ से जीव एक ही है, अध्यवसानादि भाव जीव नही हैं। अशुद्धता को करने की जीव मे कोई शक्ति या गुण नही है। पर्याय मे जो विकारी भाव होता है, वह जीव मे है – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।

पाँच महाव्रत पालने का विकल्प, छह काय के जीवो की रक्षा का विकल्प, अट्ठाईस मूलगुणो को धारण करने का विकल्प – आदि सब विकल्पो मे आत्मा व्याप्त नही होता है। 'इन समस्त अध्यवसानादि भावो मे आत्मा है' – यह व्यवहारनय है।

आत्मा तो उसे कहते हैं, जो एकशुद्ध चिद्घन है। दृष्टान्त मे जैसे राजा एक है, उसीप्रकार आत्मा एक ही है। पाँच योजन मे फैला हुआ राजा है – ऐसा कहना, यह तो सेना मे राजा कहने का व्यवहार है। उसीप्रकार रागसमूह मे आत्मा व्याप्त है – ऐसा कहना यह भी पर्याय मे आत्मा कहने का व्यवहार है। वास्तव मे तो पर्याय मे आत्मा व्याप्त नही होता। – ऐसा कहकर आचार्य यह कहना चाहते है कि अनादि से जो पर्यायो के प्रपच पर दृष्टि है, वह अशुद्ध-उपादान की दृष्टि है, उसका लक्ष्य छोडकर एकरूप भगवान आत्मा पर दृष्टि करो, जिससे पर्याय निर्मल होगी। अहाहा ! दिगम्बर सन्तो की वाणी ने कमाल किया है !

यद्येवं तर्हि किं लक्षणोऽसावेकष्टंकोत्कीर्णः परमार्थजीव इति पृष्टः प्राह –

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ।।४६।।

अरसमरूपमगंधमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दम् ।
जानीह्यलिंगग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानम् ।।४६।।

यः खलु पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानरसगुणत्वात्, पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमरसगुणत्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनारसनात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावात्-भावेन्द्रियावलंबेनारसनात्, सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्-

---

अब शिष्य पूछता है कि यह अध्यवसानादि भाव जीव नही है तो एक, टकोत्कीर्ण, परमार्थस्वरूप जीव कैसा है ? उसका लक्षण क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर कहते है :–

जीव चेतनागुण, शब्द-रस-रूप-गंध-व्यक्तिविहीन है ।
निर्दिष्ट नहिं संस्थान उसका, ग्रहण नहिं है लिंग से ।।४६।।

गाथार्थ :– हे भव्य ! तू [जीवम्] जीव को [अरसम्] रस-रहित, [अरूपम्] रूपरहित, [अगन्धम्] गन्धरहित, [अव्यक्तम्] अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियगोचर नही – ऐसा [चेतना गुण] चेतना जिसका गुण है – ऐसा, [अशब्दम्] शब्दरहित, [अलिंगग्रहणं] किसी चिह्न से ग्रहण न होनेवाला और [अनि र्दिष्टसंस्थानम्] जिसका कोई आकार नही कहा जाता – ऐसा [जानीहि] जान ।

टीका –जीव निश्चय से पुद्गलद्रव्य से भिन्न है, इसलिये उसमे रस-गुण विद्यमान नही है; अत वह अरस है ।।१।। पुद्गलद्रव्य के गुणो से भी भिन्न होने से स्वय भी रसगुण नही है, इसलिये अरस है ।।२।। परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामित्व भी उसके नही है, इसलिये वह द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन से भी रस नही चखता; अत. अरस है ।।३।। अपने स्वभाव की दृष्टि से देखा जाय तो उसके क्षायोपशमिक भाव का भी अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन से भी रस नही चखता, इसलिये अरस है ।।४।।

केवलरसवेदनापरिणामापन्नत्वेनारसनात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्रसपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं रसरूपेणापरिणमनाच्चारसः। तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानरूपगुणत्वात्, पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमरूपगुणत्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येन्द्रियावष्टम्भेनारूपणात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेन्द्रियावलंबेनारूपणात्, सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलरूपवेदनापरिणामापन्नत्वेनारूपणात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्रूपपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं रूपरूपेणापरिणमनाच्चारूपः। तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानगंधगुणत्वात्, पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमगंधगुण-

---

समस्त विषयो के विशेषो मे साधारण ऐसे एक ही सवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होने से वह केवल एक रसवेदनापरिणाम को पाकर रस नही चखता, इसलिये अरस है ।।५।। (उसे समस्त ज्ञेयो का ज्ञान होता है, परन्तु) सकल ज्ञेय-ज्ञायक के तादात्म्य का (एकरूप होने का) निषेध होनेसे रस के ज्ञानरूप मे परिणमित होने पर भी स्वय रसरूप परिणमित नही होता, इसलिये अरस है ।।६।। इस तरह छह प्रकार से रस के निषेध से वह अरस है ।

इसप्रकार जीव वास्तव मे पुद्गलद्रव्य से अन्य होने के कारण उसमे रूपगुण विद्यमान नही है, इसलिये अरूप है ।।१।। पुद्गलद्रव्य के गुणो से भी भिन्न होने के कारण स्वय भी रूपगुण नही है, इसलिये अरूप है ।।२।। परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामीपना भी उसे नही होने से वह द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी रूप नही देखता, इसलिये अरूप है ।।३।। अपने स्वभाव की दृष्टि से देखने मे आवे तो क्षायोपशमिक भाव का भी उसे अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी रूप नही देखता, इसलिये अरूप है ।।४।। सकल विषयो के विशेषो मे साधारण ऐसे एक ही सवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होने से वह केवल एक रूपवेदनापरिणाम को प्राप्त होकर रूप नही देखता, इसलिये अरूप है ।।५।। (उसे समस्त ज्ञेयो का ज्ञान होता है, परन्तु) सकल ज्ञेय-ज्ञायक के तादात्म्य का निषेध होने से रूप के ज्ञानरूप परिणमित होने पर भी स्वय रूपरूप से नही परिणमता, इसलिये अरूप है ।।६।। इस तरह छह प्रकार से रूप के निषेध से वह अरूप है ।

इसप्रकार जीव वास्तव मे पुद्गलद्रव्य से अन्य होने के कारण उसमे गधगुण विद्यमान नही है, इसलिये अगध है ।।१।। पुद्गलद्रव्य के गुणो से भी भिन्न होने के कारण स्वय भी गधगुण नही है, इसलिये अगध है ।।२।।

त्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनागंधनात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेन्द्रियावलंबेनागंधनात्, सकलगंध-साधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलगन्धवेदनापरिणामापन्नत्वेना-गंधनात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधात्गंधपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं गंधरूपेणापरिणमनाच्चागंधः। तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानस्पर्श-गुणत्वात्, पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमस्पर्शगुणत्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनास्पर्शनात्, स्वभावतः क्षायो-पशमिकभावाभावाद्भावेंद्रियावलंबेनास्पर्शनात्, सकलसाधारणैकसंवेदन-परिणामस्वभावत्वात्केवलस्पर्शवेदनापरिणामापन्नत्वेनास्पर्शनात्, सकल-ज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधात्स्पर्शपरिच्छेदपरिणतत्वेऽपि स्वयं स्पर्श-

---

परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामीपना भी उसे नही होने से वह द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी गध नही सू घता, इसलिये अगध है ।।३।। अपने स्वभाव की दृष्टि से देखने मे आवे तो क्षायोपशमिक भाव का भी उसे अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी गध नही सू घता, अत· अगध है ।।४।। सकल विषयो के विशेषो मे साधारण ऐसे एक ही सवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होने से वह केवल एक गधवेदना-परिणाम को प्राप्त होकर गध नही सूघता, अत· अगध है ।।५।। (उसे समस्त ज्ञेयो का ज्ञान होता है, परन्तु) सकल ज्ञेय-ज्ञायक के तादात्म्य का निषेध होने से गध के ज्ञानरूप परिणमित होने पर भी स्वय गधरूप नही परिणमता, अत. अगध है ।

इसप्रकार जीव वास्तव मे पुद्गलद्रव्य से अन्य होने के कारण उस मे स्पर्शगुण विद्यमान नही है, इसलिये अस्पर्श है ।।१।। पुद्गलद्रव्य के गुणो से भी भिन्न होने के कारण स्वय भी स्पर्शगुण नही है, अतः अस्पर्श है ।।२।। परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामीपना भी उसे नही होने से वह द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी स्पर्श को नही स्पर्शता, अत अस्पर्श है ।।३।। अपने स्वभाव की दृष्टि से देखने मे आवे तो क्षायोपशमिक भाव का भी उसे अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी स्पर्श को नही स्पर्शता, अत अस्पर्श है ।।४।। सकल विषयो के विशेषो मे साधारण ऐसे एक ही सवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होने से वह केवल एक स्पर्शवेदनापरिणाम को प्राप्त होकर स्पर्श को नही स्पर्शता, अत. अस्पर्श है ।।५।। (उसे समस्त ज्ञेयो का ज्ञान होता है, परन्तु) सकल ज्ञेय-ज्ञायक के तादात्म्य का निषेध होने से स्पर्श के ज्ञानरूप परिणमित होने पर भी स्वय

रूपेणापरिणमनाच्चास्पर्शः । तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानशब्दपर्यायत्वात्, पुद्गलद्रव्यपर्यायेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमशब्दपर्यायत्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येंद्रियावष्टंभेन शब्दाश्रवणात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेंद्रियावलबेन शब्दाश्रवणात्, सकलसाधारणैकसवेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलशब्दवेदनापरिणामापन्नत्वेन शब्दाश्रवणात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाच्छब्दपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वय शब्दरूपेणापरिणमनाच्चाशब्दः । द्रव्यांतरारब्धशरीरसंस्थानेनैव-संस्थान इति निर्देष्टुमशक्यत्वात्, नियतस्वभावेनानियतसंस्थानानतशरीरवर्तित्वात्, संस्थाननामकर्मविपाकस्य पुद्गलेषु निर्दिश्यमानत्वात्, प्रतिवि-

---

स्पर्शरूप नही परिणमता, अत अस्पर्श है ।।६।। इस तरह छह प्रकार से स्पर्श के निषेध से वह अस्पर्श है ।

इसप्रकार जीव वास्तव मे पुद्गलद्रव्य से अन्य होने के कारण उस मे शब्दपर्याय विद्यमान नही है, अत अशब्द है ।।१।। पुद्गलद्रव्य की पर्यायो से भी भिन्न होने के कारण स्वय भी शब्दपर्याय नही है, अत अशब्द है ।।२।। परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामीपना भी उसे नही होने से वह द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी शब्द नही सुनता, अत अशब्द है ।।३।। अपने स्वभाव की दृष्टि मे देखने मे आवे तो क्षायोपशमिक भाव का भी उसे अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी शब्द नही सुनता, अत अशब्द है ।।४।। सकल विषयो के विशेषो मे साधारण ऐसे एक ही सवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होने से वह केवल एक शब्द-वेदनापरिणाम को प्राप्त होकर शब्द नही सुनता, अत अशब्द है ।।५।। (उसे समस्त ज्ञेयो का ज्ञान होता है, परन्तु) सकल ज्ञेय-ज्ञायक के तादात्म्य का निषेध होने से शब्द के ज्ञानरूप परिणमित होने पर भी स्वय शब्दरूप नही परिणमता, अत अशब्द है ।।६।। इस तरह छह प्रकार से शब्द के निषेध से वह अशब्द है ।

(अब 'अनिर्दिष्टसस्थान' विशेषण को समझाते हैं –) पुद्गलद्रव्य-रचित शरीर के सस्थान (आकार) से जीव को सस्थानवाला नही कहा जा सकता, इसलिये जीव अनिर्दिष्टसस्थान है ।।१।। अपने नियतस्वभाव से अनियत सस्थानवाले अनन्त शरीर मे रहता है, इसलिये अनिर्दिष्ट-सस्थान है ।।२।। सस्थान नामकर्मका विपाक (फल) पुद्गलो मे ही कहा जाता है, (इसलिगे उसके निमित्त से भी आकार नही है) इसलिये अनि-र्दिष्टसस्थान है ।।३।। भिन्न-भिन्न सस्थानरूप से परिणमित समस्त वस्तुओ

शिष्टसंस्थानपरिणतसमस्तवस्तुतत्त्वसंवलितसहजसंवेदनशक्तित्वेऽपि स्वयमखिललोकसंवलनशून्योपजायमाननिर्मलानुभूतितयात्यंतमसंस्थानत्वाच्चानिर्दिष्टसंस्थानः । षड्द्रव्यात्मकलोकाज्ज्ञेयाद्व्यक्तादन्यत्वात्, कषायचक्राद्भावकाद्व्यक्तादन्यत्वात्, चित्सामान्यनिमग्नसमस्तव्यक्तित्वात्, क्षणिकव्यक्तिमात्राभावात्, व्यक्ताव्यक्तविमिश्रप्रतिभासेपि व्यक्तास्पर्शत्वात्, स्वयमेव हि बहिरंतःस्फुटमनुभूयमानत्वेपि व्यक्तोपेक्षणेन प्रद्योतमानत्वाच्चाव्यक्तः । रसरूपगंधस्पर्शशब्दसंस्थानव्यक्तत्वाभावेपि स्वसंवेदनबलेन नित्यमात्मप्रत्यक्षत्वे सत्यनुमेयमात्रत्वाभावादलिंगग्रहणः । समस्तविप्रतिपत्तिप्रमाथिना विवेचकजनसमर्पितसर्वस्वेन सकलमपि लोकालोकं कवली-

---

के स्वरूप के साथ जिसकी स्वाभाविक सवेदनशक्ति सम्बन्धित (अर्थात् तदाकार) है – ऐसा होने पर भी जिसे समस्त लोक के मिलाप से (सम्बन्ध से सस्थान रहित है इसलिये अनिर्दिष्टसस्थान है ।।४।। इसप्रकार चार हेतुओ से सस्थान का निषेध कहा ।

(अब 'अव्यक्त' विशेषण को सिद्ध करते है –) छह द्रव्यस्वरूप लोक जो ज्ञेय है और व्यक्त है, उससे जीव अन्य है, इसलिये अव्यक्त है ।।१।। कषायो का समूह जो भावकभाव व्यक्त है, उससे जीव अन्य है, इसलिये अव्यक्त है ।।२।। चित्सामान्य मे चैतन्य की समस्त व्यक्तियाँ निमग्न (अन्तर्भूत) हैं, इसलिये अव्यक्त है ।।३।। क्षणिक व्यक्तिमात्र नही है, इसलिये अव्यक्त है ।।४।। व्यक्तता और अव्यक्तता एकमेक मिश्रितरूप से प्रतिभासित होने पर भी वह केवल व्यक्तता को ही स्पर्श नही करता, इसलिये अव्यक्त है ।।५।। स्वय अपने से ही वाह्याभ्यतर स्पष्ट अनुभव मे आ रहा है, तथापि व्यक्तता के प्रति उदासीनरूप से प्रकाशमान है; इसलिये अव्यक्त है ।।६।। इसप्रकार छह हेतुओ से अव्यक्तता सिद्ध की है ।

इसप्रकार रस, रूप, गध, स्पर्श, शब्द, सस्थान और व्यक्तता का अभाव होने पर भी स्वसवेदन के वल से स्वय सदा प्रत्यक्ष होने से अनुमानगोचरमात्रता के अभाव के कारण (जीव को) अलिगग्रहण कहा जाता है ।

अपने अनुभव मे आनेवाले चेतनागुण के द्वारा सदा अन्तरङ्ग मे प्रकाशमान है, इसलिये (जीव) चेतनागुणवाला है। वह चेतनागुण समस्त विप्रतिपत्तियो को (जीव को अन्यप्रकार से माननेरूप झगडो को) नाश करनेवाला है, जिसने अपना सर्वस्व भेदज्ञानी जीवो को सौप दिया है, जो समस्त लोकालोक को ग्रासीभूत करके मानो अत्यन्त तृप्ति से उपशान्त हो गया हो; इसप्रकार (अर्थात् अत्यन्त स्वरूपसौख्य से तृप्त-तृप्त

कृत्यात्यंतसौहित्यमथरेणेव सकलकालमेव मनागप्यविचलितानन्यसाधारण-तया स्वभावभूतेन स्वयमनुभूयमानेन चेतनागुणेन नित्यमेवांतःप्रकाश-मानत्वात् चेतनागुणश्च । स खलुभगवानमलालोक इहैकष्टंकोत्कीर्णः प्रत्यग्ज्योतिर्जीव ।

होने के कारण स्वरूप मे से बाहर निकलने का अनुद्यमी हो, इसप्रकार) सर्व काल मे किंचित्मात्र भी चलायमान नही होता और इसतरह सदा लेशमात्र भी नही चलित, अन्यद्रव्य से असाधारणता होने से जो (असाधारण) स्वभावभूत है। ऐसा चैतन्यरूप परमार्थस्वरूप जीव है। जिसका प्रकाश निर्मल है – ऐसा यह भगवान इस लोक मे एक, टकोत्कीर्ण, भिन्न ज्योतिरूप विराजमान है।

गाथा ४९ की उत्थानिका, गाथा एव उसकी टीका पर प्रवचन

पूर्व गाथा मे आचार्यदेव ने कहा था कि पुण्य-पाप के भाव आत्मा नही हैं तथा समस्त रागग्राम मे आत्मा व्याप्त नही होता है। अध्यव-सानादि भाव आत्मा का स्वरूप नही है, आत्मा एकस्वरूप है। तब शिष्य कहता है कि यदि पुण्य-पाप के भाव, विकारी भाव, सुख-दु ख के परिणाम, अध्यवसानादि भाव आत्मा नही हैं तो एक टकोत्कीर्ण परमार्थस्वरूप जीव कैसा है ? – इस प्रश्न के उत्तरस्वरूप यह ४९वी गाथा है।

यह गाथा वडी अलौकिक है। यह गाथा श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव रचित सभी ग्रथो मे एव अन्य वहुत से प्राचीन आचार्यों के ग्रथो मे भी पाई जाती है। प्रवचनसार मे १७२वी, नियमसार मे ४६वी, पचास्तिकाय मे १२७वी, अष्टपाहुड (भावपाहुड) मे ६४वी गाथा भी यही है। धवला ग्रथ के तीसरे भाग मे पहली, पद्मनन्दी पचविशतिका एव लघु द्रव्यसग्रहादि मे भी यह गाथा उद्धृत है। इसका कारण यह है कि इस गाथा मे आत्मा का वास्तविक स्वरूप अचिन्त्य और अलौकिक ढग से व्यक्त किया गया है।

इस गाथा मे सर्वप्रथम अरसस्वभाव की बात की गई है, क्योकि जगत मे सभी जीव परपदार्थों मे रस मान रहे है। खाने-पीने, चलने-फिरने, रहन-सहन आदि मे ही रस मान रहे है, तथा इसी मे सुख मान रहे हैं। अतएव आत्मा मे परपदार्थों के रस का अभाव वताया गया है। यहाँ आत्मा के अतीन्द्रिय आनदस्वभाव व अतीन्द्रिय अनुभवरस की बात बताई गई है।

अव सर्वप्रथम टीका के माध्यम से अरसस्वभावी आत्मा के छह वोलो का विस्तार करते हैं।

पहला बोल :– निश्चय से पुद्गलद्रव्य से भिन्न होने के कारण जीव मे रसगुण विद्यमान नहीं है, अत. अरस है ।

आत्मा अरस है। खट्टा, मीठा, कडवा आदि पाँच प्रकार के रस पुद्गलद्रव्य के हैं, आत्मा के नही। परमार्थ से आत्मा पुद्गलद्रव्य से भिन्न है, और रस का स्वामी पुद्गल होने से वह आत्मा मे विद्यमान नही है।

परमार्थ से आत्मा का पुद्गलद्रव्य के साथ कोई सबध नही है। व्यवहारनय से शरीर और कर्म के साथ आत्मा का निमित्त-नैमित्तिक सबध है, परन्तु वह मात्र ज्ञान करने योग्य है।

विश्व मे छह द्रव्य है, उसमे जीवद्रव्य पाँच द्रव्यो से भिन्न है, परन्तु यहाँ जीवद्रव्य को पुद्गलद्रव्य से भिन्न बताने का उद्देश्य यह है कि अज्ञानी मुख्यरूप से जीव-पुद्गल मे ही एकत्व करता है, शरीर-मन-वाणी आदि मे ही एकत्व करता है। अत शरीरादि परपदार्थों से भेदज्ञान कराया गया है। आत्मा तो त्रिकाल चिदानद रसमय वस्तु है, उसमे पुद्गलद्रव्य का अभाव होने से रसगुण विद्यमान नही है।

दूसरा बोल :– पुद्गलद्रव्य के गुणो से भी भिन्न होने से स्वय भी रसगुण नही है, अत अरस है।

प्रथम बोल मे पुद्गलद्रव्य से भिन्नत्व की बात कही गई थी। इस बोल मे पुद्गलद्रव्य के गुणो से भिन्नपने की बात है। आत्मा चैतन्यरस-स्वरूप वस्तु है, वह पुद्गलद्रव्य के गुणो से भिन्न है, अत अरस है।

पुद्गलद्रव्य के जितने गुण है, उन सबसे आत्मा भिन्न है, अत रसगुण से भी आत्मा भिन्न ही है।

तीसरा बोल :– परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामित्व भी आत्मा को नही है, इसलिए वह द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन से भी रस नही चखता, अत अरस है।

मूलवस्तु की अपेक्षा जीव को पुद्गलद्रव्य का स्वामित्व नही है, इन जड-इन्द्रियो का स्वामी आत्मा नही है, इसलिए आत्मा जिह्वा-इन्द्रिय के माध्यम से भी रस नही चखता।

प्रथम बोल मे पुद्गलद्रव्य से आत्मा को भिन्न किया, द्वितीय बोल मे पुद्गलद्रव्य के गुण से भिन्न किया। इस तीसरे बोल मे पुद्गलद्रव्य की जड-इन्द्रियरूप पर्याय से भिन्नता की बात की है।

चौथा बोल :– अपने स्वभाव की दृष्टि से देखा जाए तो क्षायोपशमिकभाव का भी अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के अवलम्बन से भी रस नही चखता, इसलिए अरस है।

यह चतुर्थ बोल तृतीय बोल से अधिक सूक्ष्म है। अपने स्वभाव की दृष्टि से अर्थात् त्रिकाली शुद्धज्ञायकभाव की दृष्टि से देखें तो आत्मा मे क्षयोपशमभाव का भी अभाव है। मति, श्रुत, अवधि और मन पर्ययज्ञान – इन चार ज्ञानो को शास्त्र मे विभावगुण कहा गया है। यद्यपि इन्हे विभावगुण कहा गया है, तथापि ये सम्यग्ज्ञान ही हैं। अशुद्धनिश्चयनय से इन चार ज्ञानो का जीव के साथ सबध है, तथापि शुद्धनिश्चयनय से कोई सबंध नही। यहाँ तो कहते है कि जिस भावेन्द्रिय के द्वारा जाना जाता है, उस भावेन्द्रिय का ही स्वभाव-दृष्टि मे अभाव है अर्थात् स्वभावदृष्टि का विषय भावेन्द्रिय नही है।

श्री समयसार शास्त्र की ३१वी गाथा मे आता है कि भावेन्द्रिय अपने विषय को खड-खडरूप से जानती है और वे विषय भी ज्ञान को खड-खडरूप से ही समर्पण करते हैं। आत्मा एक अखड ज्ञायकभावरूप है, इसलिए भावेन्द्रिय निश्चय से आत्मा का स्वरूप नही। इसी ३१वी गाथा मे कहा गया है कि द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और उनके विषयो को जो जीते, वह जितेन्द्रिय है। उन्हे जीतने का तात्पर्य है कि द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय तथा उनके विषय आत्मा से भिन्न हैं अर्थात् परज्ञेय हैं। यद्यपि परज्ञेय का यथार्थज्ञान भी आत्मा के द्वारा ही होता है, तथापि जिसे ज्ञायक का स्वरूपग्राही ज्ञान होता है, उसे ही परज्ञेय का यथार्थज्ञान होना कहलाता है।

रस को जानने का वर्त्तमान ज्ञान का विकास, रस को जानने की वर्त्तमान ज्ञान की शक्ति, रस को जानने मे अटकनेवाला ज्ञान, एक रस मे प्रवृत्त होनेवाला ज्ञान – ये सब क्षायोपशमिकभाव हैं, उनका भी परमार्थ-दृष्टि से आत्मा मे अभाव है, क्योकि आत्मा का स्वरूप परिपूर्णज्ञान है। इस स्वभाव की दृष्टि से देखा जाये तो अल्पज्ञान का इसमे अभाव है। चैतन्य आत्मा पूर्णज्ञान की मूर्ति है, अत अपूर्णज्ञान भी उसका नही है।

पाँचवाँ बोल :– समस्त विषयो के विशेषो मे साधारण – ऐसे एक ही सवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होने से केवल एक रसवेदनापरिणाम को प्राप्त करके रस नही चखता, इसलिए अरस है।

आत्मा अखण्ड ज्ञायकभावरूप वस्तु है, वह पाँचो इन्द्रियो के विषयो को अखण्डरूप से जाननेवाला है, मात्र एक इन्द्रिय के विषय का वेदन

करना अथवा उसे जानना आत्मा का स्वभाव नही है। पाँचो इन्द्रियो के ज्ञान का सवेदन एकसाथ आत्मा को हो – यह आत्मा का स्वभाव है। इसकारण वह एक रसवेदनापरिणाम को पाकर अर्थात् मात्र एक रस के ही ज्ञान को प्राप्त करके रस को नही चखता, अत आत्मा अरस है।

छठवाँ बोल :– आत्मा को समस्त ज्ञेयो का ज्ञान होता है, किन्तु ज्ञेय-ज्ञायक तादात्म्य का निषेध होने से रस के ज्ञानरूप परिणमित होने पर भी स्वय रसरूप परिणमित नही होता, इसलिए अरस है।

देखो ! सपूर्ण विश्व ज्ञेय है और भगवान आत्मा ज्ञायक है। सभी ज्ञेयो को जानने की ज्ञायक आत्मा की सामर्थ्य है। इसलिए ज्ञेय-ज्ञायक सबध का व्यवहार होने पर भी ज्ञेय-ज्ञायक के तादात्म्य अर्थात् एकत्व का निषेध तो है ही। ज्ञेय को जानते हुए भी ज्ञायक ज्ञेयरूप होता नही है। रस तो ज्ञेय है और आत्मा उसे जाननेवाला ज्ञायक है। रसरूप ज्ञेय को जानते हुए भी आत्मा का ज्ञान ज्ञेयरूप या रसरूप नही होता है। ज्ञान ज्ञानरूप रहता है और रस रसरूप रहता है। रस का ज्ञान ज्ञानका ही परिणमन है; वह ज्ञान के ही कारण है, रस के कारण नही है।

इसप्रकार ज्ञेय-ज्ञायक के तादात्म्य के निषेध द्वारा आत्मा को अरस सिद्ध करनेवाला यह छठवाँ बोल भी समाप्त हुआ।

इसीप्रकार आत्मा अरूप, अगध और अस्पर्श है – इन पर भी पहले कहे अनुसार छह-छह बोल घटित कर लेना चाहिए।

अब अशब्दस्वभावी आत्मा का स्वरूप छह बोलो द्वारा बताते हैं।

प्रथम बोल :– जीव वास्तव मे पुद्गलद्रव्य से अन्य होने के कारण उसमे शब्दपर्याय विद्यमान नही है।

देखो ! पहले जो रूप, रस, गध और स्पर्श की बात कही थी, वह पुद्गलद्रव्य के गुणो की बात थी। परन्तु शब्द पुद्गलद्रव्य का गुण न होकर उसकी स्कधरूप पर्याय है। भाषावर्गणारूप शब्दो का परिणमन आत्मा मे तो होता नही, बल्कि आत्मा के द्वारा भी नही होता।

प्रश्न :– यदि ऐसा है तो फिर बोलता कौन है ?

उत्तर :– भाई ! बोलनेवाला अन्य पदार्थ है, बोलनेवाला आत्मा नही है। यद्यपि आत्मा बोलने का रागभाव करता है, तथापि आत्मा बोलता नही है। यह तो भाषावर्गणा का पर्यायरूप परिणमन है, इसमे जीव का बोलने का रागभाव निमित्त है। 'ध्वनि' जो सुनाई पड़ती है,

वह तो जड की पौद्‌गलिक पर्याय है। 'भगवान की दिव्यध्वनि', — यह भी व्यवहार से कहा जाता है। वास्तव मे भगवान का आत्मा दिव्यध्वनि का कर्त्ता नही है। दिव्यध्वनि तो स्वय के कारण अपने जन्मक्षण मे होती है। भाषावर्गणा की उससमय उस पर्यायरूप परिणमन करने की अपनी योग्यता है, उसके कारण ही वह उस पर्यायरूप परिणमन करती है।

इस आत्मा को शाश्वत सुखरूप धर्म किसप्रकार प्रगट हो, इसकी बात यहाँ चलती है। शब्दरूप परिणमन मुझसे होता है अर्थात् आत्मा से होता है — ऐसा मानना मिथ्यात्व है, अधर्म है। वास्तव मे स्वात्मा के ज्ञानपूर्वक मैं शब्द को जानता हूँ — ऐसी यथार्थ मान्यता (निर्विकल्प प्रतीति) को ही धर्म कहते हैं।

प्रश्न — ज्ञान शब्द का कर्त्ता है — ऐसा कथन धवला ग्रथ मे आता है, उसका क्या अर्थ है ?

उत्तर :— ऐसा ही प्रश्न 'खानियाँ तत्त्वचर्चा' मे भी आया है, परन्तु भाई ! वहाँ तो ज्ञान का निमित्तपना बताने के लिए ऐसा कथन किया है। वास्तव मे ज्ञान 'शब्द' की पर्याय का कर्त्ता नही है। 'शब्द' की पर्याय के काल मे ज्ञान उसमे निमित्त है, इसलिए उपचार से 'ज्ञान शब्द का कर्त्ता है' — ऐसा कहा है, वास्तव मे कर्त्ता नही है।

लोकालोक केवलज्ञान मे निमित्त है (यहाँ लोकालोक मे शब्द भी आ गये)। इसका अर्थ यह है कि लोकालोक लोकालोक के कारण है और केवलज्ञान केवलज्ञान के कारण है। लोकालोक केवलज्ञान के कारण नही और केवलज्ञान लोकालोक के कारण नही। केवलज्ञान की पर्याय का परिणमन लोकालोक से निरपेक्ष स्वय स्वतन्त्र है और लोकालोक का अस्तित्व केवलज्ञान से निरपेक्ष स्वय स्वतन्त्र है।

'केवलज्ञान लोकालोक को जानता है' — ऐसा कहना भी असद्‌भूत-व्यवहारनय का विषय है। वास्तव मे केवलज्ञान स्वय को ही जानता है। श्री समयसार कलशटीका मे कलश २७१ मे आता है कि "मैं ज्ञायक हूँ और छह द्रव्य मेरे ज्ञेय हैं — ऐसा नही है। तो कैसा है ? कि स्वय ही ज्ञाता, स्वय ही ज्ञान और स्वय ही ज्ञेय — ऐसी ही वस्तु हैं"। यहाँ भी कहते हैं कि शब्द की पर्याय का ज्ञान आत्मा मे स्वय के कारण से होता है, शब्द के कारण से नही होता।

यहाँ भेदज्ञान की बात चलती है। शब्दपर्याय आत्मा मे है भी नही और आत्मा से होती भी नही, अत. आत्मा अशब्द है।

दूसरा बोल :— पुद्गलद्रव्य की पर्यायो से भी भिन्न होने के कारण स्वय भी शब्दपर्याय नही है, अत. अशब्द है।

पहले बोल मे जीव पुद्गलद्रव्य से भिन्न कहा है और इस बोल मे जीव को पुद्गलद्रव्य की शब्द-अवस्था से भिन्न कहा है। जीव स्वय शब्द-पर्याय नही है, अतः अशब्द है।

तीसरा बोल :— परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामीपना भी आत्मा को नही होने से वह द्रव्येन्द्रिय के अवलम्बन द्वारा भी शब्द नही सुनता, अत अशब्द है।

कर्णेन्द्रिय का स्वामी भगवान आत्मा नही है, क्योकि कर्णेन्द्रिय तो जड परमाणुमय है, उसका कर्त्ता आत्मा कैसे हो सकता है ? तथा उसके अवलम्बन से आत्मा सुन भी कैसे सकता है ? अत कान के अवलम्बन से आत्मा शब्द को जानता है—ऐसा नही है। कान तो पुद्गल की पर्याय है और आत्मा ज्ञानस्वरूपी स्वय है। आत्मा कान से बिल्कुल भिन्न पदार्थ है। यदि आत्मा कान के अवलम्बन से शब्द को सुने तो वह जड-कर्णेन्द्रिय का स्वामी ठहरे, परन्तु जड़ का स्वामी तो आत्मा है ही नही।

वास्तव मे आत्मा का स्वरूप तो यह है कि वह न तो सुनता है और न ही बहरा है। वह न तो बोलता है और न ही गूगा है। आत्मा तो ज्ञातादृष्टा प्रभु है। जो यह मानता है कि आत्मा कान के अवलम्बन से सुनता है, वह अपने को पराधीन मानता है। उसे अपने स्वतन्त्र आत्मा के स्वतन्त्र ज्ञानस्वभाव की सत्ता का भान नही है। जैसे अग्नि उष्णता का पिण्ड है, उसीप्रकार आत्मा ज्ञान का पिण्ड है। उसमें अस्तित्व, वस्तुत्व, अगुरुलघुत्व आदि साधारण और- दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि असाधारण गुण हैं। ऐसे अनन्त-अनन्त स्वभाववाला आत्मा स्वय जानने-वाला है। वह कान के द्वारा सुनता है, यह मानना तो पराधीनता है।

चौथा बोल :— अपने स्वभाव की दृष्टि से देखने मे आये तो क्षायोप-शमिकभाव का भी अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के अवलम्बन द्वारा भी शब्द नही सुनता, अत अशब्द है।

यदि शुद्धज्ञायकवस्तु की दृष्टि से देखा जाय तो अखण्ड आत्मा मे क्षायोपशमिकभाव नही है। स्वभाव की दृष्टि से आत्मा मे भावेन्द्रिय का अभाव है। शुद्ध-आत्मवस्तु मे भावेन्द्रिय का अभाव है। इसलिए भावेन्द्रिय के अवम्बन से भी आत्मा शब्द श्रवण नही करता है। इसप्रकार

आत्मा अशब्द है। शुद्ध-आत्मा का ऐसा स्वरूप जानना चाहिए 'जाण' शब्द से आचार्यदेव ऐसे आत्मस्वरूप को जानने का उपदेश देते हैं।

पाँचवाँ बोल :— सकल विषयो के विशेषो मे असाधारण ऐसे एक ही सवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होने से वह केवल एक शब्दवेदना परिणाम को प्राप्त होकर शब्द नही सुनता, अत अशब्द है।

देखो! ज्ञान का मात्र शब्द को जानने का स्वभाव नही है, परन्तु समस्त विषयो को अखण्डरूप से जानने का स्वभाव है। इसलिए केवल शब्दवेदना परिणाम को पाकर अर्थात् केवल शब्द का ही ज्ञान पाकर आत्मा शब्द सुनता नही है। अतः आत्मा अशब्द है।

छठवाँ बोल :— सकल ज्ञेय-ज्ञायक के तादात्म्य का निषेध होने से शब्द के ज्ञानरूप परिणमित होने पर भी स्वय शब्दरूप परिणमित नही होता, अत अशब्द है।

'शब्द का ज्ञान', — ऐसा यहाँ कहा गया है, परन्तु वास्तव मे वह भी ज्ञान का ही ज्ञान है। शब्द का कोई ज्ञान नही होता, परन्तु यह ज्ञान शब्द-सबधी है, यह बताने के लिए 'शब्द का ज्ञान' कहा जाता है। शब्द तो ज्ञेय है और शुद्ध-आत्मा ज्ञायक है। ज्ञेय-ज्ञायक के एकपने का निषेध होने से शब्द को जानते हुए भी ज्ञायक शब्दरूप नही होता, अत अशब्द है।

इसप्रकार अरस, अरूप, अगध और अस्पर्श के छह-छह बोलो के पश्चात् अशब्द के छह बोलो द्वारा आत्मा को अशब्दस्वभावी सिद्ध किया।

अब गाथा मे आये आत्मा के विशेषणो मे 'अणिद्दिट्ठसठाण' अर्थात् 'अनिर्दिष्टसस्थान' पद की व्याख्या चार बोलो द्वारा करते हैं।

प्रथम बोल :— पुद्गलद्रव्यरचित शरीर के सस्थान से जीव को सस्थानवाला नही कहा जा सकता है, अत जीव अनिर्दिष्टसस्थान है।

आत्मा शरीराकार है, यह नही कहा जा सकता। वह शरीर के रूपी आकारवाला नही है, किन्तु अपने अरूपी आकारवाला है। आत्मा मे पुद्गल से रचित जड का आकार नही है, अत जड के आकारवाला नही होने से आत्मा अनिर्दिष्टसस्थान है।

देखो! यहाँ आत्मा आकारवाला नही है, इसलिए अनिर्दिष्टसस्थान है — ऐसा नही कहा है; बल्कि जड के आकारवाला न होने से अनिर्दिष्ट-सस्थान कहा है।

दूसरा बोल :– अपने नियतस्वभाव से अनियतसस्थानवाले अनन्त-शरीरो मे रहता है, इसलिए अनिर्दिष्टसस्थान है।

भगवान आत्मा नित्य असख्यातप्रदेशी है – ऐसा उसका नियत-स्वभाव है। शरीर के भिन्न-भिन्न आकार अर्थात् एकेन्द्रिय, दो-इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय, चार-इन्द्रिय, पाँच-इन्द्रिय आदि के आकार अनियत है। ऐसे अनियत आकारोवाले अनत शरीरो मे आत्मा रहता है, इसलिए वह नियतसस्थानवाला नही कहा जा सकता है, अत· अनिर्दिष्टसस्थान है।

तीसरा बोल :– सस्थान नामकर्म का विपाक (फल) पुद्गलो मे ही कहा जाता है। (इसलिए उसके निमित्त से भी आकार नही है) अत. आत्मा अनिर्दिष्टसस्थान है।

शास्त्रो मे आठ प्रकार के कर्म कहे गये हैं, उनमे एक नामकर्म भी है, जिसकी ९३ प्रकृतियाँ हैं। उनमे से एक संस्थान नामकर्म की प्रकृति शरीर को आकार देती है अर्थात् नामकर्म की प्रकृति का फल शरीर ही प्राप्त करता है, आत्मा नही। सस्थान नामकर्म की प्रकृति के निमित्त से शरीर के छह प्रकार के आकार होते है। इसप्रकार नामकर्म की प्रकृति के निमित्त से भी आत्मा तो आकार ग्रहण नही करता है, अत: अनिर्दिष्टसंस्थान है।

यद्यपि आत्मा मे एक प्रदेशत्वगुण है, उस गुण का कार्य आत्मा को आकार देना है, अत· उसके निमित्त से आत्मा का आकार अवश्य होता है; परन्तु उसकी यहाँ बात नही है।

चौथा बोल :– भिन्न-भिन्न संस्थानरूप से परिणमित समस्त वस्तुओ के स्वरूप के साथ जिसकी स्वाभाविक सवेदनशक्ति सबधित (अर्थात् तदाकार) है, ऐसा होने पर भी जिसे समस्त लोक के मिलाप से (संबंध से) रहित निर्मल (ज्ञानमात्र) अनुभूति हो रही है – ऐसा होने से स्वयं अत्यन्त रूप से संस्थान रहित है, अत· अनिर्दिष्टसस्थान है।

आत्मा मे त्यागोपादानशून्यत्व नाम की एक शक्ति है। इस शक्ति के कारण आत्मा पर के ग्रहण करने व त्याग करने से शून्य है, रहित है, अर्थात् पर का ग्रहण-त्याग तो कभी भी नही करता है और न कर ही सकता है; किन्तु यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि दाल-भात-रोटी, शरीर, मकान आदि अनेक आकारवाली वस्तुओ को जानते हुए भी आत्मा उनके आकाररूप नही होता, उनके आकाररूप नही परिणमता है। पर के आकाररूप परिणमित नही होने से ही आत्मा सस्थानरहित है

अर्थात् अनिर्दिष्टसस्थान है। इसप्रकार चार प्रकार से सस्थान का निषेध किया।

अनिर्दिष्टसस्थान विशेषण की सिद्धि करने के पश्चात् अब यहाँ अमृतचन्द्राचार्यदेव 'अव्यक्त' विशेषण को सिद्ध करते हैं। इस विशेषण को भी अरसादि विशेषणो की तरह छह बोलो के द्वारा समझाया गया है। यह अव्यक्त विशेषण अलौकिक है।

पहला बोल :– छहद्रव्यस्वरूप लोक जो ज्ञेय है और व्यक्त है, उससे जीव अन्य है, इसलिए अव्यक्त है।

जगत मे छह द्रव्य हैं, वे ज्ञेय है। अनन्त आत्मायें, अनन्तानन्त पुद्गलपरमाणु, असख्य कालाणु, एक धर्मास्तिकाय, एक अधर्मास्तिकाय और एक आकाशास्तिकाय – इसप्रकार छह द्रव्यो को सर्वज्ञ भगवान ने देखा है। इन छह द्रव्यो मे देव-शास्त्र-गुरु, सम्मेदशिखर आदि समस्त तीर्थक्षेत्र, द्वीप समुद्र आदि समस्त जगत समाविष्ट हो जाता है। इन सभी छह द्रव्यो से आत्मा भिन्न है। अहाहा! छह द्रव्यो को जाननेवाली पर्याय यह जानती है कि छह द्रव्यो से मेरी चीज भिन्न है। छह द्रव्य ज्ञेय और व्यक्त है – उससे भिन्न भगवान आत्मा ज्ञायक और अव्यक्त है।

इस बोल मे एक ओर समस्त द्रव्य तथा उन्हे जाननेवाली ज्ञान पर्याय है और दूसरी ओर अकेला आत्मा है, एक ओर सम्पूर्ण विश्व है और एक ओर अकेला स्वय, एक ओर सारा ग्राम है और एक ओर राम। यह आत्माराम सब का ज्ञाता है और अव्यक्त है। तथा समस्त द्रव्य आत्मा से बाहर हैं, अत ज्ञेय हैं, व्यक्त हैं।

आचार्य कहते है कि आत्मा का अस्तित्व छह द्रव्य के कारण नही है। ज्ञान की पर्याय मे छह द्रव्य का ज्ञान हुआ, वह स्वय ही हुआ है, छह द्रव्य के कारण नही। तथा छह द्रव्य का ज्ञान है, इसलिए छह द्रव्य हैं – ऐसा भी नही है। छह द्रव्य और उन्हे जाननेवाली पर्याय बाह्य हैं, व्यक्त हैं और आत्मा अव्यक्त है। 'जाण' कहकर आचार्य कहते है कि तू उसे जान।

श्री धर्मदास क्षुल्लक ने 'स्वात्मानुभव मनन' मे आत्मा को छह द्रव्य व उसे जाननेवाली पर्याय से भिन्न होने के कारण सातवाँ द्रव्य कहा है। यद्यपि आत्मा छह द्रव्य के अन्दर ही है, तथापि यहाँ दृष्टि के विषयभूत निजशुद्धात्मद्रव्य को अव्यक्त कहकर छह द्रव्य से भिन्न किया गया है।

दृष्टि का विषय त्रिकाली शुद्ध आत्मा द्रव्यरूप मे तो सदा प्रगट ही है, तो भी प्रगट व्यक्त पर्याय मे द्रव्य आता नही है, उस अपेक्षा से द्रव्य

को अप्रगट – अव्यक्त कहा गया है। अनन्त-अनन्त गुणो का पिण्ड सच्चिदानन्द प्रभु अस्तिपने विद्यमान पदार्थ है, प्रगट है, व्यक्त है; परन्तु फिर भी प्रगट पर्याय की अपेक्षा उसे अव्यक्त कहा गया है। भाई! आत्मा को जाने नही अर्थात् आत्मा कौन है, कहाँ है, कैसा है; यह जाने नही और धर्म हो जाय – यह कैसे सभव है ?

छहद्रव्यरूप तो आत्मा है ही नही, पर छह द्रव्यो को जाननेवाली एकसमय की व्यक्त पर्याय जितना भी आत्मा नही है। एकसमय की पर्याय जितना आत्मा को माननेवाला मूढ मिथ्यादृष्टि है।

समयसार के परिशिष्ट मे यह बात स्पष्ट की गई है। परिशिष्ट मे कहा गया है कि जो एकसमय की पर्याय को नही मानता है, वह छह द्रव्यो को ही नही माननेवाला मिथ्यादृष्टि है, क्योकि छह द्रव्यो का ज्ञान पर्याय मे होता है। अत. पर्याय को नही माननेवाला छह द्रव्यो को ही नही मानता, इसलिए वह मिथ्यादृष्टि ही है। इसप्रकार ज्ञानपर्याय और छह द्रव्यो का परस्पर ज्ञेय-ज्ञायक सबध होने से और आत्मा का उनसे कोई भी सबध न होने से वह उनसे भिन्न अव्यक्त ही है। पाठ मे जीव शब्द है, किन्तु जीव कहो या आत्मा, दोनों एक ही बात है। वेदान्ती जीव व आत्मा – दोनो का स्वरूप भिन्न-भिन्न बताते हैं, किन्तु वह बात ठीक नही है।

एकसमय की पर्याय को स्वीकार करने पर ही द्रव्य का अस्तित्व माना – यह कहा जा सकता है। इसीप्रकार द्रव्य को जाननेवाली व्यक्त पर्याय पर से भी दृष्टि हटाकर त्रिकाली अव्यक्त की दृष्टि करने पर ही स्वद्रव्य को माना – यह कहा जा सकता है। आत्मा को जाननेवाली एक समय की पर्याय मे भी जो आत्मा व्याप्त नही होता – उस आत्मा को जानने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी धर्म होता है।

नियमसार शास्त्र मे निर्मल पर्याय को भी परद्रव्य कहा गया है। स्ववस्तु अखण्ड, अभेद, एक है, उसका जिसे यथार्थज्ञान होता है, वही सम्यग्ज्ञान है। यद्यपि यह सम्यग्ज्ञान होता तो पर्याय मे है, तथापि इस सम्यग्ज्ञान का ज्ञेय त्रिकाली शुद्ध ज्ञायकभगवान है, पर्याय नही। पर्याय के लक्ष्य से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान यथार्थज्ञान नही है, ऐसी शुद्धतत्त्व की बात जो समझे नही और अनेक प्रकार का क्रियाकाण्ड करे, वह सब जगल मे शोर मचाने जैसा निष्फल प्रयत्न है।

'मैं छह द्रव्य से भिन्न सातवाँ द्रव्य हू' – ऐसा विचार करनेवाली पर्याय स्वद्रव्य की तरफ ढलती है। विकल्पात्मक दशा मे जब तक ऐसा

विचार करता है, तब तक भी सूक्ष्म भेद का अश रहता है, परन्तु जब पर्याय स्वद्रव्य मे ढलती है, तब यह भेद भी छूट जाता है। भाई ! आचार्यों के द्वारा ये गूढतम भाव भी सरल भाषा मे व्यक्त हो गये हैं।

सैकडो शास्त्रो का ज्ञान भी छहद्रव्यस्वरूप लोक मे समा जाता है, क्योकि शास्त्रज्ञान के लक्ष से स्वद्रव्य का लक्ष नही होता। वास्तव मे तो दृष्टि के विषय शुद्ध त्रिकालीद्रव्य के लक्ष से ही ज्ञान सम्यक् होता है। भाई ! वस्तु अतीन्द्रिय आनन्दमय है। इस आनन्द का स्वाद जब तक पर्याय मे नही आता, तब तक 'वस्तु ऐसी ही है' — ऐसी प्रतीति कैसे हो ?

श्री जयसेनाचार्यदेव ने इस बोल की टीका मे लिखा है कि विकल्प के विषयरहित वस्तु सूक्ष्म और अव्यक्त है। ज्ञायक आत्मा तो निर्विकल्प ध्यान का विषय है। निर्विकल्पता ही ध्यान है, उसका विषय अखण्ड आत्मवस्तु है। ध्यान का ध्येय ध्यान नही, बल्कि अखण्ड शुद्ध आत्मवस्तु है। यथार्थ मे तो एक अखण्ड शुद्ध चिन्मात्र वस्तु के अलावा सब कुछ छह द्रव्य मे समाविष्ट हो जाता है, चाहे वह ध्यान हो या मोक्षपर्याय हो।

दूसरा बोल :— कषायो का समूह जो भावक-भाव व्यक्त है, उससे जीव अन्य है; इसलिए अव्यक्त है।

विकार होने मे निमित्त कर्म का उदय तो भावक है और कर्म के उदय मे होनेवाला विकार भावक का भाव है। विकार भगवान आत्मा का भाव नही है। अज्ञानदृष्टि मे तो जीव भावक है और विकार उसका भाव बनता है; परन्तु स्वभावदृष्टि होने पर कर्म का उदय भावक और विकार उसका भाव होता है। ऐसा भावक-भावरूप परिणमन व्यक्त है, बाह्य है और ज्ञेय है, उससे भगवान आत्मा अन्य है, अत· अव्यक्त है।

कषायो के समूह मे शुभ और अशुभ — दोनो प्रकार के विकल्पो के समूह को भावक-भाव कहा गया है और उससे भिन्न आत्मा अव्यक्त है। कर्त्ता-कर्म अधिकार मे कहा है कि मैं अबद्ध हूँ, शुद्ध हूँ, निर्मल हूँ, एक हूँ, नित्य हूँ — इत्यादि सब विकल्प है। यहाँ कहते हैं कि अबद्धादि विशेषणो सबधी विकल्प या अन्य सर्व विकल्प भगवान आत्मा से भिन्न है।

व्यवहारसबधी विकल्पो से भगवान आत्मा भिन्न है। जो विकल्प भगवान आत्मा से भिन्न है, उनसे भगवान आत्मा कैसे प्राप्त हो सकता है ? यदि विकल्पो से भगवान आत्मा प्राप्त हो तो आत्मा विकल्पो से अभिन्न ठहरे और विकल्प जीव का स्वभाव हो जाय। भगवान आत्मा तो अपनी स्वभाव-परिणति से ही प्राप्त हो सकता है, राग-परिणति से

नही। राग तो परद्रव्य की परणति है, वह द्रव्यांतर है – ऐसा समयसार-शास्त्र के पुण्य-पाप अधिकार मे कहा गया है।

मैं शुद्ध हूँ, एक हूँ, अखण्ड हूँ, इत्यादि विकल्प कपाय मे समाविष्ट होते है, आकुलता मे समाविष्ट होते है। ये आकुलतामय भावक-भाव बाह्य हैं, व्यक्त है, परज्ञेय हैं, और अखण्ड शुद्धजीववस्तु अन्तरङ्ग है, अव्यक्त है, ज्ञायकरूप स्वज्ञेय है।

श्री समयसार की १४२वी गाथा मे लिया है कि व्यवहार के विकल्पो का तो हम पहले से ही निपेध करते आये है, परन्तु अव 'मैं शुद्ध हूँ, ज्ञायक हूँ' इत्यादि निश्चयनय के विकल्पो का निपेध किया गया है। इन विकल्पो का भी जव तक अतिक्रमण नही होता, तव तक अज्ञानरूप कर्त्ता-कर्मपना टलता नही है। 'मैं कर्त्ता हूँ और विकल्प मेरा कर्म है' – ऐसा जव तक यह जीव मानता है, तव तक अज्ञानदशा है। वास्तव मे तो राग स्वय ही कर्त्ता है और राग स्वय ही कर्म है, आत्मा उसका कर्त्ता नही है।

पुण्य-पाप अधिकार की अन्तिम गाथाओ की टीका मे आचार्य श्री जयसेन ने एक प्रश्न किया है कि प्रभु! यह पाप का अधिकार चलता है, यहाँ आप व्यवहार रत्नत्रय की वात क्यो करते है; क्योकि व्यवहार रत्नत्रय तो पुण्यभाव है? आचार्यदेव स्वय उत्तर देते हैं कि एक तो व्यवहार रत्नत्रय मे आने से जीव पराधीन होता है और दूसरा स्वरूप से पतित होने पर ही व्यवहार रत्नत्रय का भाव आता है। अत. निश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहार रत्नत्रय का भाव पाप ही है। यहाँ तो कहते हैं कि कषाय का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अश भी भावक-भाव है, व्यक्त है और भगवान आत्मा उससे भिन्न है, अव्यक्त है।

तीसरा बोल :– चित्सामान्य मे चैतन्य की समस्त व्यक्तियाँ निमग्न (अन्तर्भूत) हैं, इसलिए अव्यक्त है।

चित्सामान्य मे चैतन्य की समस्त पर्याये निमग्न हैं। जो पर्याये भविष्य मे होनेवाली है और जो पर्याय भूतकाल मे हो गई हैं, वे सव पर्याये चैतन्यसामान्य मे अन्तर्लीन है। वर्त्तमान पर्याय चैतन्य मे निमग्न नही है। यदि वर्त्तमान पर्याय भी उसमे निमग्न हो तो जानने का काम कौन करेगी? वर्त्तमान पर्याय के अलावा भूत-भविष्य की समस्त पर्याये चैतन्य मे अन्तर्लीन हैं, इसलिए गाथा मे 'जाण' शब्द का प्रयोग भी किया गया है। तात्पर्य यह है कि जाननेवाली वर्त्तमान पर्याय तो चित्सामान्य से वाहर

ही रही और इसी वर्त्तमान व्यक्त पर्याय मे अव्यक्त ज्ञायकवस्तु को जान – ऐसा आचार्य कहते है।

जिसप्रकार पानी की तरग पानी मे समा जाती है, उसीप्रकार व्यक्त होनेवाली पर्याय द्रव्यरूप ही हो जाती है। इसीतरह जब निर्मलपर्याय प्रगट होती है, तब क्षयोपशम, क्षायिक या उपशमभावरूप होती है, परन्तु जब अन्दर द्रव्य मे ही व्यय होकर समा जाती है, तब वह पारिणामिक-भावरूप ही हो जाती है अर्थात् उदय, उपशम, क्षय या क्षयोपशमभावरूप नही रहती है। भूतकाल और भविष्यकाल की समस्त पर्याये द्रव्यसामान्य मे पारिणामिकभावरूप है। व्यक्त वर्तमान ज्ञान की पर्याय मे जो अव्यक्त सामान्य का ज्ञान है, वह निश्चय का ज्ञान है और निश्चय के ज्ञान के साथ वर्त्तमानपर्याय का ज्ञान प्रमाणज्ञान है। निश्चय के ज्ञानपूर्वक जब वर्त्तमान पर्याय मात्रपर्याय का ज्ञान करती है, तब व्यवहार का ज्ञान कहलाता है। यह प्रमाणज्ञान और नयज्ञान – दोनो पर्यायरूप हैं।

भाई ! निश्चयनय की विषयभूत जो ध्रुव, एक, अखण्ड, चैतन्य-सामान्यवस्तु है, वह एक ही इस जीव को शरणरूप है। पर्याय को एक द्रव्य ही शरणभूत है।

द्रव्य को प्रसिद्ध करनेवाली प्रगट पर्याय द्रव्य मे घुस नही जाती, क्योकि यदि वह भी द्रव्य मे घुस जायगी तो 'यह द्रव्य है' – ऐसा कौन जानेगा ? अव्यक्त को जाननेवाली पर्याय तो अव्यक्त से भिन्न रहकर ही उसे जानती है। द्रव्य की प्रतीति करनेवाली पर्याय भी यदि द्रव्य मे घुस जाय तो प्रतीति करनेवाली पर्याय के अभाव का प्रसङ्ग उपस्थित होता है।

अहो ! दिगम्बर सन्तो ने जगत को आत्मा हथेली पर रखकर दिखाया है। जिस जीव की योग्यता होगी, वह अवश्य प्राप्त करेगा।

चौथा बोल :– क्षणिक व्यक्तिमात्र नही, इसलिए अव्यक्त है।

तीसरे बोल मे सर्व व्यक्तियो की सामान्य बात कही थी, परन्तु यहाँ चौथे बोल मे क्षणिक व्यक्ति अर्थात् एकसमय की मात्र वर्त्तमान पर्याय की बात की गई है। आत्मा क्षणिक व्यक्तिमात्र नही है, अत अव्यक्त है। एकसमय की पर्याय जो व्यक्त है, वह क्षणिक है। जब आत्मा शुद्ध चैतन्य-सामान्य त्रिकाल है तो क्षणिक व्यक्तिमात्र या प्रगट पर्याय के बराबर कैसे हो सकता है, अत आत्मा अव्यक्त है। इस बोल का तात्पर्य यह है कि पर्याय एकसमय मात्र का सत् होने से दृष्टि करने योग्य और आश्रय करने

योग्य नही है। अतः अनतकाल में जिसका आश्रय नही किया है – ऐसे एक शुद्ध त्रिकाली अव्यक्त आत्मस्वभाव का आश्रय करना योग्य है।

भाई ! जब तक तेरी इन्द्रियाँ शिथिल नही पडी तथा शरीर को रोगों ने नही घेरा, उसके पहले ही तू चिन्मात्र शुद्ध आत्मा का अनुभव कर ले। यह शिक्षा उसे दे रहे हैं, जिसका पुरुषार्थ कमजोर है। अन्यथा अनन्त प्रतिकूलताओं के बीच रहता हुआ, असह्य पीडा भोगता हुआ सातवे नरक का नारकी भी उग्र पुरुषार्थ करके आत्मज्ञान प्राप्त कर सकता है। वृद्धावस्था, रोगी-अवस्था, निर्धनता आदि चाहे जैसी प्रतिकूलतायें हो; तथापि आत्मा अपना पुरुषार्थ जागृत करके आत्मानुभव कर सकता है, क्योंकि परद्रव्य व परद्रव्य की पर्यायो को भगवान आत्मा छूता तक नही है। शरीर मे चाहे जैसी वेदना हो, उस वेदना का आत्मा स्पर्श नही करता। इसीकारण तो कहते है कि क्षणिक व्यक्ति (पर्याय) को तू अव्यक्त आत्मा की तरफ ले जा ! तुझे आत्मा मिलेगा और आनन्द भी अवश्य आयेगा।

पाँचवाँ बोल :– व्यक्तता और अव्यक्तता एकमेक मिश्रितरूप से प्रतिभासित होने पर भी वह केवल व्यक्तता को ही स्पर्श नही करता, इसलिए अव्यक्त है।

एकसमय की पर्याय मे, पर्याय (व्यक्तता) और द्रव्य (अव्यक्तता) – दोनो एक साथ प्रतिभासित होते हैं, तथापि भगवान द्रव्यस्वभाव पर्याय को स्पर्शता नही है। श्री प्रवचनसार की १७२वी गाथा के २०वें बोल मे कहा है कि पर्याय द्रव्य को छूती नही है, परन्तु यहाँ कहते हैं कि द्रव्य पर्याय को छूता नही है।

व्यक्त अर्थात् प्रगट ज्ञान की पर्याय और अव्यक्त अर्थात् त्रिकाली ध्रुव ज्ञायक – दोनो का एकमेक मिश्रितरूप से एक साथ पर्याय मे ज्ञान होता है, फिर भी ज्ञायकद्रव्य ज्ञान की पर्याय को स्पर्श नही करता अर्थात् द्रव्य पर्याय मे व्याप्त नही होता। अहाहा ! कैसी विचित्र बात है कि जिस व्यक्त पर्याय मे अव्यक्त का ज्ञान-श्रद्धान हुआ है, उस व्यक्त पर्याय को भी वह अव्यक्त स्पर्श नही करता। अव्यक्त व्यक्त मे आता ही नही, व्याप्त ही नही होता। इसका तात्पर्य यह है कि द्रव्य द्रव्यरूप ही रहता है और पर्याय पर्यायरूप ही रहती है। अहो ! ऐसा सूक्ष्ममार्ग उपयोग को सूक्ष्म करने पर ही समझ मे आ सकता है।

यह द्रव्य है, यह ज्ञानगुण है और यह जाननेवाली पर्याय है; इस-प्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय तीनो का पर्याय मे ज्ञान होता है। अत. द्रव्य व पर्याय

का मिश्रितरूप से ज्ञान होने पर भी अव्यक्त भगवान आत्मा स्व-परप्रकाशक ज्ञान की व्यक्त पर्याय को स्पर्श नही करता अर्थात् उस पर्याय मे द्रव्य व्याप्त नही होता। एकसमय की ज्ञानपर्याय मे स्व व परस्वरूप छहद्रव्य का ज्ञान होता है, तथापि उस ज्ञानपर्याय मे ज्ञायक भगवान व्याप्त नही होता, भिन्न ही रहता है।

अहाहा! अनन्त केवलज्ञान की पर्यायें एक ज्ञानगुण मे (शक्तिरूप से) विद्यमान है, श्रद्धा की अनन्त पर्यायें एक श्रद्धागुण मे विद्यमान हैं, निर्मल चारित्र की अनन्त पर्यायें एक चारित्रगुण मे विद्यमान हैं तथा अतीन्द्रिय आनन्द की अनत पर्यायें एक आनन्दगुण मे विद्यमान हैं, इस-प्रकार प्रत्येक गुण की अनन्त पर्यायें उन-उन गुणो मे शक्तिरूप से विद्यमान हैं। ऐसे गुण और उसे धारण करनेवाले त्रिकालीद्रव्य को यहाँ अव्यक्त कहा गया है और इस द्रव्य को जाननेवाली वर्त्तमान प्रगट पर्याय को व्यक्त कहा गया है।

यद्यपि ध्रुवद्रव्य स्वय स्वय से प्रगट ही है; तथापि यहाँ व्यक्त-पर्याय से भिन्नता बताने की अपेक्षा से उसे अव्यक्त कहा गया है। वस्तु सूक्ष्म और अत्यन्त गभीर है। यहाँ द्रव्य और पर्याय को भिन्न-भिन्न सिद्ध करते है। ज्ञायक भगवान आत्मा परद्रव्य से तो भिन्न है ही, परन्तु उसे जाननेवाली व देखनेवाली अपनी पर्याय से भी भिन्न है – ऐसा सिद्ध करते है। अहो! सम्यग्दर्शन का विषय अद्भुत है।

जिसप्रकार दर्पण मे बिम्ब का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, उसी-प्रकार एकसमय की पर्याय मे सपूर्ण द्रव्य का प्रतिभास होता है। जगत मे छह द्रव्य हैं, उनमे अरहत, सिद्ध आदि पाँचो परमेष्ठी भी है – उन सवका, स्वद्रव्य का और स्वय पर्याय का भी प्रतिभास पर्याय मे एकसाथ होता है, तथापि पर्याय को द्रव्य स्पर्श नही करता है। भाई! गजब बात है। जिसे यह बात अन्तरङ्ग मे बैठ जाये, उसका भवभ्रमण मिटे बिना न रहे अर्थात् अवश्य नाश को प्राप्त हो जाये।

छठवाँ बोल – स्वय अपने से ही बाह्याभ्यतर स्पष्ट अनुभव मे आ रहा है, तथापि व्यक्तता के प्रति उदासीनरूप से प्रकाशमान है, इसलिए अव्यक्त है।

यद्यपि अपने से ही बाह्य अर्थात् पर्याय और अभ्यन्तर अर्थात् द्रव्य – दोनो का स्पष्ट अनुभव होता है, तथापि व्यक्तता के प्रति वह उदासीनरूप से ही प्रद्योतमान है। तात्पर्य यह है कि द्रव्य पर्याय के वेदन के प्रति

उदासीन ही है। वेदन की पर्याय का यह स्वरूप है कि वह पर्याय के वेदन मे ही नही अटकती और ध्रुववस्तु की तरफ गुलाँट खा जाती है। वेदन की पर्याय द्रव्य की तरफ ही ढलती है, पर्याय मे नही अटकती।

स्वय अपने से स्पष्ट अनुभव मे आ रहा है – इसका तात्पर्य यह है कि किसी राग या निमित्त के कारण अनुभव मे नही आता, बल्कि ज्ञान की पर्याय मे ज्ञान और द्रव्य का स्वय ही प्रत्यक्ष वेदन होता है।

स्वय अपने से ही स्पष्ट अनुभव में आ रहा है, तथापि व्यक्तता के प्रति उदासीनरूप से प्रकाशमान है अर्थात् व्यक्त पर्याय में ज्ञान अटकता नही है। यद्यपि आनन्द का वेदन पर्याय में ही होता है, तथापि आनन्द का वेदन करनेवाला पर्याय मे अटकता नही है; बल्कि वह पर्याय के प्रति उदास....उदास... उदास ही वर्त्तता है।

अथवा आत्मा पर्याय के प्रति उदासीनरूप से ही प्रकाशमान है, क्योकि यदि एकसमय की पर्याय का ही आत्मा आनन्दभोग करे तो दूसरी पर्याय का भोग कभी भी नही हो सकेगा। सिद्ध भगवान भी तीनो काल की पर्यायो का आनन्द एकसमय मे नही भोगते; किन्तु दूसरे समय दूसरी, तीसरे समय तीसरी पर्याय का ही आनन्द भोगते है।

आत्मा का मूल स्वभाव क्या है? उसकी मूल शक्ति क्या है? यह जानने से आत्मा का स्वभाव प्रगट हो जाता है। आत्मा का कोई भी गुण या स्वभाव आत्मा से बाहर नहीं है। अत आत्मा से बाहर दृष्टि डालने से आत्मा की शक्ति प्रगट नही होती और अन्तरङ्ग मे दृष्टि डालने से प्रगट हो जाती है। – इसप्रकार छह बोलों द्वारा अव्यक्तता सिद्ध की है।

छह बोलों द्वारा आत्मा की अव्यक्तता सिद्ध करने के पश्चात् अब उपसहार करते हुए कहते है :–

इसप्रकार रस, रूप, गध, स्पर्श, शब्द, सस्थान और व्यक्तता का अभाव होने पर भी स्वसवेदन के बल से स्वय सदा प्रत्यक्ष होने से अनुमान-गोचरमात्रता के अभाव के कारण (जीव को) अलिगग्रहण कहा जाता है।

अहाहा! आचार्यदेव कहते है कि जिसप्रकार भगवान आत्मा मे रस, रूप, गध, स्पर्श, शब्द व सस्थान का अभाव है, उसीप्रकार व्यक्तपर्याय का भी अभाव है। ऐसा होने पर भी वर्त्तमान पर्याय मे स्वसवेदन के बल से अर्थात् अपने प्रत्यक्ष वेदन से आत्मा सदा ही प्रत्यक्ष है। आत्मा स्वय तो सदा प्रत्यक्ष और प्रगट ही है। प्रवचनसार की गाथा १७२ की टीका मे अलिंगग्रहण के छठवे बोल मे कहा है कि 'भगवान आत्मा स्वभाव

से जाना जाए, ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञाता है।' आत्मा का स्वभाव ही प्रत्यक्ष होने का है। परोक्ष रहने का उसका स्वभाव ही नही है। इन्द्रियो, मन या अनुमानज्ञान से आत्मा जाना जाये – ऐसा आत्मा का स्वभाव ही नही है।

'जहाँ-जहाँ ज्ञान है, वहाँ-वहाँ आत्मा है और जहाँ-जहाँ ज्ञान नही है, वहाँ-वहाँ आत्मा नही है' – ऐसा अनुमानज्ञान भेदरूप होने से व्यवहार है। राग या व्यवहारज्ञान (अनुमानज्ञान) की जिसमे अपेक्षा नही, ऐसे स्वसंवेदन के वल से सदा प्रत्यक्ष होने से अनुमानगोचरमात्रता का भी उसमे अभाव है।

प्रत्यक्षपूर्वक होनेवाला अनुमान व्यवहार नाम पाता है, परन्तु यहाँ इस व्यवहारज्ञान से भी आत्मा ज्ञात नही होता – यह कहते हैं।

समयसार कलशटीका के ८वें श्लोक की टीका मे कहा है कि – "कैसी है आत्म-ज्योति ? 'उन्नीयमान' – चेतनालक्षण से जानी जाती है, इसीलिए अनुमानगोचर भी है। अथ दूसरा पक्ष – 'उद्योतमान' – प्रत्यक्षज्ञानगोचर है। भावार्थ इसप्रकार है कि भेदवुद्धि करते हुए जीववस्तु चेतनालक्षण से जीव को जानती है, वस्तु विचारने पर इतना विकल्प भी भूठा है। शुद्ध-वस्तुमात्र है, ऐसा अनुभव सम्यक्त्व है।"

समयसार के अन्त मे, परिशिष्ट के अन्तर्गत ४७ शक्तियो का वर्णन है। वहाँ एक 'प्रकाश' नाम की शक्ति कही है। इस शक्ति के कारण आत्मा स्वय से ही जाना जाता है, ऐसा ही स्वभाव है। 'स्वय प्रकाशमान विशद ऐसी स्वसवेदनमयी प्रकाशशक्ति है।' यहाँ जो स्वसवेदनप्रत्यक्ष लिया गया है, वह प्रकाशशक्ति की अपेक्षा ही लिया गया है। आत्मा को जानने मे राग या निमित्त की अपेक्षा तो नही, परन्तु अनुमानज्ञान की अपेक्षा भी नही है। आत्मा स्वसवेदन के वल से प्रत्यक्ष होने के स्वभाववाला ही है।

आनन्द के वेदन की अपेक्षा से यहाँ प्रत्यक्ष कहा गया है। अतीन्द्रिय आनन्द को आत्मा सीधे वेदन करता है, अत उसके जोर मे प्रत्यक्ष कहा गया है। आत्मा के आनन्द के स्वाद मे श्रुतज्ञानी और केवलज्ञानी मे अन्तर नही है। आत्मा के गुण और उसके आकार, केवली भगवान को जिसप्रकार प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, उसप्रकार श्रुतज्ञानी के प्रत्यक्ष नहीं होते, परन्तु स्वानुभूति मे आनन्द का वेदन तो श्रुतज्ञानी को भी प्रत्यक्ष ही है। श्रुतज्ञानी भी अन्य किसी आनन्द को थोडे ही वेदन करता है। अत श्रुतज्ञान की अपेक्षा से आत्मा परोक्ष भले ही हो, परन्तु वेदन की अपेक्षा प्रत्यक्ष ही है, स्वसवेदन के वल से आत्मा प्रत्यक्ष ही है।

जिसप्रकार अन्धा पुरुष शक्कर खावे या देखनेवाला पुरुष शक्कर खावे, तो इससे उनके मिठास के वेदन मे कोई अन्तर नही है। अन्धा पुरुष शक्कर को प्रत्यक्ष नही देखता, परन्तु उसे शक्कर की मिठास के स्वाद मे कोई कमी नही है; उसीप्रकार आत्मा के आनन्द के वेदन मे तो श्रुतज्ञानी और केवलज्ञानी मे कोई अन्तर नही है।

समयसार कलशटीका के कलश १६ मे आता है कि "श्रुतज्ञान से आत्मस्वरूप विचारने पर बहुत विकल्प उत्पन्न होता है। एक पक्ष से विचारने पर आत्मा अनेकरूप है, दूसरे पक्ष से विचारने पर आत्मा अभेदरूप है – ऐसे विचारते हुए तो स्वरूप-अनुभव नही। यहाँ पर कोई प्रश्न करता है कि ऐसे विचारते हुए स्वरूप-अनुभव नही, तो अनुभव कहाँ है? उत्तर इसप्रकार है कि प्रत्यक्षरूप से वस्तु को आस्वादते हुए अनुभव है।" इसीप्रकार समयसार कलशटीका के ६३वें श्लोक की टीका मे भी पाडे राजमलजी कहते हैं कि – "जितना नय है, उतना श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान परोक्ष है (क्योकि सविकल्प है), अनुभव प्रत्यक्ष है (क्योकि निर्विकल्प है), अत श्रुतज्ञान (विकल्प) विना जो ज्ञान है, वह प्रत्यक्ष अनुभव है। इसकारण प्रत्यक्षरूप से अनुभवता हुआ जो कोई शुद्धस्वरूप आत्मा है, वही ज्ञानपुञ्ज वस्तु है – ऐसा कहा जाता है।"

यहाँ कलशटीका के ६३वें श्लोक मे तो श्रुतज्ञान को परोक्ष कहा गया है, परन्तु वास्तव मे श्रुतज्ञान का अनुभव प्रत्यक्ष है।

समयसार की गाथा १४४ की टीका मे कहा है कि जब जीव इन्द्रियो और मन के द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियो को मर्यादा मे लेकर मतिज्ञान तत्त्व को आत्मसन्मुख करके और अनेक विकल्पो को मिटाकर श्रुतज्ञान तत्त्व को भी आत्मसन्मुख करके अत्यन्त विकलपरहित होकर निजपरमात्मस्वरूप समयसार को अनुभवता है, उस समय ही आत्मा सम्यक्रूप से दिखाई देता है।

इसप्रकार १४४वी गाथा मे श्रुतज्ञान के द्वारा अनुभव हुआ कहा गया है और कलशटीका मे श्रुतज्ञान को परोक्ष कहा गया है, परन्तु इनमे कोई विरोध नही है। भाई! जहाँ जो अपेक्षा हो, वहाँ वह यथार्थ जानना चाहिए। श्रुतज्ञान के विकल्पो मे आत्मा परोक्ष है, परन्तु श्रुतज्ञान के अनुभव मे – वेदन मे आत्मा प्रत्यक्ष है। केवलज्ञान की अपेक्षा तो चारो ही ज्ञानो को परोक्ष कहा है।

रहस्यपूर्ण चिठ्ठी मे आगम-अनुमानादिक परोक्षज्ञान के द्वारा आत्मा का अनुभव होता है, ऐसा कहा है। वहाँ पर अनुभव के पूर्व जैनागम मे

जैसा आत्मा का स्वरूप कहा है, वैसा जानकर, अनुमान से वस्तु का निश्चय होता है, यह बताने का प्रयोजन है। वहाँ भी ऐसे विकल्पो से आत्मानुभव होता है, यह वताना इष्ट नही है। भाई! आत्मा का स्वरूप अतिसूक्ष्म है। जहाँ जो विवक्षा हो, वह बराबर जाननी चाहिए। यहाँ तो यह कहते हैं कि वस्तु तो स्वसवेदन के वल से सदा प्रत्यक्ष है और इसलिए अनुमानगोचरमात्रपने का अभाव होने से जीव को अलिगग्रहण कहा है।

इस ४६वी गाथा की टीका मे अब तक आत्मा का स्वरूप निषेध-परक ही बताया गया। यहाँ प्रश्न है कि आत्मा का अस्तिपरक भी कुछ स्वरूप है या नही? अतः अब आत्मा का अस्तिपरक लक्षण बताते हैं कि आत्मा चेतनालक्षणवाला है।

अव कहते हैं कि अपने अनुभव मे आनेवाले चेतनागुण के द्वारा सदा अन्तरङ्ग मे प्रकाशमान है, अत· जीव चेतनागुणवाला है। वह चेतना-गुण समस्त विप्रतिपत्तियो को नाश करनेवाला है। जिसने अपना सर्वस्व भेदज्ञानी जीवो को सौप दिया है, जो समस्त लोकालोक को ग्रासीभूत करके मानो अत्यन्त तृप्ति से उपशान्त हो गया हो। (अर्थात् अत्यन्त स्वरूपसौख्य से तृप्त-तृप्त होने के कारण स्वरूप मे से बाहर निकलने का अनुद्यमी हो।) इसप्रकार वह सर्वकाल मे किञ्चित्मात्र भी चलायमान नही होता और इसतरह सदा लेशमात्र भी अन्यद्रव्य से विचलित न होने के कारण असाधारण स्वभावभूत है।

एकमात्र देखना-जानना ही जिसका स्वभाव है, ऐसा चेतनागुणवाला भगवान आत्मा है। आत्मा का चेतना के द्वारा अनुभव होता है, राग के द्वारा अनुभव नही होता। अन्तर्मुख होनेवाली पर्याय ऐसा जानती है कि 'यह चैतन्यमय आत्मा मैं हूँ'। वस! भगवान आत्मा स्पर्श, रस, गध, वर्ण, व्यक्तता आदिरूप नही है; परन्तु चैतन्यमय चेतनागुणवाला है। वास्तव मे तो ऐसे भेदवाला भी आत्मा नही है, आत्मा तो अभेद है।

आत्मा का यह चेतनागुण समस्त विप्रतिपत्तियो का नाश करनेवाला है। रागवाला, कर्मवाला, पुण्यवाला, व्यवहारवाला, शरीरवाला जीव है, ऐसा अनेक प्रकार की विपरीत मान्यताओ का निषेध करनेवाला चेतना-लक्षण है। ऐसा स्वीकारने पर आत्मा कषाय की मदता से, अन्तिम शुभभाव से या अनुभव के पूर्व किसी विकल्प द्वारा जानने मे आता है—इत्यादि अनेक मान्यताओ के झगडे खत्म हो जाते हैं।

भेदज्ञानी जीव ही आत्मा के सर्वस्वस्वरूप को जानने में समर्थ है। टीका मे भी यह वचन है कि आत्मा ने अपना सर्वस्व भेदज्ञानी जीवों को सौंप दिया है। भेदज्ञानी जीवों को यह पूरा-पूरा ख्याल आ गया है कि मेरा आत्मा मेरे ज्ञान से सीधे जानने में आता है, परन्तु देव-गुरु शास्त्र या दिव्यध्वनि या राग से जानने में नहीं आता।

आत्मा ज्ञानलक्षण द्वारा ज्ञात होता है। ज्ञान कहो या उपयोग कहो, उसके द्वारा ही आत्मा जाना जाता है। उपयोग दो प्रकार का है। (१) जानने-देखनेरूप त्रिकाली गुण और (२) जानने-देखनेरूप त्रिकाली गुण का निर्णय करनेवाली पर्याय। जाननेवाली पर्याय व्यक्त है, प्रसिद्ध है। जानना··जानना···जानना—यह प्रसिद्ध लक्षण है; अतः प्रसाध्यमान आत्मा को सिद्ध करता है. उसे जानने मे समर्थ लक्षण है।

वर्त्तमान ज्ञान की दशा को अंतर मे ढालने पर आत्मा जानने मे आता है। कहा भी है कि 'परथी खस, स्वमा वस; टूकू टच, ऐटलू बस' अर्थात् पर से हटना और स्व मे बसना—यही दो टूक बात है।

चेतनागुण का स्वभाव ऐसा है कि मानो उसने सारे लोकालोक को ग्रासीभूत कर लिया हो। एक केवलज्ञान की पर्याय की इतनी सामर्थ्य है कि समस्त लोकालोक को एक साथ जान ले। अरे! ऐसे-ऐसे अनंत लोकालोक भी हो तो उन्हे जानने की सामर्थ्य भी केवलज्ञान मे है, श्रुतज्ञान की पर्याय मे भी ऐसी ताकत है; मात्र प्रत्यक्ष और परोक्ष का भेद है।

लोकालोक को ग्रासीभूत करके जो अत्यन्त तृप्ति से स्थिर हो गया है। अहो! अनंत आनंद का का नाथ अन्दर जागृत होने पर आनंद का वेदन करता है। जिसमे प्रतिसमय आनंद प्रगट होता है, ऐसा आनद का भोग करनेवाला भगवान आत्मा अत्यन्त तृप्त हो गया है।

स्वभावदृष्टि की अपेक्षा से अथवा दृष्टि के जोर मे तो राग का भोक्ता आत्मा नही है, परन्तु ज्ञान की अपेक्षा देखो तो धर्मी—साधक आनंद का भोक्ता है। एक अपेक्षा से वह राग का भी भोक्ता है। धर्मी को 'राग भोगने योग्य है'—ऐसी बुद्धि तो नहीं है, परन्तु उनके वेदन मे राग का भी वेदन होता है; अत इस अपेक्षा से भोक्ता भी कहा है।

जिसप्रकार ब्राह्मण भरपेट लड्डुओं को खाकर मस्ती में झूमता हुआ चलता है; उसीप्रकार धर्मीजीव आनंद में मग्न होकर झूमता हुआ चलता है। धर्मीजीव अत्यन्त स्वरूपसौख्य के द्वारा तृप्त-तृप्त होने से ऐसा स्थिर हो गया है कि स्वरूप में से बाहर निकलने का अनुद्यमी हो

गया है। अत सर्वकाल किञ्चित् भी चलायमान नही होता। वह पूर्ण-दशा को प्राप्त होने से सर्वकाल किञ्चित्मात्र भी चलित नही होता– यह अनुभव का फल है। इसप्रकार सदाकाल थोडा भी अन्यद्रव्य से चलायमान नही होने से असाधारणपने के कारण चेतनागुण स्वभावभूत है।

धर्मीजीव अन्तर मे इतना तृप्त-तृप्त हो गया है कि उसका समस्त समय आत्मतत्त्व के आनद को भोगने मे ही बीतता है। अहो! समयसार मे तो चौदह ब्रह्माण्ड के भाव भरे है। यह समयसार ऐसी शैली मे लिखा गया है कि इसमे कोई अधूरापन नही है। ऐसा चैतन्यलक्षणवाला परमार्थ-स्वरूप जीव है, जिसका प्रकाश निर्मल है – ऐसा यह भगवान इस लोक मे टकोत्कीर्ण भिन्न ज्योतिस्वरूप विराजमान है।

यहाँ परमार्थ शब्द का तात्पर्य यह है कि पर = उत्तम, मा = लक्ष्मी और अर्थ = पदार्थ, अर्थात् उत्तमलक्ष्मीवाला पदार्थ। चैतन्य की उत्तम लक्ष्मीवाला जीवपदार्थ ही परमार्थ है, जिसका प्रकाश निर्मल है – ऐसा यह भगवान इस लोक मे एक टकोत्कीर्ण भिन्न ज्योतिरूप विराजमान है।

इसप्रकार यह ४९वी गाथा का व्याख्यान समाप्त हुआ।

अब इसी अर्थ का द्योतक कलशरूप काव्य कहकर ऐसे आत्मा के अनुभव की प्रेरणा देते हैं –

मालिनी

सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम्।
इममुपरि चरंतं चारु विश्वस्य साक्षात्
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनंतम् ॥३५॥

श्लोकार्थ – [**चित्-शक्ति-रिक्तं**] चित्शक्ति से रहित [**सकलम् अपि**] अन्य समस्त भावो को [**अह्नाय**] मूल से [**विहाय**] छोडकर [**च**] और [**स्फुटतरम्**] प्रगटरूप से [**स्वं चित्-शक्तिमात्रम्**] अपने चित्शक्ति-मात्र भाव का [**अवगाह्य**] अवगाहन करके, [**विश्वस्य उपरि**] समस्त पदार्थसमूहरूप लोक के ऊपर [**चारु चरन्तं**] सुन्दर रीति से प्रवर्तमान – ऐसे [**इमम्**] यह [**परम्**] एकमात्र [**अनन्तम्**] अविनाशी [**आत्मानम्**] आत्मा का [**आत्मा**] भव्यात्मा [**आत्मनि**] आत्मा मे ही [**साक्षात् कलयतु**] अभ्यास करो! साक्षात् अनुभव करो!

भावार्थ :– यह आत्मा परमार्थ से समस्त अन्यभावो से रहित चैतन्य-शक्तिमात्र है, उसके अनुभव का अभ्यास करो! ऐसा उपदेश है ॥३५॥

कलश ३५ पर प्रवचन

हे भव्यात्मा ! चित्शक्ति से रहित अन्य समस्त भावों को मूल से ही छोडकर, प्रगटतया अपने चित्शक्तिमात्र भाव का अवगाहन करके, समस्त पदार्थसमूहरूप लोक के ऊपर प्रवर्तमान एकमात्र केवल अविनाशी आत्मा का आत्मा मे ही साक्षात् अनुभव करो !

आत्मा के अनुभव की प्रेरणा देते हुए आचार्य अमृतचद्राचार्यदेव क्या कहते है कि 'चित्शक्ति से रहित अन्य समस्त भावो को मूल से ही छोडकर' अर्थात् शुभाशुभभाव चैतन्यशक्ति से रहित भाव हैं। चाहे तीर्थंकर-प्रकृति को बाँधनेवाला भाव हो, चाहे पचमहाव्रत का विकल्प हो, चाहे गुण-गुणी के भेदरूप विकल्प हो – ये समस्तभाव चैतन्यशक्ति से खाली हैं, अन्य हैं। इन सभी भावो को तू मूल से ही छोड – ऐसा उपदेश देते हैं।

प्रगटतया अपने चित्शक्तिमात्र भाव का अवगाहन करके अर्थात् ज्ञानस्वभावमात्र वस्तु स्वय प्रगट है, उसमे डुबकी लगा ! प्रवेश कर !! अवगाहन कर !!! जिसप्रकार समुद्र मे डुबकी लगाई जाती है, अवगाहन किया जाता है; उसीप्रकार चैतन्यसमुद्र मे डुबकी लगा, वर्त्तमान पर्याय के द्वारा त्रिकाल ज्ञानस्वभावी शुद्ध चैतन्यसिन्धु मे प्रवेश कर ! अवगाहन कर !! इस जीव ने पुण्य-पाप के भावो मे तो अनादिकाल से अवगाहन किया है, परन्तु ये चैतन्य के भाव नही है, ये तो चैतन्य से खाली हैं।

अहो ! कैसी दो टूक और सारभूत बात है। जिन भावो से बधन हो, वे सब भाव अचेतन हैं। अत' जिनमे चैतन्यशक्ति का अभाव है – ऐसे अनेक प्रकार के अचेतन शुभाशुभभावो का लक्ष छोड दे और शुद्ध चित्शक्तिमात्र भाव को ग्रहण कर !

कैसा है आत्मा ? समस्तपदार्थसमूहरूप लोक के ऊपर सुदर रीति से प्रवर्तमान एक, अविनाशी है। विकल्प से लेकर समस्त जगत से जुदा सर्वोत्कृष्ट पदार्थ आत्मा है। सुदर रीति से प्रवर्तमान है अर्थात् अतीन्द्रिय आनदस्वरूप पदार्थ है। पुण्य-पाप मे प्रवर्तना तो दु खरूप है, परन्तु आत्मा तो अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप है।

जिसप्रकार पानी मे डाला हुआ तेल ऊपर ही ऊपर तैरता रहता है, उसीप्रकार आत्मा का स्वभाव भी समस्त राग-द्वेष के भावो और परद्रव्यो के ऊपर-ऊपर तैरने का है, वह सबका ज्ञान करनेवाला तो है, किन्तु किसी मे मिलने का स्वभाव उसका नही है।

भगवान आत्मा चारित्र की अपेक्षा वीतरागस्वभावी है, ज्ञान की अपेक्षा ज्ञानस्वभावी है और आनन्द की अपेक्षा आनन्दस्वभावी है। ऐसे ज्ञान, आनन्द और वीतरागता आदि स्वभावो से भरपूर अखण्ड एकरूप चैतन्य भगवान है। यहाँ कहते है कि हे भव्यात्मा ! एक, अखण्ड, अविनाशी आत्मा का आत्मा मे ही अभ्यास करो! साक्षात् अनुभव करो!! अहाहा! भगवान आत्मा मे तो माल ही माल भरा है, परन्तु अनादिकाल से यह आत्मा पुण्य-पाप के व्यवहारिक भावो मे उलझ गया है, जकड गया है। अत आचार्यदेव समझाते हैं कि सर्व व्यवहारिकभावो का लक्ष छोडकर चित्शक्तिस्वरूप आत्मा का आत्मा मे ही साक्षात् अनुभव करो!

यहाँ चित्शक्तिस्वरूप आत्मा है — इसप्रकार भेद से कथन किया गया है, परन्तु वस्तु मे कोई भेद नही समझना चाहिए। करें क्या ? वस्तु को समझाने का अन्य कोई उपाय तो है नहीं। यदि समझनेवाला अत्यधिक बुद्धिवाला हो तो भी समझाने मे कालभेद होता ही है, सम्पूर्ण आत्मा को एक साथ समझाना अशक्य है। 'जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र को प्राप्त करे, वह आत्मा है' अथवा थोडे मे 'ज्ञान आत्मा है' — ऐसा भेद करके समझाया जा सकता है। भेद किए बिना ही समझना-समझाना तो असभव है।

श्री समयसारकलश की बालबोधिनी टीका मे पाँचवे कलश की व्याख्या करते हुए पाण्डे राजमलजी लिखते हैं कि "जीववस्तु निर्विकल्प है, वह तो ज्ञानगोचर है। उस जीववस्तु को कहना चाहे, तब ऐसे ही कहने मे आता है कि जिसके गुण दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, वह जीव है। जो कोई बहुत साधिक (बहुत बुद्धिमान) हो तो भी ऐसे ही कहना पडे, तथा इतने कहने का नाम ही व्यवहार है।"

यहाँ यह जानना चाहिए कि व्यवहार का ज्ञान तो कराया गया है, परन्तु वह अनुसरण करने योग्य नही है। भेद करके समझाया तो अवश्य गया है, परन्तु भेद का अनुसरण करना योग्य नही है। त्रिकाल अभेद-स्वरूप वस्तु का ही अनुसरण करना योग्य है।

जिसमे भव और भव के भाव का अभाव है, ऐसा भगवान आत्मा शुद्ध चेतनासिन्धु है। नाटक समयसार के जीवद्वार मे कहा है —

कहे विचच्छन पुरुष सदा मै एक हौं,
अपने रस सौं भर्यो आपनी टेक हौं।
मोहकर्म मम नाहि नाहि भ्रमकूप है,
शुद्धचेतनासिन्धु हमारौ रूप है ॥३३॥

यह रागादि भाव चाहे शुभराग हो तो भी भ्रम का कूप है, भव का ही कूप है। जिसका बेहद अपरिमित ज्ञानस्वभाव है, ऐसा भगवान आत्मा शुद्धचैतन्य का दरिया है। ऐसे शुद्ध चैतन्य मे अवगाहन कर ! इसके सन्मुख होकर इसमे मग्न हो जा ! जिससे समस्त विश्व के भावो से भिन्न मात्र आनन्दस्वभाव मे तेरा प्रवर्तन हो। प्रभु ! यही धर्म है।

यहाँ कोई **प्रश्न** करता है कि इसका कोई साधन है या नही ? श्री पचास्तिकायसग्रह नामक शास्त्र मे भी आता है कि व्यवहार, निश्चय का साधन है। उसे **उत्तर** देते है कि भाई ! वहाँ तो निमित्त कैसा होता है, इसका ज्ञान कराने के लिए व्यवहार को साधन कहा है। वास्तव मे तो व्यवहार साधन है ही नही, एकमात्र निश्चय ही मोक्ष का साधन है। निश्चय के साथ-साथ राग किस जाति का होता है, इसका ज्ञान कराने के लिए व्यवहार मे साधनपने का उपचार किया है।

इस कलश मे भी व्यवहार का निषेध ही बताया गया है। शुभाशुभराग चैतन्यशक्ति से खाली है, अत उसे छोडने का ही उपदेश दिया है। व्यवहाररत्नत्रय का राग भी चैतन्यशक्ति से खाली है। यह सम्यक्-एकान्त का स्वरूप बताया है। निश्चय से भी होता है और व्यवहार से भी होता है — ऐसा मानना सम्यक्-अनेकान्त नही, मिथ्या-अनेकान्त है।

कलश ३५ के भावार्थ पर प्रवचन

पण्डित जयचन्दजी ने भी इस कलश के भावार्थ मे कहा है कि "यह आत्मा परमार्थ से समस्त अन्य भावो से रहित चैतन्यशक्तिमात्र है; उसके अनुभव का अभ्यास करो ! — ऐसा उपदेश है।"

१४८ प्रकृतियाँ जिस भाव से बँधती है, वे सभी भाव अचेतन हैं। चैतन्य के भाव से — निर्मल परिणमन से बधन नही होता। अचेतनप्रकृति का बधन तो चैतन्य से खाली, ऐसे अचेतनभावो से होता है।

यहाँ कोई कहता है कि जिस भाव से पुण्यप्रकृति बधती है, उस पुण्यभाव को आप अधर्म क्यो कहते है ? अरे भाई ! पुण्यभाव आत्मा के आनन्दरूप परिणमन के विरुद्धभाव है। यदि आत्मा का आनन्दरूप प्रवर्तन धर्म है तो दुखरूप पुण्यभाव का प्रवर्तन अपने आप अधर्म सिद्ध हो गया।

नित्य, ध्रुव, आनन्द का नाथ भगवान आत्मा चिन्मात्र वस्तु है — उसके अनुभव का अभ्यास करो — ऐसा यहाँ उपदेश दिया गया है। अत. आत्मा के अनुभव का अभ्यास करना ही श्रेयस्कर है, क्योकि वही धर्म है, वही मोक्षमार्ग है, वही आनन्द का मार्ग है।

अब चित्शक्ति से अन्य जो भाव हैं, वे पुद्गलद्रव्यसबधी हैं – ऐसी सूचनिकारूप श्लोक कहते हैं –

चित्शक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम् ।
अतोऽतिरिक्ता सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी ।।३६।।

श्लोकार्थ :– [**चित्-शक्ति-व्याप्त-सर्वस्व-सारः**] चैतन्यशक्ति से व्याप्त जिसका सर्वस्वसार है – ऐसा [**अयम् जीवः**] यह जीव [**इयान्**] इतना मात्र ही है, [**अतः अतिरिक्ताः**] इस चित्शक्ति से शून्य [**अमी भावाः**] जो ये भाव हैं, [**सर्वे अपि**] वे सभी [**पौद्गलिकः**] पुद्गलजन्य हैं – पुद्गल के ही हैं ।।३६।।

कलश ३६ पर प्रवचन

चित्शक्ति से व्याप्त जिसका सर्वस्वसार है – ऐसा यह जीव इतना मात्र ही है । इस चित्शक्ति से शून्य जो अन्य भाव हैं, वे सभी पुद्गलजन्य हैं । पुद्गल के ही हैं । कैसी है चित्शक्ति ? जो शान्ति आदि अनन्तगुणो के दल से मडित है और यही जिसका सर्वस्वसार है, ऐसा जीव इतना मात्र ही है । चैतन्यशक्ति से ही जो पूर्णरूप से व्याप्त है, वह ही आत्मा है ।

चैतन्यशक्ति से शून्य जो अन्य भाव हैं, वे सभी पुद्गलद्रव्य से उत्पन्न हुए है, अत. पुद्गल के ही हैं । दया, दान, व्रत, पूजा, भक्ति, तप इत्यादि विकल्प पुद्गलद्रव्य के ही हैं । चाहे व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प हो, चाहे तीर्थंकर प्रकृति को बाँधनेवाला शुभभाव हो – ये सभी भाव चित्शक्ति से खाली है, शून्य है, अत पुद्गलसबधी हैं, पुद्गल ही हैं ।

प्रश्न :– इस कलश मे रागादिभावो को पौद्गलिक क्यो कहा है ?

उत्तर :– ये आत्मा की चैतन्यजाति के परिणाम नही है । रागादि को उत्पन्न करे, ऐसा आत्मा मे कोई स्वभाव या गुण नही है, अतः ये भाव आत्मा के नही हैं । आत्मा मे उत्पन्न होने पर भी ये भाव पुद्गल के आश्रय से उत्पन्न होते हैं, इसलिए ये सब पुद्गल के ही है, ऐसा कहते हैं । यदि ये आत्मा के सर्वथा हो तो कभी भी आत्मा से भिन्न नही हो सकते ।

चित्शक्ति से शून्य ये समस्त भाव पुद्गल के ही हैं । पर्याय आत्मा की तरफ ढलने के बदले पुद्गल की तरफ ढलती है, अत इसप्रकार उत्पन्न होनेवाले भाव पुद्गलसबधी ही है ।

शास्त्र मे कही पर यह कथन आता है कि रागादि भाव अपने अशुद्ध-उपादान से होते हैं, पर के कारण नही होते है । पर्याय मे उत्पन्न

होने का उनका वह जन्मक्षण है। वहाँ अशुद्ध-उपादान की स्वतन्त्रता बताने का उद्देश्य है। यहाँ तो उसे पुद्गलजन्य कहा है, परन्तु वह शुद्ध-उपादानरूप नही है, शुद्ध-उपादान के कार्यरूप भी नही है – यह बताने का उद्देश्य है। भाई ! यह तेरे परमहित की बात है।

यहाँ कोई शंका करे कि आप स्वय कहते है कि उपदेशमात्र से लाभ नही होता तो फिर आप स्वय उपदेश क्यो देते हैं ?

समाधान :– भाई ! वाणी तो अपने स्वकाल मे अपनी योग्यता से निकलती है और सुननेवाले को अपनी योग्यता के काल मे वाणी का निमित्त-पना भी होता है। वाणी से ज्ञान होता है, ऐसा नही है। वहाँ ज्ञान की पर्याय उत्पन्न होने का वह जन्मक्षण ही है। श्री प्रवचनसार शास्त्र की १०२वी गाथा मे जन्मक्षण की बात आती है। स्वसन्मुख होकर निर्मल पर्याय होती है, उस काल मे उतनी निर्मलता होने का स्वकाल ही है और निमित्तादि भी होते है। निमित्तादि हैं, इसीलिए निर्मलता होती है, ऐसा नही है। निर्मल पर्याय होने की योग्यता के काल मे यथार्थ उपदेश का निमित्तपना होता है; परन्तु उपदेश का निमित्तपना होता है और उपदेश सुनने के काल मे उस सबधी विकल्प होता है, इसीलिए ज्ञान होता है – ऐसा नही है।

निमित्तादि वस्तु के जन्मक्षण को उत्पन्न करनेवाले नही हैं। देखो ! वस्तु का जो जन्मक्षण है, वह जन्म से व्याप्त है। उत्पाद उत्पाद से व्याप्त है, व्यय व्यय से व्याप्त है और ध्रुव ध्रुव से व्याप्त है। प्रवचनसार ग्रथ मे यह बात है। प्रवचनसार तो दिव्यध्वनि का सारभूत है।

सर्वज्ञदेव परमात्मा का यह फरमान है कि – तुम हमारी वाणी सुनते हो, इसलिए तुम्हे ज्ञान की उत्पत्ति होती है – ऐसा नही है। भाई ! ज्ञान की उत्पत्ति का जन्मक्षण है, इसीलिए ज्ञान उत्पन्न होता है।

अमृतचन्द्राचार्यदेव ने भी प्रवचनसार के अन्त मे कहा है कि हे जीवो ! मैं समझानेवाला हूँ और तुम समझनेवाले हो – ऐसे मोह मे मत नाचो ! मैं प्रवचनसार ग्रथ का व्याख्याता हूँ – ऐसा मत मानो ! मैं तो ज्ञान मे ही हूँ, वाणी मे तो मैं आया ही नही। अतः मैं समझानेवाला हूँ – ऐसा नही है। साथ ही वाणी से मैंने समझाया है – ऐसा भी नही है।

यह दुनिया से बिल्कुल पृथक् बात है। भाई ! इसे अवश्य समझो ! ! तुम्हारा कल्याण होगा ! ! !

समयसार गाथा ५० से ५५

जीवस्स णत्थि वण्णो ण वि गंधो ण वि रसो ण वि य फासो ।
ण वि रूवं ण सरीरं ण वि संठाणं ण संहणणं ।।५०।।
जीवस्स णत्थि रागो ण वि दोसो णेव विज्जदे मोहो ।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ।।५१।।
जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई ।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभागठाणाणि ।।५२।।
जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बधठाणा वा ।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ।।५३।।
णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा ।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ।।५४।।
णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स ।
जेण दु एदे सव्वे पोग्गलदव्वस्स परिणामा ।।५५।।

नहिं वर्ण जीव के, गंध नहिं, नहिं स्पर्श, रस जीव के नहीं ।
नहिं रूप अर संहनन नहिं, संस्थान नहिं, तन भी नहीं ।।५०।।
नहिं राग जीवके, द्वेष नहिं, अरु मोह जीव के है नहीं ।
प्रत्यय नहीं, नहिं कर्म अरु नोकर्म भी जीव के नहीं ।।५१।।
नहिं वर्ग जीव के, वर्गणा नहिं, कर्मस्पर्द्धक है नहीं ।
अध्यात्मस्थान न जीव के, अनुभागस्थान भी हैं नहीं ।।५२।।
जीव के नहीं कुछ योगस्थान रु, बंधस्थान भी है नहीं ।
नहिं उदयस्थान न जीव के, अरु स्थान मार्गणा के नहीं ।।५३।।
स्थिति-बंधस्थान न जीव के, संक्लेशस्थान भी हैं नहीं ।
जीव के विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान भी है नहीं ।।५४।।
नहिं जीवस्थाम भी जीव के, गुणस्थान भी जीव के नहीं ।
—ये सब ही पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं, जानो यही ।।५५।।

जीवस्य नास्ति वर्णो नापि गंधो नापि रसो नापि च स्पर्शः ।
नापि रूपं न शरीरं नापि संस्थानं न संहननम् ।।५०।।

जीवस्य नास्ति रागो नापि द्वेषो नैव विद्यते मोहः ।
नो प्रत्यया न कर्म नोकर्म चापि तस्य नास्ति ।।५१।।

जीवस्य नास्ति वर्गो न वर्गणा नैव स्पर्धकानि कानिचित् ।
नो अध्यात्मस्थानानि नैव चानुभागस्थानानि ।।५२।।

जीवस्य न संति कानिचिद्योगस्थानानि न बंधस्थानानि वा ।
नैव चोदयस्थानानि न मार्गणास्थानानि कानिचित् ।।५३।।

नो स्थितिबंधस्थानानि जीवस्य न संक्लेशस्थानानि वा ।
नैव विशुद्धिस्थानानि नो संयमलब्धिस्थानानि वा ।।५४।।

ऐसे इन भावो का व्याख्यान छह गाथाओ मे करते हैं –

गाथार्थ :–[**जीवस्य**] जीव के [**वर्णः**] वर्ण [**नास्ति**] नही, [**न अपि गंधः**] गध भी नही, [**रसः अपि न**] रस भी नहीं [**च**] और [**स्पर्शः अपि न**] स्पर्श भी नही, [**रूपं अपि न**] रूप भी नही, [**न शरीरं**] शरीर भी नही, [**संस्थानं अपि न**] सस्थान भी नही, [**संहननम् न**] सहनन भी नही, [**जीवस्य**] जीव के [**रागः नास्ति**] राग भी नही, [**द्वेषः अपि न**] द्वेष भी नही, [**मोहः**] मोह भी [**न एव विद्यते**] विद्यमान नही, [**प्रत्ययाः नो**] प्रत्यय (आस्रव) भी नही, [**कर्म न**] कर्म भी नही [**च**] और [**नोकर्म अपि**] नोकर्म भी [**तस्य नास्ति**] उसके नही है, [**जीवस्य**] जीव के [**वर्गः नास्ति**] वर्ग नही, [**वर्गणा न**] वर्गणा नही, [**कानिचित् स्पर्धकानि न एव**] कोई स्पर्धक भी नही, [**अध्यात्मस्थानानि नो**] अध्यात्मस्थान भी नही, [**च**] और [**अनुभागस्थानानि**] अनुभागस्थान भी [**न एव**] नही है, [**जीवस्य**] जीव के [**कानिचित् योगस्थानानि**] कोई योगस्थान भी [**न संति**] नही [**वा**] अथवा [**बंधस्थानानि न**] वधस्थान भी नही [**च**] और [**उदयस्थानानि**] उदयस्थान भी [**न एव**] नही, [**कानिचित् मार्गणास्थानानि न**] कोई मार्गणास्थान भी नही है, [**जीवस्य**] जीव के [**स्थितिबंधस्थानानि नो**] स्थितिवधस्थान भी नही [**वा**] अथवा [**संक्लेशस्थानानि न**] संक्लेशस्थान भी नही, [**विशुद्धिस्थानानि**] विशुद्धिस्थान भी [**न एव**] नही [**वा**] अथवा [**संयमलब्धिस्थानानि**] सयमलब्धिस्थान भी [**नो**] नही है, [**च**] और [**जीवस्य**] जीव के

नैव च जीवस्थानानि न गुणस्थानानि वा संति जीवस्य ।
येन त्वेते सर्वे पुद्गलद्रव्यस्य परिणामाः ।।५५।।

यः कृष्णो हरितः पीतो रक्त श्वेतो वा वर्णः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यः सुरभिर्दु रभिर्वा गंध. स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूते-र्भिन्नत्वात् । यः कटुकः कषायः तिक्तोऽम्लो मधुरो वा रसः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यः स्निग्धो रूक्षः शीतः उष्णो गुरुर्लघुर्मृ दुः कठिनो वा स्पर्शः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यत्स्पर्शादिसामान्य-परिणाममात्रं रूप तन्नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूते-र्भिन्नत्वात् । यदौदारिक वैक्रियिकमाहारक तैजस कार्मणं वा शरीर तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् ।

[जीवस्थानानि] जीवस्थान भी [न एव] नही [वा] अथवा [गुणस्थानानि] गुणस्थान भी [न सति] नही है, [येन तु] क्योकि [एते सर्वे] ये सब [पुद्गलद्रव्यस्य] पुद्गलद्रव्य के [परिणामा.] परिणाम हैं ।

टीका :– जो काला, हरा, पीला, लाल और सफेद वर्ण है–वह सर्व ही जीव का नही है, क्योकि वह पुद्गलद्रव्य का परिणाममय होने से (अपनी) अनूभूति से भिन्न है ।। १ ।। जो सुगन्ध और दुर्गन्ध है – वह सर्व ही जीव का नही है, क्योकि वह पुद्गलद्रव्य का परिणाममय होने से (अपनी) अनु-भूति से भिन्न है ।।२।। जो कडुवा, कषायला, चरपरा, खट्टा और मीठा रस है – वह सर्व ही जीव का नही है, क्योकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाम-मय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ।।३।। जो चिकना, रूखा, ठण्डा, गर्म, भारी, हलका, कोमल अथवा कठोर स्पर्श है – वह सर्व ही जीव का नही है, क्योकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ।।४।। जो स्पर्शादि सामान्यपरिणाममात्र रूप है – वह जीव का नही है, क्योकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ।।५।। जो औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस अथवा कार्मण शरीर है – वह सर्व ही जीव का नही है, क्योकि वह पुद्गलद्रव्य के परि-णाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ।।६।। जो समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमडल, स्वाति, कुब्जक, वामन अथवा हुडक सस्थान है – वह

यत्समचतुरस्रं न्यग्रोधपरिमंडलं स्वाति कुब्जं वामनं हुंडं वा संस्थानं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यद्वज्रर्षभनाराचं वज्रनाराचं नाराचमर्धनाराचं कीलिका असंप्राप्तासृपाटिका वा संहननं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यः प्रीतिरूपो राग स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । योऽप्रीतिरूपो द्वेषः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यस्तत्त्वाप्रतिपत्तिरूपो मोहः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाम मयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । ये मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणाः प्रत्ययास्ते सर्वेऽपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यद् ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीयमोहनीयायुर्नामगोत्रांतरायरूपं कर्म तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यत्षट्पर्याप्तित्रिशरीरयोग्यवस्तुरूपं नोकर्म तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यः शक्तिसमूह-

---

सर्व ही जीव का नही है, क्योकि वह पुद्रगलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ।।७।। जो वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्द्ध नाराच, कीलिका अथवा असंप्राप्तासृपाटिका सहनन है – वह सर्व ही जीव का नही है; क्योकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ।।८।। जो प्रीतिरूप राग है – वह सर्व ही जीव का नही है; क्योकि वह पुद्गलपरिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ।।९।। जो अप्रीतिरूप द्वेष है – वह सर्व ही जीव का नही है; क्योकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ।।१०।। जो यथार्थतत्त्व की अप्रतिपत्तिरूप (अप्राप्तिरूप) मोह है – वह सर्व ही जीव का नही है, क्योकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ।।११।। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग जिसके लक्षण है, ऐसे जो प्रत्यय (आस्रव) है – वे सर्व ही जीव के नही हैं, क्योकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ।।१२।। जो ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायरूप कर्म है – वह सर्व ही जीव का नही है, क्योकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ।।१३।। जो छह पर्याप्तियोग्य और तीन शरीरयोग्य वस्तु – (पुद्गलस्कध) रूप नोकर्म है – वह सर्व ही जीव का नही है, क्योकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ।।१४।।

लक्षणो वर्गः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्य-नुभूतेर्भिन्नत्वात् । या वर्गसमूहलक्षणा वर्गणा सा सर्वापि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि मंदतीव्ररसकर्मदल-विशिष्टन्यासलक्षणानि स्पर्धकानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि स्वपरैकत्वाध्यासे सति विशुद्धचित्परिणामातिरिक्तत्वलक्षणान्यध्यात्मस्थानानि तानि सर्वा-ण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिरसपरिणामलक्षणान्यनुभागस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि कायवाङ् मनोवर्गणापरिस्पंदलक्षणानि योगस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिपरिणामलक्षणानि बन्धस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि

जो कर्म के रस की शक्तियो का (अर्थात् अविभागप्रतिच्छेदो का) समूहरूप वर्ग है– वह सर्व ही जीव का नही है, क्योकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाम-मय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ।।१५।। जो वर्गों का समूहरूप वर्गणा है – वह सर्व ही जीव का नही है, क्योकि वह पुद्गलद्रव्य के परि-णाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ।।१६।। जो मन्दतीव्ररस-वाले कर्मसमूह के विशिष्ट न्यास (जमाव) रूप (वर्गणा के समूहरूप) स्पर्धक हैं – वह सर्व ही जीव के नही हैं, क्योकि वह पुद्गलद्रव्य के परि-णाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ।।१७।। स्व-पर के एकत्व का अध्यास (निश्चय) हो तब (वर्तने पर), विशुद्ध चैतन्यपरिणाम से भिन्नरूप जिनका लक्षण है, ऐसे जो अध्यात्मस्थान हैं – वे सर्व ही जीव के नही है, क्योकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ।।१८।। भिन्न-भिन्न प्रकृतियो के रस के परिणाम जिनका लक्षण है, ऐसे जो अनुभागस्थान है – वे सर्व ही जीव के नही हैं, क्योकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं ।।१९।। काय, वचन और मनोवर्गणा का कम्पन जिनका लक्षण है, ऐसे जो योगस्थान – वे सर्व ही जीव के नही हैं, क्योकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ।।२०।। भिन्न-भिन्न प्रकृतियो के परिणाम जिनका लक्षण है, ऐसे जो बन्धस्थान हैं – वे सर्व ही जीव के नही हैं, क्योकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से

स्वफलसपादनसमर्थकर्मावस्थालक्षणान्युदयस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसयमदर्शनलेश्याभव्यसम्यक्त्वसंज्ञाहारलक्षणानि मार्गणास्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिकालांतरसहत्वलक्षणानि स्थितिबंधस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि कषायविपाकोद्रेकलक्षणानि संक्लेशस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि कषायविपाकानुद्रेकलक्षणानि विशुद्धिस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि चारित्रमोहविपाकक्रमनिवृत्तिलक्षणानि संयमलब्धिस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि पर्याप्तापर्याप्तबादरसूक्ष्मैकेंद्रियद्वीं-

---

(अपनी) अनुभूति से भिन्न है ।।२१।। अपने फल के उत्पन्न करने मे समर्थ कर्म-अवस्था जिनका लक्षण है, ऐसे जो उदयस्थान – वे सर्व ही जीव के नही हैं, क्योकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ।।२२।। गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, सज्ञा और आहार जिनका लक्षण है, ऐसे जो मार्गणास्थान है – वे सर्व ही जीव के नही हैं, क्योकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं ।।२३।। भिन्न-भिन्न प्रकृतियो का अमुक मर्यादा तक कालान्तर मे साथ रहना जिनका लक्षण है, ऐसे जो स्थितिबन्धस्थान है – वे सर्व ही जीव के नही है, क्योकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं ।।२४।। कषायो के विपाक की अतिशयता जिसका लक्षण है, ऐसे जो सक्लेशस्थान हैं – वे सर्व ही जीव के नही है, क्योकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ।।२५।। कषायो के विपाक की मन्दता जिनका लक्षण है, ऐसे जो विशुद्धिस्थान हैं – वे सर्व ही जीव के नही हैं, क्योकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ।।२६।। चारित्रमोह के विपाक की क्रमश निवृत्ति जिनका लक्षण है, ऐसे जो सयमलब्धिस्थान हैं – वे सर्व ही जीव के नही है, क्योकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं ।।२७।। पर्याप्त एव अपर्याप्त ऐसे बादरसूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय,

द्रियत्रींद्रियचतुरिंद्रियसञ्ज्यसज्ञिपंचेंद्रियलक्षणानि जीवस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्टचसंयतसम्यग्दृष्टि-संयतासयतप्रमत्तसंयताप्रमत्तसयतापूर्वकरणोपशमकक्षपकानिवृत्तिबादरसा-परायोपशमकक्षपकसुक्ष्मसापरायोपशमकक्षपकोपशान्तकषायक्षीणकषायस-योगकेवल्योगकेवलिलक्षणानि गुणस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्।

चतुरिन्द्रिय, सज्ञी-असज्ञी पचेन्द्रिय जिनका लक्षण है, ऐसे जो जीवस्थान हैं– वे सर्व ही जीव के नही हैं, क्योकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं ।।२८।। मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असयतसम्यग्दृष्टि, संयतासयत, प्रमत्तसयत, अप्रमत्त-सयत, अपूर्वकरण–उपशमक तथा क्षपक, अनिवृत्तिबादरसापराय–उपशमक तथा क्षपक, सूक्ष्मसापराय–उपशमक तथा क्षपक, उपशान्तकषाय, क्षीणकपाय, सयोगकेवली और अयोगकेवली जिनका लक्षण है, ऐसे जो गुणस्थान हैं–वे सर्व ही जीव के नही है, क्योकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं ।।२९।। (इसप्रकार ये समस्त ही पुद्गलद्रव्य के परिणाममय भाव हैं, वे सब जीव के नही हैं। जीव तो परमार्थ से चैतन्यशक्तिमात्र है ।)

गाथा ५० से ५५ तक की गाथाओ व उनकी टीका पर प्रवचन

भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ नित्यानन्द प्रभु ध्रुव है। उसमे ये समस्त चैतन्यशक्ति से शून्य परिणाम नही हैं। ये समस्त भाव पुद्गल-द्रव्य के परिणाममय हैं – यही छह गाथाओ मे कहा गया है।

(१) काला, पीला, लाल, हरा अथवा सफेद आदि वर्ण जीव के नही हैं, क्योकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने ने अनुभूति से भिन्न हैं।

ये वर्ण रूपगुण की पर्यायें होने से पुद्गलद्रव्य के परिणाममय हैं। भाषा तो देखो– 'पुद्गल के परिणाम' न कहकर 'पुद्गलद्रव्य के परिणाम-मय' कहा है। रूपगुण की ये सभी पर्यायें पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं। यहाँ जीवद्रव्य से भिन्न न कहकर अनुभूतिपर्याय से भिन्न कहा है। आशय यह है कि चैतन्यस्वभावी निज-आत्मा का अनुभव होने पर अनुभूति मे 'इस रूपगुण की पाँचो ही पर्यायो से मैं भिन्न हूँ' – ऐसा ज्ञान होता है।

पर्याय में स्वद्रव्य की ओर झुकने से जो अनुभूति होती है, उस अनुभूति से रूप की पर्यायें भिन्न रह जाती हैं। समयसार की ७३वी गाथा में 'सर्वकारको के समूह की प्रक्रिया से पार निर्मल अनुभूति का व्याख्यान है' – वह त्रिकाली शुद्ध अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा की बात है, परन्तु वह दूसरी बात है। यहाँ तो ऐसा कहा है कि पर से हटकर स्वद्रव्य में ढलने पर जो स्वानुभूति होती है, उससे रूप की पाँचो ही पर्यायें भिन्न है।

(२) जो सुगन्ध और दुर्गन्ध है, वह सर्व ही जीव का नही है; क्योकि वह पुद्‌गलद्रव्य का परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न है।

समयसार नाटक मे आता है कि मुनियो की श्वास सुगन्धमय होती है। जिनको बहुत निर्मलता प्रगट हुई है तथा जो अतीन्द्रिय आनन्द की मौज मे रहते हैं। वे दन्तमजन नही करते, तथापि उनके दाँत पीले नही पड़ते। निर्मलता की दशा मे मुनियो के श्वास में भी सुगन्ध आती है, तथापि उस सुगन्ध से आत्मा भिन्न है; क्योकि पुद्‌गलद्रव्य के परिणाममय होने से सुगन्ध या दुर्गन्ध गन्धगुण की पर्यायें हैं, अत. वे अनुभूति से भिन्न हैं। अर्थात् जब स्वरूप का अनुभव होता है, तब वह गन्ध से भिन्न हो जाता है। 'भिन्न है' ऐसा कब कहा जाय ? जब गन्ध से हटकर आत्मा की अनुभूति मे आवे, तब 'भिन्न है' – ऐसा यथार्थपने कहा जा सकता है।

(३) कड़वा, कषायला, खट्टा, चरपरा या मीठा रस जीव का नही है, क्योंकि वह पुद्‌गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न है।

(४) इसीप्रकार रूखा, चिकना, कड़ा, नरम, हल्का, भारी, ठडा, गरम आदि स्पर्श भी जीव के नही हैं; क्योंकि वे पुद्‌गलद्रव्य के परिणाममय होने से वे अनुभूति से भिन्न हैं।

(५) अब पाँचवें बोल मे उपरोक्त चारो ही बोलो को मिलाकर कहते हैं कि जो स्पर्शादि सामान्य परिणाममात्ररूप है, वह जीव का नही है; क्योकि वह पुद्‌गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न है।

(६) जो औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तेजस अथवा कार्माण शरीर हैं, वे सब जीव के नही हैं; क्योकि वे पुद्‌गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं।

देखो ! कार्माण शरीर भी जीव का नही है, जीव मे नही है, क्योकि वह जड़ के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न है, स्वतंत्र है। आत्मा व कर्म के निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध को भी यहाँ नही बताया गया है। यहाँ तो ऐसी शैली है कि पुद्‌गल के परिणाम को आत्मद्रव्य से भिन्न न

कहकर अनुभूति से भिन्न कहा है। जिसने पर से भिन्न होकर अनुभूति के द्वारा आत्मा को जाना है – उसके लिए ये सर्व 'पर' हैं।

सस्कृत टीका में 'अपनी अनुभूति' ऐसा पाठ नही है, परन्तु पण्डित जयचन्दजी ने 'अपनी अनुभूति' ऐसा लिखा है। इसलिए यहाँ 'अपनी' शब्द कोष्ठक मे लिखा है। अहाहा ! आत्मा अखण्ड, निर्मल, आनदस्वरूप वस्तु है और उसकी निर्मलदशा 'अनुभूति' है। पर से भेदज्ञान करके आत्म-सन्मुख होकर आत्मा को जानने से अनुभूति की निर्मलदशा प्रगट होती है। उस अनुभूति से कार्माण शरीर आदि भिन्न हैं – ऐसा यहाँ कहा है।

पञ्चाध्यायीकार ने नयाभास के प्रकरण मे ऐसा प्रश्न उठाया है कि शरीर व आत्मा के कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध तो नही है, परन्तु निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध तो है न ? इसके उत्तररूप मे ५७१वें श्लोक मे कहा है कि द्रव्य स्वय स्वत परिणमनशील है तो निमित्त का क्या काम है ? देखो भाई ! शरीर अपने कारण परिणमता है और आत्मा भी अपने कारण परिणमता है। द्रव्य स्वय परिणमनशील है, ऐसा वहाँ कहा है।

प्रश्न :– कभी उपादान से और कभी निमित्त से परिणमन होता है, ऐसा स्याद्वाद करो न ?

उत्तर :– भाई ! कार्य हमेशा निज-उपादान से ही होता है, निमित्त से कभी भी नही होता – ऐसा अस्ति-नास्तिरूप स्याद्वाद है। निमित्त तो परवस्तु है, उसका परिणमन उसके कारण व स्व का परिणमन स्व के कारण होता है, इसमे निमित्त का क्या काम है ?

प्रश्न :– यहाँ प्रश्नकार पुन प्रश्न करता है कि शरीर चलता है, उसमे आत्मा का निमित्त तो है न ?

उत्तर :– भाई ! निमित्त तो है, परन्तु निमित्त है, इसका अर्थ क्या ? क्या निमित्त है – इसलिए शरीर चलता है, परिणमता है ? तथा आत्मा की अनुभूति का परिणमन क्या शरीर से होता है ? यहाँ जो आत्मानुभूति हुई है, क्या वह कार्माण शरीर के उदय के अभाव के कारण हुई है ? नही, ऐसा है ही नही। प्रत्येक का परिणमन स्वतत्र है। प० बनारसीदासजी ने भी कहा है –

उपादान बल जहाँ तहाँ, नहि निमित्त को दाव।
एक चक्र सौं रथ चले, रवि कौ यहै स्वभाव॥

जहाँ अपना बल (उपादान शक्ति) है, वहाँ निमित्त क्या करे ? स्व व पर का एकपना तीनकाल मे भी नही होता, इसलिए निमित्त के

कारण अपने मे परिणमन होता है – ऐसा मानना ठीक नही है। शरीर का परिणमन जीव के निमित्त से या जीव की अनुभूति का परिणमन अन्य के निमित्त से नही हुआ है। शरीर की परिणति शरीर मे तथा आत्मा की परिणति आत्मा मे है। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है।

'किसीसमय निमित्त से व किसीसमय उपादान से कार्य होता है' – ऐसा भी स्याद्वाद का स्वरूप नही है। सर्वत्र व सदैव अर्थात् तीनलोक व तीनोकाल मे चैतन्य व जड का क्रमबद्धपरिणमन अपने-अपने उपादान से होता है, इसमे पर की रचमात्र भी अपेक्षा नही है। उपादान का परिणमन हमेशा निमित्त से निरपेक्ष ही होता है।

यहाँ तो कार्माण शरीर की बात कहना है। कार्माण शरीर के निमित्त से जीव मे रागादि परिणमन होता है और स्वानुभूति प्रगट होने के कारण कार्माण शरीर अकर्म अवस्थारूप परिणमित हो जाता है – ऐसा नही है। इन दोनो के बीच ऐसा कोई सम्बन्ध नही है। यहाँ कहते हैं कार्माण शरीरादि, जीव के नही है, क्योकि वे पुद्गलपरिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं। यहाँ आत्मा से भिन्न न कहकर अनुभूति से भिन्न कहा, क्योकि इन शरीरादि से भिन्न होकर निज चैतन्यस्वभावी आत्मा का लक्ष्य करने पर 'मैं देह से भिन्न हूँ' – ऐसा निज चैतन्यस्वरूप वस्तु का अनुभव होता है। भाई! बात बहुत सूक्ष्म है, पर समझने जैसी है।

देखो, परमाणु और आत्मा – दोनो स्वतन्त्र निर्बाध परिणमन-स्वभावी होने से निमित्त निरपेक्ष क्रमप्रवाहरूप से स्वत निरन्तर परिणमते रहते हैं। कालद्रव्य न हो तो परिणमन नही होता – ऐसा जहाँ कहा है, वहाँ तो (यथार्थ निमित्त का ज्ञान कराकर) कालद्रव्य को सिद्ध करने का प्रयोजन है। वस्तुत. तो सर्वद्रव्यो का स्वतन्त्र परिणमनस्वभाव है। कोई कहे कि कालद्रव्य परिणमन मे निमित्त तो है न? हाँ 'निमित्त है', निमित्त का कौन निषेध करता है? परन्तु सर्वद्रव्यो का परिणमन क्या कालद्रव्य के कारण है? नही, ऐसा नही है। प्रत्येक द्रव्य का परिणमन अपने-अपने उपादान के कारण ही होता है। प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वकाल मे क्रमश क्रमबद्धप्रवाहरूप से परिणमन करते है।

प्रवचनसार की गाथा ९३ मे द्रव्य के विस्तारसमुदाय तथा आयत-समुदाय की बात आती है। 'द्रव्य मे जो अनन्तगुण एक साथ हैं, वे विस्तारसमुदाय हैं' तथा 'क्रमप्रवाहरूप से दौडती हुई जो पर्याये है, वे आयतसमुदाय हैं।' पर्याये धारावाही दौडती हुई क्रमबद्धप्रवाहरूप से है।

अर्थात् पदार्थ मे पर्याय की उत्पत्ति होने का जो अपना स्वकाल है, उसमे वह होती है। निमित्त के कारण वे पर्यायें उत्पन्न नही होती। निमित्त, निमित्त मे है तथा उपादान, उपादान मे है। किसी काल मे भी यदि निमित्त के कारण उपादान मे परिणमन होवे तो 'क्रमप्रवाहरूप से उपादानवस्तु परिणमित होती है' – यह बात कहाँ रही ? प्रत्येक वस्तु मे पर्याय का क्रमबद्धप्रवाह होता है और बीच मे एकसमय का भी अन्तर नही पडता। उन पर्यायो के प्रवाहक्रम मे अपने-अपने स्वकाल मे पर्याय उत्पन्न होती हैं, उससमय निमित्त उपस्थित होता है, परन्तु वह कुछ करता नही है।

प्रत्येक द्रव्य की काललब्धि होती है। छहो द्रव्य काललब्धिसहित हैं अर्थात् द्रव्य मे जिससमय पर्याय होती है, वह समय ही उसकी काललब्धि है। उससमय यद्यपि निमित्त भी होता है, तथापि निमित्त के कारण पर्याय नही होती। पर्याय स्वकाल मे स्वय, स्वय के कारण ही होती है, निमित्त से नही – ऐसा कहना व मानना ही स्याद्वाद है।

जहाँ यह कहा हो कि दोनो कारणो से कार्य होता है, वहाँ निमित्त का ज्ञान कराने का प्रयोजन है – ऐसा समझना चाहिए। निश्चय से तो उससमय का कार्य स्वय से ही हुआ है। यह निश्चय रखकर, निमित्त का ज्ञान कराने के लिए जब व्यवहार से कहा जाता है कि दो कारणो से कार्य हुआ है, तब प्रमाणज्ञान होता है। प्रमाणज्ञान मे 'कार्य स्वय से ही होता है, यह निश्चय की बात रखकर, निमित्त का ज्ञान कराने के लिए निमित्त से होता है – यह कहा है। प्रमाणज्ञान मे निश्चय का निषेध करके निमित्त से कार्य होता है – ऐसा नही कहा। प्रमाणज्ञान की अपेक्षा भी जो परिणमन होता है, वह निश्चय से, स्व-आश्रय से, स्वय से ही होता है, यह बात रखकर प्रमाण का ज्ञान कराने के लिए निमित्त को शामिल किया है। जो निश्चय को छोड दे, उसे तो प्रमाणज्ञान ही सच्चा नही होता। निश्चय की बात तो जैसी है, वैसी (यथार्थ) रखकर प्रमाणज्ञान कराया है। उपादान के यथार्थ ज्ञानपूर्वक निमित्त का ज्ञान कराया है।

नयचक्र मे आता है कि 'प्रमाण पूज्य नही है, किन्तु निश्चयनय पूज्य है, क्योकि प्रमाण मे पर्याय का निषेध नही होता है।

प्रश्न :– निश्चयनय मे तो मात्र द्रव्य ही है, जबकि प्रमाणज्ञान मे द्रव्य-पर्याय – दोनो ही आते हैं, फिर प्रमाणज्ञान पूज्य क्यो नही है ?

उत्तर – क्योकि निश्चयनय मे पर्याय का निषेध है और स्व का आश्रय है। वह पर्याय के निषेधपूर्वक स्व का आश्रय करता है, इसकारण निश्चयनय पूज्य है।

प्रश्न:- यदि उपादान से ही कार्य होता हो तो इन प्रवचनो की, शिविरों की क्या आवश्यकता है ? परन्तु आप तो प्रवचन करते हो, शिविर लगाते हो; अतः आपके प्रवचन तो हमे समझने मे निमित्त हैं न ?

उत्तर:- भाई ! निमित्त तो है। जो 'हैं' उसका निषेध कौन कर सकता है ? परन्तु यहाँ बात तो यह है कि 'निमित्त कर्त्ता नही है।' शरीर के एक-एक रजकरण का उस-उस काल मे परिरणमन करने का स्वभाव है, इसलिए वह अपने कारण स्वकाल मे परिरणमन करता है; उसमे निमित्त को कुछ करने का अवसर ही कहाँ है ? शतरज के खेल मे जव दाव आता है, तव पासा फेकते हैं; परन्तु यहाँ तो निमित्त का कभी दाव ही नही आता। जैसे सूर्य का रथ एक पहिये से चलता है; उसीप्रकार प्रत्येक पदार्थ अकेले अपने परिरणमनस्वभाव से ही परिरणमन करता है। शरीर को अपने परिरणमन मे जीव की अपेक्षा नही है। जीव को भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धरत्नत्रय के परिरणमन मे पर की अपेक्षा नही है।

श्री नियमसार की दूसरी गाथा की टीका मे आता है कि 'निज परमात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप शुद्धरत्नत्रयात्मक मार्ग परम निरपेक्ष होने से मोक्ष का उपाय है।' इसप्रकार निश्चयमोक्षमार्ग को व्यवहार या निमित्त की अपेक्षा है ही नही। यह परम वीतरागी दिगम्बर सन्तो के शास्त्रो का कथन है, अतः परम सत्य है।

यहाँ कार्माण शरीर की वात चलती है। जो कर्म का उदय है - वह जड की पर्याय है, पुद्गल के परिरणाममय है; इसलिए वह भगवान आत्मा से भिन्न है - ऐसा कहते हैं। पाठ मे तो शरीर को आत्मा से भिन्न न कहकर अनुभूति से भिन्न कहा है, क्योकि राग, कर्म व शरीर की परिणति से लक्ष्य हटाकर एक चैतन्यस्वभावी आत्मा के लक्ष्य से जो अनुभूति प्रगट की है, उस अनुभूति से वे रागादि भिन्न हैं, ऐसा ज्ञान होता है। शरीरादि को कहा तो आत्मा से भिन्न ही है; परन्तु जव शरीरादि से भिन्न परिणति करे, तभी 'वे भिन्न हैं' ऐसा ख्याल मे आता है। अतः वे शरीरादि अनुभूति से भिन्न हैं, क्योकि भिन्नता का ज्ञान तो अनुभूति होने पर ही हुआ है।

औदारिक शरीर पुद्गलमय परिरणाम है। उसका क्षरण-क्षरण मे जो परिरणमन होता है, वह भी जड़ - पुद्गलमय है; वह जीवमय नही है, जीव के परिरणाममय भी नही है। शरीर के अन्दर आत्मा है; इसलिए आत्मा के कारण वह शरीर चलता है, परिरणमता है - ऐसा नही है। राग के कारण कर्मों को चारित्रमोहरूप परिरणमन करना पडता है - ऐसा

भी नही है। उससमय परमाणु मे उस रीति से परिणमन करने का स्वकाल है, इसलिए उससमय उस रीति से वह परिणमन करता है, उसमे राग की कुछ भी अपेक्षा या सहकार नही है। इसीप्रकार आहारक ऋद्धिधारी मुनि को प्रश्न पूछने का विकल्प आया, इसकारण आहारक शरीर बना – ऐसा भी नही है। उससमय आहारक शरीर बनने का स्वकाल था, इसलिए आहारक शरीर बना है। ऋद्धिधारी मुनि ने उसको बनाया – ऐसा कहना तो व्यवहार वचन है।

वैक्रियक शरीर अनेकरूप धारण करता है। उस वैक्रियक शरीर के परमाणुओ की पर्याय पुद्‌गलमय है। जीव की इच्छा के कारण शरीर अनेकरूप धारण नही करता। जिसक्षण जिसरूप से परिणमन का उनका स्वकाल है, उसरूप से वे शरीर स्वय परिणमन करते हैं। इसतरह औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तेजस तथा कार्माण – ये पाँचो ही शरीर जीव के नही हैं, क्योकि वे पुद्‌गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं। निज शुद्ध परमात्मा की अनुभूति मे वे भिन्न भासित होते हैं, अत वे जीव के नही हैं। पर से भिन्न होकर जब जीव आत्मानुभूति करता है, तब वे शरीर के परिणाम अनुभूति से भिन्न रह जाते हैं।

देखो ! औदारिक, वैक्रियक आदि शरीर, शरीररूप से हैं तो अवश्य, परन्तु वे सब जीव के नही हैं। जीव तो शरीररहित चैतन्यरूप से त्रिकाल है। विश्व मे अनत वस्तुएँ है। जो अनत हैं, वे अनतपने कब रहे ? जबकि वे एक दूसरे के कार्य को नही करें, तब ही वे अनतपने रह सकती हैं। एक दूसरे मे मिलें नही तो वस्तुएँ अनतपने रहे। जो एक से दूसरे का कार्य हो तो पृथक्‌पने अनत वस्तुएँ नही रह सकती। जो प्रत्येक वस्तु की परिणति स्वय से हो और दूसरे से न हो, ऐसी ही रहे तो ही अनत वस्तुओ की अनतपने से सिद्धि हो सकती है। इसकारण जीव और औदारिक आदि शरीर जैसे हैं वैसे पृथक्-पृथक् समझना चाहिए।

(७) जो समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, स्वाति, कुब्जक, वामन अथवा हुँडक सस्थान हैं, वे सर्व ही जीव के नही हैं, क्योकि वे पुद्‌गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न है।

समचतुरस्रसस्थानरूप जो शरीर का आकार है, वह भी पुद्‌गलमय परिणाम है। वह अपने स्वय के कारण से होता है, नामकर्म के उदय के कारण नही। अहाहा ! गजब बात है भाई ! जीव के पुण्य का उदय है, इसलिए उसके पास पैसा आता है – ऐसा भी नही है, क्योकि उदय का

परिणाम भिन्न है और जो पैसा आता है, उसकी परिणति भिन्न है। इसलिए कर्म के कारण पैसा आता है – यह बात यथार्थ नही है। साता के उदय के कारण अनुकूल सयोग मिलते है – ऐसा कहना भी कथनमात्र है, वस्तुस्वरूप ऐसा नही है। इसीप्रकार असाता के उदय के कारण शरीर मे रोग होते हैं – यह भी निमित्त का कथन है, व्यवहारवचन है। वस्तुत तो शरीर के परमाणुओ का रोग के रूप मे परिणमने का काल होने से वे परमाणु रोगरूप मे परिणमन करते हैं।

समचतुरस्र सस्थान की तरह न्यग्रोधपरिमण्डल, स्वाति, कुब्जक, वामन अथवा हुण्डक सस्थान आदि भी जीव के नही है, क्योकि ये पुद्‌गल-द्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न है। इस शरीर का जो आकार है – वह सब जड का आकार है, पुद्‌गल के परिणाममय है। आत्मा के कारण तो उनमे कुछ होता ही नही है, परन्तु पूर्वकृत शुभाशुभभावो से वधे हुए कर्मो के कारण भी उनमे कुछ नही होता। (क्योकि कर्म के परमाणु भिन्न सत्तावाले है और शरीर के परमाणु भिन्न सत्तावाले हैं।)

(८) जो वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलिका अथवा असप्राप्तासृपाटिका सहनन हैं, वे सर्व ही जीव के नही हैं; क्योकि वे पुद्‌गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न है।

अब संहनन अर्थात् हड्डियो की मजबूती की वात करते हैं। वज्रर्षभनाराचसहनन विना केवलज्ञान नही होता, ऐसा शास्त्र मे आता है, उसका क्या अर्थ है? अरे भाई! निश्चय से तो केवलज्ञान की पर्याय अपने कारण होती है, द्रव्य व गुण के कारण भी नही। उस पर्याय का परिणमन अपने षट्कारको से उस काल मे उसीरूप मे होने का है, इस-कारण होता है। वज्रर्षभनाराच सहनन है, इसलिए केवलज्ञान होता है – ऐसा नही है। कर्मभूमि की स्त्रियो के अंतिम तीन सहनन होते हैं और इसकारण उन्हे केवलज्ञान नही होता – ऐसा भी शास्त्र मे आता है, परन्तु वहाँ तो इस वात का ज्ञान कराया है कि स्त्रीपर्याय मे केवलज्ञान होने की योग्यता ही नही है। जब केवलज्ञान होने की योग्यता नही होती, तब निमित्त कैसा होता है? उसका वहाँ ज्ञान कराया है। स्त्री के शरीर के कारण साधुपना नही आता – ऐसा भी नही है, परन्तु जिसकी स्त्री-देह हो तो उसके आत्मा की परिणति मे छठवे गुणस्थान होने की योग्यता ही नही होती, ऐसा निमित्त का यथार्थज्ञान कराया है।

यद्यपि जिसे पूर्णज्ञान होता है उसके शरीर की दशा नग्न ही होती है, वस्त्रसहित मुनिपना आवे अथवा वस्त्रसहित केवलज्ञान हो – ऐसा वस्तु

का स्वरूप ही नही है, तथापि परद्रव्य के कारण केवलज्ञान – न होता है, न रुकता है। बडी विचित्र बात है! एक ओर तो ऐसा कहते है कि वस्त्र सहित को मुनिपना आता नही तथा दूसरी ओर यह कहते है कि परद्रव्य कुछ भी नुकसान (हानि) करता नही। भाई! मुनिपने की दशा सवर-निर्जरा की दशा है। जो सवर-निर्जरा की दशा है, उस काल मे वस्त्रादि ग्रहण करने का विकल्प हो ही नही सकता। इसकारण जिसको वस्त्र-ग्रहण का विकल्प है, उसको उस भूमिका मे मुनिपने की सभावना ही नही है। इसकारण जो कोई वस्त्रसहित होकर भी मुनिपना मानते हैं, उन्होने आस्रवसहित सातो ही तत्त्वो के समझने मे महान भूल की है। कुन्दकुन्द आचार्यदेव ने अष्टपाहुड मे कहा है कि वस्त्र का एक धागा भी रखकर जो कोई मुनिपना मानते है या मनवाते हैं, वे निगोद के पात्र है।

(९) जो प्रीतिरूप राग है, वह जीव का नही है, क्योकि वह पुद्गल-द्रव्य के परिणाममय है, इसलिए अनुभूति से भिन्न है।

दया, दान, व्रत, तप, भक्ति आदि शुभराग है – वे सभी जीव के नही हैं, क्योकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय हैं, इसकारण अनुभूति से भिन्न हैं। यहाँ कहते हैं कि जो महाव्रत के परिणाम है, वे पुद्गल के परिणाम हैं। यद्यपि आत्मा के स्वभाव मे तो ऐसा कोई गुण नही है जो रागरूप से परिणमन करता हो, तथापि पर्याय मे जो राग होता है, वह निमित्त के आधीन होने पर होता है। इसलिए जो राग होता है, उसको पुद्गलपरि-णाममय कहा है। इसकारण जो व्यवहाररत्नत्रय से निर्जरा होना मानते हैं, वे अचेतन पुद्गल से चैतन्यभाव होना मानते हैं, परन्तु यह भूल है।

चैतन्यस्वरूप ज्ञानपुंज प्रभु भगवान आत्मा आनन्द का कन्द है। प्रीतिरूप राग का अश भी उसके नही है, क्योकि राग पुद्गलपरिणाम-मय है। त्रिकाली शुद्धचैतन्य मे झुकी हुई अनुभूतिस्वरूप पर्याय से राग भिन्न रह जाता है। अहाहा! त्रिकाली शुद्ध-उपादान मे निमग्न हुई अनुभूति से सभी राग भिन्न रह जाता है। भाई! जिसे प्रीतिरूप राग से प्रेम है, मदराग से प्रेम है, उसे वस्तुत पुद्गल से ही प्रेम है, आनन्द के नाथ भगवान आत्मा से प्रेम नही है। जिसको शुभराग का प्रेम है, वह आत्मा के स्वरूप मे पहुँचा ही नही है, उसको आत्मा के प्रति अनादर है। यहाँ कहते है कि स्वद्रव्य के आश्रय से जो निर्मल अनुभूति प्रगट होती है, उस अनुभूति से शुभ और अशुभ सभी प्रकार का राग पररूप होने से भिन्न रह जाता है। इसकारण सभी प्रकार का राग जीव मे नही है।

प्रश्न :– राग को पुद्गलपरिणाममय कैसे कहा ? शास्त्र मे तो ऐसा आता है कि जीव को दसवे गुणस्थान तक राग होता है ?

उत्तर :– भाई ! राग है, किन्तु वह वस्तुस्वरूप की दृष्टि से देखने पर स्वभावभूत नही है। राग मे चैतन्य के नूर का अश भी नही है। चिन्मात्र-स्वरूप भगवान आत्मा अनन्तशक्तियो से मण्डित महिमावत पदार्थ है। यद्यपि उसमे एक भी शक्ति ऐसी नही है – जो राग उत्पन्न कर सके, विकार-रूप से परिणमे, तथापि पर्याय में जो राग होता है, वह पर्याय का धर्म है। निमित्त के आधीन होकर परिणमित हुई पर्याय मे राग होता है और स्वभाव के आधीन होने पर राग नही होता। स्वानुभूति होने पर वह आत्मा से भिन्न पड जाता है, इसलिए असख्यात प्रकार का शुभाशुभराग जीव का स्वभाव नही होने से तथा अनुभूति से भिन्न होने के कारण निश्चय से पुद्गलपरिणाममय कहा है, जिसे अशुद्धनिश्चयनय से जीव की पर्याय भी कहा जाता है। यहाँ जो अशुद्धनिश्चयनय है, वही व्यवहारनय है। पर्याय का यथार्थज्ञान कराने के लिए सिद्धान्त मे अशुद्धनिश्चयनय से अर्थात् असद्भूतव्यवहारनय से दसवे गुणस्थान तक जीव को राग होता है – ऐसा कहा है। वास्तव मे राग पररूप, अचेतन, जड, पुद्गलपरिणाममय है। यदि राग जीव का हो तो वह कभी भी जीव से भिन्न नही हो सकता। जीव को रागरहित निर्मल अनुभूति हो ही नही सकती। भाई, यह वीतराग सर्वज्ञ का मार्ग अद्भुत है ! इसे पूरी रुचि से समझना चाहिए।

(१०) जो अप्रीतिरूप द्वेष है, वह सर्व ही जीव का नही है, क्योकि वह पुद्गलपरिणाममय है, इसलिए अनुभूति से भिन्न है।

असख्य प्रकार के जो द्वेष के भाव है, वे सब जीव के नही हैं, क्योकि जब आत्मानुभूति होती है, तब द्वेषभाव अनुभूति से भिन्न रह जाते है। द्वेषभावो मे चैतन्य के ज्ञान का अंश भी नही है। इसकारण वे जीव से अन्य अजीव पुद्गलपरिणाममय हैं। यहाँ अजीव अधिकार चल रहा है। जीव तो चैतन्यमय चित्स्वरूप है, उस चैतन्यशक्ति का अश द्वेष मे नही है, इसलिए सभी द्वेष अचेतन – अजीव है।

(११) जो यथार्थतत्त्व की अप्रतिपत्तिरूप मोह है, वह सर्व भी जीव का नही है, क्योकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न है।

वास्तविक चिद्घनस्वरूप चिदानन्दमय आत्मा की विपरीत मान्यतारूप मोह आत्मा के नही है, क्योकि वह पुद्गलपरिणाममय होने

से अपनी अनुभूति से भिन्न है। अहाहा ! जिसने निजचैतन्यमय स्वद्रव्य का आश्रय लिया है, वह मिथ्यात्व के परिणाम से भिन्न पड जाता है, उसमे मिथ्यात्व का परिणाम नही रहता – ऐसा यहाँ कहते हैं। सभी प्रकार का मोह जीव का नही है, क्योकि चैतन्य की सत्ता मे उस मोह का प्रवेश ही नही है। शुद्ध चैतन्यस्वरूप का अनुभव करने पर सभी प्रकार के मिथ्यात्व का नाश हो जाता है। जगत मे तत्त्व के स्वरूप से विपरीत अनेक मिथ्या मान्यताएँ होती हैं। वे सब जड – पुद्गल के परिणाममय होने से स्वानुभूति से भिन्न हैं अर्थात् स्वानुभूति होने पर मिथ्या मान्यताओ का अभाव हो जाता है, इसलिए वे मिथ्याभाव जीव के नही हैं।

(१२) मिथ्यात्व, अविरति कषाय व योग जिसके लक्षण है – ऐसे जो प्रत्यय अर्थात् सभी प्रकार के आस्रवभाव जीव के नही है, क्योकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं।

अब आस्रव की बात करते हैं, यहाँ कषाय मे प्रमाद गर्भित हो जाता है। यहाँ मलिनपर्याय को – भावास्रव को पुद्गल के परिणाममय कहा है, क्योकि स्वय जीव जब चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा का आश्रय करता है, तब आस्रव का परिणाम अनुभूति से भिन्न रह जाता है। मिथ्यात्व तो वहाँ होता ही नही; किन्तु अन्य आस्रव भी भिन्न रह जाते है। यहाँ जड मिथ्यात्व की बात नही है, यहाँ तो मलिनपरिणामरूप आस्रव अर्थात् मिथ्यात्वभाव, अविरतिभाव, छट्ठे गुणस्थान का प्रमादभाव, कषायभाव और योग जीव के नही हैं, क्योकि वे अनुभूति से भिन्न है। यदि वे चैतन्य-स्वरूप जीव के परिणाम हो तो सदैव चैतन्य के साथ रहने चाहिये, परन्तु ऐसा नही है, क्योकि वे चैतन्य के अनुभव से भिन्न रह जाते है।

आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति भगवान है। उसके परिणाम ज्ञान व आनन्दमय ही होते हैं। चित्शक्ति जिसका सर्वस्व है – ऐसी चैतन्यमय वस्तु के परिणाम चैतन्य की जाति के ही होते हैं। शुद्ध चैतन्य-स्वभाव के आश्रय से उत्पन्न हुए परिणाम शुद्ध चैतन्यमय ही होते हैं।

मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवे अधिकार मे पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने ऐसा कहा है कि 'भावकर्म आत्मा का भाव है और वह निश्चय से आत्मा का ही है, परन्तु कर्म के निमित्त से होता है, इसकारण व्यवहार से उसको कर्म का कहते हैं।' तथा पञ्चास्तिकाय सग्रह मे भी भावकर्म आत्मा का है – ऐसा कथन है। जो भावकर्म होता है, वह अपना है और जो अपने से होता है, उसे कर्म का कहना तो निमित्त से – व्यवहार से कहा जाता

है; निश्चय से तो विकारी परिणाम जीव मे ही होते है और उनको जीव करता है। ऊपर कहे हुए इन दोनो शास्त्रो की शैली जुदी है। वहाँ इन शास्त्रो मे राग अपनी पर्याय मे होता है – यह ज्ञान कराने का प्रयोजन है। स्वभाव को पहिचाने बिना कोई ऐसा मान ले कि 'आस्रव के परिणाम जड के हैं, वे जड से होते है' तो उसको पर्याय का यथार्थज्ञान कराने के लिए वहाँ ऐसा कहा है कि भावकर्म जीव के परिणाम हैं, अन्यथा वह आस्रवो से निर्वृत्त होने का उपाय भी किसलिए करेगा ?

यहाँ इस गाथा मे कथन करने की अपेक्षा जुदी है। भावकर्मो को पहले आत्मा की अवस्था मे होते हैं, यह सिद्ध करके पश्चात् वे जीव के नही हैं – ऐसा कहा है। अहाहा ! आत्मा चैतन्यस्वरूप ज्ञायकस्वभावी सम्पूर्णरूप से अभेद चैतन्यदल है। ऐसी आत्मा का अनुभव करने पर आस्रव स्वपने अनुभव मे नही आते, अलग ही रह जाते है; इसलिए वे निश्चय से जीव के नही है। यहाँ दृष्टि की अपेक्षा से कथन किया है। भाई ! वीतराग परमेश्वर का मार्ग सूक्ष्म है। जहाँ जो शैली व अपेक्षा हो, उसे वहाँ यथार्थ समझना चाहिए।

समयसार की गाथा १६४-१६५ मे मिथ्यात्व के दो प्रकार कहे हैं। एक सज्ञ अर्थात् जीव-मिथ्यात्व (चैतन्य के विकार), दूसरे असज्ञ अर्थात् अजीव-मिथ्यात्व (पुद्गल के विकार), परन्तु वहाँ तो जीव के परिणाम जीव मे तथा जड के परिणाम जड मे इतना ज्ञान कराने के लिए यह कथन है। जबकि यहाँ तो कहते है कि चैतन्यस्वरूप त्रिकाली शुद्ध आत्मा के आस्रवपरिणाम नही है, क्योकि अनुभूति की पर्याय निज चैतन्यस्वभाव मे ढलने पर आस्रवभाव अनुभूति से भिन्न रह जाते है, अनुभव मे नही आते। भाई ! यह तो अन्तर के अनुभव की बात है। इसमे कोरी (मात्र) पण्डिताई या क्षयोपशमज्ञान से पार नहीं पडेगा।

अहाहा ! चैतन्यस्वरूपी जीववस्तु के मिथ्यात्वादि आस्रवभाव नही हैं, क्योकि चैतन्यस्वरूप भगवान की अनुभूति करने पर वे आस्रवादि जुदे रह जाते हैं। उन आस्रवो का अस्तित्व न हो – ऐसी बात नही है। उनका अस्तित्व है, तथापि उन आस्रवादि का अस्तित्व अजीव के समान है। आस्रव, जीव के सिद्ध नही होने से यह नही समझना कि वे पर्याय मे भी सर्वथा उत्पन्न ही नही होते। यद्यपि जैसे-जैसे गुणस्थान बढता है, आत्मविशुद्धि बढती है, वैसे-वैसे रागादि आस्रवभावो का भी क्रमश अभाव होता जाता है तथापि नीचे के गुणस्थानो मे यथासभव भूमिका

अनुसार वे उत्पन्न तो होते ही हैं। आत्मानुभव होने पर मिथ्यात्व का परिणाम तो उत्पन्न ही नही होता, किन्तु दूसरे अविरत आदि सम्बन्धी आस्रव तो हैं, परन्तु स्वरूप मे झुकी हुई अनुभूति से वे भिन्न ही रहते हैं। इसलिए वे जीव के नही हैं, पुद्गल के परिणाम है। अहो! वस्तु का स्वरूप!! अहो! समयसार!! इसमे कितना सार भरा है!

कोई-कोई ऐसा कहते है कि अकेला समयसार शास्त्र ही पढते है? पर भाई! इसमे दोष क्या है? समयसार नाटक मे पण्डित बनारसीदासजी ने अन्तिम प्रशस्ति मे स्वय लिखा है –

पाडे राजमल्ल जिनधर्मी, समैसार नाटक के मर्मी।
तिन गिरंथ की टीका कीनी, बालबोध सुगम कर दीनी ॥२३॥
इह विधि बोध वचनिका फैली, समै पाय अध्यातम शैली।
प्रगटी जगमाही जिनवाणी, घर-घर नाटक कथा बखानी ॥२४॥

जगत मे जिनवाणी का प्रचार हुआ और घर-घर समयसार नाटक की चर्चा होने लगी। इस ग्रन्थ की चर्चा फैली, इसका अर्थ यह तो नही कि अन्य शास्त्र ठीक नही हैं। जिन शास्त्रो का प्रचार कम हो, वे खोटे हैं – ऐसा अर्थ कहाँ से लाये? बापू! ऐसा अर्थ नही है। उसके आगे यह भी लिखा है कि रूपचन्दजी आदि पाँचो ही विवेकी पण्डित एक स्थान मे बैठकर परमार्थ की ही चर्चा करते थे, दूसरी कोई चर्चा नही करते थे। 'परमारथ चरचा करे, इनके कथा न और' इससे क्या यह एकान्त हो गया? परन्तु जिनकी बुद्धि ही मैली है, वे इस बात को नही समझ सकते। भाई! समयसार तो दिव्यध्वनि का सार है।

(१३) ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र व अन्तराय – ये आठ कर्म जीव के नही है, क्योकि वे पुद्गल-द्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

प्रश्न :– कर्म आत्मा को रोकता है – शास्त्रो मे ऐसा आता है न?

उत्तर :– आत्मा को कौन रोक सकता है? आत्मा स्वय विकारो मे रुकता है, तब 'कर्म रोकते है' – ऐसा कहा जाता है। कर्म तो जड हैं। क्या जड चेतन को रोक सकता है?

'कर्म विचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई'

भूल मेरी स्वय की ही है। 'अधिकाई' अर्थात् अधिक ऐसा अर्थ नही है, परन्तु अपनी भूल से विकार होता है – ऐसा अर्थ है। यहाँ तो

कहते हैं कि अन्दर अनुभूति होने पर विकार का परिणाम भिन्न रह जाता है, अनुभव मे नही आता । ऐसा अलौकिक जैन परमेश्वर का मार्ग लोगो ने लौकिक जैसा कर डाला है ।✓

प्रश्न :– जब ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम हो, तभी तो ज्ञान प्रगट हो ?

उत्तर :– नही, अपनी योग्यता से ही ज्ञान प्रगट होता है और उसी प्रकार अपनी योग्यता से ही आत्मा मे विकार होता है ।

प्रश्न :– जीव का स्वभाव तो केवलज्ञान का है, तथापि वर्त्तमान मे संसार-अवस्था है । अतः ज्ञान मे जो कमी है, वह कर्म के उदय के कारण है या कर्म के उदय बिना ही है ?

उत्तर :– वर्त्तमान संसार-अवस्था मे ज्ञान की जो कमी है, न्यूनता है, वह अपने कारण है, कर्म के उदय के कारण नही है । इसका उपादान-कारण स्वय आत्मा है । अपनी योग्यता से ही ज्ञान मे न्यूनता हुई है, कर्म के कारण नही । कर्म तो जड, अचेतन व परवस्तु है; इस कारण ज्ञाना-वरणादि कर्म आत्मा में कुछ भी नही करते । अपना अशुद्ध-उपादान है, इससे ज्ञान मे कमी व न्यूनता हुई है, कर्म तो वहाँ निमित्त मात्र है । कर्म रास्ता देवें तो क्षयोपशम हो – ऐसा नही है । अपनी योग्यता से अपने मे और कर्म के कारण कर्म में क्षयोपशम होता है । कर्मोदय के कारण ज्ञान हीन नही होता, किन्तु वह जब स्वय ज्ञान की हीनदशा के रूप मे परिणमित होता है, तब ज्ञानावरणीय कर्म निमित्तमात्र होते हैं ।

परन्तु यहाँ दूसरी बात है । यहाँ तो यह कहते हैं कि वस्तु जो शुद्ध चैतन्यस्वभावी आत्मा है, उसमे झुकने पर कर्म का परिणाम अनुभव मे नही आता, अनुभूति से भिन्न रह जाता है । कर्म का जो परिणाम है, वह जड़-पुद्गल से उत्पन्न हुआ है, इसकारण शुद्ध चैतन्यस्वभावी आत्मा से वह भिन्न है – यह बात तो अपनी जगह है; परन्तु यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि शुद्ध चैतन्यवस्तु का अनुभव करने पर उन कर्मो की ओर झुकने वाली विकारीदशा अनुभूति से भिन्न रह जाती है, इसलिये वे आठो ही कर्म जीव के नही हैं – ऐसा सिद्ध हुआ ।

६८वी गाथा मे कहा है कि जिसप्रकार जौ पूर्वक जौ ही उत्पन्न होता है, उसीप्रकार रागादिभाव भी पुद्गलकर्म की प्रकृति के उदय से होते हैं; अत. वे भी पुद्गल ही हैं । वहाँ अपेक्षा यह है कि जीव के स्वभाव मे विकार नही है तथा विकार उत्पन्न करे – ऐसी जीव मे कोई शक्ति

या स्वभाव नही है, तथापि पर्याय मे विकार है, सो इस विकार का कर्त्ता पुद्गल है। यहाँ तथा गाथा ६८ मे पर्यायबुद्धि छुडाने के लिए यहाँ तक कह दिया है कि चौदह गुणस्थान भी जीव के नही हैं।

मोक्षमार्गप्रकाशक मे आता है कि 'तत्त्वनिर्णय करने मे कर्म का तो कुछ दोष है नही, किन्तु तेरा ही दोष है। तू स्वय तो महत रहना चाहता है और अपना दोष कर्मों के माथे मढता है, परन्तु जिनआज्ञा माने तो ऐसी अनीति सभवे नाही।' देखो! विकार कर्म से होता है — ऐसा माननेवाले अनीति करते हैं और ऐसी अनीति तो जैनदर्शन मे सभवित नही है। मोक्षमार्गप्रकाशक मे कहा है कि विकार अपने अपराध से ही होता है, कर्म या निमित्त से नही होता। जबकि इस गाथा मे ऐसा कहा है कि जीव के विकार नही है, क्योकि स्वानुभूति करने पर विकार का परिणाम व उसका निमित्त कर्म – दोनो भिन्न रह जाते हैं। इसकारण आठो ही कर्म जीव के नही हैं। इस गाथा मे स्वभाव की दृष्टि कराने का मूल प्रयोजन है।

(१४) जो छहपर्याप्ति के योग्य व तीनशरीर के योग्य पुद्गल-स्कन्धरूप नोकर्म हैं, वे सभी जीव के नही हैं; क्योकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं।

आहार, शरीर, इन्द्रिय, भाषा, मन और श्वासोच्छ्वास – ये छह-पर्याप्तियो तथा तीन शरीर के योग्य जो पुद्गलस्कन्ध हैं, वे नोकर्म है; वे सब भी जीव के नही है; क्योकि वे पुद्गल के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं।

(१५) जो कर्म के रस की शक्तियो के समूहरूप वर्ग हैं, वे जीव के नही हैं, क्योकि वे पुद्गल के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं।

(१६) जो वर्गों के समूहरूप वर्गणायें हैं, वे जीव की नही हैं, क्योकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

(१७) जो मन्द-तीव्ररसवाले कर्मसमूहो के विशिष्ट न्यासरूप (जमावरूप – वर्गणाओ के समूहरूप) स्पर्धक हैं, वे जीव के नही हैं, क्योकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

जीव का स्वरूप तो सच्चिदानदशक्तिमय है। निजस्वरूप मे झुकाव करने पर परिणाम मे आनन्द का अनुभव आता है, परन्तु उसमे कर्मों के वर्गों एव वर्गणाओ के समूह का अनुभव नही आता। जड तो जीव से भिन्न ही है। कर्म के वर्ग व वर्गणायें सब पुद्गल है, इसकारण वे शुद्धचैतन्य से भिन्न ही हैं, परन्तु उनकी ओर के झुकाव का भाव भी स्वानुभूति से

भिन्न है। जड की ओर के झुकाववाली दशा स्वद्रव्य के झुकाववाले भाव से पृथक् हो जाती है, इसलिए स्पर्धक आदि भी जीव के नही हैं।

(१८) स्व-पर के एकत्व का अध्यास (निश्चय) हो, तब विशुद्ध चैतन्यपरिणाम से भिन्नरूप जिनका लक्षण है, ऐसे जो अध्यात्मस्थान हैं, वे सब ही जीव के नही है, क्योकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं।

स्व-पर के एकपने के अध्यासरूप परिणामो को अध्यात्मस्थान या अध्यवसाय कहते हैं। ये अध्यात्मस्थान भी विशुद्ध चैतन्यपरिणामो से भिन्नलक्षणवाले होने से जीव के नही हैं। अध्यात्मस्थान का अर्थ यहाँ आत्मा के स्थान नही लेना चाहिए। स्व-पर की एकताबुद्धि के अध्यवसाय को यहाँ अध्यात्मस्थान कहा है। वे सब अध्यात्मस्थान जीव के नही है। स्व-पर की एकताबुद्धिवाले जितने भी भाव है, वे सब जीव के नही है। विशुद्ध चैतन्यपरिणाम से अर्थात् स्व की एकता के परिणाम से स्व-पर की एकता का परिणाम भिन्न है।

वन्ध अधिकार के १७३वें कलश मे आता है कि – "मैं परजीव की रक्षा करूँ, उसके प्राणो का नाश करूँ, उन्हे सुख-दु ख दूँ – आदि जो अध्यवसायरूप स्व-पर की एकताबुद्धि है, वह मिथ्यात्व है, उसका भगवान ने निषेध किया है। इसकारण मैं (अमृतचन्द्राचार्य) ऐसा समझता हूँ कि पर के आश्रयभूत सम्पूर्ण व्यवहार छुडाया है।"

आचार्यदेव कहते है कि परवस्तुओ में जो अध्यवसान होता है, वह सब जिनेन्द्र भगवन्तो ने पूर्वोक्त रीति से त्यागने योग्य कहा है। इसकारण हम ऐसा समझते हैं कि पर के आश्रय से जितना भी व्यवहार होता है, वह सब भगवान ने छुडाया है। ये महाव्रत, समिति, गुप्ति, आदि के सभी विकल्प पर के आश्रय से सहित हैं, इसकारण यह व्यवहार भी छुडाया है। इसके बाद भी सत्पुरुष एक सम्यक्-निश्चय को ही निष्कम्पपने अगीकार करके शुद्धज्ञानघनस्वरूप निजमहिमा मे स्थिर क्यो नही होते ? आचार्य कहते हैं कि इसप्रकार देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का भाव, पचमहाव्रत का भाव व व्यवहाररत्नत्रय का भाव, ये सब त्याज्य हैं, फिर भी सन्तजन एक निजशुद्धचैतन्य मे ही लीन क्यो नही रहते ? अर्थात् निजचैतन्य मे ही लीन रहना चाहिए – ऐसी प्रेरणा की है।

'मैं पर को जीवित रख रखता हूँ, उसके प्राणो की रक्षा कर सकता हूँ, पर के प्राण हर सकता हूँ, अनुकूलता या प्रतिकूलता दे सकता हूँ, भूखो

को अनाज व प्यासो को पानी दे सकता हूँ, गरीबो के लिए रोटी-कपडा-मकान की व्यवस्था कर सकता हूँ' – इत्यादि नानाप्रकार के अहकार व ममकार की जो बुद्धि है, वह सब पर से एकताबुद्धिरूप अध्यवसाय है, मिथ्यात्व है। ऐसा पर के साथ एकताबुद्धि का भाव व अध्यवसाय निज-चैतन्यद्रव्य मे झुके हुये विशुद्ध चैतन्यपरिणाम से भिन्न है, क्योकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय हैं। बापू! 'मै पर को कुछ दे सकता हूँ' – यह बात ही झूठी है, क्योकि कोई पर का कुछ भी नही कर सकता है।

भगवान आत्मा शुद्धचैतन्यस्वभावी वस्तु है। उस एक के आश्रय से – स्वाश्रय से जो परिणाम होता है, वह विशुद्ध चैतन्यपरिणाम है। उस चैतन्य के परिणाम से ये सभी मिथ्या अध्यवसाय भिन्न हैं, जुदे है। जब चैतन्य के विशुद्ध परिणाम हो, तब स्व-पर की एकताबुद्धि का यह अध्यवसाय नही रहता है, ऐसा यहाँ कहा है। इसकारण सभी अध्यात्मस्थान भी जीव के नही है, क्योकि वे पुद्गलपरिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं। स्वानुभूति होने पर स्व-पर की एकताबुद्धि के सभी परिणाम भिन्न पडते है अर्थात् अभावरूप हो जाते हैं।

प्रश्न :– हे गुरुदेव! स्वरूप को समझने के सिवाय आप अन्य कुछ करने-धरने की बाते भी तो बताइये?

उत्तर :– भाई! स्वरूप की समझ बिना ही तो जीव अनन्तकाल से ससार मे परिभ्रमण कर रहा है। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी यही कहा है :–

सर्व जीव हैं सिद्ध सम, जे समझे ते पाय।
सद्गुरु आज्ञा जिनदशा, निमित्त कारण मांय ॥

इस बोल मे एक विशेषता है। दूसरे सब बोलो मे तो समुच्चयरूप से लिया है। जैसेकि सभी प्रकार का प्रीतिरूप राग है, वह जीव का नही है, क्योकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न है। इस बोल मे जो स्व-पर की एकताबुद्धि के भावरूप अध्यवसाय कहा, वह विशुद्ध चैतन्यपरिणाम से भिन्नलक्षणवाला है। यहाँ यह कहना है कि निजस्वरूप के आश्रय से जो विशुद्ध चैतन्यपरिणाम होता है, उसमे ये मिथ्या अध्यवसाय नही आते, उत्पन्न नही होते। तथा अध्यवसाय मे – स्व-पर की एकताबुद्धि के भाव मे विशुद्ध चैतन्यपरिणाम नही रहते, उत्पन्न होते। दूसरे बोलो की अपेक्षा इसमे यह विशेषता है कि स्व-पर की एकताबुद्धि मे चैतन्य के विशुद्ध परिणाम नही हैं और चैतन्य के विशुद्ध परिणाम होने पर स्व-पर की एकताबुद्धि नही रहती।

प्रश्न :– हे गुरुदेव ! हम गृहस्थ हैं, हमे व्यापार-धधा भी करना है, कुटुम्बादि का भरण-पोषण भी करना है, इज्जत-आबरू का भी ध्यान रखना पडता है । क्या आपके कहे अनुसार मात्र यही सब-कुछ समझते रहे ?

उत्तर :– भाई ! आत्मा का हित करने का, सुखी होने का तो एक-मात्र यही मार्ग है । "मैं पर का हिताहित कर सकूँ, व्यापार कर सकूँ, पैसा कमा सकूँ, पैसा रख सकूँ, दूसरे को पैसा दे सकूँ, स्वय उसको उपयोग कर सकूँ, कुटुम्ब का पोषण कर सकूँ, पर की दया पाल सकूँ, आबरु-इज्जत कमा सकूँ" – इत्यादिरूप जो स्व-पर की एकताबुद्धि का अध्यवसाय है; वह विशुद्धचैतन्य के परिणाम से विलक्षण है, जुदा है । इस मिथ्या अध्यवसाय की उपस्थिति मे शुद्ध चैतन्यपरिणाम उत्पन्न नही होता । यहाँ अध्यात्म-स्थान का अर्थ स्व-पर की एकताबुद्धि का अध्यवसाय है । ये अध्यवसाय विशुद्ध चैतन्यपरिणाम से जुदे हैं । अरे ! चेतन्यपरिणाम से भिन्नता ही उसका लक्षण है । बहुत सूक्ष्म बात है । अहो ! ऐसी बात दिगम्बर शास्त्रो के सिवाय अन्यत्र कही नही है ।

सभी अध्यात्मस्थान जीव के नही है, क्योकि वे विशुद्ध चैतन्य-परिणाम से भिन्नलक्षणवाले है । देखो ! विशुद्ध चैतन्य के परिणमन से अध्यात्मस्थानो को भिन्नलक्षणवाला कहा है । अभिप्राय यह है कि जब तक स्व-पर मे एकताबुद्धि बनी रहे, तब तक शुद्ध चैतन्य के परिणाम उत्पन्न नही होते और निज शुद्धात्मा के आश्रय से – स्वानुभूति प्रगट होने से पर मे एकताबुद्धि का परिणाम उत्पन्न नही होता ।

(१९) जुदी-जुदी प्रकृतियो के रस का परिणाम जिसका लक्षण है – ऐसे कर्मों के सभी अनुभागस्थान भी जीव के नही हैं, क्योकि वे पुद्गल-द्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।

अनुभागस्थान तो जडरूप हैं ही, किन्तु उनके निमित्त से आत्मा मे जो भाव उत्पन्न होते हैं; वे भी वस्तुत जीव के नही है । कर्म के अनुभाग के निमित्त से आत्मा मे जो परिणाम होते है, वे अनुभागस्थान हैं, परन्तु वे जीव के नही है । अकेले जड के अनुभागस्थानो की यह बात नही है । जीव की पर्याय मे कर्म के रस के निमित्त से जो भाव होते है, वे भी अनुभागस्थान हैं । वे भाव है तो अपनी पर्याय मे ही, किन्तु उन्हे भी यहाँ पुद्गलद्रव्य के परिणाममय कहा है । स्वभाव की दृष्टि से देखने पर स्वभाव, विकार के अनुभागरूप परिणमन करे – ऐसा ऐसा कभी होता ही नही है । आत्मा में ऐसी कोई शक्ति नही है, जो विकाररूप से परिणमन

करे। तथा निज आत्मद्रव्य का अनुभव करने पर, वे अनुभागस्थान अनुभूति से भिन्न रह जाते हैं, इसकारण सभी अनुभागस्थान जीव के नही है।

(२०) कायवर्गणा, वचनवर्गणा और मनोवर्गणाओ का कम्पन जिनका लक्षण है, ऐसे सभी योगस्थान भी जीव के नहीं हैं, क्योकि वे सर्व ही पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं।

इस बात का तीन प्रकार से विचार करते हैं।

प्रथम बात :– आत्मा मे जो योग का कम्पन है, उसे जीव के स्वभाव की अपेक्षा से पुद्गल का परिणाम कहा है। कम्पन है तो जीव की पर्याय, तथापि जीव के स्वभाव की दृष्टि से उसे पुद्गल का परिणाम कहा है।

दूसरी बात :– समयसार के सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार की ३७२वी गाथा मे आता है कि प्रत्येक द्रव्य का परिणाम स्वय से होता है। जैसे घडा मिट्टी (उपादान) से होता है, कुम्हार (निमित्त) से नहीं होता, उसी प्रकार जीवद्रव्य की कम्पन या राग की पर्याय उससमय स्वतत्रपने अपने कारण होती है, निमित्त के कारण नही। वहाँ अशुद्ध-उपादान से उत्पन्न हुई दशा अपनी है – ऐसा सिद्ध किया है। जबकि यहाँ शुद्ध-उपादान की दृष्टि से वह कम्पन का परिणाम पुद्गल का है, यह कहा गया है।

तीसरी बात :– स्वयभूस्तोत्र मे आता है कि बाह्य व अभ्यन्तर – दो कारणो से कार्य होता है, उसका अर्थ यह है कि कार्य तो वस्तुत अभ्यन्तर कारण से ही होता है, परन्तु कार्य के काल मे साथ मे परसयोगरूप से निमित्त कौन है? इसका ज्ञान करना वहाँ प्रयोजन है, इसलिए दूसरा बाह्यकारण भी कहा है। जैसे निश्चयस्वभाव का भान होने पर भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है, उसे निश्चयनय कहा तथा पर्याय मे जो अशुद्धता है, अपूर्णता है, उसके जानने को व्यवहारनय कहा। उसीप्रकार जीवद्रव्य मे कम्पन या राग की उत्पत्ति स्वत स्वय से होती है, पर से नही। यद्यपि वे परिणमन अपने ही है, तथापि बाह्यकारण से होते है, ऐसा कहना – यह निमित्त का ज्ञान कराने के लिए व्यवहार का कथन है। इसप्रकार जानने के लिए निमित्त का भी ज्ञान कराया है, क्योकि निमित्त जाना हुआ प्रयोजनवान है। व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है, ऐसा बारहवी गाथा मे कहा है न? ज्ञान का स्व-परप्रकाशक स्वभाव है। वह ज्ञान स्व को तो जानता ही है और पर – निमित्तो को भी जानता है। निमित्त से कार्य नही होता, परन्तु कार्य के काल मे निमित्त की उपस्थिति अवश्य है। इसकारण निमित्त जाना हुआ प्रयोजन-

वान है, आश्रय के लिए नही। बाह्यनिमित्त से राग उत्पन्न होता है या व्यवहाररत्नत्रय से निश्चयरत्नत्रय उत्पन्न होता है – ऐसा कहना व्यवहार है। निश्चय से तो निश्चयरत्नत्रय स्वद्रव्य के आश्रय से ही होता है।

यहाँ तो अकेली स्वभावदृष्टि की अपेक्षा से बात है। इसकारण राग के कम्पनरूप परिणाम को पुद्‌गल कहा है; क्योकि विभाव है, क्षणिक है, नाशवान है। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभावी ज्ञानानन्दस्वरूप वस्तु है, अतः उसका परिणमन भी अशुद्ध कैसे हो ? शुद्धचैतन्यमय वस्तु का परिणमन तो शुद्धचैतन्यमय ही होता है, अशुद्ध नही होता, इसलिए यहाँ अशुद्ध परिणमन को पुद्‌गल के परिणाममय कहा है। भाई ! यहाँ त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव की – शुद्ध-उपादान की दृष्टि कराने का प्रयोजन है।

समयसार की गाथा ३७२ मे जो विकारी अशुद्ध परिणाम होता है, वह जीव का जीव मे होता है; ऐसा कहा है। वहाँ उस-उस समय के पर्याय के जन्मक्षण की सिद्धि की है। रागादि विकार कर्म के निमित्त से उत्पन्न होते हैं, ऐसा नही है, परन्तु स्वय स्वय मे स्वतन्त्रपने होते है।

स्वयभूस्तोत्र मे भक्ति का अधिकार होने से श्री समन्तभद्रस्वामी ने निमित्त की बहिर्व्याप्ति सिद्ध करने के लिए कहा है कि 'अभ्यन्तर व बाह्यकारण की समग्रता कार्य की उत्पत्ति मे कारण है।' यद्यपि कार्य की उत्पत्ति का वास्तविक कारण तो स्व (अभ्यन्तरकारण) ही है, तथापि साथ मे जो निमित्त है, उसका ज्ञान कराने के लिए उसे सहचर देखकर, उपचार से आरोप करके, निमित्त से कार्य हुआ है – ऐसा व्यवहार-नय से कहा है। इससे ऐसा न समझना कि निमित्त आया, इसलिये कार्य हुआ है या निमित्त से कार्य हुआ है। पर्याय मे जो विकार होता है, वह क्या वस्तु है ? वह है तो अपना ही अपराध ! वह किसी निमित्त या कर्म द्वारा किया हुआ नही है। विकारी या निर्विकारी पर्याय स्वतन्त्रपने होती है और उस काल मे निमित्तरूप से दूसरी वस्तु भी मौजूद होती है।

जीव स्वयं (अशुद्ध-उपादानरूप से) विकार का कारण है, यही निश्चयकारण है। यहाँ तो शुद्धजीव विकार का कारण है ही नही, यह सिद्ध करना है। शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन निर्मल आनन्दप्रभु भगवान आत्मा मे ऐसा है ही क्या जो पुण्य-पाप को उत्पन्न करे ? अत. द्रव्य-स्वभाव की दृष्टि की अपेक्षा से विकार के परिणाम को पुद्‌गल का कहकर जीव मे से निकाल दिया है। परन्तु कोई ऐसा पकडकर (हठ करके) ही बैठ जावे कि विकारी पर्याय कर्म की है और कर्म के कारण है तो उसे ऐसा

कहा कि विकार जीव मे, जीव से, जीव के कारण होता है। भाई ! यदि तू 'पर्याय है' – इसे ही नही मानता है तो तू मूढ है और यदि तू मात्र पर्याय मात्र मे ही लीन है तथा स्वभावदृष्टि नही करता है तो भी तू मूढ है, मूर्ख है। इसकारण पर्याय की स्वतन्त्रता का निर्णय कराकर, पश्चात् त्रिकाल-स्वभाव की दृष्टि करने के लिये वह पुद्गल है – ऐसा कहा है।

प्रश्न – एक कार्य मे दो कारण होते है न ?

उत्तर – दो कारण होते हैं – यह बात तो बराबर है, परन्तु एक यथार्थ – वास्तविककारण है तथा दूसरा उपचरितकारण है। वास्तविक कारण तो सदा एक ही है। निश्चय से स्व-शक्तिरूप निज उपादान से कार्य होता है – इस बात को लक्ष्य मे रखकर, निमित्त मे कारण का उपचार करके, दो कारणो से कार्य होता है – ऐसा प्रमाणज्ञान कराया है। निश्चयकारण की बात रखकर ही प्रमाणज्ञान दूसरे निमित्तकारण को स्वीकार करता है, निश्चयकारण को उडाकर या निषेध करके नही। जो निश्चयकारण का लोप करे तो प्रमाणज्ञान ही न हो, दो कारण ही सिद्ध न हो।

यहाँ इस गाथा मे जीवस्वभाव का वर्णन चलता है। आत्मा के स्वभाव मे योग के कम्पन होने का कोई गुण नही है। इसकारण योग के कम्पन को पुद्गल के परिणाममय कहा है। इसी शास्त्र की गाथा ३७२ मे कहा है कि 'तदनुसार कम्पन का जो परिणाम है, वह स्वद्रव्य की जीव की अपनी पर्याय है।' वह स्वय से होती है, निमित्त से या वर्गणा से नही। जहाँ पर्याय क्रमवद्धरूप से स्वतन्त्रपने परिणमन करती है तो वहाँ पर – निमित क्या करे ? अपने परिणाम का उत्पादक पर है ही नही। वहाँ सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार मे परिणाम की स्वतन्त्रता सिद्ध की है और यहाँ त्रिकालीस्वभाव का परिणमन विकारी नही हो सकता, इसलिए योग के कम्पन को पुद्गलपरिणाममय बताकर स्वभाव की दृष्टि कराई है।

जहाँ दो कारण कहे है, वहाँ जो निश्चय – उपादानकारण है, उसे ध्यान मे रखकर व्यवहारकारण को सम्मिलित किया है, निश्चयकारण की उपेक्षा करके या निषेध करके व्यवहारकारण को स्थापित नही किया। निश्चय से योग का कम्पन जीव का ही है और जीव से ही होता है – यह बात रखकर निमित्त को स्थापित किया है, निश्चय को उडाकर जो निमित्त को स्थापित करे तो दोनो ही कारणो का यथार्थज्ञान प्रमाणिक नही होगा। भाई ! जैसे व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है, उसीप्रकार 'यह निमित्त भी है' – ऐसा जानना प्रयोजनवान है। निमित्त से कार्य नही होता, परन्तु कार्य मे अन्य पदार्थ निमित्त है–ऐसा जानना प्रयोजनवान है।

जिसप्रकार जो निश्चयमोक्षमार्ग है—वही मोक्ष का कारण है, क्योकि मार्ग तो एक ही है, परन्तु साथ मे देव-शास्त्र-गुरु आदि के राग को सहचर देखकर, मोक्षमार्ग का निमित्त जानकर व्यवहारमोक्षमार्ग कहा है। उसीप्रकार निमित्त है अवश्य, परन्तु वह उपादान मे कुछ भी नही करता। अहो ! वस्तु का सत्यस्वरूप ही ऐसा है। इसमे कोई करे क्या ?

निश्चय से प्रत्येक द्रव्य की पर्याय अपने-अपने 'जन्मक्षण' (जो उत्पत्ति का काल है, उसी काल मे) होती है—यह निश्चय है, यथार्थ है। अब इस निश्चय को यथार्थपने रखकर दूसरी वस्तु का—निमित्त का ज्ञान कराने के लिए दो कारण उपचार से कहे हैं। दूसरे प्रकार से कहे तो प्रमाण स्वय व्यवहार का विषय है, क्योकि वह भी दो मिलकर हुआ है न ? कार्य का निश्चयकारण स्व और उसका निमित्त पर, इसप्रकार प्रमाण दो मिलकर बना; इसलिये वह व्यवहार का विषय ही हो गया। एक वस्तु के ज्ञान मे, दूसरी वस्तु का भी साथ मे ज्ञान किया अर्थात् दोनो का एकसाथ ज्ञान किया; अत· प्रमाणज्ञान हुआ। इसप्रकार प्रमाणज्ञान सद्भूत-व्यवहारनय का विषय हुआ। पचाध्यायी मे भी इसीप्रकार कहा है।

'आत्मा राग को जानता है'—यह कथन उपचरितसद्भूतव्यवहार-नय से है। जानना स्वय मे है, इसलिये सद्भूत और स्वयं को ही जानता है, तथापि राग को जानता है—ऐसा कहना उपचार है। 'ज्ञान वह आत्मा'—ऐसा भेद डालना, अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय से है।

अहो ! देखो, आचार्यों ने कैसी स्पष्टता की है। प्रमाणज्ञान स्व-द्रव्य और रागरूप परद्रव्य—दोनो को एक साथ जानता है। अत प्रमाण-ज्ञान स्वय ही सद्भूतव्यवहार का विषय हो गया। वस्तुस्थिति ही ऐसी है। वापू ! यह किसी के घर की वात नही है, अपितु वस्तु के घर की वात है।

यहाँ कहते है कि कायवर्गणा, वचनवर्गणा और मनोवर्गणा के निमित्त से आत्मा मे जो कम्पन होता है, वह पुद्गल का परिणाम है। यहाँ भी जो कम्पन की बात है, वह जडवर्गणाओ के कम्पन की वात नही है। मन-वचन-काय के परमाणु तो जड है ही, परन्तु यहाँ तो उनके निमित्त से आत्मा मे हुए कम्पन के परिणाम को जड कहा है। योग का जो कम्पन है, वह जीव की पर्याय है तथा वह पर्याय अपने से उस काल मे स्वय के ही जन्मक्षण मे होती है। वह जडवर्गणा से नही हुई है, परन्तु वह जीव के स्वभाव से हुई हो—ऐसा भी नही है। इसकारण निमित्त के होने पर जीव मे हुये कम्पन को पुद्गल का परिणाम कहा है।

इसप्रकार तीन तरह से कथन किया है –

(१) विकारी भाव जो जीव मे होते हैं, वे निश्चय से जीव की स्वय की पर्यायें हैं।

(२) विकारी भाव मे कर्म निमित्त है– ऐसा (निमित्त-उपादान के साथ) ज्ञान करना प्रमाणज्ञान है। विकारीभाव निश्चय से जीव की पर्याय है – ऐसा निश्चय रखकर साथ मे निमित्त का ज्ञान करना प्रमाण-ज्ञान है। यह भी उपचरित-सद्भूतव्यवहार है।

(३) भगवान आत्मा जो अनन्त-अनन्त गुणो से परिपूर्ण शुद्ध चैतन्यदल, चैतन्यरस का सम्पूर्ण त्रिकाली सत्त्व है, वह कभी भी विकाररूप से परिणमित नही होता, इसलिये निमित्त से हुए विकार को निमित्त मे डालकर पुद्गल का परिणाम कहा है। भाई! यह कोई कोरी पण्डिताई का विषय नही है। भगवान वीतरागदेव का मार्ग जैसा है, वैसा अन्दर मे बैठना चाहिये।

श्री वासुपूज्य भगवान की स्तुति करते हुये स्वयभूस्तोत्र मे श्री समन्तभद्राचार्य ने कहा है कि कार्यों मे बाह्य व अभ्यन्तर (निमित्त व उपादान) दोनो कारणो की समग्रता होना आपके मत मे द्रव्यगत स्वभाव है। श्री अकलकदेव ने भी कहा है कि दो कारणो से कार्य होता है– यहाँ भी दोनो कारण – निमित्त व उपादान सिद्ध करना है तथा प्रमाण का ज्ञान कराना है, इसलिए ऐसा कहा है।

वास्तव मे तो जो कार्य होता है, वह स्वय से स्वय के कारण ही होता है तथा उस काल मे निमित्त भी होता तो अवश्य है, परन्तु कार्य होने मे निमित्त की अपेक्षा नही होती। श्री पचास्तिकाय की ६२वी गाथा मे आता है कि पर्याय मे जो विकार होता है, वह अपने षट्कारको से होता है। द्रव्य व गुण से तो नही, परन्तु निमित्त से भी नही होता। यहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध करना है। इसकारण जो विकार है, वह पर्याय के षट्कारक का परिणमन है– ऐसा कहा है। अहाहा! विकार का कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधि-करण स्वय विकार है। एकसमय की पर्याय मे षट्कारक का परिणमन द्रव्य व गुण की या परनिमित्त की अपेक्षा बिना ही होता है। इसप्रकार वहाँ निश्चय से विकार के परिणमन मे अन्य कारको की अपेक्षा नही है– ऐसा कहा है।

यहाँ स्वभाव की दृष्टि कराना है – इसकारण ऐसा कहा है कि विकार का परिणाम पुद्गल का है।

जहाँ दो कारण कहे वहाँ निश्चय से तो पर्याय स्वयं से ही अपने षट्कारको से होती है, परन्तु साथ ही निमित्त होता है, उसे मिलाकर प्रमाणज्ञान कराया है। भाई! वास्तव मे तो कारण एक ही है। जैसे – मोक्षमार्ग एक ही है। मार्ग कहो या कारण कहो – दोनो का एक ही अर्थ है। अर्थात् जैसे मोक्ष का कारण एक ही है, उसीतरह पर्याय का कारण भी निश्चय से एक ही है। प्रभु! सत्य तो ऐसा ही है। जो इसमें कोई फेरफार करेगा तो सत् का विनाश होगा। भाई! वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है और यथार्थपने ऐसा ही समझ मे बैठना चाहिए।

योगस्थान अर्थात् कम्पन। यह जीव के योगगुण की विकारी पर्याय है। यह कर्म-ग्रहण मे निमित्त है, कर्म परमाणुओ का आना तो उनके स्वय के उपादान के कारण से होता हैं। परमाणुओ का भी उससमय उसी रीति से परिणमन करने का काल है, इसकारण उसी रीति से कर्मरूप परिणमन करते है। उस परिणमन मे योग का निमित्त कहना, व्यवहार है। यहाँ योग का परिणाम आत्मा का नही, किन्तु पुद्गल का है – ऐसा जो कहा है, वह स्वभाव की दृष्टि कराने के लिए कहा है। योग के कम्पन का विकारी परिणाम, स्वभाव से उत्पन्न नहीं होता। इसकारण स्वभाव की दृष्टि कराने के लिए, पर्याय में जो परलक्ष्य से विकार होता है उसको पर मे डालकर, पुद्गल का परिणाम है – ऐसा कहा है। भाई! वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है।

प्रश्न :– कार्य तो दो कारणो से होता है और तुम एक कारण से मानते हो; इसलिए एकान्त हो जाता है।

उत्तर :– भाई! समयसार की गाथा ३७२ मे आता है कि "मिट्टी घटभावरूप से उत्पन्न होती हुई कुम्भकार के स्वभाव से उत्पन्न होती है या मिट्टी के स्वभाव से? यदि कुम्भकार के स्वभाव से उत्पन्न होती हो तो जिसमे घट को बनाने के अहंकार से भरा हुआ पुरुष विद्यमान है और जिसका हाथ (घड़ा बनाने का) व्यापार करता है, ऐसे पुरुष के शरीराकार घट होना चाहिए, परन्तु ऐसा तो नही होता, क्योकि अन्य द्रव्य के स्वभाव से किसी द्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखने में नही आता। यदि ऐसा है तो फिर मिट्टी कुम्भकार के स्वभाव से उत्पन्न नही होती है, परन्तु मिट्टी के स्वभाव से ही उत्पन्न होती है, क्योकि अपने स्वभावरूप से द्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखा जाता है।"

इसप्रकार घडा मिट्टी से हुआ है, कुम्भकार से नही। निमित्त से कार्य हुआ है – ऐसा हमे दिखाई नही देता। भले ही कुम्भकार 'घडा मैं करता हूँ' ऐसे अहकार से भरा हो, तथापि उसका स्वभाव कही घडे मे आता-जाता या पसरता नही है, अन्यथा कुम्भकार के स्वभाव से घडा होता हुआ दिखाई देना चाहिए, परन्तु घडा तो मिट्टी के स्वभाव से ही होता है, कुम्भकार के स्वभाव से नही। इसलिए घडा मिट्टी का ही है, कुम्भकार का नही है। परन्तु जहाँ दो कारण कहे हैं, वहाँ जो वास्तविक कारण तो नही है, परन्तु उपचारमात्र कारण है; उसे सहकारी देखकर उस काल मे वह होता है – ऐसा जानकर, दूसरा कारण यह भी है – ऐसा कहा है। इस-प्रकार दो कारणो से कार्य होता है, यह व्यवहार कथन किया है। ऐसी वस्तुस्थिति है। वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म है और गहन है।

(२१) भिन्न-भिन्न प्रकृतियो के परिणाम जिनके लक्षण हैं – ऐसे जो बन्धस्थान है, वे जीव मे नही हैं, क्योकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं। जितने प्रकार के बन्ध के परिणाम उत्पन्न होते हैं, वे सभी पुद्गलद्रव्य के परिणाममय है, इसलिए वे अनुभूति से भिन्न हैं।

(२२) अपना फल उत्पन्न करने मे समर्थ कर्म-अवस्था जिसका लक्षण है, ऐसे उदयस्थान भी जीव के नही है, क्योकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं।

यह पर्याय मे हुए विकारी भावो की बात है, कर्मों की नही। जिसको जीव अर्थात् द्रव्यस्वभाव कहते है, उस द्रव्यस्वभाव के ये उदयस्थान नही हैं। जीव की पर्याय मे उदय के जो असख्यप्रकार बनते है, वे सब जीव के नही है। चार गति, क्रोध-मान-माया-लोभ आदि जितने उदय के प्रकार है, वे सब परमस्वभावभावरूप भगवान आत्मा के नही हैं, इसलिए उन सब उदयस्थानो को पुद्गलपरिणाममय कहा है। वैसे तो उदय के स्थानो का भाव जीव की स्वय की पर्याय है और वह कर्म के निमित्त की अपेक्षा बिना स्वय से हुई है, परन्तु जिसे परमस्वभावभावरूप भगवान की दृष्टि हुई है – ऐसे धर्मी जीव को उदय के स्थान पर्याय मे है, परन्तु द्रव्यदृष्टि से वे उसके नही है। वे उदयस्थान जीव मे से निकल जाते हैं, इसलिए भी उन्हे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय कहा है।

उदय के – विकार के जितने प्रकार हैं; वे सब निश्चय से तो जीव से हुए हैं, कर्म से नही, क्योकि कर्म तो परद्रव्य हैं, वे जीव को छूते ही नही हैं, तो फिर उनसे उदयभावरूप विकार कैसे हो ? तत्त्वार्थसूत्र मे भी

उदयभाव जीव के स्वतत्त्वरूप कहे है, क्योकि वे जीव की पर्याय में उसकाल मे स्वय से उत्पन्न होते है, परन्तु यहाँ पुद्गल के परिणाममय कहा है, क्योकि त्रिकालीस्वभाव मे विकार उत्पन्न करने का कोई गुण नही है। अत· त्रिकालीस्वभाव की दृष्टि से निमित्त के आधीन हुए भाव निमित्त के हैं – ऐसा कहा है, परन्तु इसकारण ऐसा नही समझ लेना कि उदयभाव निमित्त से होते है। निमित्त उपचारमात्र है, यथार्थकारण तो उपादान है।

उदयस्थान जीव के परिणाम है, परन्तु इस गाथा मे वे शुद्धजीव के नही है – ऐसा कहा है, वह स्वभाव की अपेक्षा से कहा है। आत्मा त्रिकाली शुद्ध चैतन्यस्वभावमय है। उस चैतन्यस्वभाव की दृष्टि होने पर विकार का परिणाम नही होता, इसकारण पुद्गल का परिणाम कहा है। वस्तु का स्वरूप जैसा है, वैसा यथार्थ समझना चाहिए।

(२३) गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, सज्ञा और आहार जिनका लक्षण है; ऐसे जो मार्गणास्थान – वे सर्व ही जीव के नही है, क्योकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न है।

अब मार्गणास्थानो की बात कहते है। उसमे पहले गति की बात है। गति का परिणाम तो जीव का है, यह शरीर गति नही है। अन्दर गति का जो विशेषभाव – उदयभाव है, वह गति है। मनुष्य, देव, तिर्यञ्च और नरकगति के परिणाम जीव के है, परन्तु वे विकारी परिणाम होने से त्रिकालीस्वभाव की दृष्टि होने पर छूट जाते है, इसलिए वे परिणाम पुद्गल के है – ऐसा कहा है। यहाँ सभी चौदह मार्गणास्थानो को पुद्गल का परिणाम कहा है। भाई! आत्मा वस्तु तो शुद्ध परमात्मस्वरूप चिद्घन है, अनादि-अनन्त है, एकसमय मे परिपूर्णस्वरूप प्रभु है, वस्तु तो वर्तमान मे पूर्ण है। अहाहा! अकेला स्वभाव का पिण्ड – ऐसे स्वभाव की दृष्टि मे गति के विकारी परिणाम पुद्गल के हैं, क्योकि वे परिणाम निकल जाते है, सदैव रहनेवाले नही है। पर्याय मे जो विकारी परिणाम उत्पन्न होते है, वे द्रव्य या गुण से उत्पन्न नही होते। अहो! वीतरागदेव का मार्ग अद्भुत और अलौकिक हैं।

अब भावेन्द्रियाँ और द्रव्येन्द्रियाँ – सभी पुद्गल के परिणाम है, यह कहते है। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय महाप्रभु है। उसकी अपेक्षा भावेन्द्रियो को भी पुद्गल का परिणाम कहा है। ये इन्द्रियाँ तो जड – पुद्गलरूप ही है, परन्तु भावेन्द्रियाँ पर्याय अपेक्षा तो जीव के ही परिणाम हैं।

द्रव्यदृष्टि से देखने पर भावेन्द्रियाँ त्रिकाली अतीन्द्रियस्वभाव मे नही हैं और वे निकल जाती हैं, सदैव नही रहती, इसलिए भावेन्द्रियो को पुद्गल का परिणाम कहा है। दूसरे प्रकार से कहे तो भावेन्द्रियो का परिणाम तो स्वय से ही है, जिसमे कर्म के क्षयोपशम का निमित्तपना है। इसप्रकार भावेन्द्रिय के परिणाम दो कारणो से होते है – जहाँ ऐसा कहा, वहाँ प्रमाण का ज्ञान कराने के लिए कहा है, निमित्त का ज्ञान कराने के लिए कहा है। गजब बात है! शास्त्र की शैली कोई ऐसी अनोखी है कि चारो ओर से मेल खाता है। अहो! अद्भुतधारा बहती है!!

इसी शास्त्र की ३१वी गाथा मे आया है कि भावेन्द्रियाँ खण्ड-खण्डज्ञान को जनाती हैं, पूर्ण आत्मा को नही, इसकारण वे परज्ञेय है। भावेन्द्रियो का विषय जो खण्ड-खण्डज्ञान है, वह ज्ञायक की अपेक्षा परज्ञेय है। इन्द्रियो को जीतना – इसका क्या तात्पर्य है ? तो कहते हैं –(१) खण्ड-खण्डज्ञानरूप भावेन्द्रियाँ (२) जडरूप द्रव्येन्द्रियाँ (३) और उनके विषय देव-शास्त्र-गुरु आदि – ये सब परज्ञेय हैं, इन तीनो को जीतना अर्थात् उनसे भिन्न एक ज्ञायकभाव को जानना ही इन्द्रियो को जीतना है।

अब काय की बात करते हैं। यहाँ बाह्य शरीर की बात नही है, परन्तु अन्दर की योग्यता की बात है। यह काय जीव की नही है, क्योकि वह पुद्गल के परिणाममय है।

अब योग अर्थात् मन-वचन-काय के निमित्त से जो अन्दर आत्मा मे योग की क्रिया या कम्पन होता है, वह जीव का नही है, क्योकि वह पुद्गल-द्रव्य के परिणाममय है। यह बात पहले विस्तार से आ गई है।

इसीप्रकार पुरुष आदि वेद के जो परिणाम हैं, वे सब जीव के नही है, क्योकि वे पुद्गल के परिणाम है। जो तीन प्रकार के वेद के परिणाम होते हैं, वे उनके 'जन्मक्षण' मे होते हैं, इसकारण स्वय से होते हैं। उन्हे जिसप्रकार पर की अपेक्षा नही है, उसीप्रकार द्रव्य-गुण की भी अपेक्षा नही है। द्रव्य-गुण की अपेक्षा उन्हे क्यो हो ? क्योकि द्रव्य-गुण तो शुद्ध हैं और पर की अपेक्षा भी क्यो हो ? क्योकि पर तो भिन्न है। तो फिर दो कारण कैसे कहे हैं ? यह तो प्रमाण का ज्ञान कराने के लिए कहा है। तथा जो वासना उत्पन्न होती है, वह है तो जीव की पर्याय, परन्तु त्रिकाली द्रव्यस्वभाव मे वह नही है तथा स्वभाव की दृष्टि करने पर वह परिणाम जीव मे से निकल जाता है, इसकारण उस वासना के परिणाम को यहाँ पुद्गल का परिणाम कहा है।

दूसरे प्रकार से कहे तो वेद के भावरूप जो विकारी वासना होती है, उसका अशुद्ध-उपादान तो स्वय ही है तथा जड वेद का उदय, उसमे निमित्त है। यहाँ उपादान कारण के साथ ही औपचारिक कारण जो निमित्त है, उसको मिलाकर प्रमाणज्ञान कराया है, परन्तु उसके कारण परनिमित्त से विकार की वासना होती है – ऐसा नही समझना। अपनी पर्याय मे विकार अपने से ही होता है, वह परकारको की अपेक्षा नही रखता। (देखो पचास्तिकाय गाथा ६२)

प्रश्न :– यदि विकार पर से न हो और अपने से ही हो, फिर तो वह स्वभाव हो जाएगा ?

उत्तर :– विकाररूप होना उससमय पर्याय का स्वभाव है। 'स्वस्य भवन स्वभाव'। स्वय से वह पर्याय होती है, इसलिए स्वभाव है। विकार भी उससमय का सत् है कि नही ? हाँ, है; तो निश्चय से सत् का कोई हेतु नही हो सकता। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य – तीनो ही सत् है। भले ही उत्पाद या व्यय विकाररूप हो; परन्तु वे सत है और सत अहेतुक होता है। उस काल का वह स्वतत्र सत् है तो उसमे असत् (उससे अन्य) की अपेक्षा कैसे हो ? परन्तु यहाँ तो उस सत् को त्रिकाली सत् की भी अपेक्षा नही है। विकारी पर्याय अपनी अपेक्षा से, वर्त्तमान सत् होने पर भी, उसको अपेक्षा से पुद्गल का परिणाम कहा है। विकारी पर्याय वर्त्तमान सत् का सत्त्व है – उस अपेक्षा से देखे तो वेद का विकारी परिणाम स्वय से होता है, वह वेदकर्म के उदय से आत्मा मे हुआ है – ऐसा बिलकुल नही है। अहो ! वीतराग का पथ परम अद्भुत है।

श्री पण्डित बनारसीदासजी ने भी कहा है :–

ज्ञान नैन किरिया चरन, दोऊ शिवमग धार;
उपादान निहचै जहाँ, तहाँ निमित्त व्यवहार ।।३।।

उपादान निहचै जहाँ, तहाँ निमित्त पर होय;
भेदज्ञान परवान विधि, बिरला बूझै कोय ।।४।।

उपादान बल जहाँ-तहाँ नहिं निमित्त को दाव;
एक चक्र सौं रथ चले, रवि को यहै स्वभाव ।।५।।

अब कषाय की बात करते हैं। क्रोध, मान, माया व लोभ के परिणाम, शुभ या अशुभभाव, सभी कषाये तथा जिस भाव से तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है – वे सभी भाव पुद्गल के परिणाममय हैं। भगवान आत्मा तो अकषायस्वरूप वीतरागमूर्ति प्रभु है। उसमे कषाय के परिणाम

नही हैं। जो कषाय के परिणाम जीव की पर्याय मे हुए हैं, वे निश्चय से स्वय से हुए है, परकारको से नही। स्वभाव की दृष्टि से देखने पर वे कषाय के परिणाम स्वभावभूत नही हैं और पर्याय मे से निकल जाते है, इसलिए उन्हें पुद्गल के परिणाम कहा है। यदि कषाय की उत्पत्ति दो कारणो से कहें तो निमित्तकारण को मिलाकर उपचार से कह सकते है, परन्तु निमित्तकारण वास्तविक कारण नही है। यहाँ तो इस सिद्धान्त का निर्णय कराते हैं कि जिस द्रव्य की, जो पर्याय, जिस काल मे, उत्पन्न होनेवाली है, उस द्रव्य की, वह पर्याय, उसी काल मे, अपने स्वय के कारण से होती है, पर से या निमित्त से नही होती।

इसीप्रकार ज्ञान के भेद भी त्रिकाली, शुद्ध, एक, ज्ञायकभावस्वरूप आत्मा मे नही हैं। ये मति, श्रुत आदि ज्ञान के भेद जीव मे नही हैं, क्योकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय हैं। अहाहा! यह तो गजब बात है! चैतन्यस्वभावी शुद्ध जीववस्तु त्रिकाल एकरूप अभेद है। उसमे ज्ञानमार्गणा का अर्थात् ज्ञान के भेदो का अभाव है। अभेदस्वभाव मे भेद का अभाव है – ऐसा कहा है। श्री नियमसार के शुद्धभाव अधिकार की ४३वी गाथा मे कहा है कि शुद्धभाव मे मार्गणास्थान नही हैं और यहाँ कहा है कि जीव मे मार्गणास्थान नही हैं – दोनो एक ही बात हैं। शुद्धभाव मे विकल्प (भेद) जिसके लक्षण है, ऐसे मार्गणास्थान नही हैं। शुद्धभाव अर्थात् दृष्टि का विषय जो त्रिकालशुद्ध अभेद जीववस्तु है, उसमे ज्ञान के भेद नही हैं। पाँच ज्ञान व तीन अज्ञान – ये सब ज्ञान के भेद, अभेद चैतन्यस्वरूप आत्मा मे नही हैं। भेद वास्तव मे व्यवहार हैं और इसकारण वे भेद त्रिकालीस्वभाव मे – निश्चयस्वरूप मे नही हैं, ऐसा कहा है। पर्याय मे जो ज्ञान के भेद है, वे अशुद्धनिश्चयनय से जीव के है, परन्तु शुद्धनिश्चयनय से देखें तो वे ज्ञान के भेद शुद्धजीववस्तु मे नही है।

प्रश्न :– बन्ध का एकमात्र कारण रागादि होते हुए भी प्रकृतियाँ भिन्न-भिन्न बँधती हैं और उनकी स्थितियाँ भी भिन्न-भिन्न पडती है – इसका क्या कारण है?

उत्तर :– अपने उपादान कारण से ऐसा होता है। उपादान स्वतत्र है, इसलिए ऐसा होता है। निमित्तरूप से राग एक जैसा ही होता है, तथापि अपनी योग्यता के कारण प्रकृति-विशेष की योग्यता से पर्यायें भिन्न-भिन्नरूप हैं। विपरीतभाव एक होते हुए भी ज्ञानावरणीकर्म की स्थिति तीस कोडा-कोडी सागर, मोहनीयकर्म की स्थिति सत्तर कोडा-कोडी

सागर और नामकर्म की स्थिति वीस कोडा-कोडी सागर बँधती है। यह अन्तर उपादान से – उससमय बधनेवाले परमाणुओ की पर्यायगत योग्यता से ही है, निमित्तकारणो से नही। निमित्त तो सवका एक है, तथापि प्रकृतियो के कार्य मे जो भेद पडता है, वह स्वतत्र अपने-अपने उपादान के कारण से है। परमाणु की स्थिति कम या अधिक होना, वह उसकी स्वय की योग्यता है।

धवला के छठे भाग मे पृष्ठ १६४ पर भी लिखा है कि "प्रकृति-विशेष होने से इन सूत्रोक्त प्रकृतियो का यह स्थितिवन्ध होता है। सभी कार्य एकान्त से बाह्य अर्थ की अपेक्षा करके ही उत्पन्न नही होते हैं, अन्यथा धान्य के बीज मे से जौ के अकुर की भी उत्पत्ति का प्रसग प्राप्त होगा। किन्तु इसप्रकार के द्रव्य तीनो ही काल मे किसी भी क्षेत्र मे नही हैं, जिनके बल से धान्य के बीज से जौ के अकुर को उत्पन्न करने की शक्ति हो सके। यदि ऐसा होने लगे तो अनवस्था दोप प्राप्त होगा, इसलिए अतरग कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है – ऐसा निश्चय करना चाहिए।"

देखो! अतिस्पष्ट कहा है कि सभी कार्य बाहर की एकान्त अपेक्षा करके उत्पन्न नही होते। यदि कार्य वाह्य कारण से ही उत्पन्न हो तो धान्य से जौ की उत्पत्ति होगी। यदि पर के कारण कार्य हो तो जड मे से चेतन और चेतन मे से जड उत्पन्न होगे। तथा कार्यसवधी कोई नियम ही नही ठहरेगा, किसी निमित्त का भी मेल नही रह सकेगा, इसलिए कोई भी कार्य हो, वह अतरग कारण से ही उत्पन्न होता है – ऐसा निश्चित करना। निमित्तकारण एक होते हुए भी उपादान की योग्यता से ही प्रकृतियो की स्थिति भिन्न-भिन्न वधती है।

स्वामी समन्तभद्राचार्य ने दो कारण सिद्ध करने के लिए दो कारणो से कार्य होता है – ऐसा कहा है। स्वयभूस्तोत्र तो भक्ति का स्तोत्र है, अत. उपादान के कार्यकाल मे निमित्त होता है, यह बात ग्रहण की है। यदि निमित्त उपस्थित हो, परन्तु उपादान का कार्यकाल न हो तव भी निमित्त से कार्य हो जाय – ऐसा नही होता है। यद्यपि जब-जब उपादान का कार्यकाल होता है, तव-तब निमित्तरूप से अन्य वस्तु उपस्थित रहती ही है, तथापि निमित्त के कारण उपादान मे कार्य हुआ, ऐसा नही है। निमित्त और उपादान – दोनो साथ मे ही हैं तो भी ऐसा निर्णय करना चाहिए कि अभ्यन्तर कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है।

अरे भगवान! तू क्या करता है? प्रभु! तू परमानन्द का नाथ भगवान है न? आत्मा तो सदा भगवानस्वरूप या परमात्मस्वरूप

ही है। भाई! सिद्ध के स्वरूप और तेरे स्वरूप मे क्या अन्तर है ? जो 'जिन' का स्वरूप है, वही आत्मा का स्वरूप है। वर्त्तमान मे ही तेरा परमात्म-स्वभाव है, इसलिए उसमे दृष्टि दे तो तेरा कल्याण होगा!

दृष्टि की पर्याय स्वय है तो क्षणिक, परन्तु उस पर्याय मे त्रिकाली भगवान की स्वीकृति होने से पर्याय मे परमात्मा दिखाई देता है, ज्ञात होता है, व्यवहार के विकल्प से आत्मा प्राप्त नही होता। जैसे व्यवहार हो भले ही, परन्तु वह निश्चय मे मदद नही करता, उसीप्रकार निमित्त हो भले, परन्तु वह पुद्गल या जीव – किसी की भी उस-उस समय उत्पन्न होनेवाली पर्याय की कुछ भी मदद नही करता।

प्रश्न :– निमित्त सहकारी है – ऐसा शास्त्रो मे तो आता है न ?

उत्तर :– यहाँ सहकारी का अर्थ समकाल है, मात्र इतना ही समझना। कार्य की उत्पत्ति के समय साथ-साथ रहनेवाला है, इसलिए सहकारी कहा है। कुछ सहायता करने की अपेक्षा से सहकारी नही कहा। यदि निमित्त कार्य मे सहायता करता हो तो धर्मास्तिकाय तो अनादि से पडा है, उसके कारण निरन्तर गति होना ही चाहिए, परन्तु ऐसा नही होता। जीव स्वय गति करे, तब धर्मास्तिकाय निमित्त होता है, अन्यथा नही। गति के समय जैसे धर्मास्तिकाय निमित्त है, उसीप्रकार (गतिपूर्वक) स्थिति के काल मे अधर्मास्तिकाय निमित्त है। जब गति करता है, तव भी अधर्मास्तिकाय तो मौजूद है ही, फिर वह निमित्त क्यो नही हुआ ? भाई! इसका अर्थ इतना ही है कि परिणमनस्वभावी जीव और पुद्गल जव स्वय गतिरूप परिणमन करें, तब धर्मास्तिकाय निमित्त होता है और जव गतिपूर्वक स्वय रुकें, तब अधर्मास्तिकाय निमित्त होता है। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है, इसमे तर्क नही चलता।

यहाँ कहते हैं कि ज्ञान मे भेद डालना, वह पुद्गल का परिणाम है। भगवान आत्मा अभेद एकरूप चैतन्यवस्तु है, उसमे ज्ञान के भेदो का लक्ष्य करने पर राग ही उत्पन्न होता है और राग पुद्गलद्रव्य का परिणाम है। नियमसार, शुद्धभाव अधिकार (गाथा ४२) मे ज्ञान के भेदरूप जो मार्गणा-स्थान हैं, उनको 'विकल्पलक्षणानि' कहा है। भेद का स्वरूप ही 'विकल्पलक्षण' है। गति, इन्द्रिय आदि भेदस्वरूप जो चौदहगुणस्थान हैं, वे सव जीव के नही हैं। जीव कहो या शुद्धभाव कहो – दोनो एक ही हैं। नियमसार मे त्रिकाल शुद्धभाव को जीव कहा है और यहाँ जीव को त्रिकाल शुद्धभाव कहा है। रागादि तो जीव के स्वरूप हैं ही नही, किन्तु

भेद भी निश्चय से जीव के स्वरूप नही हैं। नियमसार की गाथा ५० मे आता है कि पर्याय पर है, इसलिए निश्चय से वह जीव का स्वरूप नही है। भाई ! अभेददृष्टि हुए बिना सम्यग्दर्शन नही होता और अभेद की दृष्टि उत्पन्न होने मे निमित्त या व्यवहार कुछ भी मददगार नही हैं।

आत्मा अभेद एकरूप त्रिकालीद्रव्य है। उसमे भेद कैसा ? राग कैसा ? उसमे एकसमय की पर्याय भी कैसी ? भाई ! गभीर बात है ! समय थोडा है और करने को बहुत है। अधिकाश जीवो को बाहर का मोह अधिक है। बाहर के त्याग की बात देखकर वे खुश हो जाते हैं, परन्तु बाहर का त्याग आत्मा मे है ही कहाँ ? यहाँ तो कहते है कि ज्ञान के भेद ही आत्मा मे नही हैं तो ये सब बाह्य क्रिया-काण्ड आत्मवस्तु मे कैसे सभव हैं ? मिथ्यात्व के त्याग बिना दूसरा कोई त्याग हो ही नही सकता। निमित्त, राग व भेद को दृष्टि मे से छोडना और अभेद एकरूप निर्मल आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा की दृष्टि करना ही मिथ्यात्व छोड़ना है।

अब सयम अर्थात् चारित्र की बात करते हैं। सयम के भेद भी जीव के नही है, क्योकि वे पुद्गलपरिणाम है। आत्मा शुद्ध ज्ञायकभाव त्रिकाल एकस्वरूप है। उसमे सयम के भेद कैसे ? भेद के लक्ष्य से तो राग ही होता है, इसलिए अभेद मे, चारित्र के भेद भी पुद्गल के परिणाम है। चारित्र पर्याय भी है और त्रिकाली गुण भी है। त्रिकाली चारित्र-गुण के पर्यायरूप भेद विकल्प के कारण है। इसकारण भेद को पुद्गल का परिणाम कहा है। सयमस्थान 'विकल्पलक्षणाणि' अर्थात् भेदस्वरूप है, इसलिए त्रिकाली शुद्ध जीवद्रव्य मे ये सयम के भेदस्थान नही है। भाई ! मार्ग बहुत अलौकिक है, परन्तु लोगो ने इसे बाहर के माप से कल्पित कर लिया है कि यह त्याग किया और राग को घटाया, परन्तु ध्रुव चैतन्यवस्तु दृष्टि मे आये बिना राग कैसे घटे ? अहाहा ! राग तथा भेद का जिसमे अभाव है—ऐसे दृष्टि के विषय को दृष्टि मे लिए बिना राग किसप्रकार घट सकता है अर्थात् वास्तव मे राग तब तक नही घटता, जब तक भेदविज्ञान होकर आत्मानुभव नही हो जाता।

मोक्षमार्गप्रकाशक मे शिष्य ने **प्रश्न** किया है कि प्रभु ! शुभभाव वालो के अशुभराग तो घटता है, इसलिए इतना चारित्र तो कहो ? इसके **उत्तर** मे वहाँ कहा है कि जिनको सम्यग्दर्शन हुआ है, अभेद की दृष्टि हुई है, उनके ही वास्तव मे अशुभभाव घटता है; परन्तु जिन्हे वस्तुस्वभाव की दृष्टि नही हुई है, चैतन्यनिधान नजर मे नही आया है, उन जीवो के

शुभभाव के समय भी अशुभभाव घटा ही नही। शुभाशुभभावरहित शुद्ध-चैतन्य के जाने बिना शुभभाव के समय अशुभभाव घटे – ऐसा तीनकाल मे भी कभी बनता नही है, क्योकि उनके मिथ्यात्व तो पूरा का पूरा पडा है। भाई ! त्रिकाली पूर्णानन्द के नाथ को जिन्होने अनुभव मे लिया है, उनके ही शुभभाव के समय अशुभभाव घटते हैं और क्रम-क्रम से घटकर राग नष्ट हो जाता है। अहाहा ! जिसमे राग नही है, भव नही है, भव का भाव नही है, अपूर्णता नही है – ऐसे पूर्णस्वभावमय शुद्ध चैतन्यभगवान के निधान को जिसने देखा है, उसे शुभभाव के समय अशुभभाव घटता है और वही शुद्ध चैतन्यवस्तु के आश्रय से शुभभाव को भी घटाकर क्रम-क्रम से स्वाश्रय की पूर्णता करके मुक्ति प्राप्त करेगा।

दृष्टि मे पूर्णशुद्ध परमात्मस्वरूप नही आवे तो राग कैसे घट सकता है ? मिथ्यात्व की उपस्थिति मे अशुभ कैसे घटे ? भाई ! मिथ्यात्व मन्द हो – यह कोई अपूर्व उपलब्धि नही है। वैसे तो अभव्य को भी मिथ्यात्व और अनन्तानुवन्धी का रस मन्द हो जाता है, परन्तु मन्द या तीव्र – यह कोई उपलब्धि नही है, उपलब्धि तो मिथ्यात्व के अभाव मे है।

समयसार की टीका मे श्री जयसेनाचार्य ने कहा है कि अभव्य जीव जब शुभभाव अति उग्ररूप से करता है, तव उसे मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी के अनुभाग का रस मन्द होता है, परन्तु मन्द पडे, उससे क्या लाभ ? अभाव होना चाहिए, वही वास्तव मे लाभप्रद है।

यहाँ कहते हैं कि सयम के स्थान 'विकल्पलक्षणाणि' अर्थात् भेद-स्वरूप होने से भगवान आत्मा मे नही है। यह अजीवतत्त्व का अधिकार चलता है, इसलिये वे अजीव के होने से जीव के नही हैं, इसप्रकार प्रतिषेध से वात की है। पहले जीव का स्वरूप 'ऐसा है, ऐसा है' – इसप्रकार अस्ति से वात की थी, परन्तु यहाँ जीव मे 'ये नही हैं, ये नही है' – इसप्रकार निषेध से वात करते है।

अव चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवलदर्शन – ऐसे दर्शन के जो भेद-स्थान है, वे वस्तु मे – त्रिकालशुद्ध जीवद्रव्य मे नही हैं, ऐसा कहते है। शुद्ध वस्तु तो परमपवित्र है, परन्तु पर्याय मे जो अशुद्धता होती है – वह अपने विपरीत पुरुषार्थ से होती है, कर्म के कारण नही होती। स्वय राग मे अटका है – रुका है, कर्म के कारण नही रुका है, बल्कि अपनी ही भूल के कारण रुका है। पचास्तिकाय मे आता है कि 'विषय की प्रतिबद्धता है, इसकारण जीव रुका है, कर्म के कारण नही।' भाई ! पूर्णानन्द का

नाथ भगवान अन्दर विराजता है, उसका तो आश्रय लिया नही और पर का आश्रय लिया है – यह तेरा स्वय का ही अपराध है। वह अपराध पर-पदार्थों ने भी नही कराया है।

प्रश्न :– कोई कहता है कि ५०% (पचास प्रतिशत) उपादान का और ५०% (पचास प्रतिशत) निमित्त का अपराध मानो न ?

उत्तर :– भाई ! शत-प्रतिशत आत्मा का – उपादान का ही अपराध है। अशमात्र भी पर का – निमित्त का अपराध नही है। आत्मा की भूल शत-प्रतिशत आत्मा मे है और निमित्त शत-प्रतिशत अपने मे है। अरे ! सच्चा वस्तु का स्वरूप कैसा है ? इसकी जिसको खबर नही हो, उसे धर्म कहाँ से हो ? कैसे हो ? भाई ! इस ससार मे से तो निकल जाना ही श्रेयस्कर है। ये ससार के भाव और भेद के भाव इस शुद्ध जीववस्तु मे नही है। जो ये भेद हैं, वे सब वस्तु मे स्वय के कारण ही हैं, कर्म के कारण नही। कर्म के कारण ज्ञान रुक गया है – ऐसा नही है। ज्ञान स्वय ही उल्टी परिणति से हीनपने परिणमता है और इसकारण ही अल्पज्ञपना है, उसमे उपादानकारण तो निज का है, ज्ञानावरणीय कर्म तो निमित्त मात्र है।

कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल – ऐसे जो लेश्याओ के भेद है, वे शुद्ध जीवद्रव्य मे – वस्तु मे नही हैं।

भव्य व अभव्य – ऐसे भेद भी जीव के नही है। भव्य व अभव्यपना तो पर्याय मे है। चैतन्यस्वभावी वस्तु मे भव्य-अभव्यपने का भेद नही है। इसकारण भव्य हो या अभव्य, वस्तुपने शुद्ध होने से प्रत्येक जीव समान है।

अब कहते है कि क्षायिक, औपशमिक तथा क्षायोपशमिक – ऐसे जो समकित के भेद हैं, वे जीव के नही हैं। सम्यग्दर्शन का विषय जो अखण्ड ध्रुव आत्मद्रव्य है, उसमे सम्यग्दर्शन के भेद नही हैं। भाई ! बहुत सूक्ष्म बात है। प्रभु ! तुझे प्रगट मे परमात्मा बनना है न ? वास्तव मे तू द्रव्य-स्वभाव से तो परमात्मा है ही, परन्तु पर्याय मे परमात्मा बनना शेष है। भाई ! तू ऐसे अभेद परमात्म-स्वरूप मे रह, उसमे गुणभेद या पर्यायभेद नही है और ऐसी अभेददृष्टि होने पर तू अल्पकाल मे पर्याय मे भी परमात्मपद पायेगा। यहाँ भेद का लक्ष्य छुडाने के लिये ही उपशम, क्षय, क्षयोपशम रूप – ये समकित के भेद परमात्मस्वभाव मे नही है – यह कहा है। एकसमय मे पूर्ण ज्ञानरसकन्द शुद्ध चैतन्यघन वस्तु का त्रिकाली प्रवाह मात्र चैतन्य · चैतन्य चैतन्यरूप है। इसलिये भेद के विकल्प मे

मत जा ! निमित्त का लक्ष्य छोड दे ! ! और जो त्रिकाली ध्रुव चैतन्य है, वहाँ दृष्टि दे ! स्थिर हो जा ! !

व्यवहार से धर्म होता है — ऐसा माननेवालो को यह वात एकान्त जैसी लगती है और वे सोचते है कि पाँच महाव्रत पाले, अनेक क्रियाये करे, रसो का त्याग करे — ये तो कुछ नही, और बस आत्मा आत्मा करने से क्या धर्म हो जाएगा ? वाह ! अच्छा धर्म है ! उनसे कहते है कि भाई, ये धर्म नही है अर्थात् इनसे धर्म नही होता, बल्कि ये तो ससारभाव है। जीव चाहे नववे ग्रैवेयक मे जाए या सातवे नरक मे, है तो औदयिक भाव मे ही न ? अरे ! वस्तु के स्वरूप मे जहाँ भेद भी नही है तो उदयभाव, कहाँ से होगा ? अरे ! क्षायिकभावो के स्थान भी जीव मे नही हैं। नियमसार की ४३वी गाथा मे आता है कि क्षायिकभाव, उदयभाव, उपशमभाव और क्षयोपशमभाव के स्थान जीव मे नही हैं। ऐसा आनन्द का नाथ प्रभु अपने पूर्णरूप मे अन्दर विराजमान है, वहाँ दृष्टि दे तो तुझे अपने परमात्मा से भेट होगी। सज्ञी-असज्ञीपना भी वस्तु मे नही है। वस्तु (आत्मा) सज्ञी या असज्ञी नही है, वस्तु तो शुद्ध चिद्रूप एकाकार है।

आहार-अनाहारपना वस्तु मे — आत्मा मे नही है। आहार लेने का विकल्प या अनाहारीपने का विकल्प — ये दोनो पर्याये है, ये वस्तु मे नही है। इसप्रकार सभी मार्गणास्थान जो भेदरूप है, वे जीव के नही है; क्योकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय हैं। देखो ! भेद के भावो को भी पुद्गल के परिणाम कहा है, क्योकि अभेदस्वरूप चैतन्यमूर्ति मे भेद कैसा ? पहले ऐसा कहा कि सभी मार्गणास्थान जीव मे नही है, क्योकि वे पुद्गल-द्रव्य के परिणाममय है और इसकारण अनुभूति से भिन्न हैं। अन्तर मे अभेद की अनुभूति होने पर अनुभूति मे भेद तो नही आते; बल्कि भिन्न रह जाते है। अहो ! ऐसी अद्भुत बात है !

(२४) भिन्न-भिन्न प्रकृतियो का अमुककाल तक कालान्तर मे साथ रहना — जिसका लक्षण है, ऐसे सभी स्थितिबधस्थान भी जीव के नही है, क्योकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं।

जीव मे कर्म की स्थितिबध के भेद तो हैं ही नही; किन्तु जो जीव की पर्यायगत योग्यता है, वह भी जीव की नही है। कर्म मे जो प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागबध होते है, वे अपने उपादान मे — जड मे हैं, परन्तु जीव की पर्याय मे कर्म के अनुसार जो योग्यता है, वह जीव मे है, इसमे कर्म निमित्तमात्र है। जहाँ निमित्त है, वहाँ उपादान मे भी स्वतत्रपने

ऐसी ही योग्यता होती है। कर्मप्रकृति से भिन्न, उसप्रकार का अशुद्ध-उपादान जीव मे – स्वय मे है, कर्मप्रकृति तो उसमे निमित्तमात्र है। कर्मप्रकृति मे जितनी योग्यता है, उतने ही प्रमाण मे जीव की पर्याय मे अशुद्धता की योग्यता है। लेकिन यहाँ कहते है कि ये सभी स्थितिबध के स्थान जीव मे नही है।

प्रश्न :– विकार तो एक जाति का है, तथापि कर्म की प्रकृति में भिन्न-भिन्न स्थिति कैसे पडती है ?

उत्तर :– प्रकृतियो की विशेषता के कारण ऐसा होता है। प्रकृति मे जो स्थिति पडती है, वह स्वय के कारण से पडती है। निमित्तरूप से राग तो एक है, तथापि स्थिति मे अन्तर पडता है, वह प्रकृतियो के उपादान की तत्समय की स्वतन्त्र योग्यता के कारण पडता है। अहाहा ! गजब बात है। भाई ! वस्तु का स्वरूप ही ऐसा निराला है।

(२५) कषायो के विपाक की अतिशयता जिनका लक्षण है – ऐसे सभी सक्लेशस्थान भी जीव के नही है, क्योकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाम-मय होने से अनुभूति से भिन्न है।

पर्याय मे जो असख्यप्रकार के अशुभभाव होते है, वे जीव के स्वरूप नही है। पहले प्रीतिरूप राग और अप्रीतिरूप द्वेष इतना ही आया था। अब कहते है कि जीव की पर्याय मे जो कषायो के विपाक का अतिशयपना है अर्थात् जो सक्लेशस्थान है – वे सभी जीव के नही है। यहाँ जड़ विपाक की बात नही है, परन्तु जीव की पर्याय मे हुए कषायो के विपाक की बात है। जो कर्मो का विपाक है, उसी प्रमाण मे आत्मा मे भी कषायो का विपाक है। कषायो के संक्लेश परिणाम स्वतन्त्र है। कर्म का उदय तीव्र अनुभागवाला है, इसलिये सक्लेश परिणाम हुए हैं – ऐसा नही है। उससमय सक्लेश परिणाम कषायो के विपाकरूप है, वह स्वय जीव की अपनी पर्याय है, परन्तु वे शुद्ध आत्मवस्तु मे नही है। अहाहा ! जिसको जीव कहते है, भगवान आत्मा कहते है, उस शुद्ध चैतन्य मे सक्लेश के स्थान नही है।

भाई ! वस्तु तो त्रिकालशुद्ध है। अशुद्धता तो पर्याय मे है और वह अपने कारण से है, कर्म के कारण नही है। गोम्मट्टसार मे आता है – **भावकलंक सुपउरा निगोदवासं न मुचति** – निगोद के जीव भावकलक (भावकर्म) मे प्रचुर है। वहाँ द्रव्यकर्म की प्रचुरता नही कही है। उनके उपादान मे अशुद्धतारूप भावकलक की उग्रता है और वह अपने स्वय के कारण है। यहाँ कहते हैं कि ये सक्लेशस्थानो के जो असख्यप्रकार है, वे

सभी जीव के नही हैं, क्योंकि वे पुद्गल के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न है। शुद्ध द्रव्यस्वभाव के आश्रय से जो निर्मल अनुभूति होती है – उसमे ये सक्लेशस्थान नही आते हैं, भिन्न रह जाते हैं, इसलिए वे सक्लेशस्थान जीव के नही हैं।

(२६) कषायो के विपाक की मन्दता जिसका लक्षण है – ऐसे सभी विशुद्धिस्थान भी जीव के नही हैं, क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न है।

राग की मदता के जो असख्यप्रकार हैं, वे जीव के नही हैं – ऐसा कहते हैं। पर्याय मे जो असख्यप्रकार के शुभभाव होते है, वे ज्ञानानन्दस्वरूपी शुद्ध आत्मा से भिन्न है, क्योंकि शुद्ध आत्मद्रव्य की अनुभूति मे वे भिन्न रहते हैं। 'आत्मा से भिन्न हैं' – ऐसा कहकर द्रव्यस्वभाव ग्रहण किया है तथा अनुभूति से भिन्न कहकर वर्त्तमान पर्याय की बात ली है।

भाई! वीतराग का मार्ग वहुत सूक्ष्म है। शुभभाव करके भी अज्ञानवश अनादि से जन्म-मरण करके चौरासी के चक्कर मे भटक रहा है। यहाँ कहते हैं कि जिस शुक्ललेश्या का शुभभाव करके जीव नववें ग्रैवेयक गया, वह शुभभाव भी वस्तु मे – आत्मा मे नही है। फिर भी शुभभाव से कल्याण होगा – ऐसा माने तो यह बहुत वडा अज्ञान है। भाई! अन्य जीवो की रक्षा का शुभभाव हो या जिसके द्वारा तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो, ऐसा शुभभाव हो – ये सब शुभभाव शुद्ध जीववस्तु मे नही है, क्योंकि शुद्ध जीववस्तु का अनुभव होने पर अनुभूति से वे सभी शुभभाव भिन्न रह जाते हैं, अनुभव मे नही आते हैं।

शंका :– शुभभाव जीव के नही हैं तो क्या जड के हैं? क्षायिकभावो के स्थान जीव के नही हैं तो क्या जड के है? अरे! क्षायिकभाव तो सिद्धो के भी हैं। सातवी गाथा मे कहा है कि ज्ञानी के दर्शन-ज्ञान-चारित्र नही हैं तो क्या दर्शन-ज्ञान-चारित्र अज्ञानी के होते हैं?

समाधान :– भाई! जरा धैर्य से सुन! ये भेद द्रव्यस्वभाव मे नही है – ऐसा कहा है। जिस अपेक्षा से वात चलती है, उस अपेक्षा से बात को समझना चाहिए। वापू! ज्ञानी के अर्थात् ज्ञायिकभाव मे ये दर्शन-ज्ञान, चारित्र – ऐसे भेद नही है। ज्ञायक तो अभेद चिन्मात्र वस्तु है तथा ज्ञान, दर्शन आदि भेद का लक्ष्य करने पर राग होता है; इसकारण अभेद की दृष्टि कराने के लिये भेदो का निषेध किया है। ज्ञायक की दृष्टि होने पर दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेद ज्ञायक मे भासित नही होते। भाई! ऐसी बात

अभ्यास के विना समझने मे कठिन मालूम पडती है, परन्तु क्या करे ? इस वात को अन्तर मे विठाने के लिए उग्र पुरुषार्थ करना चाहिए, क्योकि इसके समझे विना कोई रास्ता नही है ।

पर्याय मे जो कुछ शुभभाव या कषाय की मदता के विशुद्धस्थान होते हैं, वे सभी पुद्‌गल के परिणाम हैं और इसीकारण अनुभूति से भिन्न हैं । आत्मा अखण्ड अभेद शुद्ध चैतन्यघन वस्तु है । वर्त्तमान पर्याय को ध्रुव की ओर झुकाने पर अभेद वस्तु ज्ञात हो जाती है, परन्तु ये विशुद्धिस्थान के भेद उसमे दिखाई नही देते । अहाहा ! शुद्धद्रव्य ध्येय वनाने पर जो निर्मल ध्यान की वर्त्तमान पर्याय उदित होती है, उसमे ये व्यवहाररत्नत्रय के शुभभाव दिखाई नही देते । शुभभाव ध्यान की अनुभूति से भिन्न रह जाते हैं, इसलिये वे शुभभाव जीव के नही हैं; अत. वे लक्ष्य करने योग्य नही हैं । वर्त्तमान अवस्था का अन्दर ध्रुव अभेद चैतन्यसामान्य की ओर झुकने पर, उस अवस्था मे 'यह ध्रुव अभेद चैतन्यसामान्य है'—ऐसा विकल्प नही है; परन्तु ऐसे ज्ञान, श्रद्धान का निर्मल परिणमन है तथा वैसी अनुभूति है । उस अनुभूति मे शुभभाव के भेद नही आते, किन्तु भिन्न रह जाते हैं; इसलिये वे शुभरागादि भाव जीव के नही है—ऐसा कहा है ।

(२७) चारित्रमोह के विपाक की क्रमश· निवृत्ति जिनका लक्षण है—ऐसे सर्व संयमलब्धिस्थान भी जीव के नही हैं, क्योकि वे भी पुद्‌गल-द्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं ।

अव जो चारित्र की प्राप्तिस्वरूप सयमलब्धि के स्थान हैं, वे सव भी जीव के नही हैं—ऐसा कहते हैं । चारित्र की—सयम की निर्मल पर्यायें भेदरूप हैं, जवकि चिन्मात्र अखण्ड आत्मद्रव्य में चारित्र के भेद नही है—ऐसा यहाँ कहा है अर्थात् निमित्त, राग और भेद का लक्ष्य करने योग्य नही है । देह-देवालय मे पूर्ण परमात्मा चैतन्यदेव साक्षात् स्वस्वरूप से विराज-मान है, उसकी ओर झुकने पर वर्त्तमान पर्याय को उसमें ढालकर एकाग्र करते हुये जो स्वानुभूति प्रगट होती है, उस स्वानुभूति मे सयम के भेद नही आते, भिन्न रह जाते हैं । किसी को ऐसा लगे कि यह तो एकान्त है, अकेला निश्चय तो एकान्त है, परन्तु वापू ! निश्चय ही सत्य है, व्यवहार तो उपचार है । यह सम्यक्-एकान्त है । वीतरागदेव के द्वारा प्ररूपित मार्ग यही है, ऐसा ही है । त्रिकाली शुद्धद्रव्य को ध्येय वनाकर प्रगट हुई ध्यान की दशा मे 'यह ध्यान व यह ध्येय'—ऐसा विकल्प नही रहता । दृष्टि के विपयभूत शुद्ध आत्मा मे सयमलब्धि के स्थान नही हैं । तथा शुद्ध आत्मा को विषय करनेवाली दृष्टि—अनुभूति में भी वे संयमलब्धि के भेद ज्ञात नही

होते, भिन्न ही रह जाते है। भाई ! वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म है, उसमे वाद-विवाद करने से पार नही पड सकती।

यहाँ सयमलब्धि के स्थानो को पुद्गल के परिणाम कहा है, उसमे क्षयोपशम चारित्र भी आ गया। पर्याय की ओर का लक्ष्य छुडाने के लिये त्रिकाली वस्तु मे पर्याय को ढालने के लिये यहाँ सयमलब्धि के परिणाम को पुद्गल का कहा है अथवा दूसरे रूप मे कहे तो सयम के निर्मल परिणामो के स्थानो पर लक्ष्य जाने से विकल्प होते हैं, इसलिये उन्हें पुद्गल का परिणाम कहा है। अन्तर्मुख पुरुषार्थ बढने से क्रम-क्रम से सयम की दशा बढती है, परन्तु यहाँ कहते हैं कि वह दशा जीव की नही है, क्योकि जो अनुभूति की पर्याय द्रव्य मे ढलती है, उसमे सयम के स्थान या भेद नही आते अर्थात् अनुभव मे भेद नही आते।

जैसे निमित्त परवस्तु होने से अजीव है तथा राग मे चैतन्य का अश नही होने से अजीव है, उसीप्रकार सयम के भेदो को भी अजीव कहा है, क्योकि भेद का लक्ष्य करने पर राग ही उत्पन्न होता है। अत भेदो को भी राग की तरह अजीव – पुद्गल का परिणाम कहा है। यह अजीव अधिकार है, इसकारण जो जीव नही है, जीव मे नही है – उन्हे पुद्गल का परिणाम कहा है। भाई ! अन्दर जा न ? अन्दर आनन्द का नाथ अनादि-अनत अविचल त्रिकाली ध्रुव चैतन्य भगवान है, उसे देख न ? उसे देखने पर सयमलब्धि के भेद नही दीखेंगे।

सयमलब्धि के स्थान अर्थात् क्रम-क्रम से राग की निवृत्ति और वीतराग सयम के परिणामो की प्राप्ति के जो स्थान हैं, वे सब जीवद्रव्य के नही हैं, क्योकि शुद्धद्रव्य पर झुकने पर वे भेद अनुभूति मे नही आते।

भेद द्रव्य मे नही हैं ? परन्तु इसका सच्चा ज्ञान किसको होता है ? जिसको यथार्थदृष्टि प्राप्त हुई हो, द्रव्यस्वभाव की अनुभूति हुई हो, उसे यह ज्ञात होता है कि द्रव्यस्वभाव मे भेद नही है। भाई ! यह अनुभव की वात है। यह कही वाद-विवाद से पार पड जाय – ऐसी वस्तु नही है। पण्डित वनारसीदासजी ने कहा है –

'खोजी जीवे, वादी मरे – यह साँची कहावत है'

प्रश्न :– तत्त्वार्थसूत्र मे निसर्गज और अधिगमज के भेद से सम्यग्दर्शन दो प्रकार का कहा है और आप कहते हो कि निसर्गज से ही होता है ? – यह वात समझ मे नही आयी।

उत्तर :– अरे प्रभु ! ध्यान देकर सुनो ! वर्त्तमान पर्याय को अन्तरङ्ग स्वभाव मे झुकाने पर सम्यग्दर्शन होता है, उससमय निमित्त या राग का भी लक्ष्य नही रहता। अधिगम अर्थात् निमित्त पर लक्ष्य रखकर भी सम्यक्त्व होता है – ऐसा अर्थ नही है। जब वर्त्तमान परिणाम अन्तस्तत्त्व में झुकता है तब सम्यग्दर्शन का परिणाम होता है, उससमय भेदरूप भाव भी सम्यग्दर्शन के विषय नही रहते, परन्तु 'अधिगम से सम्यग्दर्शन होता है' – ऐसा तो निमित्त का ज्ञान कराने के लिए कहा है। यद्यपि अधिगमज सम्यग्दर्शन भी स्वभाव की ही दृष्टि से होता है, तथापि निमित्त का ज्ञान कराने के लिये उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते है।

प्रश्न :– जब निमित्त से कुछ नही होता तो अधिगम से सम्यग्दर्शन होता है – ऐसा किसलिए कहा है ?

उत्तर :– यह तो मात्र यह बताने के लिए कहा है कि निमित्त की उपस्थिति मे यह बात सुनी थी कि 'अहो ! मैं शुद्धात्मा हूँ।' आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने भी कहा है कि हमारे गुरु ने हमको शुद्धात्मा का उपदेश दिया था। जब उपदेश मिला, तब निमित्त का लक्ष्य था; परन्तु पश्चात् जीव जब उस परलक्ष्य से भी उपयोग हटाकर शुद्धात्मा के सन्मुख होता है, तब उसे अनुभूति होती है। अधिगम से सम्यग्दर्शन होता है– ऐसा जो कहा है, वह निमित्त का ज्ञान कराने के लिए किया है। वास्तव मे तो जिसको भी सम्यग्दर्शन होता है, वह स्वभाव के आश्रय से ही होता है, निमित्त के आश्रय से नही। अत. स्वभाव का आश्रय करना चाहिए।

(२८) पर्याप्त-अपर्याप्त, बादर-सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वि-इन्द्रिय, त्रि-इन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और सज्ञी व असज्ञी पञ्चेन्द्रिय जिनके लक्षण है – ऐसे सभी जीवस्थान भी जीव के नही हैं, क्योकि वे पुद्‌गलद्रव्य के परिणाममय है, इसकारण अनुभूति से भिन्न हैं। अभेद शुद्धवस्तु मे भेद नही है, क्योकि अभेद आत्मा के ध्यान मे वे भेद अन्दर दिखाई नही देते।

शंका :– शास्त्र बाँचने से ज्ञान होता है – ऐसा नही है अर्थात् निमित्त से ज्ञान नही होता है, तो फिर शास्त्र क्यो पढते हो ? शास्त्र तो निमित्त है, परद्रव्य है, फिर यह समयसार ही क्यो पढते हो ? इससे तो ऐसा लगता है कि निमित्त मे कुछ विशेषता तो है ही ?

समाधान :– अरे प्रभु ! निमित्त से कुछ नही होता। भाई ! निमित्त से लाभ होता है, ऐसा तुझे कैसे सूझता है ? निमित्त से लाभ होना तो दूर रहा – यहाँ तो यह कहते है कि जब तक निमित्त का लक्ष्य है, तब

तक विकल्प है और ये विकल्प पुद्गल के परिणाममय है, क्योकि जब अन्तर मे लक्ष्य जाता है, तब विकल्प के परिणाम अनुभूति मे ही नही आते। अहाहा! जो सुना है, वह अपनी ज्ञान की पर्याय है और वह पर्याय स्वय अपनी योग्यता से हुई है, निमित्त से या वाणी से नही हुई है। निर्मल पर्याय को अन्तर मे भुकाने पर, परलक्ष्यी ज्ञान की पर्याय भी बाहर रह जाती है। भाई! इसको समझने के लिए बहुत पुरुषार्थ चाहिये।

(२९) मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असयतसम्यग्दृष्टि, सयतासयत, प्रमत्तसयत, अप्रमत्तसयत, अपूर्वकरण – उपशमक व क्षपक, अनिवृत्तिबादरसापराय – उपशमक व क्षपक, सूक्ष्मसापराय – उपशमक व क्षपक, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली और अयोगकेवली जिनका लक्षण है – ऐसे सर्व गुणस्थान भी जीव के नही हैं, क्योकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं।

मिथ्यादृष्टि अर्थात् विपरीतदृष्टि के परिणामरूप – पहला गुणस्थान, सासादनसम्यग्दृष्टि – दूसरा गुणस्थान, सम्यग्मिथ्यादृष्टि – तीसरा गुणस्थान, असयतसम्यग्दृष्टि – चौथा गुणस्थान है। अहाहा! परिणाम को द्रव्य की ओर भुकाने पर वह असयतसम्यग्दृष्टि का परिणाम भी लक्ष्य मे नही रहता। अविरतसम्यग्दृष्टिपना अर्थात् सम्यक्त्व भी पर्याय है और पर्याय पर लक्ष्य जाने से तो राग ही होता है, इसलिए यहाँ कहते हैं कि असयतसम्यग्दृष्टिपना भी पुद्गल का परिणाम है। अहाहा! परिणाम जब अन्तर मे भुकता है, तब असयतसम्यक्त्व का परिणाम भी अनुभूति मे नही आता। एकमात्र अभेद वस्तु ही अनुभूति मे आती है, ज्ञात होती है।

सयतासयत श्रावक का पाँचवाँ गुणस्थान, प्रमत्तसयत मुनि का छट्ठा गुणस्थान व अप्रमत्तसयत सातवाँ गुणस्थान है। इसके बाद अपूर्वकरण – आठवाँ गुणस्थान, अनिवृत्तिकरण – नवमा गुणस्थान और सूक्ष्मसाम्पराय – दसवाँ गुणस्थान, ये तीनो गुणस्थान उपशमक व क्षपक के भेद से दो-दो प्रकार के हैं।

तथा उपशान्तकषाय – ग्यारहवाँ गुणस्थान, क्षीणकषाय – बारहवाँ गुणस्थान, सयोगकेवली – तेरहवाँ गुणस्थान व अयोगकेवली – चौदहवाँ गुणस्थान है।

सभी गुणस्थान मोह और योग के निमित्त से बनते है। ये भेदलक्षणवाले जो गुणस्थान है, वे भी जीव के नही हैं। जीवद्रव्य मे भेद नही है और द्रव्य का अनुभव करने पर अनुभव मे भी वे भेद दिखाई नही देते, इसलिए सभी भेद पुद्गल के है। भाई! यह तो अलौकिक अद्भुतमार्ग

है। बापू ! यही भवसिन्धु से पार होने का उपाय है। अतः यह जीव चैतन्य-सिन्धु भगवान आत्मा के आश्रय मे जाने पर इस भवसिन्धु से पार हो जाता है, पर्याय के आश्रय से पार नही होता।

वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, सस्थान आदि जडपना तो जीव का है नही, परन्तु शुभराग भी जीव का नही है, क्योकि राग मे चैतन्य का अभाव है। यहाँ तो विशेषरूप से यह कहा है कि भेद मे भी चैतन्य का अभाव होने से भेद भी जीव मे नही है। त्रिकाली भगवान आत्मा मे सब भेद नही है तथा आत्मा के आश्रय से प्रगट हुई अनुभूति मे भी वे भेद नही आते।

एक अक्षर बदल जाने पर पूरी बात ही बदल जाती है। बापू ! यह तो वीतराग परमेश्वर त्रिलोकीनाथ की दिव्यध्वनि का सार है। अनुभूति की जो पर्याय द्रव्य पर ढली है, वह अभेद एकरूप आत्मा को ही देखती है और तब अभेद मे भेद भासित नही होते। इसकारण भेद को पुद्गल के परिणाममय कहा है।

इसप्रकार उपरोक्त सभी भाव पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से जीव के नही है। जीव तो परमात्मस्वरूप चैतन्यशक्तिमय स्वभावमात्र है।

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते है :–

(शालिनी)

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा
भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः।
तेनैवांतस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी
नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ॥३७॥

श्लोकार्थ :– [**वर्ण-आद्याः**] जो वर्णादिक [**वा**] अथवा [**राग मोह-आदयः वा**] राग-मोहादिक [**भावाः**] भाव कहे, [**सर्वे एव**] वे सब ही [**अस्य पुंसः**] इस पुरुष (आत्मा) से [**भिन्नाः**] भिन्न है; [**तेन एव**] इसलिये [**अन्तः तत्त्वतः पश्यतः**] अन्तर्दृष्टि से देखनेवालो को [**अमी नो दृष्टाः स्युः**] यह सब दिखाई नही देते, [**एकं परं दृष्टं स्यात्**] मात्र एक सर्वोपरि तत्त्व ही दिखाई देता है – केवल एक चैतन्यभावस्वरूप अभेदरूप आत्मा ही दिखाई देता है।

भावार्थ :– परमार्थनय अभेद ही है, इसलिये इस दृष्टि से देखने पर भेद नही दिखाई देता, इस नय की दृष्टि मे पुरुष चैतन्यमात्र ही दिखाई देता है, इसलिये वे समस्त ही वर्णादि तथा रागादिभाव पुरुष से भिन्न ही हैं।

ये वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त जो भाव है, उनका स्वरूप विशेष रूप से जानना हो तो गोम्मटसार आदि ग्रन्थो से जानना चाहिए।

कलश ३७ पर प्रवचन

जो रग, गध आदि वाह्यपरिणाम अथवा राग-द्वेप-मोहादि अन्तरग परिणाम है, वे सभी इस आत्मा से भिन्न हैं। ये सभी भाव भगवान आत्मा के नही हैं। इसकारण अन्तर्दृष्टि से देखनेवालो को – शुद्धात्मा की अनुभूति करनेवालो को ये सभी भाव दिखाई नही देते। अत प्रभु! तू ऐसा तत्त्व तो पकडता नही, समझता नही और वाह्य व्रत, तप व क्रियाकाण्ड को धर्म मान लेता है, परन्तु भाई! तू भूला हुआ है। जिस सही मार्ग से तुझे जाना था, उस मार्ग से गया नही और जिस गलत मार्ग से वचना था, उस मार्ग पर चढ गया है। अन्दर भगवान आनन्द का नाथ पूर्ण परमात्म-स्वरूप मे विराजता है। वह जहाँ है – वहाँ जाना है, उसे प्राप्त करना है। प्रभु! वह जहाँ है, वहाँ जा! तुझे वह अवश्य प्राप्त होगा!! क्या वह पर्याय मे, राग मे, निमित्त मे या भेदो मे है? जो तू उसे वहाँ खोजता है।

ज्ञायकभाव – चैतन्यशक्तिमय पदार्थ को अन्तर्दृष्टि से देखने पर वे सभी भेदभाव दिखाई नही देते। अहाहा! वर्त्तमान पर्याय जव अन्तर्मुख होकर चिदानन्दस्वभावी शुद्ध अन्तस्तत्त्व को देखती है, तव ये सभी भेद अनुभूति मे ज्ञात नही होते, दिखाई नही देते।

प्रश्न :– उस अन्तस्तत्त्व को प्राप्त करने का कोई साधन भी है या स्वय प्राप्त हो जायेगा?

उत्तर :– साधन है न! प्रज्ञाछैनी कहो या आत्मानुभव – यह उसे प्राप्त करने का ही साधन है। व्यवहार के विकल्प तो इसको प्राप्त करने के लिए साधन के साधन भी नही हैं। राग से भिन्न होने का साधन वाहर मे नही है, अन्तर्दृष्टि ही एकमात्र साधन है। अहाहा! तू सासारिक धन्धे – व्यापार आदि मे कितनी सावधानी रखता है, उसमे कितने उल्लसित परिणाम होते है? और यहाँ भगवान वनने की प्रक्रिया मे तुझे उल्लास क्यो नही आता? विना उल्लास के सुख का – भगवान वनने का मार्ग कैसे मिले?

यहाँ कहते है कि शुद्ध अन्तस्तत्त्व मे भेद नही हैं। शुभराग व निमित्त की वात तो वहुत दूर, वह तो स्थूल वहिर्तत्त्व है। अन्तस्तत्त्व अर्थात् चैतन्यस्वभाव को देखनेवाली, अनुभव करनेवाली पर्याय मे भेद भी भासित नही होते। मात्र एक सर्वोपरि तत्त्व ही दिखाई देता है अर्थात् केवल एक चैतन्यभावस्वरूप अभेद आत्मा ही दिखाई देता है।

अहो ! समयसार की शैली ! उसकी अगाधता ! उसकी गहराई ! गजब बात है, भाई ! भाषा भी कैसी भावो की वाहक है ! धन्य है ! धन्य है ! ! किसी को ऐसा लगता होगा कि अकेले समयसार की ही प्रशसा करते है, परन्तु बापू ! ऐसी बात नही है, हमारे लिए तो सभी भावलिगी सन्तो के शास्त्र पूज्य हैं। दर्शनसार मे दिगम्बर मुनिराज श्री देवसेनाचार्य कहते है कि प्रभो ! कुन्दकुन्दाचार्यदेव ! आप विदेहक्षेत्र मे जाकर यदि यह वस्तु नही लाये होते तो हमे धर्म कैसे प्राप्त होता ? तो क्या उनके गुरु के पास कुछ था नही – ऐसा अर्थ है ? भाई ! ऐसा नही है। अहाहा ! जहाँ साक्षात् अरहत परमात्मा विराजते है, वहाँ प्रभु आप गये और यह बात लाये – ऐसा प्रमोदभाव उन्होने प्रगट किया है। इस वचन से उन्होने अपने गुरु का अनादर नही किया है और न ही अपने गुरु की परम्परा को धर्मविहीन ही बताया है। भाई ! ऐसा उल्टा अर्थ नही लगाना। आचार्य श्री कुन्दकुन्द की विशेषता भासित हुई, इसलिए उनका बहुमान प्रगट किया हैं। कविवर वृन्दावनदासजी ने यह भी कहा है कि 'हुये न, है न, न होंहिगे – मुनिन्द कुन्दकुन्द से' तो क्या उन्होने दूसरे मुनियो का अनादर किया है ? नही, ऐसा अर्थ कदापि नही है, बल्कि कुन्दकुन्दाचार्यदेव की जिस विशेषता द्वारा अपना उपकार हुआ – उसका उन्होने वर्णन किया है।

यहाँ कहते है कि दृष्टि अन्तर्मुख होने पर एक उत्कृष्ट वस्तु अभेद चैतन्यसामान्य ही अनुभव मे आती है, दिखाई देती है, ज्ञात होती है। हाँ, उस अभेद का अवलोकन तो वर्त्तमान पर्याय ही करती है, परन्तु वह पर्याय भेद को नही देखती है, एक अभेद को ही देखती है।

कलश ३७ के भावार्थ पर प्रवचन

परमार्थनय अभेद ही हैं। इसकारण उस दृष्टि से देखने पर भेद दिखाई ही नही देता। परमार्थनय की दृष्टि मे आत्मा एक चैतन्यमात्र ही दिखाई देता है। परमार्थदृष्टि पर्याय के भेद को स्वीकार ही नही करती, इसलिए व्यवहारनय है ही नही – ऐसा भी नही है। जब नय है, नय का ज्ञान है और जो ज्ञान है तो उसका विषय क्यो नही होगा ? इसलिए व्यवहार-नय का विषय जो भेद है, वह भी है। परन्तु भाई ! वह व्यवहारनय, उसके भेद और उसके विषय आश्रय करने लायक नही है। इसकारण उनका यहाँ निषेध किया है।

इस शास्त्र के चौथे कलश मे आता है कि निश्चय और व्यवहारनय मे विषय की अपेक्षा से विरोध है। भगवान ने तो एक शुद्ध त्रिकाली जीव

को ही उपादेय कहा है। 'जिनवचसि रमन्ते' – इसका अर्थ कलशटीकाकार श्री पाण्डे राजमलजी ने ऐसा किया है – "आसन्न भव्यजीव दिव्यध्वनि द्वारा कही है, उपादेयरूप शुद्ध जीववस्तु; उसमे सावधानपने रुचि, श्रद्धा, प्रतीति करता है। विवरण – शुद्धवस्तु को प्रत्यक्षपने अनुभव करता है, उसका नाम रुचि, श्रद्धा, प्रतीति है।"

'जिनवचन मे रमना' – ऐसा जो कहा है, उसका अर्थ यह होता है कि जिनवचन मे जो त्रिकाली शुद्ध जीववस्तु को उपादेय कहा है, उसमे रमना, परन्तु उभयनयो मे – विरुद्ध दोनो नयो मे रमना – ऐसा नही है। जिनवचन मे निश्चय व व्यवहार दोनो नय कहे है, परन्तु दोनो नयो मे नही रमना। मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवे अधिकार मे इसका बहुत सुन्दर खुलासा आता है कि "जिनमत मे निश्चय व व्यवहार दोनो नय कहे है, इसलिए हमे तो दोनो नयो को अगीकार करना – ऐसा विचारकर अज्ञानी जैसे केवल निश्चयाभास के अवलम्बियो का कथन किया था – वैसा निश्चय का अगीकार करता है और जैसा केवल व्यवहाराभास के अवलम्बियो का कथन किया था – वैसा व्यवहारनय का अगीकार करता है, जबकि इसप्रकार से अगीकार करने मे दोनो नयो मे परस्पर विरोध है, तथापि करें क्या ? क्योकि दोनो नयो का सच्चा स्वरूप तो उसे भासित हुआ नही और जिन-मत मे दो नय कहे है उनमे से किसी को छोडा भी जाता नही है। इसकारण भ्रमपूर्वक दोनो नयो का साधन साधता है, ऐसे जीवो को भी मिथ्यादृष्टि जानना।"

यहाँ कहते है कि निश्चय की दृष्टि मे चैतन्यमात्र ही आत्मा दिखाई देता है। अहाहा ! अन्तर्दृष्टि करनेवालो को परम अर्थात् उत्कृष्ट लक्ष्मी-वाला भगवान आत्मा, सर्वोपरि एकरूप चैतन्यतत्त्व ही दीखता है, एक अभेद की दृष्टि मे भेद दिखाई नही देता। भाई ! अन्दर पूरा का पूरा चैतन्यतत्त्व पडा है, उसकी महिमा करके उसकी दृष्टि अनादि से आज तक की नही और व्यवहार की महिमा कर-करके जन्म-मरणरूप चौरासी के चक्कर मे रखडता रहा। अनुभव मे आत्मा अभेद ही ज्ञात होता है। इसलिए वर्णादि और रागादि भाव आत्मा से भिन्न ही है।

ये वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त जो भाव हैं, इनका स्वरूप विस्तार से जानना हो तो गोम्मटसार आदि ग्रन्थो से जानना चाहिए।

ननु वर्णादयो यद्यमी न संति जीवस्य तदा तन्त्रांतरे कथं संतीति प्रज्ञाप्यन्ते इति चेत् –

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया ।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ।।५६।।

व्यवहारेण त्वेते जीवस्य भवंति वर्णाद्याः ।
गुणस्थानांता भावा न तु केचिन्निश्चयनयस्य ।।५६।।

इह हि व्यवहारनयः किल पर्यायाश्रितत्वाज्जीवस्य पुद्‌गलसंयोगवशादनादिप्रसिद्धबंधपर्यायस्य कुसुम्भरक्तस्य कार्पासिकवासस इवौपाधिकं भावमवलंब्योत्प्लवमानः परभावं परस्य विदधाति । निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रितत्वात्केवलस्य जीवस्य स्वाभाविकं भावमवलंब्योत्प्लवमानः परभावं परस्य

अब शिष्य पूछता है कि यदि ये वर्णादिक भाव जीव के नही है तो अन्य सिद्धान्तग्रन्थो मे ऐसा कैसे कहा गया है कि 'वे जीव के है' ? उसका उत्तर गाथारूप मे कहते हैं –

वर्णादि गुणस्थानांत भाव जु, जीव के व्यवहार से ।
पर कोई भी ये भाव नहिं हैं, जीव के निश्चयविषै ।।५६।।

गाथार्थ:– [एते] यह [वर्णाद्याः गुणस्थानांताः भावाः] वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त जो भाव कहे गये है, वे [व्यवहारेण तु] व्यवहारनय से तो [जीवस्य भवंति] जीव के है, (इसलिये सूत्र मे कहे गये है,) [तु] किन्तु [निश्चयनयस्य] निश्चयनय के मत मे [केचित् न] उनमे से कोई भी जीव के नही है ।

टीका:– यहाँ व्यवहारनय पर्यायाश्रित होने से सफेद रूई से बना हुआ वस्त्र जो कि कुसुम्बी (लाल) रङ्ग से रँगा हुआ है, ऐसे वस्त्र के औपाधिक भाव (लाल रङ्ग) की भाँति; पुद्‌गल के सयोगवश अनादिकाल से जिसकी बधपर्याय प्रसिद्ध है, ऐसे जीव के औपाधिक भाव (वर्णादिक) का अवलम्बन लेकर प्रवर्तमान होता हुआ (वह व्यवहारनय) दूसरे के भाव को दूसरे का कहता है और निश्चयनय द्रव्याश्रित होने से केवल एक जीव के स्वाभाविकभाव का अवलम्बन लेकर प्रवर्तमान

सर्वमेव प्रतिषेधयति। ततो व्यवहारेण वर्णादयो गुणस्थानान्ता भावा जीवस्य सन्ति, निश्चयेन तु न सन्तीति युक्ता प्रज्ञप्तिः।

होता हुआ, दूसरे के भाव को किंचित्‌मात्र भी दूसरे का नही कहता, बल्कि निषेध करता है। इसलिये वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त जो भाव हैं, वे व्यवहारनय से जीव के है और निश्चयनय से जीव के नही हैं—ऐसा (भगवान का स्याद्वादयुक्त) कथन योग्य है।

गाथा ५६ की उत्थानिका, गाथा एवं उसकी टीका पर प्रवचन

अब यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि यदि वर्णादिभाव जीव के नही हैं तो अन्य सिद्धान्तग्रन्थो मे ऐसा कैसे कहा गया है कि वे जीव के हैं? तत्त्वार्थसूत्र मे तो राग-द्वेष आदि उदयभावो को जीव के कहा है और आप कहते हो कि वे जीव के नही है। सो यह किसप्रकार है? इस प्रश्न का उत्तर ही इस ५६वी गाथा मे दिया गया है।

व्यवहारनय पर्यायाश्रित है अर्थात् व्यवहारनय पर्याय के आश्रय से होता है। जिसप्रकार सफेद रूई से बना हुआ वस्त्र सफेद ही है, परन्तु लालरग से रगा होने से उसे लालवस्त्र कहते हैं। वह लालरग वस्त्र का औपाधिकभाव है, स्वभावभाव नही है। जिसप्रकार लालरग के सयोग से वस्त्र को लालवस्त्र कहते हैं, उसीप्रकार अनादिकाल से पुद्गल के सयोग से जीव की जो वधपर्याय प्रसिद्ध है, वह जीव का स्वभाव नही, बल्कि औपाधिकभाव है। जीव तो त्रिकाल शुद्ध चैतन्यस्वभावी ही है।

जीव के औपाधिकभाव का अवलम्बन लेकर प्रवर्तित होनेवाला व्यवहारनय अन्य के भाव को अन्य का कहता है। जिसप्रकार सफेद वस्त्र कुसुम्बी रग से रगा हो तो वह कुसुम्बी (लाल) रग वस्त्र का औपाधिक-भाव है, उसीप्रकार जीव तो शुद्ध चैतन्यमात्र वस्तु है और ये वर्णादि व रागादिभाव औपाधिकभाव है, अतः अन्य के है, अजीव हैं। व्यवहारनय उन वर्णादिभावो को ही जीव के भाव कहता है तथा लोक मे भी ऐसा ही व्यवहार चलता है।

इस अपेक्षा से औपाधिकभाव का अवलम्बन लेकर प्रवर्तित व्यवहार-नय अन्य के भावो को अन्य के भाव कहता है। तथा निश्चयनय द्रव्य के आश्रय से कथन करता है अर्थात् निश्चयनय केवल एक जीव के स्वाभाविक-भाव का अवलम्बन लेकर प्रवर्तता है। त्रिकाली ज्ञायकभाव जीव का केवल एक स्वाभाविकभाव है। ऐसे जीव के एक स्वाभाविकभाव का अवलम्बन

लेकर प्रवर्तित होने से निश्चयनय अन्य के भाव को अन्य का नही कहता। निश्चयनय द्रव्य के आश्रय से प्रवर्तित होने से औपाधिकभावो का निषेध करता है, इसलिए वर्ण से लेकर गुणस्थान तक जो भाव है, वे सभी व्यवहारनय से तो जीव के ही है, परन्तु निश्चय से वे जीव के नही हैं। ऐसा भगवान का जो स्याद्वादयुक्त कथन है, वह योग्य ही है।

प्रश्न :– जब दो नय हैं तो दोनो का आदर करना चाहिए न ?

उत्तर :– नही, ऐसा नही है। व्यवहारनय जानने लायक है; जबकि निश्चयनय आदरने लायक है। पहले गाथा ५५ में २९ बोलो द्वारा कहा गया था कि वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यंत जो भाव है, वे सब पर्याय अपेक्षा व्यवहारनय से जीव के हैं। वस्तु के स्वभाव की दृष्टि से देखने पर निश्चय से वे जीव मे नही हैं। इस का नाम स्याद्वाद है। 'इति युक्ता प्रज्ञप्ति' – ऐसा पाठ मे है अर्थात् व्यवहार से पर्याय मे हैं, परन्तु निश्चय से जीव में नही है – ऐसा वीतराग का स्याद्वाद कथन है। वह उचित है, यथार्थ है।

—०००—

इह विधि सधै मुकति कौ मारग

जब चेतन मभारि निज पौरुष,
निरखै निज दृग सौ निज मर्म।
तब सुखरूप विमल अविनासिक,
जानै जगत सिरोमनि धर्म ॥
अनुभौ करै सुद्ध चेतन कौ,
रमै स्वभाव वमै सव कर्म।
इह विधि सधै मुकति कौ मारग,
अरु समीप आवै सिव सर्म ॥५॥

वरनादिक रागादि यह, रूप हमारौ नाहि।
एक ब्रह्म नहि दूसरौ, दीसै अनुभौ माहि ॥६॥

समयसार नाटक, अजीवद्वार, छन्द ५ व ६

कुतो जीवस्य वर्णादयो निश्चयेन न सतीति चेत् –

एदेहिं य सम्बन्धो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
ण य होंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा ।।५७।।

एतैश्च सम्बन्धो यथैव क्षीरोदकं ज्ञातव्यः।
न च भवति तस्य तानि तूपयोगगुणाधिको यस्मात् ।।५७।।

यथा खलु सलिलमिश्रितस्य क्षीरस्य सलिलेन सह परस्परावगाहलक्षणे संबंधे सत्यपि स्वलक्षणभूतक्षीरत्वगुणव्याप्यतया सलिलादधिकत्वेन प्रतीयमानत्वादग्नेरुष्णगुणेनेव सह तादात्म्यलक्षणसंबधाभावात् न निश्चयेन सलिलमस्ति तथा वर्णादिपुद्गलद्रव्यपरिणाममिश्रितस्यात्मनः पुद्गलद्रव्येण सह परस्परावगाहलक्षणे संबंधे सत्यपि स्वलक्षणभूतोपयोगगुण-

---

अब फिर शिष्य पूछता है कि वर्णादिक निश्चय से जीव के क्यों नही हैं ? इसका कारण कहिये। इसका उत्तर गाथारूप से कहते हैं –

इन भाव से संबंध जीव का, क्षीर जलवत् जानना।
उपयोग गुण से अधिक, तिससे भाव कोई न जीव का ।।५७।।

गाथार्थ :– [एतैः च सम्बन्धः] इन वर्णादिक भावो के साथ जीव का सम्बन्ध [क्षीरोदकं यथा एव] दूध और पानी का एकक्षेत्रावगाहरूप संयोगसम्बन्ध है, ऐसा [ज्ञातव्यः] जानना [च] और [तानि] वे [तस्य तु न भवति] उस जीव के नही हैं, [यस्मात्] क्योंकि जीव [उपयोगगुणाधिकः] उनसे उपयोगगुण से अधिक है (वह उपयोग गुण के द्वारा भिन्न ज्ञात होता है)।

टीका :– जैसे जलमिश्रित दूध का जल के साथ परस्पर अवगाहस्वरूप सम्बन्ध होने पर भी, स्वलक्षणभूत दुग्धत्वगुण के द्वारा व्याप्त होने से दूध जल से अधिकपने से प्रतीत होता है, इसलिये जैसा अग्नि का उष्णता के साथ तादात्म्यस्वरूप सम्बन्ध है, वैसा जल के साथ दूध का सम्बन्ध न होनेसे, निश्चय से जल दूध का नहीं है, इसप्रकार वर्णादिक पुद्गलद्रव्य के परिणामो के साथ मिश्रित इस आत्मा का, पुद्गलद्रव्य के साथ परस्पर अवगाहस्वरूप सम्बन्ध होने पर भी, स्वलक्षणभूत उपयोगगुण

व्याप्यतया सर्वद्रव्येभ्योऽधिकत्वेन प्रतीयमानत्वादग्नेरुष्णगुणेनेव सह तादात्म्यलक्षणसम्बन्धाभावान्न निश्चयेन वर्णादिपुद्गलपरिणामाः सन्ति ।

के द्वारा व्याप्त होने से आत्मा सर्व द्रव्यो से अधिकपने से (परिपूर्णपने से) प्रतीत होता है, इसलिये जैसा अग्नि का उष्णता के साथ तादात्म्यस्वरूप सम्बन्ध है, वैसा वर्णादिक के साथ आत्मा का सम्बन्ध नही है, इसलिये निश्चय से वर्णादिक पुद्गलपरिणाम आत्मा के नही हैं ।

गाथा ५७ की उत्थानिका, गाथा एवं उसकी टीका पर प्रवचन

जिसप्रकार जलमिश्रित दूध का जल के साथ परस्पर एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध है, फिर भी दूध स्वलक्षणभूत दुग्धत्वगुण से व्याप्त होने के कारण जल से भिन्न प्रतीति मे आता है । दूध का स्वलक्षण दुग्धत्व है, अपने दुग्धत्वलक्षण से व्याप्त दूध जल से भिन्न प्रतीति मे आता है । इसकारण जैसा अग्नि के साथ उष्णता का तादात्म्य-सम्बन्ध है, वैसा जल के साथ दूध का नही है । दूध व जल का एकक्षेत्रावगाहरूप सयोग-सम्बन्ध है और अग्नि व उष्णता का तादात्म्य-सम्बन्ध है, इसलिए निश्चय से दूध-पानी का सम्बन्ध अग्नि-उष्णता की तरह नही है ।

इसीप्रकार आत्मा का रंग-गध आदि गुणवाले पुद्गल के साथ, राग-द्वेषादि विकार के साथ गुणस्थान आदि भेदो के साथ एव परस्पर जीव-पुद्गल के साथ एकक्षेत्रावगाहरूप-सम्बन्ध होते हुए भी आत्मा स्वलक्षणभूत उपयोगगुण से व्याप्त होने के कारण सर्व परद्रव्य, विकार व भेदो से भिन्न प्रतीत होता है । भगवान आत्मा जानने-देखनेरूप उपयोगगुण से अन्य द्रव्यो से अधिक अर्थात् भिन्न है । जिसप्रकार दुग्धत्व से युक्त दूध जल से भिन्न है, उसीप्रकार उपयोगलक्षण से युक्त आत्मा अन्य सर्वभावो से भिन्न है । जैसा अग्नि और उष्णता मे तादात्म्य-सम्बन्ध है, वैसा भगवान आत्मा का वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त भावो के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध नही है । एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध तो है, परन्तु तादात्म्य-सम्बन्ध नही है; इसलिए वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त भाव आत्मा के नही हैं ।

जानना जानना· जानना वस, मात्र जानना ही स्वभाव है । इसकारण जीव राग-द्वेष तथा गुणस्थान आदि सव भेदभावो से भिन्न है । अहाहा ! आत्मा का अपने उपयोगरूप त्रिकाली स्वभाव पर लक्ष्य होने से उपयोग द्वारा ही वह पर से भिन्न ज्ञात होता है । निश्चय से त्रिकाल उपयोग अर्थात् ज्ञानगुण, जीव का स्वभावभूत लक्षण है । इस ग्रथ की गाथा ६१ मे भी आया है कि आत्मा ज्ञानस्वभाव से अधिक है, विशिष्ट है ।

प्रश्न :— त्रिकाल ज्ञानस्वभाव से परिपूर्ण आत्मा पर से पृथक् है— ऐसा निर्णय कौन करता है ?

उत्तर :— स्वभाव की ओर ढलती हुई पर्याय ऐसा निणय करती है कि यह आत्मा ज्ञानगुण से अधिक है, पर से पृथक् हैं। त्रिकाली जीव का लक्षण त्रिकाल उपयोग है, परन्तु जीव का 'उपयोग' लक्षण है— ऐसा निर्णय त्रिकाल उपयोग नही करता, वह तो अक्रिय है, परन्तु उसमे ढली हुई पर्याय जानती है कि जीव 'उपयोग' लक्षणवाला है। अहाहा ! यहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय की व्याख्या कैसी स्पष्ट की गई है।

शास्त्र मे आता है कि जीव नित्य 'उपयोग' लक्षणवाला है, परन्तु नित्य 'उपयोग' लक्षण का निर्णय करनेवाली पर्याय है। उपयोग अर्थात् जानने के स्वभाव द्वारा भगवान आत्मा रागादिभावो से भिन्न है। फिर भी रागादि से जुदा करनेवाला गुण नही है, किन्तु अनुभूतिपर्याय है।

४६वी गाथा मे अव्यक्त के एक बोल मे आया है कि चित्सामान्य मे चैतन्य की सर्व व्यक्तियाँ निमग्न (अन्तर्भूत) हैं, इसलिए आत्मा अव्यक्त है। भगवान आत्मा मे पर्यायें अन्तर्लीन हैं, परन्तु पर्यायें जिसमे अन्तर्लीन हैं— ऐसे अव्यक्त का निर्णय तो व्यक्त पर्याय ही करती है।

यहाँ कहते हैं दूध और जल परस्पर व्याप्त होकर एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध मे होते हुए भी दूध के गुण या लक्षण से देखे तो वह दुग्धत्वगुण के कारण जल से भिन्न है— ऐसा ज्ञात होता है। उसीतरह आत्मा और पुण्य-पाप, दया-दान, व्रतादि के विकल्प एकक्षेत्रावगाह-सम्बन्ध की अपेक्षा से एक जगह व्याप्त होने पर भी स्वभाव की शक्ति से देखे तो ज्ञात होता है कि आत्मा ज्ञानगुण के कारण राग से भिन्न (अधिक) है। राग से भिन्न पड़कर परिणति जब ज्ञायक पर जाती है, तब उस उद्धत परिणति से आत्मा राग से भिन्न स्पष्ट अनुभव मे आता है। 'मैं राग व पर से भिन्न हूँ, अधिक हूँ'— ऐसा अनुभव गुण मे कहाँ है ? ऐसा अनुभव तो पर्याय मे है।

जैसे— दृष्टान्त मे 'स्वलक्षणभूत दुग्धत्वगुण' लिया था, उसीतरह सिद्धान्त मे 'स्वलक्षणभूत उपयोगगुण' लिया है। आत्मा और पुण्य-पाप, गुणस्थान आदि भाव एक-अवगाहना मे व्याप्त होते हुए भी स्वलक्षणभूत उपयोगगुण से देखने पर अर्थात् परिणति के अन्तरग मे ढलने पर वे आत्मा से भिन्न ज्ञात होते हैं। इसकारण ये सभी अन्यभाव पर्याय मे होते हुए भी द्रव्य मे नही हैं, ऐसा कहते हैं। इसप्रकार आत्मा सर्वद्रव्यो और सर्वभावो से अधिकपने— भिन्नरूप से प्रतीत होता है।

जैसे दूध तथा जल एक स्थान पर व्याप्त होता हुआ भी, दूध मिठासगुण के कारण जल से भिन्न ज्ञात होता है, उसीप्रकार भगवान आत्मा उपयोगगुण के कारण पर से भिन्न दिखाई देता है।

जानती तो पर्याय है अर्थात् आत्मा पर से भिन्न है—ऐसा निर्णय पर्याय करती है। इस ज्ञानगुण के कारण आत्मा पर से भिन्न है—ऐसा जिसकी अनुभूति की पर्याय मे निर्णय हुआ है, उसने ही पर से भिन्न आत्मा को जाना है; क्योकि त्रिकाली उपयोगगुण में जानना नही होता। द्रव्य-गुण तो त्रिकाली ध्रुव कूटस्थ अक्रिय है, इसमें कोई क्रिया, परिणमन या वदलाव नही है। क्रिया तो परिणति या पर्याय मे है। राग की क्रिया तो द्रव्य व गुण मे है ही नही, परन्तु निर्मलता की क्रिया भी द्रव्य-गुण मे नही है। क्रिया पर्याय मे होने से द्रव्यस्वभाव की ओर ढलनेवाली पर्याय ऐसा निश्चय करती है कि उपयोगगुण से आत्मा सर्व परद्रव्यो से भिन्न है, अधिक है। अहो! मक्खन जैसी सारभूत वात है।

अज्ञानी को तो वाहर के शारीरिक क्रियाकाण्ड से धर्म प्राप्त करना है। थोडा-वहुत दान दे दिया, एकाध मन्दिर वनवा दिया और मान लिया है कि धर्म हो गया। ऐसे जीवो को आचार्य कहते हैं कि हे भाई! वाहर की क्रियाएँ तो अपने स्वकाल मे हो जाती हैं, इनसे तेरा भाव जुदा है और वर्त्तमान मे तुझे जो दानादि के विकल्प, रागादिभाव हुए; उनसे भी तू भिन्न है। अहाहा! अपना लक्षण जो जानने-देखने रूप ज्ञायक उपयोग है—ऐसे गुण से आत्मा व्याप्त होने से सर्वद्रव्यो से पृथक् प्रतीति मे आता है। आत्मा का वर्णादि के साथ अवगाह-सम्वन्ध है, किन्तु अग्नि-उष्णता की भाँति तादात्म्य-सम्वन्ध नही है। अहाहा! यह जो व्यवहाररत्नत्रय का राग है, इसके साथ आत्मा का अवगाह-सम्वन्ध है, तादात्म्य-सम्वन्ध नही है। इसकारण स्वलक्षणभूत ज्ञानगुण से देखने पर आत्मा वर्णादि और व्यवहाररत्नत्रय के राग से अधिक अर्थात् भिन्न ज्ञात होता है। पर्याय जव स्वभाव की ओर ढलती है, तव स्वभाव का गुण-स्थान आदि भेदों से भिन्नपना भासित होता है। इसप्रकार रागादि के साथ आत्मा का तादात्म्यपना नही होने से निश्चय से सर्व रागादि—पुद्गल के परिणाम हैं, आत्मा के परिणाम नही।

यहाँ दो प्रकार के सम्वन्ध की वात की है। (१) अवगाह-सम्वन्ध तथा (२) तादात्म्य-सम्वन्ध। भगवान आत्मा का रागादि के साथ अवगाह-सम्वन्ध है अर्थात् आत्मा का जैसा ज्ञानगुण के साथ तादात्म्य-सम्वन्ध है,

वैसा रागादि के साथ सम्बन्ध नही है। दूसरे प्रकार से कहे तो आत्मा की रागादि के साथ एकरूपता नही है अर्थात् दोनो के बीच साँध है, सन्धि है। इसकारण ज्ञान की पर्याय को स्वभाव मे झुकाने पर दोनो जुदे पड जाते हैं। इन दया-दान-व्रतादि के विकल्पो के साथ आत्मा की एकता नही है, किन्तु सन्धि है। इसलिए ज्ञान की पर्याय जब स्वरूप का लक्ष्य करके अन्दर ढलती है, तब विकल्प भिन्न हो जाते हैं। वास्तव मे पर्याय मे आत्मा का अनुभव हुआ—यही सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान है।

इसप्रकार वर्णादि से लेकर गुणस्थानपर्यन्त सर्वभाव पुद्‌गल के परिणाम हैं, आत्मा के नही। व्यवहार से—पर्यायनय से वे जीव के हैं, तथापि निश्चय से—द्रव्यनय से वे जीव के नही हैं, ऐसा अस्ति-नास्तिरूप स्याद्वाद है। व्यवहार से भी जीव के हैं और निश्चय से भी जीव के हैं—ऐसा स्याद्वाद नही है। व्यवहार असत्यार्थ है, क्योकि मूलवस्तुभूत नही है। कलशटीका मे अनेक स्थानो पर व्यवहार को असत्यार्थ कहा है। सत्यवस्तु त्रिकाली शुद्ध चित्स्वरूप आत्मा है, इसकी अपेक्षा से सर्व व्यवहार के भाव असत्यार्थ है। आत्मवस्तु के अन्तर मे—स्वरूप मे विकारीभाव हैं ही नही, इसलिए वे असत्यार्थ हैं। ये भेद वास्तविकपने असत्यार्थ तब कहे जा सकते है, जब ज्ञान की पर्याय स्वरूप मे झुककर अन्तर्निमग्न हो जावे और ये भेद दिखाई न दे।

पर्यायरूप से तो ये भेद हैं, परन्तु आत्मा के चैतन्यस्वरूप मे वे नही हैं। इसकारण वर्णादिभाव व्यवहारनय से जीव के है, किन्तु निश्चयनय से आत्मा के नही हैं—ऐसा यथार्थ स्याद्वाद है। इसतरह ही निमित्त है, परन्तु निमित्त से कार्य नही होता—यह स्याद्वाद है। श्री पण्डित बनारसीदाजी ने भी कहा है कि 'नहिं निमित्त को दाव' अर्थात् निमित्त का कभी दाव लगता ही नही है। श्री कार्तिकेयस्वामी ने भी एक गाथा मे कहा है कि 'पूर्व परिणामयुक्त द्रव्य कारण है और उत्तरपरिणामयुक्त द्रव्य कार्य है, तो फिर निमित्त कहाँ रहा? व्यवहार से कहा जाय तो पूर्व-परिणाम कारण और उत्तरपरिणाम कार्य—ऐसा कहा जा सकता है तथा निश्चय से तो वही परिणाम कारण व वही परिणाम कार्य है।

कथं तर्हि व्यवहारोऽविरोधक इति चेत् –

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी ।
मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई ॥५८॥

तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं ।
जीवस्य एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो ॥५९॥

गंधरसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य ।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति ॥६०॥

पथि मुष्यमाणं दृष्ट्वा लोका भणंति व्यवहारिणः ।
मुष्यते एष पथा न च पंथा मुष्यते कश्चित् ॥५८॥
तथा जीवे कर्मणां नोकर्मणां च दृष्ट्वा वर्णम् ।
जीवस्यैष वर्णो जिनैर्व्यवहारतः उक्तः ॥५९॥
गंधरसस्पर्शरूपाणि देह संस्थानादयो ये च ।
सर्वे व्यवहारस्य च निश्चयद्रष्टारो व्यपदिशंति ॥६०॥

अब यहाँ प्रश्न होता है कि इसप्रकार तो व्यवहारनय और निश्चय-नय का विरोध आता है, अविरोध कैसे कहा जा सकता है ? इसका उत्तर दृष्टान्त द्वारा तीन गाथाओ मे कहते हैं –

देखा लुटाते पंथ मे को, 'पंथ ये लुटात हैं' ।
जनगण कहे व्यवहार से, नहिं पंथ ये लुटात है ॥५८॥

त्यो वर्ण देखा जीव में, इन कर्म अरु नोकर्म का ।
जिनवर कहे व्यवहार से, 'यह वर्ण है इस जीव का' ॥५९॥

त्यो गंध, रस, रूप, स्पर्श, तन, संस्थान इत्यादिक सबै ।
भूतार्थदृष्टा पुरुष ने, व्यवहारनय से वर्णये ॥६०॥

गाथार्थ :– [पथि मुष्यमाणं] जैसे मार्ग मे जाते हुये व्यक्ति को लुटता हुआ [दृष्ट्वा] देखकर, [एषः पंथा] यह मार्ग [मुष्यते] लुटता है, इसप्रकार [व्यवहारिणः लोकाः] व्यवहारीजन [भणंति] कहते है, किन्तु परमार्थ से विचार किया जाये तो [कश्चित् पंथा] कोई मार्ग तो

यथा पथि प्रस्थितं कंचित्सार्थं मुष्यमाणमवलोक्य तात्स्थ्यात्तदुपचारेण मुष्यत एष पथा इति व्यवहारिणां व्यपदेशेपि न निश्चयतो विशिष्टाकाशदेशलक्षणः कश्चिदपि पंथा मुष्येत तथा जीवे बंधपर्यायेणावस्थितं कर्मणो नोकर्मणो वा वर्णमुत्प्रेक्ष्य तात्स्थ्यात्तदुपचारेण जीवस्यैष वर्ण इति व्यवहारतोऽर्हद्देवाना प्रज्ञापनेपि न निश्चयतो नित्यमेवामूर्तस्वभावस्योपयोगगुणाधिकस्य जीवस्य कश्चिदपि वर्णोऽस्ति एव गंधरसस्पर्शरूपशरीरसस्थानसंहननरागद्वेषमोहप्रत्ययकर्मनोकर्मवर्गवर्गणास्पर्धकाध्यात्मस्थानानुभागस्थानयोगस्थानबंधस्थानोदयस्थानमार्गणास्थानस्थितिबंधस्थानसंक्लेशस्थानविशुद्धिस्थानसंयमलब्धिस्थानजीवस्थानगुणस्थानान्यपि

[न च मुष्यते] नही लुटता, मार्ग मे जाता हुआ मनुष्य ही लुटता है, [तथा] इसीप्रकार [जीवे] जीव मे [कर्मणा नोकर्मणा च] कर्मो का और नोकर्मो का [वर्णम्] वर्ण [दृष्ट्वा] देखकर, [जीवस्य] जीव का [एष. वर्ण.] यह वर्ण है, इसप्रकार [जिनै.] जिनेन्द्रदेव ने [व्यवहारत.] व्यवहार से [उक्त] कहा है। [एव] इसीप्रकार [गधरसस्पर्शरूपाणि] गध, रस, स्पर्श, रूप, [देहः सस्थानादय.] देह, सस्थान आदि [ये च सर्वे] जो ये सर्व हैं, [व्यवहारस्य] वे सव व्यवहार से हैं [निश्चयद्रष्टारः] ऐसा निश्चय के देखनेवाले [व्यपदिशति] कहते हैं।

टीका :- जैसे व्यवहारीजन मार्ग मे जाते हुए किसी सार्थ (सघ) को लुटता हुआ देखकर, सघ की मार्ग मे स्थिति होने से उसका उपचार करके 'यह मार्ग लुटता है'- ऐसा कहते हैं, तथापि निश्चय से देखा जाये तो जो आकाश के अमुक भागस्वरूप है - वह मार्ग तो कुछ नही लुटता। इसीप्रकार भगवान अरहन्तदेव जीव मे बन्धपर्याय से स्थिति को प्राप्त कर्म और नोकर्म का वर्ण देखकर कर्म-नोकर्म की जीव मे स्थिति होने से उसका उपचार करके 'जीव का यह वर्ण है' - ऐसा व्यवहार से प्रगट करते हैं, तथापि निश्चय से सदा ही जिसका अमूर्त स्वभाव है और जो उपयोगगुण के द्वारा अन्यद्रव्यो से अधिक है - ऐसे जीव का कोई भी वर्ण नही है। इसीप्रकार गध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, सस्थान, संहनन, राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बधस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबधस्थान, सक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, सयमलब्धिस्थान, जीवस्थान और गुणस्थान - ये सब ही अरहन्त भगवान जीव के (भाव) व्यवहार से कहते हैं, तथापि निश्चय से सदा ही जिसका अमूर्त स्वभाव है और जो उपयोगगुण के द्वारा

व्यवहारतोऽर्हद्देवानां प्रज्ञापनेऽपि निश्चयतो नित्यमेवामूर्तस्वभावस्योपयोगगुणेनाधिकस्य जीवस्य सर्वाण्यपि न सन्ति, तादात्म्यलक्षणसम्बन्धाभावात् ।

अन्य से अधिक है – ऐसे जीव के वे सब नही हैं, क्योकि इन वर्णादि भावो के और जीव के तादात्म्यलक्षण-सम्बन्ध का अभाव है ।

भावार्थ :– ये वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यंत भाव सिद्धान्त मे जीव के कहे हैं – वे व्यवहारनय से कहे हैं, निश्चयनय से वे जीव के नही है, क्योकि जीव तो परमार्थ से उपयोगस्वरूप है ।

यहाँ ऐसा जानना कि पहले व्यवहारनय को असत्यार्थ कहा था, सो वहाँ ऐसा न समझना कि वह सर्वथा असत्यार्थ है, किन्तु कथचित् असत्यार्थ जानना; क्योकि जब एक द्रव्य को (परद्रव्य से) भिन्न, पर्यायो से अभेदरूप, उसके असाधारणगुण मात्र को प्रधान करके कहा जाता है; तब परस्पर द्रव्यो का निमित्त-नैमित्तिक भाव तथा निमित्त से होनेवाली पर्यायें – वे सब गौण हो जाते हैं । वे एक अभेदद्रव्य की दृष्टि मे प्रतिभासित नही होते, इसलिये वे सब उस द्रव्य मे नही हैं; इसप्रकार कथंचित् निषेध किया जाता है । यदि उन भावो को उस द्रव्य मे कहा जाये तो वह व्यवहारनय से कहा जा सकता है – ऐसा नय विभाग है ।

(यहाँ शुद्धनय की दृष्टि से कथन है, इसलिये ऐसा सिद्ध किया है कि जो ये समस्त भाव सिद्धान्त मे जीव के कहे गये है, सो व्यवहार से कहे गये हैं । यदि निमित्त-नैमित्तिक भाव की दृष्टि से देखा जाये तो वह व्यवहार कथचित् सत्यार्थ भी कहा जा सकता है । यदि सर्वथा असत्यार्थ ही कहा जाये तो सर्व व्यवहार का लोप हो जायेगा और सर्व व्यवहार का लोप होने से परमार्थ का भी लोप हो जायेगा । इसलिये जिनेन्द्रदेव का उपदेश स्याद्वाद-रूप समझना ही सम्यक्ज्ञान है और सर्वथा-एकान्त, वह मिथ्यात्व है ।

गाथा ५८-५९-६० की उत्थानिका, गाथा एवं उनकी टीका पर प्रवचन

यहाँ शिष्य का प्रश्न है कि एक नय कहता है कि वर्णादिभाव जीव के है और दूसरा नय कहता है कि वे जीव के नही है । इसप्रकार निश्चय-नय व व्यवहारनय मे परस्पर विरोध आता है, सो इन दोनो नयो मे अविरोधपना किसप्रकार घटित होता है ?

आचार्यश्री ने शिष्य के इस प्रश्न का उत्तर इन तीन गाथाओ मे दृष्टान्त द्वारा दिया है । अहाहा ! कैसा सुन्दर उदाहरण दिया है ।

जिसप्रकार मार्ग नही लुटता, बल्कि मार्ग मे चलता हुआ सघ लुटता है। किसी मार्गविशेष मे सघ के लुटने की घटना का सम्बन्ध होने के कारण उपचार से ऐसा कहा जाता है कि मार्ग लुटता है। उसीप्रकार भगवान आत्मा तो त्रिकाली ध्रुव नित्यानदस्वरूप चैतन्य प्रभु है, उसमे रागादिक का अस्तित्व नही है, किन्तु पर्याय मे राग और कर्म का क्षणिक सम्बन्ध देखकर कर्म व राग जीव के हैं – ऐसा व्यवहारनय से कहा जाता है।

जीव की पर्याय मे कर्म, नोकर्म व रागादि का सम्बन्ध मात्र एक-समय का ही है, दूसरे समय मे दूसरा सम्बन्ध होता है और तीसरे समय मे तीसरा। इतना सम्बन्ध देखकर, जिसप्रकार मार्ग लुटता नही, तथापि मार्ग लुटता है – ऐसा आरोप से कहा जाता है, उसीप्रकार भगवान आत्मा मे कर्म व रागादि नही हैं, तथापि व्यवहार से वे आत्मा के हैं – ऐसा कहा जाता है। निश्चय से तो आत्मा सदा ही अमूर्तस्वभावी 'उपयोग' गुण द्वारा अन्य द्रव्यो से भिन्न है। इसप्रकार इस जीव के वर्ण आदि कुछ भी नही हैं। निश्चय से परमार्थवस्तु के चैतन्य ध्रुवप्रवाह को देखने पर वर्ण आदि उसमे दिखाई नही देते है।

मार्ग तो मार्ग मे है, आकाश मे है, वह मार्ग (आकाशद्रव्य) कही लुटता है ? किन्तु सघ जो थोडे काल के लिये मार्ग मे चला था – वह लुटा, मात्र इतना-सा सयोग देखकर 'मार्ग लुटता है' – ऐसा आरोप करके कहते हैं। इसीप्रकार आत्मा मे एकसमय के राग व कर्म का सम्बन्ध देखकर राग व कर्म जीव के हैं – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है, परन्तु निश्चय से वे मूलवस्तु मे नही हैं। आत्मा की वर्त्तमान पर्याय मे परद्रव्य के साथ मात्र एकसमय का ही सम्बन्ध है। शरीर, कर्म, राग, गुणस्थानो के भेद आदि के साथ भी एकसमय का ही सम्बन्ध है। अहाहा! वस्तु तो वस्तुपने त्रिकाल है, उसकी एकसमय की पर्याय मे वर्णादि के साथ सम्बन्ध देखकर, 'वे वर्णादि जीव के हैं' – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।

जिसप्रकार जीव के वर्ण नही है, उसीप्रकार गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, सस्थान, सहनन, राग, द्वेष, मोह, मिथ्यात्व, आस्रव, कर्म, योगस्थान, बन्धस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबन्धस्थान, सक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान तथा सयमलब्धिस्थान भी जीव के नही है तथा पर्याप्त, अपर्याप्त, सज्ञी, असज्ञी आदि जीवस्थान भी जीव के नही है। पहले २९ बोलो द्वारा जिन भावो का कथन किया है, वे सभी भाव जीव की पर्याय मे मात्र एकसमय के है, त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा मे

वे नही हैं। भगवान आत्मा तो चैतन्य के ध्रुवप्रवाह से ध्रुव ध्रुव …ध्रुव अनादि-अनत रहनेवाला है। उपरोक्त सभी भावों का जीव के साथ पर्याय मे एकसमय मात्र का सम्बन्ध देखकर जिनवाणी मे उन्हे व्यवहार से जीव का कहा है, परन्तु निश्चय से त्रिकाली द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा से वे भाव जीव के नही हैं।

निश्चय से जिसका सदैव अमूर्तस्वभाव है और जो 'उपयोग' गुण के कारण पर से अधिक है, भिन्न है—ऐसे आत्मा के उपरोक्त सर्व भाव नही हैं। देखो! उपरोक्त सभी भावों को मूर्त्त कहा और भगवान आत्मा को अरूपी, अमूर्त्त कहा है। अहाहा! ज्ञातास्वभाववाला भगवान आत्मा अरूपी चैतन्यतत्त्व है और वह सर्व भेदो की पर्याय से भिन्न है।

अनादिकाल से आत्मा के साथ मिथ्यात्व का प्रवाह है। इसकारण अज्ञानी को ऐसा लगता है कि संसार तो अनादिकाल से है, उसे समझाते हुये आचार्य कहते हैं कि भाई! जिसे तू अनादि का कहता है, वह ससार तो प्रवाह की अपेक्षा से है, वास्तव मे तो जीव का संसार-पर्याय के साथ एकसमय का ही सम्बन्ध है। सयमलब्धि के भेदरूप भाव भी एकसमय के ही हैं। ये वस्तु मे कहाँ हैं? अहा! कैसी शैली है! आत्मा सदैव अमूर्त-स्वभावी है और वह 'उपयोग' गुण के कारण अन्य भावो से भिन्न है, इसलिये वर्त्तमान पर्याय को अन्तर मे झुकाने पर 'उपयोग' गुण से वह भिन्न पड जाता है अर्थात् भेद के साथ उसका सम्बन्ध नही रहता।

अनन्तकाल से प्रवाहरूप संसार भले हो, तथापि उसके साथ जीव का अनन्तकाल का सम्बन्ध नही है, किन्तु एकसमय का ही सम्बन्ध है। त्रिकाली भगवान आनन्द का नाथ चैतन्य महाप्रभु है, उसका चाहे जितना लम्बा संसार हो, भले ही ७० कोड़ा-कोड़ी सागर की स्थिति हो; तथापि सम्बन्ध की स्थिति तो एकसमय मात्र ही है। ज्ञानावरणीय कर्म की जो ३० कोडा-कोड़ी सागर की स्थिति कही है, वह तो पूरा जोड लगा करके कही है, वस्तुतः सम्बन्ध तो एकसमय मात्र का ही है। राग हो या मिथ्यात्व हो, गुणस्थान का भेद हो या जीवस्थान का भेद हो—इन सबके साथ मात्र एकसमय का ही सम्बन्ध है। एकसमय का सम्बन्ध है, इस अपेक्षा से वे भेद जीव के हैं—ऐसा व्यवहार से कहा है; तथापि स्वभाव की दृष्टि से देखने पर वे भेद जीव के नही हैं। मात्र एकसमय की पर्याय के सम्बन्ध मे अटकी हुई दृष्टि जब पलटकर स्वभाव पर स्थिर होती है, तब वह एकसमय का सम्बन्ध भी नही रहता।

आत्मा का सदा ही अमूर्त्तस्वभाव है और वह 'उपयोग' गुण के कारण अन्य से जुदा है, इसलिए एकसमय की पर्याय मे अटके हुए भावो से वह भिन्न है अर्थात् वे सर्व भाव जीव के नही है। अहाहा! निमित्त को हटा दिया, राग हटा दिया और भेदरूप पर्याय को भी पृथक् कर दिया। निमित्त का सम्बन्ध एकसमय का, राग का सम्बन्ध एकसमय का और भेदरूप पर्याय का सम्बन्ध भी एकसमय का। अरे, उक्त २९ बोलो द्वारा कहे गये सम्पूर्ण भावो के कूड़े का ढेर एकसमय के सम्बन्धवाला है। यह सम्बन्ध भी पर्यायदृष्टि से देखने पर है और वस्तुस्वभाव की दृष्टि से देखें तो वह भी नही है, क्योकि सयोग-सम्बन्ध होते हुये भी आत्मा का उन सर्व भावो के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध नही है। वर्णादिभाव और जीव मे तादात्म्य-सम्बन्ध का अभाव है। काला रग आदि निमित्तभाव, विकार आदि रागभाव तथा लब्धिस्थान आदि भेदभाव – ये सब एकसमय के भाव हैं। उनका व आत्मा का एकसमय मात्र का सम्बन्ध होने से वे जीव के हैं – ऐसा व्यवहार से कहा है, तथापि वे भेद वस्तुदृष्टि से देखने पर द्रव्य के साथ एकरूप हुए ही नही है। इसकारण निश्चय से वे जीव के नही है। इसप्रकार दो बातें कही। व्यवहार से ये भाव जीव के कहे हैं, किन्तु निश्चय से वे जीव के नही हैं – ऐसा यथार्थ समझना चाहिये।

गाथा ५८-५९-६० के भावार्थ पर प्रवचन

ये वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त भाव सिद्धान्त मे जीव के कहे हैं, वे व्यवहारनय से कहे है। देखो! भगवान आत्मा तो ज्ञानानन्दस्वभावी शुद्ध चैतन्यवस्तु है, उसको वर्त्तमान पर्याय मे इन वर्ण, राग, गुणस्थान आदि का केवल एकसमय का सम्बन्ध है। इसकारण व्यवहारनय से वे जीव के हैं – ऐसा कहा है, क्योंकि वर्त्तमान पर्याय मे उनका अस्तित्व है, परन्तु निश्चयनय से वे जीव के नही हैं, क्योकि जीव तो परमार्थ से उपयोग-स्वरूप है। अहाहा! त्रिकाली ध्रुव ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से देखने पर उन गुणस्थान आदि भेदो के साथ जीव का तद्रूपपना नही है, तादात्म्य नही है। इसकारण वे व्यवहार से कहे हैं, निश्चय से जीव के नही हैं।

यहाँ यह विशेष जानना कि पहले जो व्यवहारनय को असत्यार्थ कहा है, वह सर्वथा असत्यार्थ नही है। यह राग, कर्म का सम्बन्ध, गुणस्थान आदि के भेद पर्याय मे हैं। पर्यायरूप से तो वे सब सत्यार्थ हैं। त्रिकाली द्रव्य की अपेक्षा से एकसमय की दशा को असत्यार्थ कहा है, किन्तु वर्त्तमान पर्याय की अपेक्षा से तो वह व्यवहार सत्य ही है, इसलिए व्यवहारनय को कथंचित् असत्यार्थ जानना, सर्वथा असत्यार्थ नही समझना।

जव जीव को सिद्ध करना हो तो उसका असाधारण लक्षण त्रिकाली उपयोगस्वरूप ज्ञानगुण को मुख्य करके कथन किया जाता है। उससमय परस्पर द्रव्यो का निमित्त-नैमित्तिक भाव तथा निमित्त से होनेवाली सर्व पर्यायें गौण हो जाती हैं। पर्यायो का अभाव नही होता, वल्कि गौण होती हैं। अभेद वस्तु की दृष्टि में, एकसमय की पर्याय या भेद दिखाई नही देते। पहले सातवीं गाथा मे विशेष स्पष्टीकरण आ चुका है कि अभेद मे भेद दिखाई नही देते। यदि भेद देखने लगे तो अभेद पर दृष्टि नही रहती। अतः अभेदवस्तु की दृष्टि से वस्तु मे भेद नही हैं – ऐसा कहा है।

ससारपर्याय की दृष्टि से देखने पर ससार है, उदयभाव है। संसार नही है – ऐसा जो कहा है, वह तो त्रिकाली ध्रुवद्रव्य की अपेक्षा से कहा है। त्रिकाली स्वभाव को अभेददृष्टि से देखने पर अर्थात् वर्त्तमान पर्याय को अभेद की ओर ढालने पर, अभेद मे भेद दिखाई नही देता। इसकारण त्रिकाली द्रव्य मे जीव के भेद नही हैं – ऐसा कहा है, परन्तु पर्याय मे हैं – इसकारण कथंचित् (व्यवहार से) सत् हैं। तत्त्वार्थसूत्र में भी उदयभाव को जीवतत्त्व कहा है। पर्यायनय से राग, पुण्य आदि को जीवतत्त्व कहते हैं; परन्तु त्रिकाली द्रव्य की दृष्टि मे पर्याय गौण हो जाती है। यदि कोई कहे कि संसार है ही नही, पर्याय मे अशुद्धता है ही नही, तो भ्रान्ति है।

प्रश्न :– 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' – ऐसा किस अपेक्षा से है ?

उत्तर :– पर्याय को गौण करके अभेद मे दृष्टि करने पर वे भेद, अभेद में दिखाई नही देते – इस अपेक्षा से 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' कहो तो कोई आपत्ति नही है। यदि पर्याय, पर्याय की अपेक्षा से भी न हो तो संसार ही नही रहेगा और जव ससार की ही सिद्धि नही होगी तो संसारपूर्वक जो मोक्ष होता है, उसका भी अभाव सिद्ध होगा। इसप्रकार किसी भी पर्याय की सिद्धि नही होगी, वस्तु-व्यवस्था ही नही वनेगी।

परमात्मप्रकाश के ४३वे व ६८वे दोहे मे आता है कि जीव के वन्ध-मोक्ष नही है तथा जीव के उत्पाद-व्यय नही है। वहाँ दोहा ४३ की टीका मे लिखा है कि "यद्यपि पर्यायार्थिकनय से उत्पाद-व्ययसहित है; तथापि द्रव्यार्थिकनय से उत्पाद-व्ययरहित है, सदा ध्रुव ही है। वही परमात्मा निर्विकल्प समाधि के वल से तीर्थंकरदेवो ने देह में भी देख लिया है।" देखो! व्यवहारनय से जीव उत्पाद-व्ययसहित है। वर्त्तमान पर्याय की दृष्टि से देखे तो उत्पाद-व्यय है, संसार है, उदयभाव है; परन्तु द्रव्यार्थिक-नय से देखें तो वस्तु में उत्पाद-व्यय नही है। त्रिकालीध्रुव द्रव्यस्वभाव

मे उत्पाद-व्यय नही है, किन्तु वर्तमान पर्याय मे भी कोई उत्पाद-व्यय का निषेध करने लगे तो यह ठीक नही है। दोहा ६८ की टीका मे लिखा है कि "यद्यपि यह आत्मा शुद्धात्मानुभूति के अभाव होने पर शुभ-अशुभ उपयोग-रूप परिणमन करके शुभ-अशुभ कर्मबन्ध को करता है और शुद्धात्मानुभूति के प्रगट होने पर शुद्धोपयोग से परिणमित होकर कर्मबन्ध का अभाव करके मोक्षदशा को प्रगट करता है, तथापि शुद्धपारिणामिक परमभावग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनय से न बन्ध का कर्त्ता है और न मोक्ष का कर्त्ता है।"

तब शिष्य ने **प्रश्न** किया कि "हे प्रभो! शुद्धद्रव्यार्थिकस्वरूप शुद्धनिश्चयनय से मोक्ष का भी कर्त्ता नही है तो क्या इस कथन से ऐसा समझे कि शुद्धनय से मोक्ष ही नही है और जब मोक्ष ही नही है तो उसके लिये प्रयत्न करना भी निरर्थक ही है?"

शिष्य का **समाधान** करते हुए आचार्य कहते हैं – "मोक्ष बन्ध-पूर्वक होता है और बन्ध शुद्धनिश्चयनय से होता ही नही है, इसकारण बन्ध के अभावरूप मोक्ष भी शुद्धनिश्चयनय से नही है। यदि शुद्धनिश्चय-नय से बन्ध हो तो सदैव बन्ध ही रहे, कभी बन्ध का अभाव नही हो।")

देखो, व्यवहारनय से – अशुद्धनय से पर्याय मे बन्ध है और बन्ध के अभावपूर्वक मोक्ष का मार्ग तथा मोक्ष भी है, किन्तु यह सब व्यवहारनय से है, निश्चयनय से बन्ध या मोक्ष नही हैं तथा बन्ध व मोक्ष के कारण भी नही है। अहा! जैनदर्शन बहुत सूक्ष्म है! पर्याय मे बन्ध है तथा बन्ध के नाश का उपाय भी है, परन्तु वह सब व्यवहार है, मोक्षमार्ग की पर्याय भी व्यवहार है। व्यवहाररत्नत्रय के शुभभावरूप विकल्प को उपचार से व्यवहार-मोक्षमार्ग कहा जाता है, उस शुभभावरूप व्यवहाररत्नत्रय की यहाँ बात नही है, बल्कि निर्मल आनदस्वरूप भगवान आत्मा की परणति मे जो शुद्धरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग की दशा होती है, वह भी पर्याय होने से व्यवहार ही है।

'व्यवहार से बन्ध है तथा व्यवहार से ही मोक्ष व मोक्षमार्ग होता है' – यही बात आगे दोहा ६८ की टीका मे दृष्टान्त देकर समझाई है –

"कोई एक पुरुष जेल मे साकल से बधा है और कोई दूसरा पुरुष बन्धरहित है, कभी जेल गया ही नही, उनमे से जो पहले बधा था, उसका 'मुक्त' कहना तो उचित लगता है, किन्तु जो बधा ही नही था, कभी जेल गया ही नही था, उससे कहा जाय कि आप जेल से कब छूट गये? तो ऐसा कहना क्या उचित है? क्या वह इस बात को सुनकर क्रोध नही

करेगा कि मैं जेल गया ही कब ? जो छूटने की पूछते हो। बन्धपूर्वक मोक्ष तो ठीक है, पर जब बन्ध ही नही, तो मोक्ष कहना कैसे ठीक होगा ? इसीप्रकार यह जीव शुद्धनिश्चयनय से बधा ही नही है, अत 'मुक्त' कहना भी ठीक नही है। अत बन्ध भी व्यवहार से व मोक्ष भी व्यवहार से ही है। शुद्धनिश्चयनय से न बन्ध है, न मोक्ष है। अशुद्धनिश्चय से बन्ध है, इसलिए बन्ध के नाश का यत्न भी अवश्य करना चाहिये।" इसलिए पर्याय मे बन्ध व बन्ध के नाश का उपाय तथा मोक्ष व मोक्षमार्ग – ये सब व्यवहारनय से हैं, परतु त्रिकाली द्रव्यस्वभाव मे ये नही हैं। इसप्रकार अपेक्षा से यथार्थ समझना चाहिए।

इस कथन से ऐसा नही समझना कि व्यवहार की सत्ता है, इसलिये वह निश्चय का कारण भी है अर्थात् ऐसा नही मान लेना कि बन्ध-मार्ग की पर्याय मोक्षमार्ग को प्रगट करती है। यहाँ यह सिद्ध नही करना है कि 'व्यवहार निश्चय का कारण है', बल्कि यहाँ तो यह सिद्ध किया है कि 'व्यवहार है अर्थात् पर्याय है'। जिसतरह बन्ध की पर्याय है; उसीतरह मोक्ष व मोक्षमार्ग की पर्याय भी है।

यहाँ कहते है कि पहले जो व्यवहारनय को असत्यार्थ कहा है, उसका अर्थ यह है कि पर्याय, संसार या मोक्ष – द्रव्यस्वभाव मे नही हैं। द्रव्य की अपेक्षा से व्यवहारनय को असत्य कहा है। इसकारण से वह सर्वथा है ही नही, ऐसा नही समझना। वर्तमान पर्याय की अपेक्षा से तो यह व्यवहारनय है, इसकारण यह कथचित् सत्यार्थ है। संसार है, उदय-भाव है, इसप्रकार जो भाव २९ बोल द्वारा कहे हैं, वे सभी पर्याय की अपेक्षा हैं। एकसमय के सम्बन्धवाली पर्याय अस्तिरूप से है, परतु आनद-कन्द नित्यानद ध्रुव प्रभु जो अनादि-अनत चैतन्यप्रवाहरूप है; उसकी दृष्टि मे भेद प्रतिभासित नही होते, इसकारण वे भेद द्रव्य मे नही हैं – इसप्रकार कथचित् निषेध किये गये हैं। यदि उन पर्याय के भेदरूप भावो को द्रव्य के कहना चाहे तो व्यवहारनय से कह सकते हैं, पर निश्चय से वे द्रव्य मे नही हैं। ऐसा निश्चय-व्यवहार का कथन यथार्थ समझना चाहिए।

प्रश्न :– व्यवहार सत्य है या नही ? यदि व्यवहार सत्य है तो व्यवहार-मोक्षमार्ग सत्य है या नही ? और यदि व्यवहार-मोक्षमार्ग सत्य है तो वह निश्चय-मोक्षमार्ग का कारण है या नही ?

उत्तर :– भाई ! पर्याय मे जो एकसमय मात्र का बन्ध है, वह सत्य है। जो परमस्वभावभावरूप वस्तु है, उसकी एकसमय की दशा मे ये सब

भेद है, इसलिए 'हैं' – ऐसा कहा है, परन्तु ये भेद त्रिकाली ध्रुव की दृष्टि मे नही आते, इसकारण द्रव्यदृष्टि कराने के लिए 'वे नही हैं' – इसप्रकार उनका निषेध किया है। वे त्रिकाली सत्य नही हैं, तथापि व्यवहारनय से वे सत्य हैं, क्योकि उनका वर्त्तमान पर्याय मे अस्तित्व है। भाई! यदि व्यवहारनय है तो उसका विषय भी है। इसीकारण तो कहा है कि व्यवहार को भी छोडना नही अर्थात् व्यवहारनय नही है – ऐसा नही मान लेना। यदि व्यवहार को नही मानेंगे तो चौथा, पाँचवाँ आदि गुणस्थान ही नही बनेंगे, किन्तु इसका यह अर्थ भी नही है कि व्यवहार से निश्चय होता है। इस व्यवहार के कारण (व्यवहार के आश्रय से) तीर्थ अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है – ऐसा नही है। यहाँ कहते हैं कि ये भेदरूप भाव त्रिकाली ध्रुवद्रव्य मे नही हैं – यह निश्चय है, परन्तु उसकी एकसमय की पर्याय मे हैं, इसकारण द्रव्य मे है – ऐसा कहा जाए तो व्यवहार से कह सकते है। भाई! ऐसा ही नयविभाग है।

त्रिकाली भगवान आत्मा निर्विकल्प सम्यग्दर्शन व समाधि से ज्ञात होता है। सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार मे आता है कि भगवान आत्मा का अपूर्ण निर्मल परिणमन उपाय है तथा पूर्ण निर्मल परिणमन उपेय है, फल है। वहाँ ऐसा नही कहा कि मन्दराग का भाव उपाय है। जहाँ कही दूसरी जगह उस मन्दराग को उपाय कहा हो, वहाँ वह 'राग है' इतना ज्ञान कराने के लिए कहा है – ऐसा समझना। अहाहा! वस्तु ज्ञानानन्द-स्वभावी त्रिकाल ज्ञायक भगवान है, उसकी दशा मे – पर्याय मे द्रव्यस्वभाव का अपूर्ण वीतरागी परिणमन उपाय है और पूर्ण वीतरागी परिणमन उपेय अर्थात् फल है। स्वभाव-परिणमन की ही अपूर्णता व पूर्णता मे उपाय व उपेय समाता है। राग या व्यवहार उपाय नही है। भाई! यह बात सूक्ष्म पडती है, परन्तु मार्ग तो यही है। बापू! यह शुद्ध चिदानन्दघन आत्मा का शुद्ध परिणमन उपाय, कारण या मार्ग है और उसका परिपूर्ण शुद्ध परिणमन उपेय, कार्य या फल है, परन्तु व्यवहाररत्नत्रय उपाय या कारण नही है। यहाँ तो व्यवहार (भेद, पर्याय आदि) है – यह सिद्ध करना है, किन्तु मन्दरागरूप व्यवहार को या व्यवहार-मोक्षमार्ग को निश्चय का कारण सिद्ध नही करना है।

त्रिकाली भगवान आत्मा ध्रुव ध्रुव ध्रुव अनादि-अनन्त शुद्ध ज्ञायकभावपने है। उसका कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी नही है अर्थात् शुद्धद्रव्य नैमित्तिक और कर्म उसका निमित्त – ऐसा नही है, किन्तु द्रव्य की विकारी पर्याय नैमित्तिक व कर्म निमित्त – ऐसा व्यवहार

से पर्याय मे सम्बन्ध है। यहाँ शुद्धनय की दृष्टि से कथन है। तथा सिद्धात मे सर्व भावो को जो जीव का कहा है, वह व्यवहारनय से कहा है। वे भाव अस्तिरूप हैं तथा व्यवहारनय के विषय हैं। कर्म निमित्त हैं व रागादिक नैमित्तिक है – इसप्रकार निमित्त-नैमित्तिकभाव की दृष्टि से देखा जाय तो वह व्यवहार कथचित् सत्यार्थ है – ऐसा कह सकते हैं। राग, विकार, अशुद्धता, मलिनभाव, उदयभाव आदि जीव मे है – ऐसा व्यवहार से कह सकते हैं, परन्तु त्रिकाली शुद्ध चैतन्यस्वरूप द्रव्य मे वे नही है – इस अपेक्षा से वे असत्यार्थ है। इसप्रकार व्यवहार कथचित् सत्यार्थ व कथचित् असत्यार्थ है। यदि व्यवहार को सर्वथा असत्यार्थ ही कहेगे तो व्यवहार का भी लोप हो जाएगा और परमार्थ का भी लोप हो जायेगा, क्योकि पर्याय मे यदि रागादि नही हो, पुण्य-पाप का बन्धन न हो तो राग के अभावरूप मोक्षमार्ग व मोक्ष भी नही बनेगा। यहाँ तो व्यवहार है – इतना ही सिद्ध करना है, किन्तु वह निश्चय-मोक्षमार्गरूप है – ऐसा सिद्ध नही करना है। व्यवहार-मोक्षमार्ग तो राग है और वह त्रिकाली द्रव्य की अपेक्षा से तो है ही नही। पर्याय मे राग है – इतना सत्यार्थ है, परतु व्यवहार से निश्चय की प्राप्ति होती है – यह बात ठीक नही है।

प्रश्न :– शास्त्र मे आता है - कि सम्यग्दृष्टि के दु:ख है ही नही, अशुद्धता है ही नही तो ये कथन किस अपेक्षा से हैं ?

उत्तर :– भाई ! सम्यग्दर्शन का विषय त्रिकाली शुद्धद्रव्य है। अहाहा ! त्रिकाली शुद्धद्रव्य को जिसने दृष्टि मे लिया है – ऐसे सम्यग्दृष्टि को अशुद्धता या दु:ख है ही नही। दृष्टि या दृष्टि के विषय मे अशुद्धता हो – ऐसी उसमे कोई शक्ति ही नही है, इसकारण दृष्टि या दृष्टि के विषय की अपेक्षा से ज्ञानी के अशुद्धता व दु:ख नही है; परन्तु ज्ञान की अपेक्षा से देखे तो पर्याय मे ज्ञानी को तथा मुनि को भी किंचित् अशुद्धता है, दु:ख है। ज्ञानी के राग है तथा उसका परिणमन भी है। उस परिणमन की अपेक्षा से ज्ञानी उसका कर्त्ता भी है। ४७ नयो मे भी आता है कि धर्मी-जीव को भी राग का परिणमन है तथा उतना दु:ख भी है तथा उस राग का कर्त्ता व भोक्ता भी वह ज्ञानी ही है। कोई एकान्त से मान लेवे कि धर्मी को राग-द्वेष या दु:ख होता ही नही तो ऐसा नही है। शुद्धद्रव्य की दृष्टि की अपेक्षा से यह बात यथार्थ है, किन्तु पर्याय मे कलुषता भी है।

अहाहा ! छठवे गुणस्थान मे वर्तते हुये मुनि भी (समयसार कलश ३ मे) ऐसा कहते है कि हमको अभी कलुषता है। जहाँ एक ओर ऐसा

कहते हैं कि समकिती के अशुद्धता नही होती, उसका परिणमन अशुद्ध नही होता, वही दूसरी ओर छठवें गुणस्थानवर्ती आचार्य ऐसा कहते हैं कि हम को अभी अशुद्धता का परिणमन है और इसीकारण उतना दु ख का वेदन है। भाई ! समकिती को दृष्टि के साथ जो ज्ञान हुआ है, वह त्रिकाली शुद्धद्रव्य को जानता है तथा वर्त्तमान पर्याय मे राग का जितना परिणमन है, उसे भी जानता है, किन्तु अशुद्धता का – राग का जो परिणमन है, उसका मैं कर्त्ता हूँ या कर्म के कारण वह होता है – ऐसा नही है तथा परिणमन मे मुझे बिलकुल राग ही नही है, ऐसा भी नही है।

यहाँ कहते हैं कि पर्याय मे रागादि नही हैं – ऐसा कोई माने तो राग का अभाव करने के पुरुषार्थ का भी लोप हो जाएगा, क्योकि पर्याय मे राग नही होने से उसके नाश का उपाय भी सिद्ध नही होगा।

प्रश्न :– विकार स्व-परहेतुक है – ऐसा शास्त्रो मे आता है न ?

उत्तर :– अकेले स्व से (शुद्धद्रव्य से) ही विकार नही होता – यह बताने के लिये विकार की उत्पत्ति मे उपादान व निमित्त – ऐसे दो हेतु वहाँ सिद्ध किये हैं। जब विकार विभावरूप है अथवा पर-निमित्त के आश्रय से हुई दशा है – यह बताना हो, उससमय उपादन स्व व निमित्त पर – इसप्रकार स्व-पर से उत्पन्न हुआ है ऐसा कहा जाता है। विकार अकेला स्व से (स्वभाव से) उत्पन्न हो ऐसा कभी नही बनता। पर के ऊपर लक्ष्य जाने पर पर्याय मे विकार होता है, इसलिए विकार को स्व-पर हेतुक कहा है। यहाँ ऐसा कहा कि ये सब रागादि कर्मजन्य हैं, ये सभी भाव त्रिकाली शुद्धद्रव्य मे नही है, पर्याय मे से निकाल देने लायक है – इन सबका तात्पर्य यह है कि यह दृव्यदृष्टि कराने के लिए ऐसा कहा है। परमात्म-प्रकाश मे भी रागद्वेषादि को कर्मजन्य कहा है, क्योकि वे शुद्ध आत्मद्रव्य से उत्पन्न नही होते। पर्याय मे जो अशुद्धता हुई है, वह तो पर्याय का लक्ष्य पर के ऊपर जाने से हुई है। इसीकारण उसे स्व-परहेतुक भाव कहते हैं।

भाई ! एकसमय की पर्याय मे जो राग-अशुद्धता हुई है, वह सत् है और इसकारण अहेतुक है – ऐसा पचास्तिकाय मे सिद्ध किया है। यह राग या अशुद्धता पर के लक्ष्य से हुई है – यह ज्ञान कराने के लिए उसको स्व-परहेतुक कहा है तथा त्रिकाली वस्तु मे ये राग या अशुद्धता नही है, किन्तु वर्त्तमान पर्याय मे एकसमय मात्र के लिए अशुद्धता है, उसको नाश करने के उद्देश्य से, उसे कर्मजन्य या उपाधि कहा है।

अहाहा ! एक बार कहते है कि अशुद्धता स्वय अपने से है तथा बाद मे कहते हैं कि स्व-परहेतुक है और फिर कहते हैं कि कर्मजन्य है। भाई ! जिस अपेक्षा से जहाँ जो कहा है उस अपेक्षा से वहाँ वही समझना चाहिए।

भाई ! जिस अपेक्षा से जो बात कही है उस अपेक्षा से ज्ञान करने के बदले, दूसरी अपेक्षा खोजने जायेगा तो सत्य हाथ नही लगेगा।

'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत्' ऐसा सिद्ध करना हो तो वहाँ राग व मिथ्यात्वादि का उत्पाद, द्रव्य की पर्याय मे है और वह स्वय सत् है - ऐमा कहते है। सत् है, इसलिए उसको परकारक की अपेक्षा नही है। यही बात पचास्तिकाय की गाथा ६२ मे कही है कि जो संसार की पर्याय है, वह परकारक की अपेक्षा बिना स्वत. जीव की पर्याय है।

मिथ्यात्वादि का ससारभाव विभाव है और विभाव स्वरूप के लक्ष्य से नही होता, किन्तु पर के लक्ष्य से ही होता है। इसकारण से उसे स्व-पर हेतुक कहा जाता है। तथा इस गाथा मे व परमात्मप्रकाश मे उन सभी भावो को पुद्गल का कहा है। कलश ४४ मे आता है कि 'अनादिकाल के इस महा अविवेक नाटक मे वर्णादिवाला पुद्गल ही नाचता है।' जीवद्रव्य को अकेले ध्रुव चैतन्यमात्र स्वभाव से देखे तो वह एक अकेला ही है। यह जीवद्रव्य अकेला कैसे नाचे ? भगवान आत्मा के तो नाच नही है, इन सभी पर्यायो मे एक पुद्गल ही नाचता है - ऐसा कहा है। इसप्रकार यह भगवान जिनेन्द्रदेव का उपदेश स्याद्वादरूप है तथा उसी प्रमाण उसे समझना सम्यग्ज्ञान है। किस अपेक्षा रागादि द्रव्य मे नही है व किस अपेक्षा से वे पर्याय मे है - इन सब अपेक्षाओ को यथार्थ समझना चाहिए। जिनदेव के उपदेश मे तो अपेक्षा से कथन है, इसलिए उसी रीति से समझे तभी सम्यग्ज्ञान है। जो सर्वथा एकान्त है, वह मिथ्यात्व है। राग एकान्तरूप से परवस्तु है - वह आत्मा मे सर्वथा नही है - ऐसा माने तो वह मिथ्या-एकान्त है तथा राग द्रव्यस्वभाव (ध्रुव) मे भी है - ऐसा माने तो वह भी एकान्त है, मिथ्यात्व है।

प्रश्न :- राग नष्ट होकर द्रव्य मे विलीन हो जाता है न ? पर्याय का व्यय तो होता है, किन्तु वह व्यय होकर कहाँ चली जाती है ? यदि रागपर्याय अदर द्रव्य मे जाती है तो विकार भी अदर गया कि नही ?

उत्तर :- भाई ! विकार अदर द्रव्यस्वभाव मे नही है। पर्याय व्यय होकर पारिणामिकभाव मे योग्यतारूप हो जाती है। वर्त्तमान मे विकार जो प्रगट है, वह उदयभावरूप है, परन्तु जब उसका व्यय होता है, तब वह

पारिणामिकभावरूप होकर अन्दर जाता है। क्षायोपशमिक भाव की पर्याय का भी व्यय होता है और दूसरे समय मे दूसरी पर्याय उत्पन्न होती है, परन्तु पहले का भाव व्यय होकर कहाँ गया? क्या वह अदर वस्तु मे क्षयोपशम भावरूप है? नही, वह तो अदर वस्तु मे पारिणामिकभावरूप ही है।

यहाँ कहते हैं कि सर्वथा-एकान्त से समझे तो मिथ्यात्व है। इससे कोई ऐसा कहे कि बन्ध के मार्ग (व्यवहाररत्नत्रय) से भी मोक्ष होता है – ऐसा कहो, अन्यथा सर्वथा-एकान्त हो जायेगा तो यह बात यथार्थ नही है। भाई! मोक्ष का मार्ग सर्वथा निर्मल परिणतिरूप ही होता है, उसमे राग की परिणति है ही नही – ऐसा यह सम्यक्-अनेकान्त है। निश्चय से शुद्धरत्नत्रय की निर्मल पर्याय ही मोक्षमार्ग है, परन्तु साथ ही राग को निमित्त – सहचर देखकर उसे व्यवहार से मोक्षमार्ग कहा है। मात्र इसकारण से वह मोक्ष का कारण नही हो जाता, वह तो बन्ध का कारण ही है। अत जिस अपेक्षा से कथन हो, उसे यथार्थ समझना चाहिए।

साधु-वंदना

ग्यान को उजागर सहज सुखसागर,
सुगुन-रतनागर विराग रस भर्यो है।
सरन की रीति हरै मरन को न भै-करै,
करन सौ पीठि दे चरन अनुसर्यो है॥
धरम को मडन भरम को विहडन है,
परम नरम ह्वै कै करम सौं लर्यो है।
ऐसो मुनिराज भुवि लोक मैं विराजमान,
निरखि बनारसी नमस्कार कर्यो है॥

– समयसार नाटक, मगलाचरण, छन्द ५

समयसार गाथा ६१

कुतो जीवस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धो नास्तीति चेत् –

तत्थ भवे जीवाणं संसारत्थाणं होंति वण्णादि ।
संसारपमुक्काणं णत्थि हु वण्णादओ केई ॥६१॥

तत्र भवे जीवानां संसारस्थानां भवंति वर्णादयः ।
संसारप्रमुक्तानां न सन्ति खलु वर्णादयः केचित् ॥६१॥

यत्किल सर्वास्वप्यवस्थासु यदात्मकत्वेन व्याप्तं भवति तदात्मकत्व-व्याप्तिशून्यं न भवति तस्य तैः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धः स्यात् । ततः सर्वास्वप्यवथासु वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्ति-

---

अब यहाँ प्रश्न होता है कि वर्णादिक् के साथ जीव का तादात्म्य-लक्षण सम्बन्ध क्यो नही है ? उसके उत्तरस्वरूप गाथा कहते हैं .–

संसारी जीव के वर्ण आदिक, भाव हैं संसार मे ।
संसार से परिमुक्त के नहिं, भाव को वर्णादि के ॥६१॥

गाथार्थ – [वर्णादयः] जो वर्णादिक है, वे [संसारस्थानां] संसार मे स्थित [जीवानां] जीवो के [तत्र भवे] उस ससार में [भवन्ति] होते हैं और [संसार प्रमुक्तानां] संसार से मुक्त हुए जीवो के [खलु] निश्चय से [वर्णादयः केचित्] वर्णादिक कोई भी (भाव) [न सन्ति] नही हैं। (इसलिये तादात्म्य-सम्बन्ध नही है ।)

टीका :– जो निश्चय से समस्त ही अवस्थाओ में यद्-आत्मकपने से अर्थात् जिस स्वरूपपने से व्याप्त हो और तद्-आत्मकपने की अर्थात् उस स्वरूपपने की व्याप्ति से रहित न हो, उसका उनके साथ तादात्म्य-लक्षण सम्बन्ध होता है। (जो वस्तु सर्व अवस्थाओ मे जिस भावस्वरूप हो और किसी अवस्था में उस भावस्वरूपता को न छोड़े, उस वस्तु का उन भावो के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध होता है ।) इसलिये सभी अवस्थाओ मे जो वर्णादिस्वरूपता से व्याप्त होता है और वर्णादिस्वरूपता की व्याप्ति

शून्यस्याभवतश्च पुद्गलस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध स्यात्। संसारावस्थाया कथचिद्वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्याभवतश्चापि मोक्षावस्थायां सर्वथा वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्याभवतश्च जीवस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धो न कथंचनापि स्यात्।

से रहित नही होता – ऐसे पुद्गल का वर्णादिभावो के साथ तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध है और यद्यपि ससार-अवस्था मे कथचित् वर्णादिस्वरूपता से व्याप्त होता है तथा वर्णादिस्वरूपता की व्याप्ति से रहित नही होता तथापि मोक्ष-अवस्था मे जो सर्वथा वर्णादिस्वरूपता की व्याप्ति से रहित होता है और वर्णादिस्वरूपता से व्याप्त नही होता – ऐसे जीव का वर्णादि भावो के साथ किसी भी प्रकार से तादात्म्यलक्षण-सम्वन्ध नही है।

भावार्थ :– द्रव्य की सर्व अवस्थाओ मे द्रव्य के जो भाव व्याप्त होते हैं, उन भावो के साथ द्रव्य का तादात्म्य-सम्वन्ध कहलाता है। पुद्गल की सर्व अवस्थाओं मे पुद्गल मे वर्णादि भाव व्याप्त हैं, इसलिये वर्णादि भावो के साथ पुद्गल का तादात्म्य-सम्वन्ध है। ससारावस्था मे जीव मे वर्णादि भाव किसी प्रकार से कहे जा सकते हैं, किन्तु मोक्ष-अवस्था मे जीव मे वर्णादि भाव सर्वथा नही हैं, इसलिये जीव का वर्णादि भावो के साथ तादात्म्य-सम्वन्ध नही है। यह वात न्यायप्राप्त है।

समयसार गाथा ६१ की उत्थानिका, गाथा एवं उसकी टीका पर प्रवचन

शिष्य पूछता है कि वर्णादि का आत्मा के साथ त्रिकाल सम्वन्ध क्यो नही है? आपने आत्मा के साथ उसका एकसमय की पर्यायमात्र का क्षणिक – अनित्य सम्वन्ध कहा है, परन्तु उन रग, राग, गुणस्थान आदि के साथ तादात्म्य-सम्वन्ध क्यो नही है? इसका उत्तर आचार्य देते हैं।

जो निश्चय से सभी अवस्थाओ मे स्वरूपपने से व्याप्त हो तथा उस स्वरूपपने की व्याप्ति से रहित नही हो, उनका तादात्म्यलक्षण-सम्वन्ध होता है। जिसप्रकार ज्ञान के साथ आत्मा का तादात्म्यलक्षण-सम्वन्ध है; क्योकि आत्मा की सर्व अवस्थाओ मे वह ज्ञान स्वरूपपने से व्याप्त रहता है और आत्मा कभी भी ज्ञानस्वरूपपने की व्याप्ति से रहित नही होता। राग – उदयभाव के साथ आत्मा का तादात्म्यलक्षण-सम्वन्ध नही है, क्योकि आत्मा सर्व अवस्थाओ मे उदयभाव के साथ व्याप्त नही रहता। ससार-अवस्था मे तो उदयभाव है, परन्तु मोक्ष-अवस्था मे नही है।

वस्तुत जो सब दशाओ मे स्वरूप से व्याप्त हो अर्थात् स्वरूप मे फैला हो तथा स्वरूप से कभी भी रहित न हो, उनका उसके साथ तादात्म्य-लक्षण-सम्बन्ध होता है अर्थात् जो वस्तु सर्व अवस्थाओ मे भावस्वरूप हो और किसी भी अवस्था मे अपना भावस्वरूपपना न छोड़े, उस वस्तु का उस भाव के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध है; इसलिए जिसकी सभी अवस्थाओ मे वर्णादि से व्याप्ति होती है, उन पुद्गलो के साथ वर्णादि का तादात्म्य है, क्योकि बिना पुद्गल के उनकी कोई अवस्था नही होती। इसीप्रकार जो गुणस्थान आदि के भेद है, उनका भी पुद्गल के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध है, क्योकि पुद्गल के निमित्त बिना वे भेद नही होते। अहो! समयसार कैसा अद्भुत शास्त्र है, इसमे मानो सारे ब्रह्माण्ड के भाव भरे है।

पुद्गल की सभी अवस्थाओ मे वे वर्णादि व्याप्त रहते हैं तथा पुद्गल उन वर्णादि की व्याप्ति से कभी भी रहित नही होता; इसलिए वर्णादिभावों का पुद्गल के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध है, किंतु आत्मा के साथ नही। वे वर्णादि व रागादि आत्मा के साथ संसार-अवस्था मे कथंचित् व्याप्त रहते हैं, तथापि मोक्ष-अवस्था मे उनकी व्याप्ति बिलकुल नही हैं; इसलिए उनका जीव के साथ तादातम्यलक्षण-सम्बन्ध नही है। अहाहा! वर्णादि में एक पुद्गल ही नाचता है। भगवान आत्मा तो ज्ञानस्वरूप होने से शुद्ध चिद्रूप है, वह इनमे कैसे नाचे ?

साराश यह है कि जीव की ससार-अवस्था मे रागादि के साथ कथंचित् व्याप्ति होती है, परन्तु मोक्ष-अवस्था मे उनके साथ किंचित् भी व्याप्ति नही है; इसलिए वर्णादि के साथ जीव का तादात्म्य-सम्बन्ध नही है। आत्मा का ज्ञान, आनन्द के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध है; क्योकि आत्मा की किसी भी अवस्था मे ज्ञान, आनन्दपना न हो – ऐसा नही बनता।

गाथा ६१ के भावार्थ पर प्रवचन

वस्तु की सब अवस्थाओ मे जो व्याप्त रहता है, उसी के साथ द्रव्य या वस्तु का तादात्म्य-सम्बन्ध कहा जाता है। पुद्गलद्रव्य की सब अवस्थाओं मे वर्णादिभाव व्याप्त रहते है, इसकारण उनका पुद्गल के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध है। पुद्गलकर्म के निमित्त से वर्ण से लेकर गुण-स्थानपर्यन्त जो भेद पड़ते हैं, वे आत्मा की सर्व अवस्थाओं मे व्याप्त न होकर पुद्गल की सर्व अवस्थाओ मे व्याप्त होते हैं; इसकारण वे पुद्गल के साथ ही तादात्म्य-सम्बन्ध रखते हैं। अखण्ड अभेद एक चिन्मात्र-स्वरूप वस्तु की दृष्टि से रग, राग, जीवस्थान, मार्गणास्थान आदि पुद्गल के साथ सम्बन्ध रखनेवाले प्रतिभासित होते हैं।

ससार-अवस्थायुक्त जीव मे रग-राग आदि भाव किसी अपेक्षा से कह सकते है, परन्तु मोक्ष-अवस्था मे तो वे जीव मे सर्वथा ही नही है। इसकारण वर्णादि के साथ जीव की एकरूपता का सम्बन्ध नही। समयसार के कर्त्ता-कर्म अधिकार मे भी यही कहा है कि दया, दान, भक्ति आदि के भाव सयोगलक्षण है। वे सयोगीभाव है, स्वभावभाव नही हैं, इसलिए इन दया-दान आदि भावो के साथ आत्मा का तादात्म्य-सम्बन्ध नही है। अन्य सयोगी वस्तुओ की भाँति ये भी सयोगी वस्तुये ही हैं। अत भगवान आत्मा का वर्णादिभावो के साथ एकत्वरूप तादात्म्यलक्षण-सम्बन्ध नही है।

अहाहा ! शुद्ध चिद्रूप भगवान आत्मा की ओर ढलने के लिए तो एक अभेदरूप आत्मा ही दृष्टि मे रखने योग्य है और पुद्गल के सम्बन्ध से होनेवाले इन सभी भेदभावो की दृष्टि छोड देने योग्य है, इसीलिए तो ये सभी भाव आत्मा के नही है – यह कहा है। भगवान आत्मा के साथ इनकी व्याप्ति नही है, क्योकि ससार-अवस्था मे तो एकसमय का सम्बन्ध है भी, किन्तु सिद्धावस्था मे तो सर्वथा ही सम्बन्ध नही है। इसकारण धर्मी जीवो को एक अभेदस्वभाव की ही दृष्टि करना योग्य है।

यह जीव-अजीव अधिकार है। इसकारण रग, राग, पुण्य, पाप, गुणस्थान आदि सर्वभावो को यहाँ अजीव कहा है। आशय यह है कि सम्यग्दर्शन व निर्विकल्प शान्ति की पर्याय द्वारा उस एक शुद्ध चिद्रूप आत्मा को ही ग्रहण करना – अनुभवना योग्य है।

कबहू सुमति ह्वै कुमति को विनास करै,
कबहू विमल जोति अतर जगति है।
कबहू दया ह्वै चित्त करत दयालरूप,
कबहू सुलालसा ह्वै लोचन लगति है॥
कबहू आरती ह्वै कै प्रभु सनमुख आवै,
कबहू सुभारती ह्वै बाहरि बगति है।
धरै दसा जैसी तब करै रीति तैसी – ऐसी
हिरदै हमारे भगवत की भगति है॥

– समयसार नाटक, उत्थानिका, छन्द १४

जीवस्य वर्णादितादात्म्यदुरभिनिवेशे दोषश्चायम् –

जीवो चेव हि एदे सव्वे भाव त्ति मण्णसे जदि हि।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई ॥६२॥

जीवश्चैव ह्येते सर्वे भावा इति मन्यसे यदि हि।
जीवस्याजीवस्य च नास्ति विशेषस्तु ते कश्चित् ॥६२॥

यथा वर्णादयो भावाः क्रमेण भाविताविर्भावतिरोभावाभिस्ताभिस्ताभिर्व्यक्तिभिः पुद्गलद्रव्यमनुगच्छंतः पुद्गलस्य वर्णादितादात्म्यं प्रथयंति, तथा वर्णादयो भावाः क्रमेण भाविताविर्भावतिरोभावाभिस्ताभिस्ताभिर्व्यक्तिभिर्जीवमनुगच्छंतो जीवस्य वर्णादितादात्म्यं प्रथयंतीति यस्याभि-

---

अब यदि कोई ऐसा मिथ्या अभिप्राय व्यक्त करे कि जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य है, तो उसमे यह दोष आता है – ऐसा इस गाथा द्वारा कहते है :–

ये भाव सब हैं जीव जो, ऐसा हि तू माने कभी।
तो जीव और अजीव मे कुछ, भेद तुझ रहता नहीं ॥६२॥

गाथार्थ :– वर्णादिक के साथ जीव का तादात्म्य माननेवाले को कहते हैं कि हे मिथ्या-अभिप्रायवाले ! [**यदि हि च**] यदि तुम [**इति मन्यसे**] ऐसा मानोगे कि [**एते सर्वे भावाः**] यह सर्व वर्णादिक भाव [**जीवः एव हि**] जीव ही हैं, [**तु**] तो [**ते**] तुम्हारे मत मे [**जीवस्य च अजीवस्य**] जीव और अजीव का [**कश्चत्**] कोई [**विशेषः**] भेद [**नास्ति**] नही रहता है।

टीका :– जैसे वर्णादिक भाव क्रमश आविर्भाव (प्रगट होना उपजना) और तिरोभाव (छिप जाना, नाश हो जाना) को प्राप्त होती हुई – ऐसी उन-उन व्यक्तियो के द्वारा (अर्थात् पर्यायो के द्वारा) पुद्गलद्रव्य के साथ ही साथ रहते हुए, पुद्गल का वर्णादि के साथ तादात्म्य प्रसिद्ध करते है – विस्तारते है; इसीप्रकार वर्णादिक भाव क्रमशः आविर्भाव और तिरोभाव को प्राप्त होती हुई – ऐसी उन-उन व्यक्तियो के द्वारा जीव के साथ ही साथ रहते हुए, जीव का वर्णादिक के

निवेशः तस्य शेषद्रव्यासाधारणस्य वर्णाद्यात्मकत्वस्य पुद्गललक्षणस्य जीवेन स्वीकरणाज्जीवपुद्गलयोरविशेषप्रसक्तौ सत्यां पुद्गलेभ्यो भिन्नस्य जीवद्रव्यस्याभावाद्भवत्येव जीवाभावः ।

साथ तादात्म्य प्रसिद्ध करते हैं – ऐसा जिसका अभिप्राय है, उसके मत मे अन्य शेष द्रव्यो से असाधारण ऐसी वर्णादिस्वरूपता – कि जो पुद्गलद्रव्य का लक्षण है – उसका जीव के द्वारा अङ्गीकार किया जाता है, इसलिये जीव-पुद्गल के अविशेष का प्रसङ्ग आता है और ऐसा होने से पुद्गलो से भिन्न ऐसा कोई जीवद्रव्य न रहने से जीव का अवश्य अभाव होता है।

भावार्थ :– जैसे वर्णादिकभाव पुद्गलद्रव्य के साथ तादात्म्यस्वरूप है, उसीप्रकार जीव के साथ तादात्म्यस्वरूप हो तो जीव-पुद्गल मे कोई भी भेद न रहे और ऐसा होने से जीव का ही अभाव हो जाये – यह महादोष आता है।

गाथा ६२ की उत्थानिका, गाथा एवं उसकी टीका पर प्रवचन

अब यहाँ यह बताते है कि वर्णादि व गुणस्थानादि के साथ जीव का तादात्म्य-सम्बन्ध मानने पर क्या-क्या दोष आते है।

रागादिरूप पुद्गल के परिणामो को जीव के मानोगे तो जीव व अजीव मे कोई भेद ही नही रहेगा। ऐसा इस गाथा मे बताते हैं। इससे भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म भगवान आत्मा है। चैतन्य भगवान पर दृष्टि करने से धर्म का प्रारम्भ होता है, सम्यग्दर्शन होता है। इसके सिवाय दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि करे, तथापि सम्यग्दर्शन नही होता, क्योकि ये सब तो राग हैं और इस राग का पुद्गल के साथ तादात्म्य है। जहाँ-जहाँ पुद्गल है, वहाँ-वहाँ रग, राग व भेदादि होते है – ऐसी व्याप्ति है और भगवान आत्मा के साथ रग, राग व भेदादि की व्याप्ति नही है। अहो! कैसी अलौकिक बात है!

जो गुणस्थान आदि भेद जीव की पर्याय मे उत्पन्न हुये है, वे अपनी उत्पत्ति के जन्मक्षण मे अपने कारण से हुए है, निमित्त के कारण नही हुये है। ये गुणस्थान आदि के भेद जीव की पर्याय मे स्वय से हुए है, परन्तु ये त्रिकाली शुद्ध आत्मद्रव्य मे व्याप्त नही होते। इन रग, राग, दया, दान आदि भावो की व्याप्ति पुद्गल के साथ है। जहाँ ऐसा कहा है कि पुण्य-पाप के भाव अपनी (जीव की) पर्याय मे होते है और इनका कर्त्ता-भोक्ता जीव है, वहाँ तो इसका ज्ञान कराने के लिए ज्ञानप्रधान

कथन किया है, जबकि यहाँ दृष्टिप्रधान कथन है। यहाँ दृष्टि की प्रधानता मे दया-दान व पचमहाव्रत के पालन के भाव पुदगल के साथ व्याप्त होते हैं – ऐसा कहते है। यह बात दिगम्बर आचार्यों के अतिरिक्त अन्य किसी ने की ही नही है। दिगम्बर-सन्त केवली भगवन्तो के प्रतिनिधि हैं, भगवान केवली ने जो बात दिव्यध्वनि मे कही है, उसी बात को ये सन्त जगत को बताते है। एक बार जरा धैर्य से सुनो तो सही !

दया, दान, व्रत, स्वाध्याय आदि का तथा प्रवचन सुनने का राग भी पुद्गल मे उत्पन्न होता है और पुद्गल मे ही उसका व्यय होता है। यह उत्पाद-व्यय, आत्मा का नही है। यहाँ द्रव्यस्वभाव का वर्णन है न ? जीवद्रव्य मे तो भेद है ही नही, इसकारण भेद को तथा रागादि को अजीव कहा है। देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का राग, नवतत्त्व की श्रद्धा का राग, शास्त्रज्ञान का विकल्प या छहकाय के जीवो की रक्षा का राग – ये सभी पुदगल के साथ उत्पन्न होते है और पुद्गल मे ही नाश होते हैं। अहाहा ! आचार्यो ने कितना स्पष्ट किया है ! ऐसी बात अन्यत्र कहाँ है ? उत्पाद-व्यय द्रव्यस्वभाव मे – चिन्मात्र वस्तु मे नही है। जो इन वर्णादि-भावो का आविर्भाव व तिरोभाव होता है, उनकी पुद्गल के साथ व्याप्ति है; इसकारण पुद्गल का वर्णादि के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध प्रसिद्ध होता है। अहाहा ! वर्णादिभाव पुद्गल का विस्तार है, परन्तु चिदानन्द प्रभु भगवान आत्मा का विस्तार नही है। भगवान आत्मा तो चिदानन्दमय अखण्ड एकरूप जिनस्वरूपी परमात्मा है। ये वर्णादि व रागादिभाव आत्मा का विस्तार नही हैं। रागादि की प्रसिद्धि आत्मा की प्रसिद्धि नही है। अहाहा ! सन्तो ने कैसा तत्त्व जाहिर कर दिया है। जो सर्वज्ञ ने कहा है, वही बात इस पचमकाल के श्रोताओं को सन्तो ने कही है।

यदि कोई कहे कि यह बात तो चौथे काल की है – चौथे काल के जीवो को समझाने के लिए है तो उनसे कहते हैं कि भाई ! कुन्दकुन्दाचार्य आदि तो पचमकाल के सन्त है और पचमकाल के श्रोताओ को ही समझा रहे हैं। प्रभु ! तुम सुनो तो सही। पचमकाल मे भी तुम आत्मा हो कि नही ? प्रभु ! तुम अनन्त गुणो से भरे हुये अभेद शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा हो। यहाँ तो कहते हैं कि जिन्हे अभेद शुद्ध चिदानन्द भगवान की दृष्टि करना हो, उन्हे इन रागादिभावो को अजीव का परिणाम मानना चाहिये।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि वर्त्तमान मे तो शुभयोग ही होता है और यह शुभयोग ही धर्म का कारण है। उनसे कहते है कि अरे प्रभु ! तुम क्या कहते हो ? यदि वर्त्तमान मे मात्र शुभयोग ही हो तो इसका अर्थ

तो यह होगा कि वर्त्तमान मे धर्म होता ही नही है। भाई! तुम्हारी यह बात आगम के अनुकूल नही है, क्योकि शुभयोग तो पुद्गल मे व्यापनेवाला भाव है। वह आत्मा का है और लाभदायक है—ऐसा मानना तो महा मिथ्यात्व है, अज्ञान है।

यहाँ आचार्य कहते है कि शुभाशुभराग की उत्पत्ति व व्यय पुद्गल के साथ सम्बन्धित है, भगवान आत्मा के साथ नही है। यदि इन रागादि का आत्मा के साथ सम्बन्ध हो तो रागादि का उत्पाद व व्यय आत्मा मे तीनो काल होना चाहिये, किन्तु ऐसा तो होता नही है; इसलिए ये रागादि आत्मा की चीज नही हैं। शरीर, मकान, पैसा, लक्ष्मी आदि तो प्रत्यक्ष पुद्गल है, परवस्तु है। यहाँ तो कहते हैं कि जिससे तीर्थंकर नामकर्म बधता है—ऐसा सोलहकारण भावनाओ का भाव भी राग है और वह भी पुद्गल के साथ सम्बन्ध रखता है, और उसके फल मे भी अजीव ही मिलता है।

यहाँ कहते हैं कि राग चाहे दया, दान, भक्ति का हो या पचमहाव्रत का हो—इसका उत्पन्न होना व व्यय होना, पुद्गल के साथ सम्बन्ध रखता है। प्रभु! तेरे चैतन्यघर को खोजने के लिए यह बात करते है, तू अपने घर को देख! उसमे तुझे रागादि की उत्पत्ति-व्यय नही दीखेगा। तुझे तेरा नाथ चैतन्यदेव अतीन्द्रिय आनन्द की उत्पत्ति-व्यय के साथ दिखाई देगा। अहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य आदि दिगम्बर सन्त अपार करुणा करके मार्ग बताते हैं। वे जोर-जोर से पुकार-पुकार करके कहते है कि हे प्रभु! तेरी प्रसिद्धि तो अतीन्द्रिय ज्ञान व आनन्द की पर्याय से होती है। तेरी प्रसिद्धि राग से कैसे हो? क्योकि राग की प्रसिद्धि तो पुद्गल की प्रसिद्धि है। गजब बात है भाई! यह समयसार तो जगत् चक्षु—अजोड चक्षु है। इस टीका का नाम आत्मख्याति है न? अभेद एक शुद्ध द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि करने पर जो अतीन्द्रिय आनन्द व शान्ति की पर्याय प्रगट होती है, वह तेरी प्रसिद्धि अर्थात् आत्मख्याति है। अहो! पचमकाल के सन्तो ने जगत की परवाह न करते हुए सत्य का डका बजाया है।

प्रभु! तेरी प्रभुता तो तब कही जाय, जबकि तुझमे निर्मल पर्याय की उत्पत्ति-व्यय हो। राग की उत्पत्ति व राग का व्यय—यह तेरी प्रभुता नही है। राग तो रोग है, उसे हर ले—यही तेरी वास्तविक प्रभुता है। अहाहा! शुभाशुभराग तो पुद्गल का विस्तार है, पुद्गल की प्रसिद्धि है, इसमे आत्मा की प्रसिद्धि नही है। अहो! अमृतचन्द्राचार्य ने तो अमृत उडेला है।

जिसकी पर्याय मे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख व अनन्तवीर्य गुलाब के पुष्प की तरह खिल गया है। अरे! यही प्रभु की प्रसिद्धि है। भगवान! तुम्हारा वर्णन किसप्रकार करे? अहाहा! अनन्त ज्ञान, आनन्द आदि अनन्त गुणो की निर्मल पर्यायो का उत्पाद-व्यय हो — यही आत्मा की प्रसिद्धि है। पर के आश्रय से रागादि भाव होते है, उनमे कही आत्मा की प्रसिद्धि नही है। यह बात कुछ कठिन लगती है, परन्तु क्या करें? मार्ग तो यही है, जो जिनेश्वरदेव ने गणधर व इन्द्रों की उपस्थिति में समवशरण (धर्मसभा) मे कहा है। भगवान सीमन्धर परमात्मा महाविदेह क्षेत्र मे विराजते है, वहाँ यह बात उनकी दिव्यध्वनि मे आई है। यही बात आचार्य कुन्दकुन्ददेव एव अमृतचन्द्राचार्यदेव ने कही है। आचार्य कुन्दकुन्द तो विदेह क्षेत्र गये थे, किन्तु अमृतचन्द्रदेव वहाँ नही गये थे, तथापि वे अपने अन्दर के भगवान आत्मा के पास हर अन्तर्मूहूर्त मे जाते थे; अत: आत्मा की बात प्रसिद्ध करते है।

प्रश्न :— शुभभाव भी जीव के साथ सम्बन्ध रखता है — ऐसा कहो न? इसमे क्या आपत्ति है?

उत्तर :— कितने ही व्रत, तप से धर्म मानते हैं तथा कितने ही देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति मे धर्म मानते हैं। शुभभाव मे धर्म माननेवाले सब एकसमान ही मिथ्यादृष्टि हैं। प्रवचनसार की गाथा ७७ मे कहा है :—

"शुभभाव — पुण्यभाव ठीक है तथा अशुभभाव — पापभाव ठीक नही है, ऐसा जो मानते हैं; वे मिथ्यात्व से घिरे हुये घोर ससार मे रखडते है। जो ऐसा मानते है कि पुण्य-पाप मे कोई अन्तर है, वे 'हिडदि घोरमपारं ससारं मोहसंछण्णो' अर्थात् मोहाच्छादित होते हुये घोर अपार ससार में रखडते है।" भाई! दिगम्बर मार्ग बहुत सूक्ष्म है। बापू! सम्प्रदाय मिल गया, इसकारण दिगम्बर धर्म समझ मे आ ही जायगा — ऐसा भी नही है। दिगम्बर धर्म कोई पन्थ या पक्ष नही है — यह तो वस्तु का स्वरूप है।

अब कहते हैं कि जिसप्रकार ये रागादिभाव पुद्गल के साथ आविर्भाव-तिरोभावरूप होते हैं अर्थात् पुद्गल मे उत्पाद-व्ययरूप होते हैं; उसीप्रकार ही ये रागादिभाव यदि आत्मा के साथ उत्पाद-व्ययरूप होने लगे तो जो पुद्गल का स्वरूप है, उसे जीव द्वारा अगीकार कर लेने पर जीव व पुद्गल के एकत्व का प्रसग प्राप्त होगा। अहाहा! क्या अद्भुत टीका है! ऐसे वीतराग मार्ग की बात एक क्षण के लिए भी समझ मे बैठ जावे तो भव का अन्त आ जावे — यह ऐसी गजब की बात है। आचार्य

कहते हैं कि जडकर्म के साथ रागादि-अजीव का उत्पाद और व्यय होता है, इसकारण पुद्गल के साथ ही रागादि का तादातम्य-सम्बन्ध है, उसीप्रकार जो ऐसा अभिप्राय रखता है कि जीव के साथ रागादि उत्पाद-व्ययरूप होते है, अत जीव का रागादि के साथ सम्बन्ध है तो उसने पुद्गल को ही जीव माना। इसकारण उसकी मान्यता मे जीवद्रव्य भिन्न नही रहा, किन्तु वह पुद्गलरूप हो गया। भाई! सूक्ष्म बात है। जो जीव ऐसा अभिप्राय रखते है कि मेरी आत्मा मे राग की उत्पत्ति व व्यय होता है, उसने पुद्गल को ही आत्मा माना है।

प्रश्न:– ऐसा धर्म प्राप्त करने का क्या साधन है? भक्ति आदि करने के साधनो से धर्म प्राप्त होगा या नही?

उत्तर – अरे भगवान! देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति तो राग है तथा राग की उत्पत्ति व व्यय का सम्बन्ध तो निश्चय से पुद्गल के साथ है। इसकारण यदि तू भक्ति आदि के राग को ही धर्म का साधन मानेगा तो अभिप्राय मे तो तूने पुद्गल को ही जीव मान लिया, परन्तु यह तो मिथ्यात्व है।

व्यवहार से एकसमय की पर्याय मे् अर्थात् ससार-अवस्था मे वे रागादिभाव भले हो, परन्तु जीव का उनके साथ तादातम्य-सम्बन्ध नही है। यही बात अब आगे की गाथा मे कहेंगे कि हे भाई! यदि तू ससार-अवस्था मे भी रागादिक को अपना मानेगा तो तेरी मान्यता मे जीव पुद्गलस्वरूप हो जायेगा। तब फिर पुद्गल की ही मुक्ति होगी। गजब बात है भाई! अन्य मत की करोड़ो पुस्तके पढ़ डाले तो भी यह बात नहीं मिलेगी। कहाँ से मिले? यह तो उन सन्तो की वाणी है, जो त्रिलोकीनाथ जिनेश्वरदेव सीमन्धर परमात्मा के पास गये थे तथा अन्तर मे विराजमान निज परमेश्वरदेव चैतन्यभगवान के पास हर अन्तर्मुहूर्त मे जाते थे। परमात्मा के प्रत्यक्षदर्शी और आत्मानुभवी सन्त कहते हैं कि 'जहाँ हम गये थे, वहाँ तो रागादिक है ही नही।' अहाहा! शुद्ध चिदानदमय चैतन्यमूर्ति भगवान ही मेरा जिनदेव है। उसमे राग-द्वेष-ससार नही है। रागादि का सम्बन्ध आत्मा के साथ है ही नही। ऐसी सन्तो की अमृतवाणी सुनने का परम सौभाग्य हमे प्राप्त हुआ है। अरे! सामान्यजनो को तो यह सहजता से सुलभ ही नही है।

शास्त्र मे कही ऐसा कहते हैं कि 'पुण्य-पापादि भाव जीव की पर्याय मे होते हैं और जीव उनका कर्त्ता-भोक्ता है' – यह कथन पर्याय का ज्ञान

कराने के लिए ज्ञान की अपेक्षा से है, किन्तु यहाँ दृष्टि की अपेक्षा से कथन है। यहाँ कहते हैं कि राग-द्वेष की उत्पत्ति-व्यय का सम्बन्ध पुद्गल के साथ है। स्वभाव की दृष्टि से वे राग-द्वेष आदि भाव पर हैं, क्योंकि राग-द्वेषादि भावो की उत्पत्ति व व्यय पुद्गल के साथ सम्बन्धित है। जिसप्रकार राग-द्वेष पुद्गल मे व्याप्त रहते है; उसीप्रकार यदि आत्मा के साथ भी उनकी उत्पत्ति व व्यय का व्याप्तपना हो तो आत्मा पुद्गलमय हो जाय और फिर उससे पुद्गल की ही प्रसिद्धि होगी और आनन्दस्वरूप आत्मा का नाश ही हो जावेगा किन्तु ऐसा है नही, कभी होता ही नही।

अहाहा ! अतीन्द्रिय ज्ञान व आनन्द का सागर भगवान आत्मा अन्दर मे शाश्वत विराजता है न ? हे नाथ ! उसे यदि तू रागवाला मानेगा तो तू स्वय मान्यता मे पुद्गलमय हो जायगा, जीवरूप नही रहेगा। यदि तू शुभभाव के राग से धर्म होना मानेगा तो वहाँ आत्मा नही रहेगा। प्रभु ! इसप्रकार तो अकेले पुद्गल की ही प्रसिद्धि होगी।

प्रश्न :– इस पचमकाल मे तो शुभभाव ही होता है; इसकारण व्रत, तप, भक्ति करना ही धर्म है ?

उत्तर :– भाई ! इन व्रत, तप, भक्ति आदि के शुभभाव तो पुद्गल के साथ ही सम्बन्ध रखते हैं; आत्मा के साथ तादात्म्य-सम्बन्धरूप से व्याप्त नही होते। अहाहा ! भगवान आत्मा तो अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द व अनन्त शान्ति का भण्डार है। इस ज्ञान-भडार मे से क्या राग निकलेगा ? इसमे राग है ही कहाँ, जो निकले। राग की उत्पत्ति हो – ऐसा कोई भी गुण आत्मा मे नही है। अनन्त गुणरत्नो के भण्डार भगवान आत्मा मे दृष्टि स्थापित करते ही पर्याय मे अनन्त आनन्द व शान्ति आदि की दशा प्रगट हो जाती है और इसके उत्पाद-व्यय का सम्बन्ध निजद्रव्य के साथ है, यह उत्पाद-व्यय सिद्धदशा मे भी अनन्तकाल तक रहेगा।

यहाँ कहते है कि ये रागादिभाव आत्मा के साथ सम्बन्ध रखते हैं – ऐसा यदि कोई जाने और माने तो आत्मा पुद्गलमय हो जायेगा, क्योकि रागादि का तो पुद्गल – अजीव के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध है। अत पुद्गल से भिन्न जीव नही ठहरेगा अर्थात् इसप्रकार मानने से जीव का ही अभाव हो जायगा। अरे भाई ! जब त्रिलोकीनाथ भगवान दिव्यध्वनि द्वारा यह अर्थ प्रगट करते है, तब इसी भव में मोक्ष जानेवाले गणधर एकभवावतारी इन्द्र भी आश्चर्यचकित रह जाते हैं। इस दिव्यध्वनि की क्या महिमा कहे ? इस दिव्यध्वनि का ही यह सार है।

गाथा ६२ के भावार्थ पर प्रवचन

दया, दान, व्रत, तप आदि का विकल्प पर्याय मे प्रगट होता है, वह पुद्गलद्रव्य के साथ मे ही तादात्म्यरूप है, आत्मा के साथ उसका तादात्म्य नही है। यहाँ त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि कराना है। ये राग व भेद आदि के भाव जैसे पुद्गल के साथ सम्बन्ध रखते है, उसीप्रकार जीव के साथ भी सम्बन्ध रखते है – ऐसा मानेंगे तो जीव व पुद्गल मे कोई भेद नही रहेगा।

वर्ण से लेकर गुणस्थान तक सभी भावो का जैसे पुद्गल के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध है; उसीप्रकार जीव के साथ भी तादात्म्यपना हो तो जीव व पुद्गल मे कोई भेद नही रहेगा और ऐसा होने पर जीव का ही अभाव ठहरेगा। ज्ञायक चैतन्यज्योति का रागादि के साथ तादात्म्य हो तो आत्मा अचेतन हो जायगा। जैसे शरीर, कर्म आदि पुद्गल – अचेतन है; उसीप्रकार शुभराग भी अचेतन है। व्यवहाररत्नत्रय का राग भी अचेतन है, तथा पुद्गल के साथ तादात्म्यरूप है, क्योकि राग मे चैतन्य-स्वभाव का अभाव है। छट्ठी गाथा की टीका मे भी आता है कि ज्ञायक-स्वभावी चैतन्यज्योति कभी भी शुभाशुभभावो के स्वभावरूप नही होती। गाथा ७२ मे भी शुभाशुभभावरूप आस्रवो को विपरीतस्वभाववाला अर्थात् जड कहा है। ऐसी चिन्मात्र आत्मा रागरूप कैसे हो ? राग है तो जीव की ही पर्याय मे और वह चारित्रगुण की दोषरूप विपरीतपर्याय है; परन्तु स्वभाव की दृष्टि से वह अचेतनपने ज्ञात होती है।

प्रभु ! आत्मा चैतन्यप्रकाश का पूर है। उसमे व्यवहाररत्नत्रय का राग भी नही समाता, क्योकि राग का पुद्गल के साथ तादात्म्यपना है, आत्मा के साथ नही। यदि जीव का राग से सम्बन्ध कहोगे तो जीव पुद्गल-मय हो जायगा, अचेतन हो जायगा। स्वय प्रकाशक चैतन्यज्योतिरूप आत्मा राग को प्रकाशित करता है, जानता है, किन्तु वह स्वय रागरूप नही होता। यहाँ कहते हैं कि अचेतन-राग पुद्गल से एकरूप है, इसलिए इससे उदास हो जा ! प्रभु ! यह तेरी चीज नही है, इसलिए अन्तर्मुख होकर अपना आसन ज्ञायकस्वरूप चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा मे जमा दे ! यदि तू राग से तादात्म्य-सबध करने जायेगा तो अचेतन हो जायगा और उससे तेरे जीवन का ही अभाव हो जायगा। तेरी इस मान्यता मे महादोष आता है। बात कठिन है, परन्तु भगवन् ! वस्तुस्वरूप ऐसा ही है। बस, जरा धैर्य से समझना पडेगा।

संसारावस्थायामेव जीवस्य वर्णादितादात्म्यमित्यभिनिवेशेऽप्ययमेव दोष :–

अह संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी ।
तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा ।।६३।।
एवं पोग्गलदव्वं जीवो तहलक्खणेण मूढमदी ।
णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पोग्गलो पत्तो ।।६४।।

अथ संसारस्थानां जीवानां तव भवंति वर्णादयः ।
तस्मात्संसारस्था जीवा रूपित्वमापन्नाः ।।६३।।
एवं पुद्गलद्रव्यं जीवस्तथालक्षणेन मूढमते ।
निर्वाणमुपगतोऽपि च जीवत्वं पुद्गलः प्राप्तः ।।६४।।

अब मात्र ससार-अवस्था में ही जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य है – इस अभिप्राय में भी यही दोष है, सो कहते हैं :–

वर्णादि हैं संसारी जीव के, योंहि मत तुझ होय जो ।
संसारस्थित सब जीवगण, पाये तदा रूपित्वको ।।६३।।
इस रीत पुद्गल वो हि जीव, हे मूढ़मति ! समचिह्न से ।
अरु मोक्षप्राप्त हुआ भी पुद्गलद्रव्य जीव बने अरे ।।६४।।

गाथार्थ :– [अथ] अथवा यदि [तव] तुम्हारा मत यह हो कि [संसारस्थानां जीवानां] ससार मे स्थित जीवो के ही [वर्णादयः] वर्णादिक (तादात्म्यस्वरूप से) [भवंति] है, [तस्मात्] तो इसकारण से [संसारस्थाः जीवाः] संसार मे स्थित जीव [रूपित्वम् आपन्नाः] रूपित्व को प्राप्त हुए – [एवं] ऐसा होने से [तथालक्षणेन] वैसा लक्षण (अर्थात् रूपित्वलक्षण) तो पुद्गलद्रव्य का होने से [मूढमते] हे मूढबुद्धि ! [पुद्गलद्रव्यं] पुद्गलद्रव्य ही [जीवः] जीव कहलाया [च] और (मात्र ससार-अवस्था मे ही नही, किन्तु) [निर्वाणम् उपगतः अपि] निर्वाण प्राप्त होने पर भी [पुद्गलः] पुद्गल ही [जीवत्व] जीवत्व को [प्राप्तः] प्राप्त हुआ ।

यस्य तु संसारावस्थायां जीवस्य वर्णादितादात्म्यमस्तीत्यभिनिवेशस्तस्य तदानीं स जीवो रूपित्वमवश्यमवाप्नोति। रूपित्वं च शेषद्रव्यासाधारणं कस्यचिद्द्रव्यस्य लक्षणमस्ति। ततो रूपित्वेन लक्ष्यमाणं यत्किंचिद्भवति स जीवो भवति। रूपित्वेन लक्ष्यमाणं पुद्गलद्रव्यमेव भवति एवं पुद्गलद्रव्यमेव स्वय जीवो भवति, न पुनरितर. कतरोऽपि। तथा च सति मोक्षावस्थायामपि नित्यस्वलक्षणलक्षितस्य द्रव्यस्य सर्वास्वप्यवस्थास्वनपायित्वादनादिनिधनत्वेन पुद्गलद्रव्यमेव स्वयं जीवो भवति, न पुनरितरः कतरोपि। तथा च सति तस्यापि पुद्गलेभ्यो भिन्नस्य जीवद्रव्यस्याभावाद्भवत्येव जीवाभाव.।

टीका :– फिर जिसका यह अभिप्राय है कि ससार-अवस्था मे जीव का वर्णादिभावो के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध है, उसके मत मे ससार-अवस्था के समय वह जीव अवश्य रूपित्व को प्राप्त होता है और रूपित्व तो किसी द्रव्य का, शेष द्रव्यो से असाधारण – ऐसा लक्षण है। इसलिये रूपित्व (लक्षण) से लक्षित (लक्ष्यरूप होता हुआ) जो कुछ हो, वही जीव है। रूपित्व से लक्षित तो पुद्गलद्रव्य ही है, इसप्रकार पुद्गलद्रव्य ही स्वय जीव है, किन्तु उसके अतिरिक्त दूसरा कोई जीव नही है। ऐसा होने पर मोक्ष-अवस्था मे भी पुद्गलद्रव्य ही स्वय जीव (सिद्ध होता) है, किन्तु उसके अतिरिक्त अन्य कोई जीव (सिद्ध होता) नही; क्योकि सदा अपने स्वलक्षण से लक्षित – ऐसा द्रव्य सभी अवस्थाओ मे हानि अथवा ह्रास को न प्राप्त होने से अनादि-अनन्त होता है। ऐसा होने से उसके मत मे भी (ससार-अवस्था मे ही जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य माननेवाले के मत में भी) पुद्गलो से भिन्न – ऐसा कोई जीवद्रव्य न रहने से जीव का अवश्य अभाव होता है।

भावार्थ :– यदि ऐसा माना जाये कि ससार-अवस्था मे जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध है तो जीव मूर्तिक हुआ और मूर्तिकत्व तो पुद्गलद्रव्य का लक्षण है, इसलिये पुद्गलद्रव्य ही जीवद्रव्य सिद्ध हुआ, उसके अतिरिक्त कोई चैतन्यरूप जीवद्रव्य नही रहा। और मोक्ष होने पर भी उन पुद्गलो का ही मोक्ष हुआ, इसलिये मोक्ष मे भी पुद्गल ही जीव ठहरे, अन्य कोई चैतन्यरूप जीव नही रहा। इसप्रकार ससार तथा मोक्ष मे पुद्गल से भिन्न – ऐसा कोई चैतन्यरूप जीवद्रव्य न रहने से जीव का ही अभाव हो गया। इसलिये मात्र ससार-अवस्था मे ही वर्णादिभाव जीव के हैं – ऐसा मानने से भी जीव का अभाव ही होता है।

गाथा ६३–६४ एव उसकी टीका पर प्रवचन

आचार्य कहते है कि 'मात्र ससार-अवस्था मे ही जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध है' – ऐसे अभिप्राय मे भी दोष आता है।

जिसका अभिप्राय या श्रद्धान ऐसा है कि भले ही मोक्ष-अवस्था में रागादि का जीव के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध न हो, परन्तु ससार-अवस्था में तो जीव का रागादिभावों के साथ सम्बन्ध है। उनसे कहते हैं कि भाई ! यदि ससारावस्था मे भी जीव का वर्णादिभावो के साथ सम्बन्ध हो तो ससारावस्था के काल मे तेरे मत के अनुसार जीव अवश्य ही रूपित्व को प्राप्त होगा। देखो, यहाँ रागादिभावो को अजीव, अचेतन और रूपी भी कहा है। भगवान चैतन्यस्वरूप जीव तो अरूपी है और ये रागादिभाव अचेतन है, रूपी हैं; इसलिए यदि रागादिभावों को ससारावस्था मे जीव के साथ तादात्म्यरूप से मानोगे तो जीव ही रूपीपने को प्राप्त होगा।

यहाँ ऐसा कहते है कि ससारावस्था में भी रागादिभाव आत्मा के नही हैं। संसार-अवस्था मे जीव का रंग-राग व भेद-भावो के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध नही है, तथापि यदि तेरा ऐसा ही अभिप्राय हो कि ज्ञानानन्दस्वभावी जीव के संसारावस्था मे रग, राग व भेद के भावों से तादात्म्य है तो आत्मा अवश्य ही रूपीपने को प्राप्त होगा।

लक्षण की परिभाषा न्यायशास्त्र मे ऐसी आती है कि किसी द्रव्य का अन्य शेषद्रव्यो से असाधारणपना – भिन्नपना ही उस (वस्तु) का लक्षण है। यहाँ पुद्गल का अन्य जीवादि द्रव्यो से असाधारण – रूपित्व ही पुद्गल का लक्षण है, इसलिए यदि जीव का ससार-अवस्था मे भी रग-राग-भेद से तादात्म्य हो तो रूपित्व के लक्षण से लक्षित जो कोई भी वस्तु हो, वे सब जीवत्व को प्राप्त हो जायेगी अर्थात् पुद्गल जीवमय हो जायेगा, कोई भी पुद्गल से भिन्न जीव नही रहेगा।

अहाहा ! लोक तो बस ऐसा मानता है कि दया, दान, व्रत, भक्ति आदि व्यवहार क्रिया करो – इन्ही से कल्याण हो जायेगा; परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि प्रभु ! इन रग, राग व भेद के सर्व भावो का पुद्गल के साथ सम्बन्ध है। यदि आत्मा रंगरूप, रागरूप या भेदरूप हो जावे तो रूपी – पुद्गल हो जायेगा। अहाहा ! अज्ञान अवस्था मे रग-राग व भेद मेरा है और मैं उनका कर्त्ता हूँ – ऐसा जो मानते हैं, वे पुद्गल को जीवरूप मानते है। भाई ! वस्तु के स्वरूप की दृष्टि से देखने पर रग-राग-भेद त्रिकाली वस्तु मे नही हैं। यद्यपि पर्याय की अपेक्षा से उनको जीव का

कहा है, तथापि त्रिकाली ध्रुवस्वभाव की दृष्टि से देखने पर उनका जीव के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध नही है। इसकारण वे जीव के नही है, किन्तु रूपी पुद्गल के हैं – ऐसा यह स्याद्वाद है।

चैतन्यप्रकाश के नूर का पूर प्रभु आत्मा सदा ही अरूपी है और रग-राग-भेद रूपी हैं तथा रूपीपना पुद्गल का लक्षण है। अत ससार-अवस्था मे भी यदि कोई ऐसा माने कि रग-राग-भेद जीव के हैं, तो जीव रूपी – पुद्गल हो जायेगा और इसप्रकार पुद्गल ही जीवत्व को प्राप्त होगा और उसके मत मे कोई पुद्गल से भिन्न जीव नही ठहरेगा, यह तत्त्वदृष्टि है। आचार्य कहते है कि प्रभु तू जीवतत्त्व – चैतन्यतत्त्व है, इसलिए जीव मे रग-राग-भेदरूप अजीव से सम्बन्धित मान्यता छोड ! क्योकि वे तेरे है ही नही। ऐसी सूक्ष्म बात समझने मे वाद-विवाद से पार नही पड सकती। पर्याय मे रागादि हैं, इसलिए पर्याय-अपेक्षा से वह सत्य है, किन्तु चैतन्य-स्वभाव की दृष्टि मे – रग-राग-भेद ये तीनो ही नही हैं। रग-राग-भेद के भाव तो रूपी – पुद्गल के साथ सम्बन्ध रखनेवाले हैं, उनका यदि आत्मा के साथ सम्बन्ध हो जायेगा तो आत्मा रूपी हो जायगा, जिससे जीव का ही अभाव हो जायगा। यहाँ आत्मा को रग अर्थात् वर्ण, राग अर्थात् शुभाशुभभाव और भेद अर्थात् गुणस्थान आदि से भिन्न बताया है।

अहाहा ! रग-राग व भेद से भी निराला भगवान चैतन्यमहाप्रभु है। अरे ! जब ऐसा सुनने को ही नही मिलता तो उसकी रुचि व प्रयत्न कहाँ से और कैसे करे ? आजकल देशसेवा की बात चलती है, परन्तु वह लौकिक बात है, यहाँ अध्यात्म की बात चलती है। यहाँ कहते हैं कि तेरा देश तो रग-राग-भेद से भी भिन्न है, तेरा देश तो असख्यातप्रदेशीअभेद चिद्रूपमात्र ज्ञायकस्वरूप है। तू अपने ऐसे देश की उपासना कर !

अहाहा ! रग-राग-भेद के भाव रूपी है – ऐसा यहाँ कहा है। रग-गध-रस-स्पर्श तो रूपी हैं, किन्तु शुभाशुभभाव तथा जीवस्थान, गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि भेद भी रूपी हैं – ऐसा कहा है। आत्मा निर्मलानन्द प्रभु त्रिकाल अरूपी है, उसकी अपेक्षा से ये सर्व भाव रूपी हैं – कर्मोदय निमित्तक होने से सयमलब्धिस्थान भी रूपी है। ज्ञान मे जो क्षयोपशम का अश है, वह निरावरण है व शुद्ध है और यही बढकर केवलज्ञान होगा – ऐसा जो कहा है, वह तो पर्यायनय की अपेक्षा कहा है, जबकि यहाँ तो स्वभाव की दृष्टि की बात है। यदि ये रागादि जीव के द्रव्यस्वभाव मे तद्रूपपने हो तो कभी निकलेंगे ही नही। अहो ! वीतराग मार्ग अलौकिक है।

प्रवचनसार मे ऐसा आता है कि ज्ञानी और गणधर को भी जो राग का परिणमन है, उसके कर्त्ता वे स्वय है। जबकि यहाँ राग को रूपी–पुद्गलमय कहा है। भाई! ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक होने से वहाँ (प्रवचनसार ग्रन्थ के नय अधिकार मे) ज्ञान की प्रधानता से पर्याय का ज्ञान कराया है; किन्तु यहाँ तो जीव के स्वभाव की बात है। रग, राग व भेद जीव के चैतन्यस्वभाव से भिन्न है, विपरीत हैं; इसकारण वे रूपी–पुद्गलमय है। अभेद की दृष्टि मे भेद है ही नही। ग्यारहवी गाथा के भावार्थ मे कहा है कि प्राणियो को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादि काल से ही है और वे भेदरूप व्यवहार की परस्पर प्ररूपणा भी करते है, तथा भेद के – व्यवहार के कथन को हस्तावलम्ब जानकर, शास्त्रो मे भी उसका वर्णन बहुत किया गया है, परन्तु इसका फल संसार ही है।

अन्दर पूर्णानन्द का नाथ अभेद एकरूप चैतन्य महाप्रभु विराजता है। इस अभेदस्वरूप की दृष्टि हुए बिना सम्यग्दर्शन नही होता। अखण्ड अभेद निर्मल चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा के स्वीकार से ही सम्यग्दर्शन होता है। अभेद की दृष्टि भेद, राग या निमित्त को स्वीकार नही करती, क्योकि अभेदवस्तु मे भेदादि है ही नही, इसलिए जो अभेद मे नही है, उनका निषेध करना यथार्थ है। अत अभेद की दृष्टि मे इन रग, राग व भेद के भावो को रूपी व पुद्गल के लक्षण से लक्षित कहा है। यह तो श्लोक मे भी आता है कि भेदज्ञान होने के पूर्व अज्ञानभाव से जीव राग का कर्त्ता है; तथापि जब भेदज्ञान प्रगट प्राप्त होता है, तब वे रागादि आत्मा मे दिखाई नही देते। यह बात जरा कठिन है, परन्तु अज्ञानी को यदि कठिन पडती है तो इससे वस्तुस्वरूप पलट नही जायगा। अत आत्मा को जानने का अभ्यास करना चाहिये।

अहाहा! तीनलोक के नाथ सर्वज्ञदेव के द्वारा कही हुई बात यहाँ सन्त प्रसिद्ध करते हैं। वे कहते हैं कि आत्मा की प्रसिद्धि कब होती है? जब यह आत्मा रूपी – अचेतन रग-राग-भेद के भावो से भिन्न पडकर अभेद की दृष्टि करता है, तब आत्मा की प्रसिद्धि होती है। टीका मे कहा है कि रूपित्व से लक्षित तो पुद्गलद्रव्य है, इसलिए ये भाव पुद्गल ही हैं।

प्रश्न :– क्या यह एकान्त नही है?

उत्तर :– हाँ, एकान्त है, किन्तु सम्यक्-एकान्त है। ऐसा सम्यक्-एकान्त हो, तब पर्याय मे राग व अल्पज्ञता है – इसका भी यथार्थ ज्ञान होता है। इसी का नाम अनेकान्त है। भाई! वीतराग का मार्ग सूक्ष्म लगता अवश्य है, परन्तु वस्तु भी ऐसी ही सूक्ष्म है।

शुद्ध चैतन्य प्रकाशस्वरूप वस्तु मे राग व भेद को अवकाश नही है। रूपी वर्ण की तो क्या बात करना ? राग व भेद के भाव भी पुद्गल है। 'ये रग-राग-भेद के भाव पुद्गल के हैं, मेरे चैतन्यभाव मे नही हैं' – जहाँ ऐसी ज्ञायकभाव की दृष्टि हुई, वही भव का अन्त आ जाता है, जन्म-मरण का – चौरासी का फेरा मिट जाता है। वर्णादि को जब तक अपना मानता था, तब तक मिथ्यात्व था और तब तक अनन्त-अनन्त भव मे भटकने की इसमे शक्ति (योग्यता) थी, परन्तु ज्यो ही अचेतन – पुद्गलमय रग-राग-भेद के भावो से भिन्न शुद्ध चैतन्यस्वरूप अभेद एक आत्मा की दृष्टि होती है, उसीसमय ससार का अभाव हो जाता है अर्थात् सम्यग्दर्शन होता है। अहाहा ! अन्दर वस्तु के स्वरूप मे रग-राग-भेद का त्याग एव शुद्ध चैतन्य का ग्रहण है – इसकी जिसको खबर नही है और व्यवहार से त्याग करके, क्रियाकाण्ड करके – वह अपने को त्यागी माने तो भले माने, परन्तु वे सब निरर्थक है, उनकी कोई कीमत नही है।

प्रश्न :– ये पुरुषार्थ तो करते हैं ?

उत्तर :– भाई ! अन्तर अभेदस्वरूप मे रहना ही पुरुषार्थ है। यदि अभेदवस्तु दृष्टि मे आई है तो उसी मे विशेषरूप से लीन होना ही चारित्र है, किन्तु सम्यग्दर्शन व उसका विषय क्या है ? इसकी खबर बिना चारित्र कहाँ से आयेगा ? प्रभु ! अन्दर ज्ञानप्रकाश का पूर जलहल चैतन्यज्योतिस्वरूप ध्रुव अभेद आत्मा की दृष्टि करने पर रग-राग-भेदादि सब भिन्न प्रतिभासित होने लगते है। सम्यग्दर्शन की पर्याय मे ये भेद नही आते, इसमे तो अभेद आत्मा आता है, यद्यपि उनका ज्ञान होता है, तथापि रग-राग-भेद का आत्मा मे प्रवेश नही होता। प्रभु ! यही पुरुषार्थ है।

बाहर का (पर का) त्याग–ग्रहण तो आत्मा के स्वरूप मे है ही नही, विकार का त्याग-ग्रहण भी स्वभाव मे नही है, क्योकि स्वरूप मे विकार है ही कहाँ ? जहाँ दृष्टि स्वरूप मे स्थिर होती है तो विकार उत्पन्न ही नही होता, तब 'विकार का त्याग किया' – ऐसा कहने मे आता है। यह बात इसी शास्त्र की गाथा ३४ मे भी आ गई है। ज्ञायकस्वभाव मे विकार है ही नही, अत विकार को त्याग करने की बात ही कहाँ रही ? वर्त्तमान पर्याय मे विकार है, किन्तु जैसे ही ज्ञायकभाव पर दृष्टि की स्थिरता हुई, वैसे ही निर्मल परिणमन हुआ व राग उत्पन्न ही नही हुआ, तब राग का त्याग किया – ऐसा कहने मे आता है। अहो ! समयसार की एक-एक पक्ति अलौकिक है। यहाँ कहते हैं कि जैसे रग-राग-भेद

के भावों का पुद्गल के साथ तादात्म्य है; इसीप्रकार जीव के साथ भी यदि तादात्म्य मानोगे तो पुद्गलद्रव्य ही जीव हो जाएगा, चैतन्यलक्षण से लक्षित जीव उनसे भिन्न नहीं रहेगा।

आत्मपदार्थ सर्वोत्कृष्ट चैतन्य महाप्रभु है। तीनलोक मे सारभूत सर्वोत्कृष्ट वस्तु ही तू है। ऐसे आत्मपदार्थ मे अचेतन – पुद्गलमय रंग-राग-भेद को एकत्वपने स्थापित करेंगे तो आत्मा ही रूपी – अचेतन हो जाएगा, फिर मोक्षदशा मे भी जीव पुद्गलपने ही रहेगा। जिससे जिसका तादात्म्य है, उससे वह कभी भी भिन्न नहीं पड़ता। इसकारण ससार-अवस्था मे भी जीव का रागादि के साथ तादात्म्य होने से जीव पुद्गलमय हुआ, इसप्रकार मोक्षदशा में भी जीव पुद्गलमय ही रहेगा। ससार-अवस्था में रूपित्व या पुद्गल का जो लक्षण है, वह यदि जीव में तादात्म्यपने से आ जावे तो मोक्ष होने पर भी यह लक्षण ही रहेगा।

भाई! रंग-राग-भेद से तो पुद्गल को ही तन्मयपना है। यदि संसार-अवस्था में आत्मा को इससे तन्मयपना मानेंगे तो आत्मा रूपी – पुद्गल ही हो जायेगा, फिर संसार-अवस्था से पलटकर जब मोक्ष होगा तो किसका मोक्ष होगा? पुद्गल का ही मोक्ष होगा अर्थात् मोक्ष मे पुद्गल ही रहेगा, जीव नहीं रहेगा। एक अवस्था मे यदि रंग-राग-भेद जीव से तन्मय हो तो दूसरी अवस्था मे भी वे जीव से तन्मय अर्थात् एकमेक ही रहेंगे। अतः जब संसार-अवस्था में जीव पुद्गल से तन्मय है तो मोक्ष-अवस्था में भी पुद्गल से तन्मय ही रहेगा अर्थात् पुद्गल का ही मोक्ष होगा। अहो! दिगम्बर सन्तों ने गजब वस्तुस्वरूप बताया है।

लोग तो बस! बाहर से त्याग करो, पचमहाव्रत पालो तथा भगवान की भक्ति आदि करो, इससे धर्म हो जायेगा – ऐसा मानते हैं। ऐसे लोग शुभभाव से ही निर्जरा होना मानते हैं; परन्तु भाई! शुभभाव को तो यहाँ रूपी – अचेतन – पुद्गल के परिणाममय कहा है, इससे निर्जरा कैसे हो सकती है? आचार्य कहते हैं कि इस टीका करने का जो शुभविकल्प आया है, वह भी मेरा नहीं है; क्योंकि वह पुद्गल के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध रखता है, मेरे साथ नहीं। अहाहा! टीका के शब्दों की जो क्रिया है, वह तो मेरी है ही नहीं; किन्तु इसके बनाने का यह जो विकल्प आया है, वह भी पुद्गल के साथ सम्बन्ध रखता है; इसकारण वह भी मेरा नहीं है – ऐसा कहते हैं। मैं तो सिर्फ उससे भिन्न रहकर, उसे जाननेवाला हूँ। अहाहा! मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यय आदि पर्याय में जो भेद पड़ते हैं, उनका भी मात्र

ज्ञाता हूँ। ये भेद मेरी चीज मे नही है। निमित्त, राग व भेद को मैं जानने-वाला हूँ, किन्तु जिनको मैं जानता हूँ, उन निमित्तरूप या भेदरूप मैं नही हूँ। अहो! भेदज्ञान की क्या अद्भुत व अलौकिक कला आचार्यों ने बताई है। इस भेदविज्ञान के बल से रग-राग-भेद से भिन्न पडकर अपने शुद्ध-ज्ञायकभाव को दृष्टि मे लेकर, उसी मे एकाग्र होने पर, सवर-निर्जरा होती है और यही शुद्धरत्नत्रय धर्म है।

यहाँ कहते है कि रग-राग-भेद के भाव ससारदशा मे आत्मा के है – ऐसा यदि तू मानेगा तो इनसे भिन्न अन्य कोई जीव रहेगा ही नही और मोक्ष-अवस्था मे भी पुद्गलद्रव्य ही जीव ठहरेगा, क्योकि सदैव अपने लक्षण से लक्षित द्रव्य सभी अवस्थाओ मे हानि को प्राप्त न होने से अनादि-अनन्त हैं। भगवान आत्मा ज्ञायकमात्र शुद्ध चैतन्यरसकन्द है। उसके साथ रग-राग-भेद के भावो का तादात्म्य है – ऐसा यदि तू मानेगा तो आत्मद्रव्य रग-राग-भेद के लक्षण से लक्षित होगा और वह लक्षण कभी भी हानि को प्राप्त नही होता है। इसकारण आत्मा इनसे कभी भी पृथक् नही होगा अर्थात् आत्मा आत्मापने नही रहेगा और आत्मा का अवश्य ही अभाव हो जायेगा। अहो! टीका मे आचार्यदेव अमृतचन्द्रस्वामी ने अकेला अमृत वर्षाया है, जिससे अमरत्व की सिद्धि हो।

गाथा ६३-६४ के भावार्थ पर प्रवचन

यह जीव-अजीव अधिकार है। जीव किसे कहते हैं, इसकी यह बात है। जीव तो अनन्त-अनन्त गुणो का अभेद शुद्ध चैतन्यमात्र पिण्ड है, रग, राग व भेद के सभी भाव इसमे नही हैं। 'रग' मे वर्ण, गध, रस, स्पर्श, शरीर, मन, वाणी, इन्द्रिय, कर्म वगैरह सब आ जाते हैं। 'राग' मे शुभा-शुभभाव, अध्यवसानादि भाव आ जाते हैं तथा 'भेद' मे जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान, लब्धिस्थान इत्यादि आ जाते हैं। जीव उसे कहते है कि जो इन सभी रग, राग व भेद के भावो से निराला त्रिकाली ध्रुव चैतन्यरूप है। जो ऐसा मानता कि ससारावस्था मे जीव का रग-राग-भेद के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध है तो जीव मूर्तिक हो जायगा, क्योंकि रग-राग-भेद के भाव सभी मूर्तिक है तथा मूर्तिकपना तो पुद्गल का ही लक्षण है। इसकारण जीव व पुद्गल एक हो जायेंगे। भाई! बहुत सूक्ष्मबात है। ये दया, दान, व्रत, व्यवहाररत्नत्रयादि का राग तथा गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि भेद मूर्तिक – रूपी है, इनसे यदि जीव अभिन्न हो तो जीव मूर्तिक हो जायेगा, भेदादि से भिन्न कोई जीव नही रहेगा।

देखो, यह शास्त्रज्ञान परज्ञेय है, स्वज्ञेय नही है। इसे यहाँ मूर्तिक कहकर पुद्‌गलमय कहा है। जबकि भगवान आत्मा तो अखण्ड अभेद एक शुद्ध चिद्रूपवस्तु है, इसमें गुणभेद या पर्यायभेद भी नही है तो फिर रंग-राग की बात ही क्या करना ? एक ओर प्रवचनसार में ऐसा कहते हैं कि राग-द्वेषादि पर्यायें अपनी हैं, निश्चय से जीव की हैं, जीव में है और यहाँ उन्हे ही मूर्तिक पुद्‌गलमय कहते है। इसप्रकार प्रवचनसार मे पर्याय को सिद्ध किया है। वहाँ ज्ञान के विषयरूप आत्मा की पर्याय मे राग-द्वेषादि है, इसप्रकार पर्याय सिद्ध की है। जबकि यहाँ दृष्टि का विषय अभेदद्रव्य को सिद्ध करना है। भाई ! जहाँ जो अपेक्षा है, उसे यथार्थ समझना चाहिये।

मूर्तिकपना तो पुद्‌गल का ही लक्षण है, इसलिए यह लक्षण यदि जीव मे आ जाय तो जीव चैतन्यमय द्रव्य नही रहेगा, किन्तु मूर्त पुद्‌गलमय हो जायगा और तब मोक्ष होने पर भी उस पुद्‌गल को ही मोक्ष होगा। रंग-राग-भेद के भाव जो आत्मा के हो तो उसके मूर्तिक होने से मोक्ष में भी वही मूर्त – पुद्‌गल रहेगा अर्थात् जीव का ही अभाव सिद्ध होगा।

आजकल कितने ही लोग ऐसा कहते है कि व्यवहारनय का विषय जो शुभराग है, उसका आचरण करने से आत्मा को लाभ होता है, क्योंकि गौतमस्वामी ने भी व्यवहार से कहा है न ? (अर्थात् भेद करके समझाया है न ?) यहाँ आचार्य कहते हैं कि हाँ, भेद करके समझाया अवश्य है, यह बात ठीक है; परन्तु इसका अर्थ यह कहाँ से हो गया कि व्यवहार के आश्रय से लाभ होता है, धर्म होता है ? व्यवहार से तो मात्र समझाया है, दूसरे किस रीति से समझाते, क्योंकि भेद करके समझाये बिना शिष्य की समझ में आता ही नही है, इसकारण भेद करके समझाया है; किन्तु भाई ! भेद त्रिकाली आत्मा की वस्तु नही है और वह आश्रय करने योग्य भी नही है। आत्मा के अभेद स्वभाव मे भेद है ही नही, इसीकारण तो यहाँ भेद को पुद्‌गल मे डाल दिया है। भाई ! जो शुभराग के आचरण से आत्मा का लाभ या धर्म होना मानते हैं, वे अपने जीव का ही अभाव करते हैं।

चैतन्यस्वभाव को पकड़ने मे उपयोग बहुत सूक्ष्म होता है। शुभ उपयोग से तो नही, परन्तु जो मति-श्रुतज्ञान का उपयोग बहिर्मुखी है, पर को जानने मे प्रवर्तता है, उससे भी आत्मा जानने मे नही आता। यहाँ तो जो उपयोग स्वयं आत्मा को पकड़े, वह उपयोग सूक्ष्म है। रंग-राग-भेद से भिन्न जो अपनी शुद्ध चैतन्यमय वस्तु है; उसे जो पकड़े, वह उपयोग सूक्ष्म है। ऐसे सूक्ष्म उपयोग से जब वह अन्दर मे जाता है, तब सम्यग्दर्शन होता है।

देह की क्रिया इन्द्रियो की क्रिया तथा वाणी की क्रिया जड है। ये जड क्रियाये आत्मा करता है – ऐसा मानने पर आत्मा जड हो जाता है। व्रत-भक्ति-पूजा इत्यादि का राग भी जड – अजीव है, मूर्त है, इसकारण राग यदि आत्मा का हो जाये तो आत्मा जड-पुद्गल बन जायगा। इसीप्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय मे जो भेद पडते हैं, वे भेद भी जीवद्रव्य के स्वरूप नही है। यदि वे भेद भी जीवद्रव्य के स्वरूप हो तो त्रिकाली जीव मे सदैव कायम रहे। 'सिद्धदशा मे ये भेद नही हैं, तथापि ससार-अवस्था मे ये भेदादि है' – ऐसा यदि कहोगे तो ससार-अवस्था मे जीव पुद्गलमय हो जायेगा, फिर मोक्ष होने पर भी जीव पुद्गल ही रहेगा।

प्रश्न :– जिस आत्मा के यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान होने पर सम्यग्दर्शन होता है, वह आत्मा कैसा है ?

उत्तर :– आत्मा रग-राग व भेद से भिन्न अभेद शुद्ध चैतन्यतत्त्व है तथा रग, राग व भेद मूर्तिक – पुद्गल है। यहाँ शास्त्र का जो ज्ञान है, वह मूर्तिक – पुद्गल है। यदि यह स्व का ज्ञान होवे तो इसमें अतीन्द्रिय आनद आना चाहिये, परन्तु शास्त्रज्ञान के साथ अतिन्द्रिय आनन्द तो आता नही है, इसलिए शास्त्रज्ञान पुद्गलमय है। इसीप्रकार देव-शास्त्र-गुरु व नवतत्त्व की भेदरूप श्रद्धा, पचमहाव्रत के भाव इत्यादि सर्व पुद्गलरूप हैं।

निश्चयस्तुति का स्वरूप कहते हुए ३१वी गाथा मे आया है कि जड-इन्द्रियाँ, भावेन्द्रियाँ तथा उनके विषय – भगवान की वाणी इत्यादि सब इन्द्रियाँ हैं, जड है। वाणी के निमित से जो ज्ञान अपनी पर्याय मे होता है, वह भी इन्द्रिय है। इस परलक्ष्यी ज्ञान को यहाँ पुद्गलमय कहा है।

इसीप्रकार मार्गणास्थान मे भी लगा लेना चाहिए। ज्ञानमार्गणा, दर्शनमार्गणा, सयममार्गणा, – इन मार्गणाओ की पर्यायो को शोधने पर वे पर्यायें है, तथापि जीव के चैतन्यस्वभाव मे वे नही हैं, इसकारण वे सब पुद्गल के परिणाम हैं। ज्ञान के भेद तथा सम्यग्दर्शन के क्षायिक, उपशम आदि जो भेद है, उन भेदो का लक्ष्य करने पर तो राग ही उत्पन्न होता है, वे भेद वस्तु के चैतन्यस्वरूप मे तो हैं नही, इसलिए उनको पुद्गल के परिणाममय कहा है। इसकारण रग, राग व भेद आदि जीव नही हैं – ऐसा ही स्वीकार करो! सन्तो ने बहुत ही गभीर व रहस्यमय बात की है, उसे धैर्य से समझना चाहिए।

एवमेतत् स्थितं यद्वर्णादयो भावा न जीव इति –

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पंच इन्दिया जीवा।
बादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स ॥६५॥

एदाहि य णिव्वत्ता जीवट्ठाणा उ करणभूदाहि।
पयडीहिं पोग्गलमईहिं ताहिं कहं भण्णदे जीवो ॥६६॥

एकं वा द्वे त्रीणि च चत्वारि च पंचेन्द्रियाणि जीवाः।
बादरपर्याप्तेतराः प्रकृतयो नामकर्मणः ॥६५॥

एताभिश्च निर्वृत्तानि जीवस्थानानि करणभूताभिः।
प्रकृतिभिः पुद्गलमयीभिस्ताभिः कथं भण्यते जीवः ॥६६॥

निश्चयतः कर्मकरणयोरभिन्नत्वात् यद्येन क्रियते तत्तदेवेति कृत्वा, यथा कनकपत्रं कनकेन क्रियमाणं कनकमेव न त्वन्यत् तथा जीवस्थानानि

इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि वर्णादिक भाव जीव नहीं हैं, अतः अब कहते हैं :-

जीव एक-दो-त्रय-चार-पंचेन्द्रिय, बादर-सूक्ष्म हैं।
पर्याप्त-अनपर्याप्त जीव जु नामकर्म की प्रकृति हैं ॥६५॥

जो प्रकृति यह पुद्गलमयी, वह करणरूप बने अरे!
उससे रचित जीवस्थान जो हैं, जीव क्यों हि कहाय वे ॥६६॥

गाथार्थ :– [एकं वा] एकेन्द्रिय, [द्वे] द्वीन्द्रिय, [त्रीणि च] त्रीन्द्रिय, [चत्वारि च] चतुरिन्द्रिय और [पंचेन्द्रियाणि] पचेन्द्रिय, [बादरपर्याप्तेतराः] बादर-सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त [जीवाः] जीव नथा ये [नामकर्मणः] नामकर्म की [प्रकृतयः] प्रकृतियाँ है; [एताभिः च] इन [प्रकृतिभिः] प्रकृतियों से [पुद्गलमयीभिः ताभिः] जो कि पुद्गलमयरूप से प्रसिद्ध हैं, उनके द्वारा [करणभूताभिः] करणस्वरूप होकर [निर्वृत्तानि] रचित [जीवस्थानानि] जो जीवस्थान (जीवसमास) है, वे [जीवः] जीव [कथं] कैसे [भण्यते] कहे जा सकते हैं ?

टीका :– निश्चयनय से कर्म और करण की अभिन्नता होने से, जो जिससे किया जाता है, (होता है,) वह वही है – यह समझकर (निश्चय

वादरसूक्ष्मैकेंद्रियद्वित्रिचतुःपंचेन्द्रियपर्याप्तापर्याप्ताभिधानाभिः पुद्गलमयीभिः नामकर्मप्रकृतिभिः क्रियमाणानि पुद्गल एव, न तु जीवः। नामकर्मप्रकृतीनां पुद्गलमयत्वं चागमप्रसिद्धं दृश्यमानशरीरादिमूर्तकार्यानुमेय च। एवं गंधरसस्पर्शरूपशरीरसस्थानसंहननान्यपि पुद्गलमयनामकर्म प्रकृतिनिर्वृत्तत्वे सति तदव्यतिरेकाज्जीवस्थानैरेवोक्तानि। ततो न वर्णादयो जीव इति निश्चयसिद्धान्तः।

करके) जैसे सुवर्ण-पत्र सुवर्ण से किया जाता होने से सुवर्ण ही है, अन्य कुछ नही है, इसीप्रकार जीवस्थान वादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय, पर्याप्त, अपर्याप्त नामक पुद्गलमयी नामकर्म की प्रकृतियो से किये जाते होने से पुद्गल ही हैं, जीव नही हैं। और नामकर्म की प्रकृतियो की पुद्गलमयता तो आगम से प्रसिद्ध है तथा अनुमान से भी जानी जा सकती है, क्योकि प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले शरीर आदि जो मूर्तिकभाव हैं, वे कर्मप्रकृतियो के कार्य है, इसलिये कर्मप्रकृतियाँ पुद्गलमय हैं – ऐसा अनुमान हो सकता है।

इसीप्रकार गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, सस्थान और सहनन भी पुद्गलमय नामकर्म की प्रकृतियो के द्वारा रचित होने से पुद्गल से अभिन्न है; इसलिये मात्र जीवस्थानो को पुद्गलमय कहने पर इन सवको भी पुद्गलमय ही कथित समझना चाहिए।

इसलिये वर्णादिक जीव नही हैं – यह निश्चयनय का सिद्धान्त है।

गाथा ६५-६६ की उत्थानिका, गाथा एवं उनकी टीका पर प्रवचन

पूर्व गाथाओ के द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि वर्णादिक भाव जीव नही हैं, वही वात अव इस गाथा मे दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते हैं।

प्रभु! धर्म का समझना वहुत सूक्ष्म वात है। वैसे तो अनन्तकाल से अज्ञानदशा मे यह जीव अनेक वार हजारो रानियो को छोडकर नग्न दिगम्वर मुनि होकर जगल मे रहा, परन्तु चैतन्यस्वरूप अपने आत्मा का कभी-भी भान नही किया। राग की क्रिया करते-करते आत्मा हाथ आ जायेगा, जड की क्रिया करते-करते चैतन्य की प्राप्ति होगी – ऐसा माना है। उससे यहाँ कहते हैं कि भाई! निश्चयनय से कर्म व करण मे अभिन्नपना है। सत्यार्थदृष्टि से कर्म (कार्य) एव करण (कारण – साधन) – ये दोनो एक हैं, अभिन्न हैं। जो कार्य जिसके द्वारा होता है, वह वही होता है। इसी वात को अव समझाने के लिए दृष्टान्त देते हैं :–

स्वर्ण-पत्र स्वर्ण से बनता है, इसलिए वह स्वर्ण ही है, अन्य कुछ नही है। अहाहा ! दृष्टान्त भी समझने मे कठिन पडता है। स्वर्ण वस्तु है, इसमे से स्वर्ण-पत्र बनता है। इस स्वर्ण-पत्ररूपी कार्य का करण – कारण सोना है, सुनार (स्वर्णकार) नही है; क्योंकि कारण व कार्य अभिन्न होते है। करण भिन्न हो व कार्य भिन्न हो – ऐसा नही होता।

यहाँ निमित्त की तो बात ही नही है, क्योकि निमित्त का अर्थ साधन नही है। टीका मे कहा है कि 'अन्य कुछ नही' इसका अर्थ ही यह है कि स्वर्ण-पत्र के रूप मे परिणत सोना, सोना ही है। स्वर्ण-पत्र को स्वर्णकार ने नही किया है। स्वर्ण स्वय करण है व स्वर्ण-पत्र उस स्वर्ण का कर्म है, क्योकि कार्य व कारण – दोनो एक वस्तु मे ही होते हैं।

प्रश्न :– तो क्या स्वर्णकार स्वर्ण-पत्र का कर्त्ता नही है ?

उत्तर :– नही, भाई ! यदि स्वर्ण-पत्र स्वर्णकार का कार्य हो तो उसका स्वर्णकार के साथ अभेद होना चाहिए, किन्तु वह स्वर्णकार के साथ अभेद नही है, इसलिए स्वर्णकार का कार्य तो नही है। वह स्वर्ण के साथ अभिन्न होने से स्वर्ण का ही कार्य है।

वीतराग परमेश्वर का मार्ग बहुत सूक्ष्म है। आजकल तो यह बात सुनने को भी नही मिलती। तथा इसके वदले मे धर्म के नाम पर यह करो, वह करो; ऐसा करो, वैसा करो – ऐसी राग करने की ही बात सभी जगह चलती है।

यहाँ तो ऐसा कहते है कि यात्रा करने का भाव, पूजा करने का भाव, दान देने का भाव, मन्दिर वगैरह बनवाने का भाव राग है और इस राग का कारण पुद्गल है। राग कार्य है व उसका कारण पुद्गल – जडकर्म है। अहा ! चैतन्यमय जीव, कारण तथा राग, उसका कार्य – ऐसा हो ही नही सकता।

भाई ! तुझे खबर नही है कि तू कौन है ? और तेरा कार्य क्या है ? अहाहा ! तू निर्मलानन्द का नाथ अभेद एक चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा है। जो जानने-देखने का परिणाम होता है, वह तेरा कार्य है; अन्य कुछ भी तेरा कार्य नही है।

देखो ! यह अँगुली जो मुडती है, यह मुड़ना कार्य – पर्याय है; और परमाणु इसका करण है; आत्मा इसका करण नही है। इसीप्रकार पुण्य-पाप के भाव कार्य है तथा पुद्गलकर्म उनका करण – साधन है। अरे ! जिसे आत्मा क्या है ? इसका भान नही है और जो पर मे निजपना

मानकर खुश हो रहा है – वह भले ही करोडपति या अरबपति हो, तथापि वह भिखारी है, दु खी है। इस दु ख के वेदन से छूटना हो तो आत्मा को राग से भिन्न जानना चाहिए। पैसा तुम्हारा नही है, यह तो जड – अजीव है। तथा पुत्र, स्त्री, परिवार भी तुम्हारे कहाँ है ? इनका आत्मा भी तुम से जुदा है और शरीर भी जुदा है। तुम्हारा व इनका कोई सम्वन्ध नही है। यहाँ तो परमात्मा ऐसा कहते है कि कारण व कार्य दोनो एक होते हैं। जैसे स्वर्ण कारण है तथा स्वर्ण-पत्र उसका कार्य है। स्वर्ण-पत्र स्वर्ण का कार्य है, स्वर्णकार का नही। स्वर्ण के परमाणु मे करण नाम का गुण है, इससे स्वर्ण-पत्ररूप कार्य होता है, स्वर्णकार व हथोडा आदि से नही।

इसीप्रकार एक-इन्द्रिय, दो-इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय, चार-इन्द्रिय, पाँच-इन्द्रियपना, सञ्ज्ञी-असञ्ज्ञीपना, वादर-सूक्ष्मपना, पर्याप्त-अपर्याप्तपना आदि कार्य सर्व पुद्गलमयी नामकर्म की प्रकृतियो द्वारा किये जाते है। आठकर्मों मे एक नामकर्म है। इस नामकर्म की ९३ प्रकृतियाँ है, उनमे एक ऐसी प्रकृति है कि जो पर्याप्त आदि को उत्पन्न करती है, परन्तु जीव को उत्पन्न नही करती। पचास्तिकाय मे आता है कि छहकाय जीव नही हैं, परन्तु इनमे जो ज्ञानमात्र स्वरूप है, वह जीव है। यहाँ कहते है कि छहकाय के शरीर की उत्पत्ति कार्य है तथा पुद्गल इनका करण है। पर्याप्त-अपर्याप्त आदि जीवस्थान के भेदो की उत्पत्तिरूप कार्य अपनी-अपनी पुद्गलप्रकृतिरूप करण से हुये है। यह वात बैठना जरा कठिन पडती है, परन्तु भाई ! भगवान आत्मा तो ज्ञानघन चैतन्यबिम्ब प्रभु है, इसमे ये पर्याप्त – अपर्याप्त आदि भेद कहाँ से हो ?

प्रश्न – यह शरीर ठीक रहे तो धर्म हो सकता है। कहा भी हैः – **'शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्'**।

उत्तर – नही, भाई ! शरीर से धर्म नही होता। यह शरीर तो जड-माटी-धूल है, अजीव है, इससे तेरा काम क्या हो सकता है ? जड़ से चेतन मे कोई काम नही होता। यहाँ यही तो कहा है कि जीव के जो पर्याप्त-अपर्याप्त, बादर-सूक्ष्म इत्यादि भेद पडते हैं, वे नामकर्म की प्रकृति के कारण पडते है तथा वह जडकर्म का कार्य है, आत्मा का कार्य नही है। भाई ! वात बहुत सूक्ष्म है, पर समझने लायक अवश्य है।

भगवान ! तू कौन है तथा तेरे मे क्या काम होता है – इसकी तुझे खबर नही है। वाहरी वडप्पन के सामने आत्मा का बडप्पन भासित नही होता। अनकल सयोग मिलने पर तुझे बाहर का बडप्पन आ गया है, परन्तु

भाई ! इससे तू दु खी होकर मर रहा है। सभी भेद व राग से भिन्न भगवान आत्मा चैतन्यस्वरूप महाप्रभु है, उसका महत्त्व तुझे क्यो नही आता ? भाई ! पर की महिमा मिटाकर अनन्त महिमावन्त निजस्वरूप की महिमा कर ! दया, दान, व्रत, तप, इत्यादि शुभभाव करके तू ऐसा मानने लगता है कि मैंने वहुत किया, इससे धर्म हो गया, जवकि इससे जरा भी धर्म नहीं होता। वापू ! जरा सुन ! ये पैसा, मकान आदि जड़ को रखनेवाला भी तू नही है। अरे ! पैसा रखने के जो पापभाव होते हैं, वे भी तू नही है। यह राग तेरा नही है और तू इस राग का नहीं है। यह पुद्गल का कार्य है और पुद्गल ही इसका कारण है।

अहाहा ! जैन परमेश्वर ऐसा कहते हैं कि कारण व कार्य दोनो अभिन्न होते है। जिसप्रकार स्वर्ण कारण है और स्वर्ण से वना स्वर्ण-पत्र कार्य है, स्वर्ण-पत्र सुनार का कार्य नहीं है; उसीप्रकार राग पुद्गल का कार्य है, जीव का नही तथा राग का कारण भी पुद्गल है, चैतन्यमयजीव नहीं। यह वात जगत से सर्वथा जुदी है। सर्वज्ञप्रभु का मार्ग वहुत सूक्ष्म है। भाई ! यहाँ सर्वज्ञदेव ऐसा कहते है कि प्रभु ! तू सर्वज्ञस्वभावी आत्मा है। यह सर्वज्ञस्वभावी आत्मा मात्र जानने का ही कार्य करता है। चैतन्य का सर्वज्ञस्वभाव कारण है एवं वर्त्तमान जानने-देखने का भाव कार्य है। दया, दान, भक्ति आदि राग तो अजीव हैं, इसमे चैतन्य का अश नही है; इसलिए यह पुद्गल का कार्य है, चैतन्यमय जीव का नहीं। परमात्मा ने जीव-अजीव का ऐसा ही स्वरूप कहा है।

भाई ! तू पर का कुछ भी नही कर सकता। तू तो मात्र ज्ञान का कर्त्ता है। 'यह राग का कार्य अपने चैतन्य का है' ऐसा जो मानता है – वह महामूढ है, अज्ञानी है और चार गति मे भटकनेवाला है।

प्रश्न :– जगत का थोड़ा-वहुत भला करने की तो वात कहो ?

उत्तर :– भाई ! भला करना किसे कहते है ? यही खवर नहीं है। भगवान तो ऐसा कहते है कि 'सर्वज्ञस्वभावी आत्मा मे निर्मल श्रद्धा-ज्ञान-शान्ति (चारित्र) का जो वीतरागपरिणाम होता है, यही सच्ची भलाई है। इसे करने का मार्गदर्शन करना ही यथार्थ परोपकार या भला करना है। वीतरागस्वरूप, अकषायस्वरूप भगवान आत्मा है; उसकी पर्याय मे जो अकषायी परिणाम होता है, वह आत्मा का कार्य है। आत्मा का भला होना – यह कार्य है और उसका कारण भी आत्मा स्वय ही है, अन्य उसका कारण नही है। अज्ञानी जीव भक्ति आदि के जड़ – पुद्गलमय

भावो को अपना कार्य मानता है, परन्तु उसकी यह मान्यता मिथ्यादर्शन है और इससे वह अपना बुरा ही करता है।

आचार्यदेव ने कैसा सरस दृष्टान्त देकर बात की है। स्वर्ण कारण तथा उसका जो पत्र बना, वह उसका कार्य है। कारण अर्थात् स्वर्ण स्वतत्र है, इसलिए स्वर्ण ही पलटकर या बदलकर स्वर्णपत्र बना है, स्वर्णकार बदलकर स्वर्णपत्र नही बना है। कारण व कार्य दोनो अभिन्न होते हैं। भाई ! वीतराग की वाणी लोगो को आश्चर्य मे डालनेवाली है।

'मैं छहकाय की दया पाल सकता हूँ' – ऐसा माननेवाला अपने को कर्त्ता और जड के कार्य को अपना कर्म मानता है, अत अज्ञानी है, किन्तु उस कार्य के काल मे 'मैं भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप हूँ' – ऐसी जिसकी दृष्टि हुई, वह ज्ञानी कर्त्ता है और उस काल मे जो जाननेरूप पर्याय हुई, वह उसका कार्य है, कर्म है। दया का भाव या जड की क्रिया, ज्ञानी का कार्य नही है। भाई ! वस्तु ही ऐसी है। इसमे पण्डिताई काम नही करती।

प्रश्न :– पैसो का दान तो दे सकते हैं न ?

उत्तर :– कौन दे ? भाई ! क्या तुझे खबर नही है कि कारण व कार्य भिन्न-भिन्न नही होते, एकमेक अभिन्न ही होते हैं। यह जो पैसे का क्षेत्रान्तर होता है, वहाँ जड – रजकरण कारण हैं तथा जो क्षेत्रान्तर होनेरूप क्रिया है, वह रजकणो का कार्य है, आत्मा का कार्य नही।

प्रश्न :– रजकणो के क्षेत्रान्तर मे आत्मा निमित्त तो है न ?

उत्तर – निमित्त निमित्त मे है, निमित्त से यह कार्य नही हुआ। निश्चयनय से अर्थात् सत्यदृष्टि से तो कर्म यानी कार्य तथा करण यानी कारण – दोनो एक अभिन्न ही होते हैं। अहा ! निमित्त कारण की तो यहाँ बात ही नही की, उसकी तो यहाँ उपेक्षा ही की है।

देखो, यह लकडी है न ? यह पुद्गल है और यह ऊँचा होना, इसका कार्य है। यह पुद्गल का कार्य है, परन्तु यह अगुली लकडी को ऊँचा करने मे निमित्त हुई, परन्तु अगुलीरूप निमित्त का यह कार्य नही है। अगुली तो जुदी वस्तु है। भाई ! यह सत्य गले उतरना जरा कठिन पडता है, क्योकि सत्य कभी सुना ही नही है। भगवान की पूजा-भक्ति का भाव राग है और राग आत्मा का कर्म नही है। भाई ! तू कब समझेगा ? इसको समझे बिना अनादि से नरक व निगोद के भव धारण करके अनेक दु ख उठाये हैं, एक श्वास मे अठारह बार जन्म-मरण किये हैं। भाई ! तुझे आत्मा के भान बिना ही ऐसे दु ख मिले हैं। यहाँ कहते हैं कि निश्चय

से जो भव व भव के भाव होते है, वे तेरे चैतन्यमय जीव के कार्य नही है। अव आगे कलश मे भी यही कहेगे कि इनमे तो पुद्गल ही नाचता है।

प्रश्न :– निमित्त तो मिलाना पडेगा न ?

उत्तर :– वापू ! निमित्त को भी कौन मिलाता है ? भाई तू तो चैतन्यसूर्य है न ? यह चैतन्यसूर्य जानने के सिवा और क्या करे ? जो-जो क्रिया होती है, उसे अपने मे अर्थात् निज चैतन्यस्वभाव मे रहकर जानता है। स्वभाव की ऐसी प्रतीति जो करता है, उसका ससार टिक ही नही सकता।

प्रश्न :– तो फिर हम धन्धा-व्यापार करे या नही ?

उत्तर :– अरे भाई ! तू करता ही कहाँ है ? तू तो अज्ञान से ऐसा मानता है कि 'मैं धन्धा-व्यापार कर सकता हूँ।' धन्धा-व्यापार या उस सम्बन्धी जो पापभाव भी होता है, वह आत्मा का कार्य नही है – तो 'उन्हे करना या नही करना ?' – यह प्रश्न ही कहाँ रहा ? अहो ! वीतराग परमेश्वर का मार्ग अलौकिक है।

जैसे स्वर्ण-पत्र स्वर्ण द्वारा किया जाने से स्वर्ण ही है, अन्य कुछ नही। उसीप्रकार ये सव जीवस्थान के भेद नामकर्म की प्रकृति द्वारा किये होने से पुद्गल ही हैं, जीव नही हैं। भगवान आत्मा तो ज्ञायकस्वभावी चैतन्यमूर्ति प्रभु है, उसके आश्रय से होनेवाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूप निर्मल परिणाम उसके कार्य हैं। अहा ! मोक्ष का मार्ग कार्य व भगवान आत्मा कारण है। उसीतरह व्यवहाररत्नत्रय का राग, कार्य व पुद्गल, उसका कारण है। जीव तो रत्नत्रय के राग का भी कारण नही है।

पर्याप्त, अपर्याप्त आदि जीव के जो भेद पड़ते हैं, उन सवका कारण नामकर्म की प्रकृति है। ये भेद नामकर्म के कार्य हैं, भगवान आत्मा के कार्य नही है। पर्याप्त आदि के छह भेद आत्मा के नही, किन्तु नामकर्म की प्रकृतियों के कार्य है। सम्यग्दृष्टि जीव माता के उदर मे आता है, तव भी वह जानता (लब्धिरूप मे) है कि ये पर्याप्ति वाधने का काम मेरा नही है, मेरा काम तो मात्र जानने का है।

आचार्य कहते है कि यह वात आगमप्रसिद्ध है अर्थात् सिद्धान्त मे वीतरागदेव ने भी ऐसा ही कहा है। त्रिलोकीनाथ परमेश्वर ने दिव्य-ध्वनि मे जो कहा है, उसी के आधार पर आगम व परमागम की रचना हुई है। सर्वज्ञदेव के कहे गये आगम मे ऐसा कहा है कि नामकर्म के कारण पर्याप्त-अपर्याप्त आदि भेद हैं। तथा अनुमान से भी यह जाना जा सकता है। जड़ का कार्य जड के कारण है, क्योकि प्रत्यक्ष देखने मे

आते हुये शरीरादि भाव मूर्तिक हैं। तथा वे मूर्त – पुद्गलमय कर्मप्रकृतियो के कार्य है। जो मूर्त है, उसका कारण भी मूर्त ही होता है। यद्यपि यह बात कठिन पडती है, तथापि यदि यह मनुष्य पर्याय बिना समझे यो ही चली गयी और भेदज्ञान नही किया तो फिर पशु और मनुष्य मे कुछ भी अन्तर नही रहेगा। ऐसी दुर्लभ मनुष्य पर्याय पाकर भी भव के अभाव की बात जाने बिना, भव के ही भाव किये तो जन्म-मरण होता ही रहेगा। अत भाई! भेदज्ञान कर लेने मे ही मनुष्यभव की सार्थकता है।

यहाँ आत्मा की व्याख्या चलती है। शुद्ध ज्ञानघन अभेद चैतन्यमय वस्तु ही आत्मा है। इस पर दृष्टि डालते ही इसका वास्तविकस्वरूप अनुभव मे आ जाता है और जन्म-मरण मिट जाता है। यहाँ कहते हैं कि पर्याप्त-अपर्याप्त, एकेन्द्रियादि के जो भेद पडते हैं, वे सब नामकर्म की प्रकृतियो के कार्य हैं। उन कार्यों को जो अपनी आत्मा के मानता है, वह अजीव को जीव मानता है – यही परिभ्रमण का कारण है। जिसप्रकार पर्याप्त-अपर्याप्त आदि चौदह जीवस्थान नामकर्म के कार्य हैं, उसीप्रकार गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, सस्थान व सहनन भी पुद्गल-मय नामकर्म की प्रकृतियो के कार्य है। पुद्गल से अभिन्न होने से जिसप्रकार जीवस्थानो को पुद्गल का कहा है, उसीप्रकार उपरोक्त सभी भाव पुद्गलमय हैं – ऐसा समझना। इसलिये 'वर्णादिक जीव नही हैं' – ऐसा निश्चयनय का सिद्धान्त है। अर्थात् पर्याप्त-अपर्याप्त आदि जो जीव की विकारी अशुद्धदशायें हैं, वे सब पुद्गल के कार्य हैं, आत्मा के नही। आत्मा तो अनादि-अनन्त अखण्ड एकरूप शुद्ध चैतन्यमय ध्रुव वस्तु है। उसमे अन्तर्दृष्टि करके एकाग्र होने पर आत्मज्ञान होता है तथा जन्म-मरण मिटता है। आत्मा जन्म-मरण व जन्म-मरण के भाव से रहित त्रिकाली शुद्ध ज्ञानघन वस्तु है। इसमे दृष्टि करने पर परिपूर्ण आत्मा ज्ञात होता है और तब धर्म की शुरूआत होती है।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं –

(उपजाति)

निर्वर्त्यते येन यदत्र किंचित् तदेव तत्स्यान्न कथचनान्यत्।
रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोश पश्यंति रुक्मं न कथंचनासिम् ॥३८॥

श्लोकार्थ :– [**येन**] जिस वस्तु से [**अत्र यद् किंचित् निर्वर्त्यते**] जो भाव बनता है, [**ततः**] वह भाव [**तद् एव स्यात्**] वह वस्तु ही है, [**कथंचन**] किसी भी प्रकार [**अन्यत् न**] अन्य वस्तु नही है। [**इह**]

जैसे जगत मे [रुक्मेण निर्वृत्तम् असिकोशं] स्वर्णनिर्मित म्यान को [रुक्मं पश्यन्ति] लोग स्वर्ण ही देखते है, (उसे) [कथंचन्] किसीप्रकार से [न असिम्] तलवार नही देखते ।

भावार्थ :– वर्णादि पुद्गलरचित हैं; इसलिये पुद्गल हैं, जीव नही ।

कलश ३८ व उसके भावार्थ पर प्रवचन

जिस वस्तु से जो भाव बनता है, वह भाव भी वही वस्तु है, अन्य वस्तु नही है । अहाहा! जिसतरह स्वर्ण से निर्मित म्यान स्वर्ण ही है, तलवार नही है, उसीप्रकार पुद्गल से निर्मित राग-द्वेष, पुण्य-पाप के भाव भी पुद्गल ही हैं, आत्मा नही । कहने मे तो ऐसा आता है कि 'स्वर्ण की तलवार है', परन्तु तलवार तो लोहे की है, स्वर्ण की नही । स्वर्ण की तो म्यान है । उसीतरह भगवान आत्मा को शरीरवाला, पुण्यवाला, दया-दानवाला कहना भी स्वर्ण से निर्मित म्यान मे रखी हुई तलवार को 'स्वर्ण की तलवार' कहने के समान है । जिसतरह स्वर्ण की तो म्यान है, तलवार स्वर्ण की नही है; उसीतरह पुण्य-पाप के भाव तो पुद्गल के हैं, आत्मा के नही । उन्हे आत्मा का मानना मिथ्यात्व है । भाई ! दया-दान-व्रत-भक्ति आदि के भावो को जो अपने मानता है, वह अजीव को जीव मानता है, क्योकि ये भाव पुद्गलमय है, चैतन्यमय नही हैं ।

रग, राग तथा गुणस्थान, लब्धिस्थान आदि भेदो के भाव पुद्गल के साथ हुये है, इसलिए वे सव पुद्गल के है; चैतन्यमय जीव के नही । वे जीव के है – ऐसा माननेवाले भ्रम मे हैं । तथा यही मान्यता ससार परिभ्रमण का पथ है । दृष्टि का विषय तो अखण्ड अभेद, एकरूप विज्ञानघन-स्वरूप ध्रुव चैतन्यमयवस्तु आत्मा है । उसे भेदवाला, रागवाला या सयोग-वाला मानना – मिथ्यादर्शन है । धर्मी तो उसे कहते हैं जो रंग, राग व भेद के भावो को अपना वस्तु नही मानता । जिसने दया, दान आदि राग तथा भेदो से भिन्न – ऐसे पूर्णानद के नाथ शुद्धात्मा को दृष्टि मे लिया है, सम्यक्-प्रकार से देखा है तथा जाना है; वही धर्मी है । भावार्थ यह है कि शरीर मन, वाणी, इन्द्रिय, पुण्य-पाप इत्यादि सर्व वर्णादि से लेकर गुणस्थानपर्यन्तभाव पुद्गल से निर्मित है ।

अब इसी अर्थ का सूचक दूसरा कलश कहते हैं –

(उपजाति)

वर्णादिसामग्र्यमिदं विदंतु निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य ।
ततोऽस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा यत स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः ।।३९।।

श्लोकार्थ :– अहो ज्ञानीजनो ! [**इदं वर्णादिसामग्रयम्**] ये वर्णादिक से लेकर गुणस्थानपर्यंत जो भाव हैं, उन सबको [**एकस्य पुद्गलस्य हि निर्माणम्**] एक पुद्गल की रचना [**विदन्तु**] जानो, [**ततः**] इसलिये [**इदं**] ये भाव [**पुद्गल. एव अस्तु**] पुद्गल ही हो, [**न आत्मा**] आत्मा न हो; [**यत**] क्योकि [**सः विज्ञानघन·**] आत्मा तो विज्ञानघन है, ज्ञान का पुञ्ज है, [**ततः**] इसलिये [**अन्य**] वह इन वर्णादिक भावो से अन्य है ।

कलश ३९ पर प्रवचन

भगवान सर्वज्ञदेव कहते हैं कि अहो ज्ञानीजनो ! ये वर्णादि से लेकर गुणस्थानपर्यन्त सभी भावो को एक पुद्गल की ही रचना जानो ! जो कोई दया-दान-व्रत-भक्ति आदि के शुभभावो को अपने कल्याण का कारण मानता है, वह अजीव को जीव के कल्याण का कारण मानता है, क्योकि ये सभी शुभभाव पुद्गलमय हैं । अज्ञानियो ने अजीव को जीव का कार्य माना है, इसकारण उन्होने जीव का स्वरूप अजीवमय ही माना है, क्योकि कारण व कार्य अभिन्न होते है ।

पिछली गाथा मे आ गया है कि मार्ग मे चलता हुआ सघ थोडी देर मार्ग मे ठहरा हो, रुका हो और लुट जावे तो लुटता तो है सघ, परन्तु कहा जाता है कि मार्ग लुटता है । उसीप्रकार भगवान आत्मा अनादि-अनन्त ध्रुव चैतन्यमूर्ति एकरूप अभेद है, उसमे एकसमय के दया-दान-व्रतादि के राग का तथा गुणस्थान आदि भेदो का आधार देखकर उन्हे व्यवहार से जीव का कहा जाता है, परन्तु ये सब वास्तव मे जीवस्वरूप है – ऐसा मानना मिथ्यात्व है ।

प्रश्न :– रागादि को स्वभाव कहा है न ?

उत्तर :– पर्याय मे ये रागादि व भेद हैं, होते हैं । ये पर्यायस्वभाव हैं, इसलिए इन्हे स्वभाव कहा है, ये विभावस्वभावरूप पर के कारण उत्पन्न हुई दशाये हैं । वास्तव मे ये जीव के कलक हैं ।

यहाँ तो जीव किसे कहते हैं – यह वात चलती है । अहाहा ! चैतन्यघन त्रिकाली ध्रुव वस्तु को जीव कहते हैं । ये जो रागादि के भेद हैं, वे इसकी पर्याय मे है, तथापि आत्मभूत नही हैं, आत्मा नही हैं । रग, राग तथा गुणस्थानादि भेद के जो भाव निकल जाते हैं, वे आत्मा कैसे हो सकते हैं ? पुद्गल के साथ हुये ये सभी भाव पुद्गल ही हैं । भाई ! वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म है ।

जो भगवान की भक्ति-पूजा करे, बाहर से व्रतादि का पालन करे, जीवो की दया पाले, उन्हे जगत-जन धर्मात्मा मानते है, परन्तु बापू ! धर्म जुदी वस्तु है। धर्म तो वीतरागभाव है। रागादिकभाव वीतराग का मार्ग नही है। 'पर की दया पालता हूँ' – ऐसी मान्यता ही मिथ्यात्व है। जो दया का शुभभाव आया, वह जीव का स्वभाव नही है, किन्तु वह पुद्‌गल का रचा हुआ भाव है – ऐसा यहाँ कहा जा रहा है। ये दया आदि के भाव रागभाव हैं और रागभाव निश्चय से हिंसा है। शुद्ध चैतन्यमय त्रिकाली ध्रुवस्वरूप भगवान आत्मा के लक्ष्य से उत्पन्न शान्ति व वीतरागता की उत्पत्ति और राग की अनुत्पत्ति ही सच्ची दया है। पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय (श्लोक ४४) मे आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी ने कहा है कि राग चाहे देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति का हो या व्रतादि पालन का हो, हिंसा ही है, क्योकि रागमात्र को हिंसा मे समाविष्ट किया है। यहाँ उस राग को पुद्‌गल का कार्य कहा है। आत्मा का कार्य तो ज्ञान है, आनन्द है।

जैसा कारण होता है, वैसा ही कार्य होता है, यहाँ पर तो यह सिद्ध करना है। आगे कर्त्ता-कर्म अधिकार है, इसकारण ऐसा लगता है कि मानो आचार्य ने उसका उपोद्‌घात यहाँ से प्रारम्भ किया है। कारण व कार्य दोनो अभिन्न होते है। पुद्‌गल कारण है तथा उस पुद्‌गल के कार्य भेद व रागादि है। उसीप्रकार भगवान आत्मा कारण है तथा ज्ञाता-दृष्टापने का परिणाम, आनन्द का परिणाम उसका कार्य है। राग आत्मा का कर्म नही है, यह पुद्‌गल का कर्म है। अहाहा ! जिसने सारी जिन्दगी व्रतादि पालन करने मे धर्म मानकर गँवा दी हो, उसे यह बात सुनकर पूर्व-पश्चिम जैसा अन्तर लगता है; परन्तु प्रभु ! जो बात भगवान जिनेश्वरदेव द्वारा समवशरण (धर्मसभा) मे कही गई है, वही यह बात है। जो लोग व्रत पालने को, झूठ नही बोलने को, ब्रह्मचर्य आदि पालन करने को ही अपना सर्वस्व समझ बैठे है – उनसे यहाँ कहते हैं कि प्रभु ! सुन तो सही, ये सब पचमहाव्रत की वृत्तियाँ राग है, आस्रव हैं तथा पुद्‌गल के कार्य है, ये चिदानदस्वरूप भगवान आत्मा के कार्य नही हैं। भाई ! तुझे सुख के मार्ग मे, धर्म के मार्ग मे जाना हो तो चैतन्यमात्र पूर्णानन्दघनस्वरूप वस्तु अन्दर मे है, उसी मे एकाग्र हो जा ! भेद, राग व निमित्त का लक्ष्य छोड़ दे।

भाई ! दया-दान-व्रत-तप आदि के राग मे धर्म मानकर तू सन्तुष्ट हुआ है, परन्तु यह तेरा मिथ्या अभिप्राय है। भगवन् ! तू भूल मे भरमा गया है। यह राग – विकल्प की वृत्ति का जो उत्थान है, वह चैतन्य के घर की वस्तु नही है। प्रभु ! तेरे चैतन्यघर मे राग की वृत्ति उठने की कोई

शक्ति ही नही है। आत्मा अनन्त शक्तियो का सग्रहालय एव अनन्त गुणो का गोदाम है। इसमे ऐसी कोई शक्ति या गुण नही है, जो विकार को – राग को उत्पन्न करे। अहाहा ! चिदानन्दघनस्वरूप वस्तु मे तो गुणो की एकरूप निर्मल धारा बहती है, परन्तु राग की धारा बहने का कोई गुण (शक्ति) आत्मा मे नही है। अहाहा ! आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीतरागता, अनन्त स्वच्छता जैसी अनन्त पूर्ण-शक्तियो का सग्रहालय है। इससे पुण्य-पाप का उद्भव या उत्थान कहाँ से हो ? पुण्य-पाप उत्पन्न हो – ऐसा आत्मा का स्वरूप ही नही है।

कोई अज्ञानी ऐसा कहे कि हमारा तो भक्ति से ही कल्याण हो जायेगा, सच्चे देव व गुरु की समर्पणभाव से की गई भक्ति ही हमे तार देगी, परन्तु भाई कौन गुरु ? तेरा गुरु तो तू ही है। तुझे तेरी समझ से ही आत्मज्ञान होगा, इसलिए तू ही तेरा गुरु है। अहाहा ! आत्मा स्वय ही स्वय का देव है। वह स्वय ही तीर्थ व स्वय ही तीर्थधाम है। शेष सब व्यवहार की बातें है। ये बाह्य देव-गुरु-तीर्थ तो मात्र पुण्य के कारण (निमित्त) हैं। अहाहा ! भगवान त्रिलोकीनाथ जिनेन्द्रदेव गणधर, इन्द्र, करोडो देवो तथा राजेन्द्रो की सभा मे जो बात करते थे, वही यह बात है। भाई ! सुन तो सही ! यह आत्मा क्या चीज है ! इसको सुने बिना सच्ची समझ कहाँ से आयेगी ? तेरा लक्ष्य वहाँ कैसे जायेगा ? शास्त्र भी आत्मा का लक्ष्य कराने के लिए कहे गये हैं। गुरु तथा देव भी एक आत्मा का ही लक्ष्य कराते है।

भाई ! अन्दर मे तू अनन्त गुणो का भण्डार पूर्णानन्द का नाथ प्रभु है न ? परन्तु यह बात बैठे कैसे ? क्योकि अनादिकाल से एकसमय की पर्याय पर ही दृष्टि पडी है, एकसमय की दशा को ही अपना स्वरूप मानता रहा है, किन्तु यह पर्याय तेरा स्वरूप नही है, पर्याय आत्मा नही है। व्यवहारनय भले ही पर्याय को आत्मा कहे, किन्तु निश्चय से भगवान आत्मा पूर्ण चैतन्यघन, अकेला आनन्द का दल, अनाकुल शान्ति का रस-कन्द, त्रिकाल ध्रुवरूप है। अनादि-अनन्त ध्रुव चैतन्यपने रहनेवाले तत्त्व को भगवान आत्मा कहते है – इसकी दृष्टि करना सम्यग्दर्शन है। भाई ! इसकी दृष्टि करने के लिए तुझे निमित्त से, राग से तथा भेद के भावो से दृष्टि उठानी पडेगी। अन्दर मे एकमात्र अखण्ड अभेद एकरूप चैतन्यमूर्ति चिदाकार भगवान की दृष्टि करना ही सम्यग्दर्शन है। धर्म की शुरूआत भी यही से (सम्यग्दर्शन से) होती है। भाई ! चारित्र तो बहुत दूर की बात है। जब अभेद चिदानन्दमय वस्तु प्रतीति मे आई – पश्चात उसी मे रमना,

ठहरना, स्थिर हो जाना – चारित्र है। देह की क्रिया चारित्र नही है – ये सब तो पुद्गल के कार्य हैं और पुद्गल ही इनका कारण है।

त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव परमात्मा श्री सीमधर भगवान वर्त्तमान मे महाविदेहक्षेत्र मे विराजते हैं, उनकी एक करोड पूर्व की आयु है और ५०० धनुष की देह है। वे लाखो जीवो की धर्मसभा मे आज भी उपदेश दे रहे हैं। सवत् ४९ मे श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव वहाँ गये थे और आठ दिन रहकर भगवान की दिव्यध्वनि सुनी थी। वे ज्ञानी, धर्मी तथा निर्मल-चारित्रवन्त थे। उन्हे अपनी पात्रता के कारण श्रद्धा, ज्ञान एव चारित्र मे विशेष निर्मलता हुई थी। उन्होने यह शास्त्र बनाया है। भाई! सनातन वीतराग का पथ यही है, वाकी सब तो वाडे (पृथक्-पृथक् मत) वना-वनाकर बैठे है और अपनी मान्यता मे जो आया, उसे धर्म मान रहे है, किन्तु वह वास्तविक धर्म नही है। भाई! वात कडक है, पर क्या करे?

यहाँ कहते है कि वर्णादिक से लेकर गुणस्थानपर्यन्त सभी भाव तथा चौथे, पाँचवे आदि तेरहवे गुणस्थान तक सभी भेद, पुद्गल के कारण है। अहाहा! भगवान आत्मा अनन्त गुणो का धाम अनादि-अनन्त स्वसवेद्य अविचल प्रभु है। वह अतीन्द्रिय आनन्द व ज्ञान के वेदन से जाना जा सकता है, भेद या राग के आश्रय से नही जाना जा सकता। मूलवस्तु अभेद चैतन्यमय नित्यानन्द प्रभु है, उसकी दृष्टि हुए बिना किसी को भी तीन काल मे सम्यग्दर्शन नही होता। तथा जिसको सम्यग्दर्शन नही है, उसको सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र भी नही होता है। विना सम्यग्दर्शन के जितना भी व्रत-तपादि का शुभरागरूप कियाकाण्ड होता है, वह सव व्यर्थ है, एक के विना शून्य (बिना एकडे विन्दी) जैसा है। जैसे वर बिना बारात नही कहलाती, उसीप्रकार त्रिकाली सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा के आश्रय से उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शन बिना व्रत-तप-दान-भक्ति आदि के शुभ-भाव चारित्र (व्यवहारचारित्र) नाम भी नही पाते। भाई! करोडो रुपया दान मे देकर भी मन्दिर बनवावे, प्रतिष्ठा करवावें तथा भगवान की पूजा-भक्ति करे, परन्तु ये सभी शुभभाव भी राग हैं, चारित्र नही है। यहाँ तो इन सवको पुद्गल का कार्य कहा जा रहा है।

भगवान! एक बार सुन तो सही! भेद मे व राग मे तेरी आत्मा की महिमा नही है। भगवान की भक्ति-पूजा के भाव मे तेरी महिमा नही है। 'मैं भगवान का बड़ा भगत व पुजारी हूँ' – ऐसा मानकर तू अपने को महिमावन्त समझता है; परन्तु भाई! इससे तेरे अन्दर विराजमान आनद

के नाथ भगवान आत्मा की महिमा मिट जाती है, यह तो देख ! भाई, बात बहुत सूक्ष्म है। अनन्तकाल मे ८४ के अवतार करते-करते आज तक यह बात नही समझा। अनन्त बार कौऐ व कुत्ते के भव धारण किये। तथा मनुष्य होकर कभी-कभी बाहर से साधु भी हुआ, परन्तु अन्दर राग की क्रिया से ही धर्म मानता रहा, इसकारण दृष्टि मिथ्या ही रही और उसके फल मे नरक-निगोद के ही भव प्राप्त किये। भाई ! इस राग व भेद के भावो से चिदानन्द भगवान हाथ नही आता। ये वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त २९ बोलो द्वारा कहे गये सभी भाव एक पुद्गल की ही रचना है, आत्मा की नही – ऐसा आचार्यों ने फरमाया है।

प्रश्न :– क्या इस कथन मे एकान्त नही होता ? पचास्तिकाय की गाथा ६२ मे तो ऐसा आता है कि राग अपने से ही होता है तथा श्री जयसेनाचार्य की टीका मे ऐसा लिखा है कि जीव के अशुद्ध-उपादान व निमित्तरूप मे कर्म – इसप्रकार दो कारणो से राग होता है।

उत्तर – पचास्तिकाय की ६२वी गाथा मे तो राग की पर्याय का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध किया है। राग जीव की पर्याय मे होता है, इस-प्रकार वहाँ पर्याय के अस्तित्व का ज्ञान कराया है। तथा श्री जयसेनाचार्य की टीका मे जो कथन है, वहाँ निमित्त व उपादान – दोनो का ज्ञान कराने के लिए प्रमाण की अपेक्षा कथन किया है। जिनवाणी मे अनेक अपेक्षायें हैं। यहाँ तो स्वभाव की दृष्टि की अपेक्षा से इन दोनो ही बातो को बाजू मे रखकर, अत्यन्त गौण करके वर्णादिभावो को पुद्गल का कहा है।

ज्ञानी कर्त्तानय की अपेक्षा से ऐसा जानता है कि जो राग का परिणमन है, वह मुझ मे है व मेरे कारण से है। ज्ञानी तो ऐसा जानता है कि मेरी पर्याय का इतना अस्तित्व है, परन्तु यह त्रिकाली द्रव्य का कार्य या स्वरूप नही है। अहाहा ! एक ओर आत्मा राग का अकर्त्ता है – ऐसा कहते हैं तथा दूसरी ओर यह कहते हैं कि जो पर्याय मे रागरूप परिणमन है, वह अपना है, ऐसा ज्ञानी – समकिति जानता है। कैसी विचित्र बात है ? प्रभु ! यहाँ तो यह कहते हैं कि वह पुद्गल के साथ सम्बन्ध रखता है, इसलिए पुद्गल से ही बना हुआ है। भाई ! जहाँ जिस अपेक्षा से कथन हो, वहाँ उसी अपेक्षा से समझ लेना चाहिए। अपेक्षा को न समझे और एकान्त पकडकर बैठ जावे तो सत्य हाथ नही आयेगा।

प्रश्न :– रागादिभाव पुद्गल के कार्य है – इससे तो यह सिद्ध हुआ कि निमित्त से कार्य होता है। उपादान से कार्य होता है – यह कहाँ आया ?

उत्तर :– अरे, किस अपेक्षा कहा है – यह तो समझो ! निमित्त के आश्रय से राग होता है, इसलिए उसका कहा है। ऐसा कहकर यह कहा है कि राग को पुद्‌गल की ही रचना जानो ! यह पुद्‌गल का कार्य है, आत्मा का नही – यहाँ यह अपेक्षा बतानी इष्ट है। आत्मा तो चैतन्य का पिण्ड है, उसमे से राग की रचना कैसे हो ? भाई ! यह मनुष्य देह चली जायेगी तो फिर न मालूम कब मिलेगी ? यदि यह बात नही समझी तो रखडने के रास्ते पर जाना पडेगा। वहाँ किसी की सिफारिश नही चलेगी।

यहाँ कहते है कि ये वर्णादि सभी भाव पुद्‌गल के ही है, इन्हे पुद्‌गल की ही रचना जानो ! यह कथन किस अपेक्षा से किया है ? ऐसा **प्रश्न** होने पर आचार्य **उत्तर** देते हैं कि राग की रचना तो पर्याय मे अपने विपरीत पुरुषार्थ से होती है, इसलिए राग का परिणमन स्वय जीव का है, उसमे कर्म निमित्त है। कर्म निमित्त है अवश्य, किन्तु निमित्त से राग नही हुआ – यह भी एक सिद्धान्त है, किन्तु यहाँ दूसरे सिद्धान्त की अपेक्षा से कहा है कि राग का कर्त्ता आत्मा नही है। आत्मा मे अकर्त्ता नाम का एक गुण है, इसकारण राग करने का उसका स्वभाव ही नही है, इसलिए राग की रचना पुद्‌गलद्रव्य से होती है – ऐसा कहा है। पुद्‌गल कारण है तथा राग उसका कार्य है, क्योकि वे दोनो अभिन्न है। यहाँ वस्तु के स्वभाव अर्थात् चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा की दृष्टि कराना है। जब वस्तु चैतन्यपिण्ड अकषायस्वभाव का रसकन्द है तो फिर वह कषाय के भाव को कैसे करे ? अकषायस्वरूप मे कषायभावो का होना सभव ही नही है, इसलिए रागादि पुद्‌गल की रचना है। तू पुद्‌गल की दृष्टि छोड दे ! अहाहा ! कहते हैं कि पर्यायबुद्धि का त्याग कर ! त्रिकाली वस्तुस्वभाव की दृष्टि कर ! भाई, यह वाद-विवाद से पार पडनेवाली वस्तु नही है, 'जहाँ-जहाँ जो-जो योग्य है, वहाँ-वहाँ वह-वह समझना चाहिए।'

यह जीव-अजीव अधिकार चलता है। यहाँ जीव उसे कहा है कि जो अखण्ड अभेद एकरूप चैतन्यघनस्वरूप है। इस चैतन्यघनस्वरूप आत्मा की दृष्टि करने से ही सम्यग्दर्शन अर्थात् धर्म का प्रथम सोपान प्रगट होता है। ऐसे शुद्ध जीव की दृष्टि कराने के लिए यहाँ रग, राग व भेद के भावो को पुद्‌गल की ही रचना है – ऐसा कहा है। यहाँ तो आत्मद्रव्य का पूर्ण-स्वभाव बताना है, परन्तु जब पर्याय की बात हो, तब पर्याय मे जीव स्वय राग करता है और पुद्‌गल तो इसमे निमित्तमात्र है – ऐसा कहने मे आता है। निमित्त से राग होता है – ऐसा नही है। विकार के परिणमन मे परकारक की भी अपेक्षा नही है। इसप्रकार पचास्तिकाय मे पर्याय

की अस्ति सिद्ध की है तथा जब राग होता है, तब निमित्त भी होता ही है – ऐसा प्रमाणज्ञान कराने के लिए राग स्वय से होता है – ऐसा निश्चय का ज्ञान रखकर 'राग निमित्त से हुआ है' – ऐसा निमित्त का ज्ञान कराया जाता है। निश्चय को उडाकर निमित्त का ज्ञान नही कराया जाता। भाई ! यहाँ तो प्रमाण व व्यवहार – दोनो को गौण किया है। भगवान आत्मा चैतन्यसूर्य है, इस चैतन्यसूर्य का प्रकाश चैतन्यमय ही होता है, इसमे राग का अन्धकार कहाँ से हो ? यह तो अचेतन – पुद्गल का ही कार्य है। भाई ! मुक्तिमार्ग समझना धीरो एव शूरवीरो का काम है –

'हरि का मार्ग है शूरवीर का, नहिं कायर का काम'

प्रश्न :– यदि अकेले पुद्गल से ही रागादिक होते हैं, तो 'निमित्त से कुछ नही होता' – यह सिद्धान्त कहाँ रहा ?

उत्तर :– भाई ! तू अपेक्षा को समझता ही नही है। 'निमित्त से कुछ नही होता' – यह बात तो पर्याय का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध करने के लिये है।

अहो धर्मीजीवो ! वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त भेदो को एक पुद्गल की ही रचना जानो ! आत्मा तो निर्मल अतीन्द्रिय आनन्द व ज्ञान की रचना करता है। जो रागादि द्रव्य के स्वभाव मे है ही नही, उनकी रचना जीव कहाँ से करें ? आत्मा के द्रव्यस्वभाव मे रागादि नही हैं।

प्रश्न :– निमित्तवादी ऐसा कहते हैं कि कार्य निमित्त से होता है। उपादानवादी ऐसा कहते हैं कि कार्य उपादान से होता है, निमित्त का वहाँ कुछ काम ही नही है, निमित्त का कभी दाव आता ही नही है, किन्तु इस कलश मे निमित्त का दाव आया कि नही ?

उत्तर :– भाई ! किस अपेक्षा से कहा है ? – इस बात को समझना चाहिए। पर्याय मे तो निमित्त का दाव आता ही नही है। राग की जो पर्याय होती है, वह तो स्वय की स्वय से ही होती है। निमित्त हो भले, परन्तु निमित्त से कार्य होता नही है। यहाँ तो वस्तु के स्वभाव की दृष्टि कराना है न ? त्रिकालीस्वभाव तो विकार व भेद की रचना नही करता। भेद व राग की उत्पत्ति पुद्गल के आश्रय से होती है, इसलिए राग व भेद का कारण पुद्गलद्रव्य ही है, ऐसा जानो ! – यह कहा है। अरे ! भगवान त्रिलोकीनाथ केवली प्रभु का तो विरह पडा है। केवलज्ञान, मन पर्ययज्ञान और अवधिज्ञान तो रहा नही और यह विवाद खडा हो गया है। जैसे लक्ष्मी घट जाये, पिता गुजर जाये और पुत्र परस्पर तकरार करें तो उस घर का क्या होगा ? उसीप्रकार तत्त्व की बात मे भी तकरार उठी है।

प्रश्न :— फिर राग व द्वेष के परिणामो को पुद्गल का क्यो कहा ?

उत्तर :— एक तो वे परिणाम निकल जाते है और दूसरे वे जीव के स्वभावमय नही है, इसलिए उन्हे पुद्गल का कहा है।

जो राग है, वह उसके उपादान से है और इसमे पर निमित्तमात्र है। परकारको की अपेक्षा रखे बिना इसका परिणमन अनादि से सिद्ध है। जहाँ दो कारणो से कार्य होता है — ऐसा कहा हो, वहाँ साथ मे निमित्त है, इसका ज्ञान कराने के लिए कहा है। वस्तुत. कार्य तो एक उपादान से ही होता है, इस बात को दृष्टि मे रखकर, निमित्त से हुआ है — ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। जबकि यहाँ तो दोनो ही बातो को गौण करके वस्तुस्वभाव की दृष्टि कराना है।

एकसमय की पर्याय मे जो रागादि व भेदादिभाव होते है; वे पुद्गल के ही कार्य है, क्योकि वे चैतन्यस्वरूप वस्तु मे नही है। वस्तु तो त्रिकाली शुद्ध चैतन्यघन सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान है। वह विकार व भेद का कारण कैसे हो सकती है? इसकारण निमित्त के आधीन हुए राग व भेदादिभाव पुद्गल की ही रचना है — ऐसा जानो! ऐसा ही अनुभव करो! — यह कहा है। ४७ शक्तियो के वर्णन मे निर्मल पर्याय को ही जीव की कही है, वहाँ अशुद्धता ली ही नही है, क्योकि जब शक्ति शुद्ध है तो उसका परिणमन भी शुद्ध ही होता है। अशुद्धता है, इसका तो बस ज्ञान हो जाता है। इस वीतराग के माल को सन्त आडतिया बनकर जाहिर करते है।

त्रिलोकीनाथ परमात्मा जिनेश्वरदेव गणधर तथा इन्द्रो की सभा मे ऐसा कहते है कि वस्तु की पर्याय मे जो राग व भेदो के भाव उत्पन्न होते हैं, वे सब पुद्गल के कार्य हैं — ऐसा जानो! ये तेरी आत्मा के कार्य नही है। 'व्रत, तप, भक्ति आदि राग से कल्याण होगा' — ऐसा माननेवालो को यह बात कठिन पडती है। भक्ति आदि तो विकल्प है, आत्मा नही है, क्योकि आत्मा तो विज्ञानघन है, ज्ञान का पुंज है। अहाहा प्रभु! तू तो चैतन्य के नूर का पूर है न? तू राग का कारण कैसे हो सकता है? अष्टसहस्त्री मे भी आता है कि शुभाशुभभाव व भेद आत्मा नही है, किन्तु पुद्गल ही है — ऐसा अनेकान्त है। आत्मा तो विज्ञानघनप्रभु ज्ञान का पुज है। इस विज्ञानघन वस्तु मे राग व भेद कहाँ से आयेंगे? इसकारण यह वर्णादिभावो से अन्य ही है — ऐसा वस्तु का स्वरूप है।

शेषमन्यद्व्यवहारमात्रम् –

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे चेव ।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ।।६७।।

पर्याप्तापर्याप्ता ये सूक्ष्मा बादराश्च ये चैव ।
देहस्य जीवसंज्ञाः सूत्रे व्यवहारतः उक्ताः ।।६७।।

यत्किल बादरसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वित्रिचतुःपंचेन्द्रियपर्याप्तापर्याप्ता इति शरीरस्य संज्ञाः सूत्रे जीवसंज्ञात्वेनोक्ताः अप्रयोजनार्थः परप्रसिद्धया घृतघटवद्व्यवहार । यथा हि कस्यचिदाजन्मप्रसिद्धैकघृतकुंभस्य तदितरकुंभानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योऽयं घृतकुंभः स मृण्मयो, न घृतमय इति तत्प्रसिद्धया

अब यह कहते है कि इस ज्ञानघन आत्मा के अतिरिक्त जो कुछ है, उसे जीव कहना सो सब व्यवहारमात्र है –

पर्याप्त अनपर्याप्त जो, हैं सूक्ष्म अरु बादर सभी ।
व्यवहार से कही जीवसंज्ञा, देह को शास्त्रन मही ।।६७।।

गाथार्थ – [ये] जो [पर्याप्तापर्याप्ता] पर्याप्त-अपर्याप्त [सूक्ष्मा बादरा च] सूक्ष्म और बादर आदि [ये च एव] जितनी [देहस्य] शरीरो की [जीवसंज्ञा] जीवसज्ञा कही हैं, वे सब [सूत्रे] सूत्र मे [व्यवहारत] व्यवहार से [उक्ता·] कही हैं।

टीका – बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय, पर्याप्त, अपर्याप्त – इन शरीर की सज्ञाओ को (नामो को) सूत्र मे जीवसज्ञारूप से कहा है, वह पर की प्रसिद्धि के कारण 'घी के घड़े' की भाँति व्यवहार है – जो व्यवहार अप्रयोजनार्थ है। (अर्थात् उसमे प्रयोजनभूत वस्तु नही है।) इसी बात को स्पष्ट कहते है –

जैसे किसी पुरुष को जन्म से लेकर मात्र 'घी का घडा' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) हो, उसके अतिरिक्त वह दूसरे घडे को न जानता हो – उसे समझाने के लिये 'जो यह घी का घडा है सो मिट्टीमय है, घीमय नही' – इसप्रकार (समझानेवाले के द्वारा) घड़े मे घी के घडे का व्यवहार किया जाता है, क्योकि उस पुरुष को 'घी का घडा' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है।

कुम्भे घृतकुम्भव्यवहारः, तथास्याज्ञानिनो लोकस्यासंसारप्रसिद्धाशुद्धजीवस्य शुद्धजीवानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योऽयं वर्णादिमान् जीवः स ज्ञानमयो, न वर्णादिमय इति तत्प्रसिद्धचा जीवे वर्णादिमद्व्यवहार ।

इसीप्रकार इस अज्ञानी लोक को अनादि ससार से लेकर 'अशुद्ध-जीव' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है, वह शुद्धजीव को नही जानता, उसे समझाने के लिये (शुद्धजीव का ज्ञान कराने के लिये, 'जो यह वर्णादिमान जीव है सो ज्ञानमय है, वर्णादिमान नही' – इसप्रकार (सूत्र मे) जीव मे वर्णादिमयपने का व्यवहार किया गया है, क्योकि अज्ञानी लोक को 'वर्णादिमान जीव' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है ।

गाथा ६७ की उत्थानिका, गाथा एवं उसकी टीका पर प्रवचन

आत्मा तो विज्ञानघन अर्थात् ज्ञान का घनपिण्ड है। इस ज्ञानघन के अतिरिक्त वर्ण, गन्ध, शरीर, मन, वाणी, इन्द्रिय, दया, दान आदि भावो को जीव का कहना व्यवहारमात्र है ।

जीव को जो बादर-सूक्ष्म-एकेन्द्रियादि कहा है, वह व्यवहार से कहा है, क्योकि बादर-सूक्ष्म आदि तो देह की सज्ञाये है। इसकारण सूत्र मे जहाँ एकेन्द्रियादि को जीव नाम से कहा गया है, वह असद्भूत-व्यवहारनय से कहा है – ऐसा जानना। अनादि से अज्ञानी को पर की ही प्रसिद्धि है। 'पुण्य या राग आत्मा है' – ऐसा ही अनादि से अज्ञानी को प्रसिद्ध है, इसलिए उसी की भाषा मे ऐसा समझाया है कि जिस राग को तू आत्मा कहता है, वास्तव मे वह राग आत्मा नही है। अहाहा ! रागमयभाव आत्मा नही है, आत्मा तो ज्ञानमय है। घी के घडे की भाँति व्यवहार से समझाया है, परन्तु यह व्यवहार अप्रयोजनभूत है। 'राग आत्मा है' – यह कहना अप्रयोजनभूत है, क्योकि इससे कोई प्रयोजन सिद्ध नही होता। इसीप्रकार गुणस्थान, जीवस्थान, मार्गणास्थान आदि मे आत्मा तन्मय नही है, इसलिए उसको जीव का कहना अप्रयोजनार्थ है, असत्यार्थ है, क्योकि इससे कोई प्रयोजन सिद्ध नही होता। कलशटीका मे ३९वे कलश मे कहा है कि – "कोई आशका करता है कि कहने मे तो ऐसा ही कहा जाता है कि एकेन्द्रिय जीव, द्वि-इन्द्रिय जीव इत्यादि; 'देव जीव, मनुष्य जीव' इत्यादि, रागी जीव, द्वेषी जीव इत्यादि। उत्तर इसप्रकार है कि कहने मे तो व्यवहार से ऐसा ही कहा जाता है, किन्तु निश्चय से ऐसा कहना झूठा है।" तथा कलशटीका मे ही ४०वे कलश मे भी यही दृढ किया है कि "आगम मे गुणस्थानो का स्वरूप कहा है, वहाँ देव जीव, मनुष्य

जीव, रागी जीव, द्वेषी जीव, इत्यादि बहुत प्रकार से कहा है, सो यह सब ही कथन व्यवहारमात्र से है, द्रव्यस्वरूप देखने पर ऐसा कहना झूठा है।"

राग-द्वेषादि भाव अपने मे ही हैं, इसकारण सत्य हैं, परन्तु ये रागादिभाव जीवद्रव्य के स्वभाव मे नही हैं। दया-दान-व्रत-तप-भक्ति आदि के विकल्प आत्मा है—ऐसा व्यवहार से कहा गया है। इसकारण तुझे भ्रम हो गया है। व्यवहार द्वारा निश्चय की पहचान कराई है अर्थात् राग द्वारा आत्मा की पहचान कराई है, किन्तु अज्ञानी राग मे ही अटक जाता है। भाई! आत्मा तो त्रिकाली ध्रुव ज्ञायकमूर्ति विज्ञानघन प्रभु भगवान है, यह कथन भूतार्थ अर्थात् सत्यार्थ है। ऐसा ध्रुव आत्मा ही दृष्टि का विषय है तथा इसमे दृष्टि करने पर ही सम्यग्दर्शन होता है। इसके अतिरिक्त जीव को दया, दान आदि अनेक विकल्पवाला कहना व्यवहार है, असत्यार्थ है, क्योकि जीव उन विकल्पो से तन्मय नही है।

प्रश्न :— प्रवचनसार की गाथा १८९ मे ऐसा आता है कि निश्चय से आत्मा शुभाशुभभावो का, पुण्य-पाप के भावो का कर्त्ता और भोक्ता है तथा प्रवचनसार गाथा ८ मे ऐसा कहा है कि शुभ, अशुभ या शुद्धरूप से परिणत जीव उन्ही से तन्मय है? इन कथनो का क्या अभिप्राय है?

उत्तर :— भाई! वहाँ तो पर्याय शुभाशुभभावो से एकरूप है, मात्र इतना बताना है। इसलिए त्रिकाली द्रव्य शुभाशुभभावो मे तन्मय नही हो गया है। प्रवचनसार के उस प्रकरण मे वर्त्तमान पर्याय के बराबर ही वस्तु की स्थिति सिद्ध की है। यहाँ तो अकेले त्रिकाली द्रव्य की सिद्धि करना है। त्रिकाली आत्मद्रव्य तो शुद्ध विज्ञानघन भगवान ही है, वह कभी शुभाशुभभावरूप हुआ ही नही है। समयसार की ६वी गाथा मे भी आता है कि ज्ञायकस्वभावी भगवान आत्मा कभी भी शुभाशुभभावरूप नही हुआ है, तथापि 'शुभाशुभरूप हुआ है'—ऐसा कहना व्यवहार है।

यदि भगवान आत्मा शुभाशुभभाव के स्वभावरूप से परिणमित हो जाय तो वह जड—अचेतन हो जाय। भाई! भक्ति व महाव्रतादि के जो शुभभाव है, वे जड—अचेतन है, क्योकि इनमे चैतन्य की किरण नही है। वहाँ प्रवचनसार मे पर्याय की अपेक्षा से आत्मा शुभाशुभभाव से तन्मय है—ऐसा कहा है, परन्तु यहाँ द्रव्य की अपेक्षा से कथन है। द्रव्य की अपेक्षा से आत्मा शुभाशुभभाव से तन्मय नही है—ऐसा सिद्ध किया है।

प्रवचनसार की १८९वी गाथा मे जो ऐसा कहा है कि निश्चय से आत्मा राग का कर्त्ता व भोक्ता है, वहाँ यह अभिप्राय है कि राग आत्मा

की परणति है, आत्मा स्वतः राग का कर्त्ता है तथा स्वतः भोक्ता है। पर की परणति को जीव की कहना व्यवहारनय है तथा जीव की परणति को जीव की कहना निश्चयनय है—इस अपेक्षा से निश्चय से आत्मा राग का कर्त्ता है—ऐसा उक्त कथन का अर्थ है।

प्रश्न – फिर जीव राग का कर्त्ता है या नहीं—दोनो मे सत्य क्या है?

उत्तर .– अपेक्षा से दोनो ही बातें सत्य हैं। प्रवचनसार के ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन मे वस्तु की पर्याय सिद्ध की है, जबकि यहाँ द्रव्य सिद्ध करना है। द्रव्यदृष्टि से देखने पर वस्तु जो ज्ञायकमात्र है, उसमें राग है ही नही। ६वी गाथा की टीका मे 'ज्ञायकभाव जड़भावरूप नहीं होता'—ऐसा कोष्टक में स्पष्टीकरण किया है। अहाहा! ज्ञायक ज्ञायकपने से अचेतनरूप कभी हुआ ही नही। भाई! शुभाशुभभाव अचेतन हैं। यदि ज्ञायकस्वभावी आत्मा शुभाशुभभावरूप परिणमे तो वह अचेतन हो जाये। भाई! वीतराग सर्वज्ञ का मार्ग बहुत गम्भीर है, परन्तु फलदायक भी बहुत है।

व्यवहार के रसिकजनो को तो यह बात ऐसी लगती है कि इससे तो मानो सर्व व्यवहार का लोप हो जायगा; परन्तु भाई! जीव को शुभाशुभ-भाववाला कहना तो असद्भूतव्यवहारनय का कथन है। इसी बात को विस्तार से स्पष्ट करते हैं :–

जैसे किसी पुरुष ने जन्म से 'घी का घड़ा' ही जाना है, सुना है। घी से भिन्न घड़ा जिसने कभी देखा-जाना ही नही है—ऐसे पुरुष को समझाया जाता है कि 'जो यह घी का घड़ा है; वह माटीमय है, घीमय नहीं'। अहाहा! भाषा तो देखो! 'जो यह घी का घड़ा है; वह माटीमय है; घीमय नही।' व्यवहार तो 'घी का घड़ा'—ऐसा किया है, जबकि बताना यह है कि घड़ा माटीमय है, क्योकि घीरहित—खाली घड़ा जिसने कभी नहीं देखा. उसे समझाने के लिए ऐसा ही कहा जाता है कि 'यह जो घी का घड़ा है न? वह माटीमय है, घीमय नही।'

इसीप्रकार इस अज्ञानी जगत को अनादि ससार से अब तक राग-वाला जीव, पुण्यवाला जीव, भेदवाला जीव—इसप्रकार 'अशुद्ध जीव' का ही परिचय है। रागरहित, भेदरहित भगवान आत्मा को अज्ञानी जीव जानते ही नहीं हैं; इसलिए अब ऐसे अज्ञानियों को समझाने के लिए, शुद्ध जीव का ज्ञान कराने के लिए 'जो यह वर्णादिमान जीव है, वह ज्ञानमय है, वर्णादिमय नही हैं'—ऐसा कहते हैं। 'जो यह रागवाला जीव है, वह ज्ञानमय है'—ऐसा कहकर यह निषेध किया है कि 'जीव रागमय नहीं है।' अज्ञानी

को रागरहित जीव से परिचय नही है, इसकारण उसे रागवाला जीव कहकर तो केवल पहचान कराई है कि जिसे तू रागवाला मानता है, वह रागवाला नही, ज्ञानमय है। अज्ञानी को अनादि से अशुद्धता है, अत प्रसिद्ध है, इसकारण ऐसा समझाया है। इसमे 'रागवाला' – कहकर व्यवहार बताया है तथा 'ज्ञानमय' – कहकर निश्चय दर्शाया है अर्थात् जीव निश्चय से ज्ञानमय ही है तथा व्यवहार से रागवाला कहा जाता है। व्यवहार तो 'रागवाला जीव' – ऐसा है, परन्तु बताना यह है कि जीव ज्ञानमय ही है।

प्रश्न – शुभभाव को निश्चय का साधक कहा है न ?

उत्तर – भाई ! शुभभाव को जो साधक कहा है, वह तो आरोपित कथन है। यदि राग निश्चय से साधक हो तो इस गाथा के कथन के साथ विरोध आयेगा। आत्मा रागवाला है ही नही – ऐसा यहाँ कहा है। जब आत्मा रागवाला है ही नही, तो फिर वह स्वानुभव मे मदद क्या करेगा ?

प्रश्न – पचास्तिकाय मे व्यवहार – शुभराग निश्चय का साधक है – ऐसा कहा है ?

उत्तर – भाई ! यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि राग निश्चय से जीव नही है और जो जीव नही है, वह जीव को लाभ नही करता। आत्मा शुद्ध चैतन्यमय चिदानन्द भगवान प्रभु है। स्वभाव के लक्ष्य से उत्पन्न हुई निर्मल परिणति से ही आत्मा साध्य है व स्वभाव से प्राप्त जो निर्मल परिणति है, वह साधक है। भाई ! राग को तो केवल सहकारी जानकर उसमे साधकपने का आरोप किया है। अहाहा ! शास्त्रो का अर्थ समझना बहुत कठिन है।

प्रश्न – एक ओर कहते हैं कि आत्मा के साथ राग तन्मय है और फिर यहाँ कहते हैं कि आत्मा इनसे तन्मय नही है – यह कैसे ?

उत्तर – भाई ! पर्याय की अपेक्षा से शुभराग के साथ आत्मा तन्मय है – ऐसा प्रवचनसार गाथा ८ मे कहा है। जबकि यहाँ त्रिकाली शुद्धद्रव्य की अपेक्षा से शुभराग आत्मा के साथ तन्मय नही है – ऐसा कहा है। पचास्तिकाय मे व्यवहार को साधक कहा है – यह आरोपित कथन है। जबकि यहाँ कहा है कि राग निश्चय से जीव नही है, तो फिर वह साधन कैसे हो सकता है ?

शंका – कोई कहे कि हमने तो गुरु का सहारा लिया है, बस वही अब हमको तार देगा, अब हमको कुछ नही करना है। स्वमत या परमत – इसकी भी परीक्षा अब हमको नही करना। क्या यह ठीक है ?

समाधान – भाई ! कौन किसका गुरु ? प्रथम तो स्वयं ही स्वयं का गुरु है। शुद्धचैतन्यमय निज आत्मा को पकडेगा, इसका आश्रय करेगा – तब ही तिरेगा, परन्तु गुरु तार देंगे – ये सब तो व्यवहार की बाते है। चारित्र-पाहुड की १४वी गाथा मे आता है कि वेदान्तादि अन्यमत को माननेवालो के प्रति उत्साह रखना, भावना होना, उन्ही की प्रशसा करना तथा उन्ही की श्रद्धा करना – ये सब मिथ्यात्व के लक्षण हैं। जरा कठोर बात है, भाई ! परन्तु यही तो वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर का मार्ग है। जिनके चरणो को इन्द्र तथा गणधर भी चूमते है, उनका यह मार्ग है। जिसे आत्मा का अनुभव करना हो, उसे इस मार्ग मे अवश्य आना पडेगा।

अहाहा ! शैली तो देखो ! कहते हैं कि अज्ञानियो को अनादि से अशुद्ध जीव ही प्रसिद्ध है, उसका ही परिचय है। इसकारण उसे 'जो यह अशुद्ध रागवाला जीव है, वह ज्ञानमय है, रागमय नही है' – ऐसा समझाया है। अहाहा ! ज्ञानमय है – ऐसा कहकर अशुद्धता उडा दी हैं। अरे ! अभी जिसके श्रद्धान का भी ठिकाना नही है, उसके आचरण की तो बात ही क्या है ? कदाचित् वह व्यवहार का पालन करे, तथापि वह सर्व ससार का ही कारण है, क्योकि राग ससार मे ही प्रवेश कराने वाला है। (यहाँ स्पष्ट कहते हैं कि जो व्यवहारवाला या रागवाला जीव है, वह भी निश्चयमय – ज्ञानमय ही है, व्यवहारमय – रागमय नही है।)

वस्तु अनादि-अनत शुद्ध विज्ञानघन ध्रुव प्रवाहरूप है। भगवान आत्मा ध्रुव ध्रुव ध्रुव प्रवाहरूप से शुद्ध चैतन्यमय है, उसमे राग का सम्बन्ध मात्र एकसमय का है। जिसने रागरहित जीव को नही देखा, ऐसे अज्ञानी जीव को समझाने के लिये व्यवहारनय से कहा है कि राग के सम्बन्धवाला जीव है, परन्तु निश्चय से एकसमय का राग वस्तु के स्वभाव मे नही है। राग का – ससार का सम्बन्ध मात्र एकसमय का है। अहाहा ! बात को किसतरह सिद्ध किया है। 'यह दया के भाववाला जीव' – ऐसा व्यवहार से कहा, पश्चात् जीव दया के भावमय नही है, परन्तु ज्ञानमय ही है – ऐसा कहते हैं। अहा ! कैसी शैली है ! व्यवहारनय समझाने के लिए आता है, किन्तु वह निश्चय की अपेक्षा से असत्यार्थ है। समझाने का दूसरा कोई उपाय नही है, इसकारण व्यवहार से समझाया जाता है।

इसीप्रकार सूत्र मे भी जीव मे वर्णादिमानपने का व्यवहार कहने मे आया है, क्योकि अज्ञानी जीवो को रग-रागवाला जीव ही प्रसिद्ध है। पर्यायबुद्धिवाले जीवो को रागवाले जीव का ही परिचय है। एकसमय की पर्याय के पीछे अन्दर परिपूर्ण वस्तु का चैतन्यदल पडा है, परन्तु पर्याय की

एकत्वबुद्धि मे जीव को राग ही ज्ञात होता है, इसी से तो वे पर्यायबुद्धि वाले हैं। उन्हे समझाते हुए कहते हैं कि 'पर्याय मे जो रागवाला जीव है, वह ज्ञानमय है, रागमय नही है।' पर्याय के पीछे तो सम्पूर्ण चैतन्यदल पडा है न! शक्ति व स्वभाव का पिण्ड प्रभु विज्ञानघन है। इसमे वर्त्तमान पर्याय का प्रवेश नही है। अरे! उसमे तो निर्मल पर्याय का भी प्रवेश नही है – ऐसा यह घनतत्त्व है। अहा! निर्मल पर्याय भी विज्ञानघन आत्मा के ऊपर ही तैरती है।

यहाँ अज्ञानी से कहते हैं कि प्रभु! तू शुद्ध आत्मा को जानता नही है, इसलिए जानी हुई वस्तु से अर्थात् परिचित राग के माध्यम से तुझे रागरहित आत्मा की पहचान कराई है। 'रागवाला जीव' – इतना कहकर 'वह रागमय है' – यह नही कहा, बल्कि जिसे तू रागवाला जानता है, वह ज्ञानमय है' – यह कहा है। 'यह रागवाला जीव' – ऐसा तुझे ख्याल मे है, परन्तु वह जीव रागमय नही, ज्ञानमय है – यह कहा जा रहा है, अत अब तक जिसे रागमय मानते रहे, उसे अब ज्ञानमय जानो!

प्रश्न :– इसमे करने के लिए क्या आया?

उत्तर :– भाई! सत्य समझकर सच्चा श्रद्धान करना। अहाहा! आत्मा शुद्ध चैतन्यघन वस्तु है – उस ओर ढलना, झुकना तथा उसी मे रमना – यह क्या कुछ करना नही है? अरे! वास्तव मे तो मात्र यही करना है, बाकी कुछ करना ही नही है।

८वी गाथा मे कहा है कि चाहे जितना होशियार जीव हो, तथापि आत्मा को समझाना हो तो व्यवहार द्वारा ही समझाया जा सकता है। 'जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त हो, वह आत्मा है' – ऐसे वहाँ भेदरूप व्यवहार द्वारा समझाया है। जबकि यहाँ 'रागवाला जीव' – ऐसा कहकर पश्चात् 'वह ज्ञानमय है, रागमय नही है' – ऐसा कहा है। 'जो अपने दर्शन-ज्ञान-चारित्र अर्थात् निर्मल पर्याय को प्राप्त करे, वह आत्मा है।' ऐसा समझने के लिए व्यवहार से कहा, परन्तु यह व्यवहार कहनेवाले तथा सुननेवाले को अनुसरण करने योग्य नही है। भाई! यह तो उसे समझ मे आ सकती है, जिसे वास्तव मे आत्मानुभव करना हो।

अब इसी अर्थ का सूचक कलशरूप काव्य कहते है –

(अनुष्टुभ्)

घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत्।
जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेऽपि न तन्मय.।।४०।।

श्लोकार्थ .– [**चेत्**] यदि [**घृतकुम्भाभिधाने अपि**]'घी का घडा' – ऐसा कहने पर भी [**कुम्भः घृतमयः न**] घडा है, वह घीमय नही है; (मिट्टी-मय ही है) [**वर्णादिमत्जीवजल्पने अपि**] तो इसीप्रकार 'वर्णादिमान जीव' ऐसा कहने पर भी [**जीवः न तन्मयः**] जीव है, वह वर्णादिमय नही है। (ज्ञानघन ही है।)

भावार्थ :–घी से भरे हुए घडे को व्यवहार से 'घी का घडा' कहा जाता है, तथापि निश्चय से घडा घी-स्वरूप नही है; घी घी-स्वरूप है, घडा मिट्टी-स्वरूप है। इसीप्रकार वर्ण, पर्याप्ति, इन्द्रियो इत्यादि के साथ एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्धवाले जीव को सूत्र मे व्यवहार से पचेन्द्रिय जीव, पर्याप्त जीव, वादर जीव, देव जीव, मनुष्य जीव' इत्यादि कहा गया है, तथापि निश्चय से जीव उसस्वरूप नही है; वर्ण, पर्याप्ति, इन्द्रियाँ इत्यादि पुद्गलस्वरूप है, जीव ज्ञानस्वरूप है।

कलश ४० पर प्रवचन

जिसतरह घी का घडा कहने पर भी घडा घीमय नही, वल्कि माटी-मय ही है। घी तो सयोगी वस्तु है। घी के साथ तो माटी का घडा सयोग-सम्बन्ध से रह रहा है। उसीप्रकार भगवान आत्मा शुद्ध विज्ञानघनस्वरूप है और इसका पर्याय मे राग के साथ एकसमय मात्र का संयोग-सम्बन्ध है, किन्तु यह सम्बन्ध त्रिकाली द्रव्य मे नही है। वी का घडा कहने पर जैसे घडा घीमय नही है, माटीमय ही है, उसीप्रकार वर्णादिवाला जीव, रग-रागवाला जीव – ऐसा कहने पर भी जीव वर्णादिमय नही है, रंग-रागमय नही है, किन्तु ज्ञानमय ही है। जैसे घडा व घी – दोनो एक नही हैं, बल्कि सर्वथा जुदे-जुदे है; उसीप्रकार राग व भगवान आत्मा सर्वथा भिन्न हैं। रंग-गन्ध आदि जो २९ बोल कहे हैं, उन सभी में जीव तन्मय नही है।

प्रवचनसार मे पर्याय के परिणमन की बात है और यहाँ द्रव्य-स्वभाव की वात है। दोनो की अपेक्षा जुदी-जुदी है। प्रवचनसार मे यह वताने का प्रयोजन है कि राग पर्याय मे होता है, वह कही अन्यत्र या अधर मे (आकाश मे) नही होता; अपनी ही पर्याय मे होता है। तथा यहाँ शुद्धस्वरूप का ज्ञान कराना है, जीव को अजीव से भिन्न बताना है।

जैसे घडा माटीमय ही है। 'माटीवाला' – ऐसा भी नही, बल्कि माटीमय ही है। उसीप्रकार भगवान आत्मा ज्ञानमय – ज्ञानघन ही है। आत्मा जिसप्रकार ज्ञाता-दृष्टास्वभाव से तन्मय है, एकमेक है, राग से तन्मय नही है, उसीप्रकार जीव जीवस्थान, मार्गणास्थान, सयमलब्धि-

स्थान आदि भेदो से तनमय नही है। अहाहा! गजब बात है! इस अधिकार की अन्तिम ६८वी गाथा मे कहेगे कि आत्मा गुणस्थान से भी तन्मय नही है। अभेदवस्तु मे भेद का अश तन्मय होता ही नही है। कषाय की मन्दता – विशुद्धिस्थान के असख्यप्रकार हैं। भगवान आत्मा उन प्रशस्त शुभराग के स्थानो से तन्मय नही है। अज्ञानी ने शुभरागरहित आत्मा कभी जाना ही नही है, अत कहते हैं कि 'जो यह शुभरागवाला जीव है, वह ज्ञानमय है' – ऐसा कहकर जीव की यथार्थ पहचान कराई है। जैसे घडा माटीमय है, उसीतरह जीव शुद्ध ज्ञानघन ही है।

कलश ४० के भावार्थ पर प्रवचन

घी से भरे हुये मिट्टी के घडे को व्यवहार से घी का घडा कहा जाता है, तथापि निश्चय से घडा घी-स्वरूप नही है। व्यवहार से जो कहा जाता है, वह तो कथनमात्र है। व्यवहार से कहा – इसकारण घडा कही घीमय नही हो जाता। घडा तो माटीमय ही रहता है। अहा! जिसतरह घी घीरूप है और घडा माटीमय है, उसीप्रकार वर्ण, पर्याप्ति, इन्द्रियाँ इत्यादि के साथ एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्धवाले जीव को सूत्र मे व्यवहार से 'पचेन्द्रियजीव, पर्याप्तजीव, बादरजीव, देवजीव, मनुष्य-जीव, इत्यादिरूप से कहा गया है, तथापि निश्चय से जीव उनस्वरूप नही है। वस्तुत जीव देवस्वरूप, मनुष्यस्वरूप नही है।

देवगति या जो उदयभाव हैं, वे जीव है – ऐसा व्यवहार से कहा है, क्योकि अज्ञानी का उससे परिचय है; परन्तु 'यह जो देवजीव है, वह ज्ञानमय है, देवमय नही है' – ऐसा कहकर यहाँ अज्ञानी को समझाते हैं। यह देव, मनुष्य आदि गति की अर्थात् उदयभाव की बात है, शरीर की नही। देव, मनुष्य आदि के शरीर के साथ तो जीव का कोई सम्बन्ध नही है, ये तो प्रत्यक्ष जड हैं, इनकी बात नही हैं। अन्दर जो देव, मनुष्यादि गति की योग्यता है, उसे व्यवहार से यह देवजीव, मनुष्यजीव, एकेन्द्रिय-जीव, दो-इन्द्रियजीव, पर्याप्तजीव, अपर्याप्तजीव इत्यादि जीवरूप से कहा जाता है, तथापि निश्चय से जीव उन-स्वरूप भी नही है। अरे, सयमलब्धिस्थान के भेद भी ज्ञायक मे नही हैं। यदि वह ज्ञायक आत्मा लब्धिस्थान के भेद से तन्मय हो जाये तो कभी भी इनसे भिन्न नही हो सकेगा; परन्तु आत्मानुभूति मे तो ये भेद आते नही हैं, भिन्न ही रह जाते हैं, इसलिए जीव राग या भेदस्वरूप नही है, वह एकमात्र विज्ञानघन ही है।

प्रश्न :– यह तो वहुत ऊँची वात है ?

उत्तर :– वापू ! तेरी महानता के आगे यह कोई ऊँची वात नही है। भाई ! तेरी महानता की क्या वात कहे ? सर्वज्ञदेव की वाणी मे भी तेरा पूरा स्वरूप नही आ सकता, ऐसा तू स्वयं महिमावंत पदार्थ है। तू अनन्तज्ञानमय, दर्शनमय, आनन्दमय, वीतरागतामय, स्वच्छतामय, प्रभुतामय भगवान आत्मा है। तुझे वर्णादि भेदवाला कहना – यह तो व्यवहार है, असत्यार्थदृष्टि है। अहा ! एकसमय के लिए भेदादिरूप पर्याय जानने मे आती है, तथापि त्रिकाली शुद्धद्रव्य भेदादिरूप हुआ ही नही है। आत्मा त्रिकाली ज्ञानमय भूतार्थवस्तु है, वह कभी भी राग से तन्मय नही होता। राग से सदैव भिन्न ही है, इसलिए 'रागवाला जीव' ऐसा कहकर पश्चात् उसे ज्ञानमय वताया है। ये जो दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के विकल्प – राग हैं, इनमे चैतन्यपना नही है तथा ये पुद्गल के साथ हुये भाव हैं, इसकारण इन्हे पुद्गल की जाति का कहा है।

भाई ! रागादि हुये तो अपनी ही पर्याय में हैं व अपने ही उल्टे पुरुषार्थ से हुए हैं; परन्तु वे स्वभाव मे नही हैं तथा निमित्त के लक्ष्य से हुये हैं, इसलिए उन्हे निमित्त के खाते मे डाला है। निमित्त भी व्यवहार है तथा रागादि अशुद्धता भी व्यवहार है। इसकारण दोनो को एक मानकर निमित्त कारण है व अशुद्धता कार्य है – ऐसा कहा है। यह वात यथार्थ नही समझेगा तो सत्य कैसे प्राप्त होगा ? भाई ! जीव तो उसे कहते हैं, जो त्रिकाल ध्रुव चैतन्यघन ज्ञानस्वरूप ही है, अन्य स्वरूप नही। ●

निरावाध चेतन अलख

खाडो कहिये कनक कौं, कनक-म्यान सयोग।
न्यारो निरखत म्यान सौं, लोह कहैं सव लोग ॥ ७ ॥
वरनादिक पुद्गल-दसा, धरै जीव वहु रूप।
वस्तु विचारत करम सौं, भिन्न एक चिद्रूप ॥ ८ ॥
ज्यौं घट कहिये घीव कौ, घट कौ रूप न घीव।
त्यौं वरनादिक नाम सौं, जड़ता लहै न जीव ॥ ९ ॥
निरावाध-चेतन अलख, जानै सहज स्वकीव।
अचल अनादि अनंत नित, प्रगट जगत मैं जीव ॥१०॥

– समयसार नाटक, अजीवद्वार

एतदपि स्थितमेव यद्रागादयो भावा न जीवा इति –

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा ।
ते कह हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता ।।६८।।

मोहनकर्मण उदयात्तु वर्णितानि यानीमानि गुणस्थानानि ।
तानि कथं भवंति जीवा यानि नित्यमचेतनान्युक्तानि ।।६८।।

मिथ्यादृष्टयादीनि गुणस्थानानि हि पौद्गलिकमोहकर्मप्रकृतिविपाकपूर्वकत्वे सति नित्यमचेतनत्वात् कारणानुविधायीनि कार्याणीति कृत्वा, यवपूर्वका यवा यवा एवेति न्यायेन पुद्गल एव, न तु जीवः । गुणस्थानानां नित्यमचेतनत्वं चागमाच्चैतन्यस्वभावव्याप्तस्यात्मनोऽतिरिक्तत्वेन विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वाच्च प्रसाध्यम् ।

अब कहते हैं कि (जैसे वर्णादिभाव जीव नही हैं – यह सिद्ध हुआ, उसीप्रकार) यह भी सिद्ध हुआ कि रागादि भाव भी जीव नही है –

मोहनकरम के उदय से, गुणस्थान जो ये वर्णये ।
वे क्यो बने आत्मा निरंतर, जो अचेतन जिन कहे ।।६८।।

गाथार्थ :– [यानि इमानि] जो यह [गुणस्थानानि] गुणस्थान हैं, वे [मोहनकर्मणः उदयात् तु] मोहकर्म के उदय से होते है [वर्णितानि] – ऐसा (सर्वज्ञ के आगम मे) वर्णन किया गया है; [तानि] वे [जीवाः] जीव [कथं] कैसे [भवति] हो सकते है [यानि] कि जो [नित्यं] सदा [अचेतनानि] अचेतन [उक्तानि] कहे गये हैं ?

टीका :– ये मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान पौद्गलिक मोहकर्म की प्रकृति के उदयपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से 'कारण जैसा ही कार्य होता है' – ऐसा समझकर (निश्चयकर) 'जौ पूर्वक होनेवाले जो जौ, वे जौ ही होते हैं' – इसी न्याय से वे पुद्गल ही हैं, जीव नही । और गुणस्थानो का सदा ही अचेतनत्व तो आगम से सिद्ध होता है तथा चैतन्य-स्वभाव से व्याप्त जो आत्मा उससे भिन्नपने से वे गुणस्थान भेदज्ञानियो के द्वारा स्वय उपलभ्यमान हैं, इसलिये भी उनका सदा ही अचेतनत्व सिद्ध होता है ।

एवं रागद्वेषमोहप्रत्ययकर्मवर्गवर्गणास्पर्धकाध्यात्मस्थानानुभागस्थान-योगास्थान बंधस्थानोदयस्थानमार्गणास्थान स्थितिबंधस्थान संक्लेश स्थान - विशुद्धिस्थानसंयमलब्धिस्थानान्यपि पुद्गलकर्मपूर्वकत्वे सति, नित्यम-चेतनत्वात् पुद्गल एव, न तु जीव इति स्वयमायातम् । ततो रागादयो भावा न जीव इति सिद्धम् ।

इसीप्रकार राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बन्धस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबन्धस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान और संयमलब्धिस्थान भी पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से पुद्गल ही है; जीव नही – ऐसा स्वत· सिद्ध हो गया । इससे यह सिद्ध हुआ कि रागादि भाव जीव नही हैं ।

भावार्थ :– शुद्धद्रव्यार्थिकनय की दृष्टि मे चैतन्य अभेद है और उसके परिणाम भी स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान-दर्शन हैं । परनिमित्त से होनेवाले चैतन्य के विकार यद्यपि चैतन्य जैसे दिखाई देते है, तथापि चैतन्य की सर्व अवस्थाओ मे व्यापक न होने से चैतन्यशून्य हैं, जड हैं और आगम में भी उन्हे अचेतन कहा है । भेदज्ञानी भी उन्हे चैतन्य से भिन्नरूप अनुभव करते है; इसलिये भी वे अचेतन हैं, चेतन नही ।

प्रश्न :– यदि वे चेतन नही है तो क्या है ? पुद्गल हैं या कुछ और ?

उत्तर :– वे पुद्गलकर्मपूर्वक होते है, इसलिये निश्चय से पुद्गल ही हैं, क्योकि कारण जैसा ही कार्य होता है ।

इसप्रकार यह सिद्ध किया कि पुद्गलकर्म के उदय के निमित्त से होनेवाले चैतन्य के विकार भी जीव नही, पुद्गल है ।

गाथा ६८ की उत्थानिका, गाथा एवं उसकी टीका पर प्रवचन

अब यह कहते हैं कि जिसतरह वर्णादि भाव जीव नही हैं, उसीतरह यह भी सिद्ध हुआ कि रागादि भाव भी जीव नही हैं ।

अहाहा ! ये सभी (चौदह) गुणस्थान भी अजीव हैं, इनमें शुद्ध चैतन्य का रूप नही है । यदि ये आत्मा की जाति के हों तो इन गुणस्थानों को सिद्धदशा मे भी होना चाहिए । विज्ञानघन आत्मा की अपेक्षा से गुणस्थानों को पुद्गल का परिणाम कहा है, क्योंकि ये मिथ्यात्वादि गुणस्थान जड़ – पौद्गलिक मोहकर्म की प्रकृति के उदयपूर्वक होते हैं ।

प्रश्न :– कर्म के उदयरूप निमित्त के अनुसार जीव को डिग्री टू डिग्री विकार करना पडता है न ?

उत्तर :– प्रभु ! कर्म का उदय तो जड की पर्याय है और जीव की पर्याय मे जो विकारी भाव होता है, वह तो उसे छूता भी नही है, क्योकि उनमे परस्पर अन्योन्याभाव है। भाई ! यहाँ तो यह दूसरी बात कहनी है कि ये विकारी भाव निमित्त के लक्ष्य से हुए हैं तथा जीवद्रव्य के स्वभाव मे नही है, अत उसे पुद्गल का कार्य मानकर जीव से निकाल देना है।

प्रवचनसार की गाथा १८६ मे ऐसा आता है कि शुद्धनय से आत्मा विकार का कर्त्ता स्वत: है। पचास्तिकाय की गाथा ६२ मे भी कहा है कि आत्मा की विकारी पर्याय का परिणमन अपने षट्कारको से स्वत है तथा अन्य कारको से निरपेक्ष है। अर्थात् जीव की पर्याय मे जो विकार का परिणमन होता है, उसे कर्म के उदय की अपेक्षा नही है। परन्तु यहाँ अपेक्षा भिन्न है। यहाँ तो यह कहते हैं कि पर्याय मे जो विकार होता है, वह द्रव्य-स्वभाव मे नही है। अत पर्याय के विकार और जडकर्म – दोनो को एक मानकर विकार कर्मप्रकृति के उदयपूर्वक होता है – ऐसा कहा है। प्रकृति जड – अचेतन है, इसकारण विकार भी अचेतन है – ऐसा कहा है।

जैसा कर्म का उदय आता है, उसी के अनुपात से डिग्री टू डिग्री विकार करना पडता है – यह तो दो द्रव्यो की एकता की बात है, जो कि सर्वथा मिथ्या है। प्रवचनसार गाथा ४५ की श्री जयसेनाचार्यकृत टीका मे तो ऐसा कहा है कि मोहकर्म का उदय होने पर भी जीव यदि स्वय शुद्धपने परिणमे तो वह कर्म उदय मे आकर खिर जाता है। 'कर्म का उदय आता है, इसकारण जीव को विकार करना ही पडता है' – ऐसा बिल्कुल नही है। अपने वर्त्तमान पुरुषार्थ की जितनी योग्यता हो, उतना विकाररूप परिणमन होता है। कर्म का उदय होने पर भी विकाररूप न परिणमे – यह स्वय जीव की परिणति की स्वतन्त्रता है। किन्तु यहाँ तो अपेक्षा ही दूसरी है। यहाँ तो यह कहा है कि अपनी परिणति मे जो विकार होता है, वह कर्म के आधीन होकर होता है, अत. कर्मकृत है।

गाथा ६५-६६ मे पर्याप्त, अपर्याप्त, बादर, सूक्ष्म आदि भेद नामकर्म की प्रकृतियो के कारण हुये हैं – ऐसा कहा था। यहाँ मिथ्यात्वादि चौदह गुणस्थान मोहकर्म की प्रकृति के उदय से हुए है – ऐसा कहा है। आचार्य श्री जयसेनाचार्य की टीका मे 'मोहजोगभवा' – ऐसा श्री गोम्मटसार का वचन उद्धृत है कि मोह और योग के निमित्त से गुणस्थान होते है।

पहले से लेकर चौदहवे गुणस्थानपर्यन्त सभी मिथ्यात्वादि गुणस्थान पौद्गलिक मोहकर्म की प्रकृति के उदयपूर्वक होते हैं, इसकारण नित्य अचेतन है। इसीप्रकार विशुद्धि के स्थान अर्थात् असख्यप्रकार के प्रशस्त शुभराग के भाव भी मोहकर्म की प्रकृति के विपाकपूर्वक होते हैं, इसकारण अचेतन – पुद्गल हैं। ये जो दया-दान-व्रत-तप-भक्ति आदि के शुभभाव या विशुद्धभाव हैं, वे भी पुद्गलकर्म के विपाकपूर्वक हुये हैं; इसलिए अचेतन – पुद्गल है।

प्रश्न :– राग को आत्मा की पर्याय कहा है न ? राग का परिणमन पर्याय मे है और उसमे आत्मा तन्मय है – ऐसा कहा है न ?

उत्तर :– भाई ! यह तो पर्याय की अपेक्षा से कथन है। पर्याय मे राग है – यह बात ठीक है, परन्तु यहाँ तो वस्तु का स्वभाव सिद्ध करना है। यहाँ तो त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि कराना है और वस्तु के स्वभाव मे तो राग है ही नही। अहाहा ! यह व्यवहार-मोक्षमार्ग का जो शुभराग है, वह पुद्गल के विपाकपूर्वक होने से पुद्गल है और नित्य अचेतन है। कारण जैसा ही कार्य होता है, अत जब पुद्गलमय मोहकर्म कारण है तो गुणस्थानादि कार्य भी नियम से पुद्गल ही होगे।

प्रश्न :– शास्त्रो मे आता है कि उपादान सदृश ही कार्य होता है ?

उत्तर :– वह तो पर्याय सिद्ध करने की अपेक्षा से कहा है। वह अपेक्षा यहाँ नही ली है, यहाँ तो कर्मविपाक के कारणपूर्वक होने से शुभपरिणामो तथा गुणस्थानो को पुद्गल का कहा है, अचेतन कहा है।

अब उदाहरण देकर समझाते हैं कि 'जौं' पूर्वक जो 'जौं' होता है वह 'जौं' ही है – इस न्याय से पुद्गल के विपाक से उत्पन्न हुये शुभराग तथा गुणस्थान आदि भेद पुद्गल ही हैं, जीव नही।

प्रश्न :– तत्त्वार्थसूत्र मे तो ऐसा आता है कि राग, गुणस्थान आदि जो औदयिकभाव है, वे जीवतत्त्व है ?

उत्तर :– वहाँ तो जीव की पर्याय सिद्ध करना है, इसलिए वह बात बराबर है, सही है, परन्तु यहाँ तो स्वभाव सिद्ध करना है न ?

आगे कर्त्ता-कर्म अधिकार प्रारम्भ करना है, उसका यह उपोद्घात है। है तो यह जीव-अजीव अधिकार, किन्तु इस अन्तिम गाथा के पश्चात् कर्त्ता-कर्म अधिकार प्रारम्भ होता है। इसकारण यहाँ से भूमिका के रूप मे कहा है कि पुद्गल कारण है, इसलिए इसका कार्य भी पुद्गल ही है। आगे १०९ से ११२ चार गाथाओ मे तेरह गुणस्थानो को पुद्गल कहेगे, क्योकि वे

कर्मोदयरूप पुद्गल – कर्त्ता के कार्य (कर्म) है। पौद्गलिक तेरह गुणस्थान कारण हैं एव नवीन कर्मवन्ध तेरह गुणस्थानो का कार्य है। पुराना कर्म व्यापक होकर तेरह गुणस्थानरूप व्याप्य को उत्पन्न करता है। पुराना कर्मोदय व्यापक (कर्त्ता) है और तेरह गुणस्थानरूप कार्य उस व्यापक (कर्त्ता) का व्याप्य (कर्म) है। तथा तेरह गुणस्थान व्यापक होकर नवीन कर्मबन्धरूप व्याप्य को करता है। इसतरह पुद्गलमय तेरह गुणस्थान व्यापक एव नवीन कर्मवन्ध उनका व्याप्य है।

प्रश्न :– स्वद्रव्य व्यापक तथा उसकी पर्याय व्याप्य – ऐसा व्याप्य-व्यापकपना स्वद्रव्य मे ही होता है न ?

उत्तर :– भाई ! वहाँ (१०९ से ११२ गाथा मे) तो कर्त्ता-कर्मपना वताना है। इसकारण जो गुणस्थान है, वह कर्त्ता है तथा जो नवीन कर्म का वन्धन हुआ, वह उस कर्त्ता का कर्म है। गुणस्थान व्यापक (कर्त्ता) है तथा उसके कारण जो नवीन कर्मवन्ध हुआ, वह उसका व्याप्य (कर्म) है। जो पौद्गलिक तेरह गुणस्थान है, वे व्यापक होकर नये कर्मों की अवस्था (व्याप्य) को करते हैं। अहाहा ! तेरह गुणस्थानो का जड के साथ व्याप्य-व्यापक सम्वन्ध वताया है। व्याप्य-व्यापकपना तो स्वद्रव्य मे ही होता है, पर के साथ व्याप्य-व्यापक सम्वन्ध होता ही नही है। स्वभाव की दृष्टि कराने के प्रयोजन से यहाँ कहा है कि विकारभाव या शुभभाव कर्त्ता – व्यापक है तथा जो नया कर्म बँधा, वह उसका कर्म – व्याप्य है। अहाहा ! ऐसे कितने ही भंग-भेद (वचनो मे अपेक्षा के भेद) पडते है।

आचार्य कहते हैं कि पुद्गल के विपाकपूर्वक होने से ये गुणस्थान आदि पुद्गल ही है तथा ये पुद्गलभाव (गुणस्थान आदि) व्यापक होकर जो नवीन कर्मो को वाँधते है, वे नवीन कर्म इनके व्याप्य हैं। अहाहा ! स्वभाव तो शुद्ध चैतन्यमय है, इसकारण स्वभाव कर्त्ता तथा विकार इसका कर्म – ऐसा कैसे वन सकता है ? पुराने कर्म का उदय कारण – व्यापक है व विकार – गुणस्थान आदि भेद उसका कर्म – व्याप्य है। विकार या गुणस्थान आदि का भेद कारण – व्यापक है तो नवीन कर्म की अवस्था उसका कार्य – व्याप्य है। इसप्रकार गुणस्थान आदि भेद व कर्म के वीच व्याप्य-व्यापकपने को स्थापित किया गया है, क्योकि कर्त्ता-कर्म सम्वन्ध वताना है न ?

पुद्गल के साथ गुणस्थानो का कर्त्ता-कर्मपना युक्ति, आगम और अनुभव से इसप्रकार सिद्ध किया जाता है –

(१) जिसप्रकार 'जौ' पूर्वक जो 'जौ' होता है, वह 'जौ' ही है; उसीप्रकार पुद्गल के विपाकपूर्वक होने से गुणस्थानादि पुद्गल ही है – यह युक्ति है।

(२) गुणस्थानो का नित्य अचेतनपना आगम से सिद्ध है। निश्चय से आगम अर्थात् परमागम का यह सिद्धान्त है कि गुणस्थान अचेतन हैं, पुद्गल है; क्योंकि वे मोह व योग के निमित्त से होते हैं।

(३) भेदज्ञानियो द्वारा भी चैतन्यस्वभावी आत्मा से गुणस्थानो का भिन्नपना स्वय उपलभ्यमान है। ४४वी गाथा मे भी यह बात आ गई है। भगवान आत्मा चैतन्यस्वभाव से व्याप्त चिदानन्दघन प्रभु है। उसका अनुभव करनेवाले भेदज्ञानियो द्वारा गुणस्थान आदि भेद आत्मा से भिन्नपने स्वय उपलभ्यमान हैं। अहाहा ! ज्ञान की जो वर्त्तमान पर्याय अन्तरग मे झुकती है, उस पर्याय द्वारा ये गुणस्थान आदि आत्मा से भिन्न हैं – ऐसा स्वय उपलभ्यमान होता हैं।

इसप्रकार युक्ति, आगम और अनुभव से ऐसा सिद्ध होता है कि गुणस्थान आदि भावो से चिदानन्द आत्मा भिन्न ही है।

इसीप्रकार विशुद्धिस्थान अर्थात् असख्य प्रकार के जो प्रशस्त शुभ-भाव है, वे पुद्गल के विपाकपूर्वक होने से पुद्गल ही है। आगम भी शुभभाव को पुद्गल ही कहता है। तथा चैतन्यस्वभाव से व्याप्त भगवान आत्मा का अनुभव करनेवालो को भी शुभभाव स्वय से भिन्न ही भासित होते है अर्थात् ज्ञानी की अनुभूति मे ये शुभभाव नही आते, भिन्न ही रह जाते हैं; इसलिए शुभभाव पुद्गल ही है – ऐसा सिद्ध होता है। अहाहा ! आचार्यों ने थोडे मे भी बहुत कह दिया है। अहो ! श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव तथा श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने जैनधर्म का मर्म खोलकर रख दिया है। वे कहते है कि शुभभाव का राग कोई जैनधर्म नही, जैनधर्म तो एक वीतरागभाव ही है, परन्तु वीतरागी परिणति के साथ धर्मी को जो शुभभाव का राग आता है, वह पुद्गल है, क्योकि वह पुद्गल के विपाकपूर्वक होता है। आत्मवस्तु तो स्वभाव से शुद्ध चैतन्यमय है, इसमे राग है ही नही।

इसप्रकार गुणस्थान आदि का नित्य अचेतनपना सिद्ध होता है। चैतन्यस्वभाव से व्याप्त भगवान आत्मा का अनुभव करने पर वे गुणस्थान आदि भिन्न रह जाते हैं, अनुभूति मे नही आते, इसलिए वे नित्य अचेतन ही है – ऐसा सिद्ध होता है। अनुभव शुद्ध ज्ञान-दर्शन का परिणाम है। अनुभव मे ये भगवान की स्तुति-वन्दना-भक्ति एवं प्रभावना इत्यादि के राग कुछ भी नही आते, परन्तु भिन्न ही रह जाते है।

प्रश्न :— तो फिर जगत मे धर्म का प्रचार करना या नही ? तत्व-प्रचार करना या नही ?

उत्तर :— बापू ! धर्म क्या बाहर रखा है ? धर्म की पर्याय तो चैतन्यस्वभाव से व्याप्त है और चिदानन्द भगवान की ओर ढलने पर प्रगट होती है, तब शुभराग तो भिन्न ही रह जाता है। भाई ! जिसको धर्म की पर्याय या आत्मानुभूति प्रगट होती है; उस धर्मी को तो यह राग की पर्याय स्वय से भिन्न ही भासित होती है, अनुभव मे राग नही आता। अहाहा ! शुभराग होता तो अवश्य है, परन्तु यह तो स्व से भिन्न है—ऐसा धर्मी जीव जानते हैं। गजब बात है, भाई ! युक्ति, आगम व अनुभव—तीनो प्रकार से रागादि पुद्गल ही है—ऐसा सिद्ध किया है।

यहाँ राग को 'पर' सिद्ध करना है। चैतन्य-स्वभाव मे राग नही है, यह सिद्ध करना है। आत्मा व्यापक है व राग उसका व्याप्य है—ऐसा जो जिनवाणी मे कथन आता है, वहाँ दूसरी अपेक्षा है। वहाँ तो राग की पर्याय द्रव्य की है, 'पर' के कारण राग की उत्पत्ति नही हुई—ऐसा सिद्ध करना है। जबकि यहाँ चैतन्यस्वभाव से व्याप्त चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा के अनुभव मे राग भिन्न रह जाता है, इसलिए वह चैतन्य से भिन्न अचेतन है—ऐसा सिद्ध करते हैं।

प्रश्न :— तो फिर दोनो अपेक्षाओ मे से सच क्या है ?

उत्तर :— अपेक्षा से दोनो ही बातें सच्ची हैं। पर्याय का ज्ञान भी लक्ष्य मे होना चाहिए। उसको भी ज्ञानी यथार्थ जानता है। इस शास्त्र की १४वी गाथा के भावार्थ मे कहा है कि 'सर्व नयो का कथचित् रीति से सत्यार्थपने का श्रद्धान करने से ही सम्यग्दृष्टि हुआ जा सकता है।' इसका अर्थ यह हुआ कि पर्याय मे राग है—यह सत्य है। पर्याय अपेक्षा से विकार क्षणिक सत् है, परन्तु चैतन्यस्वभाव से व्याप्त त्रिकाली शुद्ध भगवान आत्मा मे एकसमय का वह विकार व्याप्त नही है।

भाई ! राग पर्याय मे है और वह स्वय से है—ऐसा ज्ञान मे लेकर द्रव्यस्वभाव मे—चैतन्यस्वभाव से व्याप्त प्रभु आत्मा मे राग नही है अर्थात् द्रव्यस्वभाव निर्विकार शुद्ध चैतन्यमय है—ऐसा श्रद्धान करना।

कर्त्ता-कर्म अधिकार का प्रारम्भ करना है, इसलिए यहाँ यह बात ली है। पहली गाथा मे आया है कि परिभाषण प्रारम्भ करते हैं अर्थात् यह समयसार परिभाषा सूत्र है। जहाँ-जहाँ जो-जो होना चाहिए, वह-वह गाथा यथास्थान आवे—इसी को परिभाषा सूत्र कहते है। समयसार की ऐसी ही

शैली है। अमृतचन्द्राचार्यदेव ने भी जो बात भविष्य मे आनेवाली हो, उसे पहले ही भूमिका के रूप में कह दिया है। जैसे बन्ध-अधिकार की गाथा २७२ मे जो बात आनेवाली है, वही बात आचार्य अमृतचन्द्र ने भूमिका के रूप मे पहले ही कलश १७३ मे कह दी है।

अहाहा! 'पर से नही हुआ' फिर भी वह कार्य 'पर' का है, स्व का नही। कैसी विचित्र बात है! यहाँ राग का कार्य अपनी पर्याय में हुआ है – यह सिद्ध करने के लिए 'पर से नही हुआ' – यह वाक्य कहा है, इसप्रकार पर्याय की अपेक्षा से पर्याय की बात की है; परन्तु वस्तु के स्वभाव को देखे तो वह रागपर्यायरूप कार्य 'पर' है – ऐसा भासित होता है, क्योकि त्रिकाली शुद्ध चैतन्यमय वस्तु का अनुभव करने पर अर्थात् निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान के परिणाम से द्रव्य का अनुभव करने पर इस परिणाम मे राग का वेदन नही आता। अत. राग पर का कार्य है। भाई! यह समयसार है। ऊपर-ऊपर से (उथलेपन से) पढ लेने से यह समझ मे नही आ सकता, इसकी एक-एक पक्ति मे बहुत गभीर भाव भरा है।

अहाहा! क्या वस्तुस्थिति बताई है? भगवान आत्मा चैतन्यस्वभाव से व्याप्त शुद्ध चिदानदमय वस्तु है। वह अनन्त शक्ति-गुण-स्वभाव से मण्डित अभेद एकाकार वस्तु है। इसमे ऐसा कोई गुण-शक्ति व स्वभाव नही है, जो विकार को उत्पन्न करे, तथापि पर्याय मे जो विकार होता है, वह विकार का स्वत: परिणमन है। उसे निमित्त के कारको की भी अपेक्षा नही है। अब कहते है कि चैतन्यस्वभाव से व्याप्त शुद्ध आत्मा का अनुभव करने पर इसकी निर्मल अनुभूति मे विकार – राग नही आता, भिन्न रह जाता है। यदि यह चैतन्यस्वरूपमय हो तो चैतन्य की अनुभूति मे आना चाहिये, परन्तु ऐसा होता नही, इसलिए राग अचेतन है।

अहाहा! आत्मा शुद्ध चैतन्यमय वस्तु है। जब ज्ञान परिणाम अन्दर शुद्ध चैतन्यवस्तु मे निमग्न हुआ, तब राग स्वय आत्मा से भिन्नपने ज्ञात होता है, इसलिए राग जीव का परिणाम नही है। अहाहा! चैतन्य-स्वभावी आत्मवस्तु मे ढला हुआ जो श्रद्धा-ज्ञान का निर्मल परिणाम है, वह जीव का है, किन्तु इन निर्मल परिणामों के साथ राग नही आता। अहाहा! ज्ञान के परिणाम से राग भिन्न रहता है। राग का ज्ञान ज्ञान के परिणाममय है, रागमय नही है। राग स्वय से भिन्न है – ऐसा ज्ञान होता है। आचार्य कहते है कि भगवान! तू चैतन्यस्वभाव से व्याप्त आत्मा है। भाई! 'आत्मा व्यापक व राग व्याप्य' – ऐसा जहाँ कहा है, वहाँ आत्मा को पर से भिन्न सिद्ध करने के लिए कहा है। कलशटीका मे

भी आता है कि राग का व्याप्य-व्यापकपना आत्मा के साथ है, पर के साथ नही। भाई! वहाँ पर से भिन्न अपनी पर्याय सिद्ध की है। यहाँ तो शुद्ध चैतन्यमय आत्मा के अन्दर ढलता हुआ जो ज्ञान-दर्शन या जानने-देखने का परिणाम होता है, उसमे राग नही आता, परन्तु अपने से भिन्नपने ज्ञात होता है, इसलिए राग अचेतन – पुद्गल का है, यह कहा है।

यह वात रूखी (अरुचिकर) लगती है, इसलिए अज्ञानी जीव भगवान की स्तुति-भक्ति एव दानादि करके सन्तोष कर लेता है। व्यवहार से निश्चय होता है अथवा व्यवहार साधक है व निश्चय साध्य है – ऐसा जो मानता है, उसका तो शास्त्रज्ञान भी सच्चा नही है। आगम की वास्तविक शैली क्या है? इसकी भी उसे खबर नही है। जहाँ व्यवहार को साधक कहा है, वह तो आरोपित कथन है। साधक का कथन दो प्रकार से है, साधक दो प्रकार के नही है। जैसे मोक्षमार्ग का कथन दो प्रकार से है, मोक्षमार्ग कही दो प्रकार का नही है। यदि मोक्षमार्ग दो प्रकार का हो तो व्यवहार-मोक्षमार्ग से व्यवहार-मोक्ष तथा निश्चय-मोक्षमार्ग से निश्चय-मोक्ष होगा, किन्तु ऐसा तो है नही। भाई! व्यवहार-मोक्षमार्ग तो बन्धन का कारण है, परन्तु उसे आरोप से मोक्षमार्ग कहा है।

जैसे गुणस्थान के वारे मे कहा, उसीप्रकार राग-द्वेष आदि दूसरे सभी वोलो पर घटा लेना चाहिये। जैसे राग को ही लें। राग पुद्गल के विपाकपूर्वक होने से पुद्गल है, क्योकि कारण जैसा ही कार्य होता है। आगम भी राग को पुद्गल ही कहता है। तथा भेदज्ञानियो द्वारा भी राग आत्मा से भिन्नपने उपलभ्यमान है, इसलिए वह राग पुद्गल ही है। इसीप्रकार द्वेषादि प्रत्येक वोल मे घटा लेना चाहिए।

द्वेप का परिणाम पुद्गल के विपाक से हुआ होने से पुद्गल ही है। आगम भी उसे पुद्गल कहता है। तथा भेदज्ञानियो द्वारा अनुभव मे भी वह भिन्नपने उपलभ्यमान हैं, इसलिए द्वेष पुद्गल ही है। यहाँ आगम अर्थात् निश्चयनय अर्थात् अध्यात्मरूप आगम लिया है। इसका स्पष्टीकरण पहले गाथा ४६ के सदर्भ मे आ गया है। अध्यवसानादि भावो को व्यवहार से जीव कहा है, परन्तु परमार्थदृष्टि से वे जीव के नही है। भाई! अपनी मान्यता को सिद्धान्त के अनुसार पलटना चाहिए, दृष्टि या मान्यता के अनुसार सिद्धान्त मे फेरवदल नही करना चाहिए।

इसीप्रकार मोह – मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय व योग, इन पाँचो पर घटा लेना। ये पाँचो ही प्रत्यय पुद्गलपूर्वक होने से पुद्गल

हैं। आगम भी इन्हे पुद्गल ही कहता है। तथा आत्मा के अनुभव मे भी आस्रव स्व से भिन्नपने ही ज्ञात होते हैं। अर्थात् शुद्ध चैतन्यस्वभावी आत्मा के अनुभव मे आस्रव नही आते, इसलिए वे पुद्गल ही हैं।

इसीप्रकार कर्म – द्रव्यकर्म, नोकर्म – शरीर-मन-वाणी आदि, वर्ग-वर्गणा-स्पर्द्धक आदि सव तो प्रत्यक्ष से जड़ – पुद्गल ही हैं।

अब कहते है कि अध्यवसानस्थान पुद्गलपूर्वक होने से पुद्गल है। आगम भी इन्हे पुद्गल कहता है। तथा भेदज्ञानियों द्वारा भी चैतन्य-स्वभाव से व्याप्त भगवान आत्मा का अनुभव करने पर भिन्न रह जाते हैं, अनुभव में नही आते; इसलिए वे पुद्गल है।

इसीप्रकार अनुभागस्थान अर्थात् पर्याय मे होनेवाले अनुभागरस के भाग, योगस्थान अर्थात् कम्पन के स्थान, वन्धस्थान अर्थात् विकारी पर्याय के वन्ध के प्रकार, उदयस्थान तथा मार्गणास्थान – ये सर्व पुद्गलपूर्वक होने से पुद्गल ही हैं। आगम भी उनको पुद्गल ही कहता है। तथा भेदज्ञानियो द्वारा चैतन्यस्वभाव से व्याप्त आत्मा का अनुभव करने पर भी वे भिन्न ही रह जाते हैं, इसलिए वे पुद्गल ही है।

इसीप्रकार स्थितिवंधस्थान अर्थात् कर्म की स्थिति के प्रकार से उत्पन्न हुई आत्मा की क्षयोपममजन्य योग्यता भी पुद्गल ही है तथा संक्लेशस्थान अर्थात् अशुभभाव के सभी प्रकार – हिसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अशुभभाव भी पुद्गलपूर्वक होने से पुद्गल ही हैं। आगम मे भी इन्हे पुद्गल कहा है। भेदज्ञानियों द्वारा चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा का अनुभव करने पर ये अनुभूति से भिन्न रह जाते हैं; इसलिए ये पुद्गल ही है।

विशुद्धिस्थान अर्थात् जो असख्यात प्रकार के प्रशस्त शुभभाव हैं, वे पुद्गलपूर्वक होने से पुद्गल ही है। आगम मे भी उन्हे पुद्गल कहा है। भेदज्ञानियो द्वारा शुद्ध आत्मा का अनुभव करने पर भी वे अनुभव मे नही आते, भिन्न ही रह जाते हैं, इसलिए वे पुद्गल ही है। लोगो को यह वात कठिन पडती है, परन्तु भाई! चाहे जैसा शुभभाव हो, भले ही तीर्थंकर नामकर्म की प्रकृति वधे – ऐसा सोलहकारण भावना का शुभ-भाव हो; सभी शुभभाव पुद्गलपूर्वक होने से पुद्गल ही हैं, वे चैतन्य के भाव नही हैं। भगवान चैतन्यदेव का कार्य तो आनन्द व वीतरागी शान्ति का अकुर फूटे – ऐसा चैतन्यमय ही होता है। इसमे विशुद्धिस्थान नही आते, इसलिए वे पुद्गल ही है। इसीप्रकार सयमलब्धिस्थान भी पुद्गल-

कर्मपूर्वक होने से नित्य अचेतन – पुद्गल हैं। आगम भी उन्हे पुद्गल कहता है। तथा आत्मानुभूति मे भी ये भेद नही समाते। इसकारण वे पुद्गल ही हैं, जीव नही हैं – ऐसा स्वत. सिद्ध हो जाता है।

यहाँ मूल मे तो त्रिकाली शुद्धचैतन्यस्वभाव से व्याप्त ध्रुव भगवान आत्मा सिद्ध करना है। जो चैतन्यस्वभाव से व्याप्त है, वह जीव है। इसकारण चैतन्य से भिन्न – राग व भेद आदि सभी भाव चैतन्यमय नही हैं, इसलिए अचेतन हैं – ऐसा कहा है। तथा ये सभी भाव पुद्गल के विपाकपूर्वक होने से पुद्गल ही हैं, जीव नही। जिसप्रकार पहले गुणस्थान आदि जीव नही हैं – यह सिद्ध किया था, उसीतरह ये रागादि सभी भाव जीव नही है – यह स्वत सिद्ध हो गया।

गाथा ६८ के भावार्थ पर प्रवचन

शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से चैतन्य अभेद है। आत्मा त्रिकाल ध्रुवद्रव्य है – ऐसे त्रिकाली शुद्ध भगवान आत्मा का ही जिसमे प्रयोजन है, ऐसे नय से देखने पर चैतन्य अभेद है। इसमे दया-दान आदि राग या संयमलब्धिस्थान आदि के भेद नही हैं। भाई! परमात्मा त्रिलोकीनाथ जिनेन्द्रदेव के द्वारा कथित मुक्तिमार्ग सन्तो ने जगत के जीवो के हितार्थ प्रकाशित किया है। वे कहते हैं कि प्रभु तू शुद्ध द्रव्यदृष्टि से अभेद है, इसलिए तू उसी पर दृष्टि स्थिर कर!

शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से चैतन्य अभेद है और इसका परिणाम भी स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान-दर्शन है। अहाहा! ज्ञाता-दृष्टा के आनन्द का परिणाम ही चैतन्य का परिणाम है, परन्तु दया-दान-व्रत-तप-भक्ति आदि का जो परिणाम होता है, वह चैतन्य का परिणाम नही है। अहो! ऐसी बात सुनने की लोगो को फुरसत नही मिलती। सारा दिन व्यापार-धंधा, खाना-कमाना, स्त्री-बच्चो के पालन-पोषण आदि पाप के कार्यों मे चला जाता है। कदाचित् सुनने जाये भी तो भक्ति करो, उपवास करो, यात्रा करो, दान दो – इससे ही भला हो जायेगा। बस, यही सुनने को मिलता है। भाई! ये सब तो राग हैं और राग को यहाँ पुद्गल का परिणाम कहा है। परन्तु क्या करें? दुनिया तो इसी मे धर्म माने बैठी है।

भगवान आत्मा चैतन्यस्वभावी जागती ज्योतिस्वरूप अभेद एकरूप शुद्ध वस्तु है। इस अभेद के आश्रय से जो निर्मल ज्ञान-दर्शन का परिणाम होता है, वह जीव का परिणाम है। तथा आत्मा की पर्याय मे जो दया-दान-काम-क्रोध आदि राग-द्वेष के विकल्प होते हैं, वे चैतन्य के विकार हैं,

चैतन्य के स्वभावभाव नही हैं। विकार उत्पन्न करे – ऐसी चैतन्य मे कोई शक्ति व गुण ही नही है। जो आत्मा मे विकृत पर्याय होती है, वह पर के लक्ष्य से होती है। वस्तुत. होती तो स्वय से ही है और स्वय मे ही होती है, किन्तु निमित्त के या पर के लक्ष्य से होती है, अतः निमित्त से हुई – ऐसा कहा जाता है। निमित्त के लक्ष्य से उत्पन्न हुए चिद्विकार चैतन्य की सर्व अवस्थाओ मे व्यापक नही होने से चैतन्यशून्य है, जड हैं। भगवान आत्मा अनादि-अनन्त त्रिकाल है, उसकी अनादि-अनत सर्व अवस्थाओं में ये विकार नही रहते। ये पुण्य-पापरूप शुभाशुभभाव तथा गुणस्थान आदि भेदभाव चैतन्य की प्रत्येक अवस्था मे व्यापक नही हैं, इसलिए ये विकार चैतन्य से शून्य है अर्थात् जड है। भाई! सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन तथा उसका विषय समझने की जरूरत है।

सम्यग्दर्शन धर्म का प्रथम सोपान है और इसका विषय त्रिकाली शुद्ध अभेद चैतन्यस्वभावी वस्तु है। शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषय कहो या सम्यग्दर्शन का विषय कहो – दोनो का विषय त्रिकाली शुद्धचैतन्यमय भगवान आत्मा है। तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान आदि इसके परिणाम होने से जीव है। जबकि रागादि व गुणस्थान आदि भेद के भाव स्वभावपूर्वक नही होने से तथा निमित्त – पुद्गलकर्म के विपाकपूर्वक होने से सदा ही अचेतन – पुद्गल ही हैं। जो कोई दया-दान-व्रत-भक्ति आदि के भावों से धर्म हुआ मानता है; वह मूढ – मिथ्यादृष्टि है, उसे जैनधर्म की खबर नही है। भाई! सुखी होना हो तो सच्ची समझ करनी पडेगी।

दया-दान-भक्ति आदि के भाव पुण्यभाव है तथा धन्धा-व्यापार, स्त्री-पुत्र-परिवार आदि सभालने के हिंसादि भाव पापभाव है। ये पुण्य-पाप के भाव हैं तो जीव की ही विकारी अवस्थायें, परन्तु चैतन्यभाव से शून्य हैं; अत. जड – अचेतन है। पुद्गलकर्मपूर्वक होने से पुद्गल ही है, यह युक्ति है। आगम मे भी इन्हे अचेतन कहा है। शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से आगम में भी उन्हे अचेतन कहा है। भेदज्ञानियो को ये भी सभी भाव चैतन्य से भिन्न अनुभव मे आते हैं। इसप्रकार युक्ति, आगम व अनुभव – तीनों ही प्रकार से ये चिद्विकार व भेदभाव पुद्गल ही है – यह सिद्ध हुआ। लोगो को एकान्त लगता है, परन्तु भाई! यह तो न्याय से भगवान के आगम मे भेदज्ञानियो के अनुभव से सिद्ध हुई बात है। भाई! राग तथा भेद से भिन्न अभेद भगवान आत्मा का अनुभव करने पर इसमे राग व भेद नही आते; इसकारण वे अचेतन है, पुद्गल है; जीव नही है।

लोग तो परजीव की दया पालने को अहिंसा कहते है और उसे ही सर्व सिद्धान्त का सार परमधर्म मानते हैं। उनसे कहते हैं कि भाई ! तुम्हे वस्तु की खबर नही है, तुमने सत्य को सुना ही नही है। भगवान ! एकबार सुन तो सही कि तेरा स्वभाव क्या है ? तू तो चैतन्यस्वभावी अभेदवस्तु है न ? नाथ ! इसमे विकार है ही कहाँ, जो उत्पन्न हो ? तू पर की दया तो पाल ही नही सकता, परन्तु दया का जो शुभभाव तुझमे होता है – वह भी चैतन्यमय नही है, किन्तु पुद्गलकर्मपूर्वक होने से पुद्गल ही है। अहाहा ! क्या न्याय है ? न्याय से समझना पडेगा न ? भाई ! यह जीवन चला जा रहा है। हमे ऐसा मनुष्यभव मिला, इसमे भी देवाधिदेव जिनेश्वरदेव द्वारा कहा हुआ आत्मा का स्वरूप नही समझ सके तो मनुष्यभव निष्फल चला जायेगा। अहाहा ! ज्ञानानन्द का सागर भगवान आत्मा ध्रुव चैतन्यमय वस्तु है, वह अभेद एकरूप निर्मल है। इसमे विकार कहाँ है, जो होवे, इसमे तो ज्ञान-आनन्द का निर्मल परिणाम होता है, यही चैतन्य का परिणाम है।

प्रश्न :– फिर पर्याय मे जो विकार होता है, वह क्या है ?

उत्तर :– भाई ! पर्याय मे जो विकार होता है, वह चैतन्य का परिणाम नही है, पुद्गलकर्मपूर्वक होने से अचेतन – पुद्गल है। यदि वह जीव का भाव हो तो जीव से कभी पृथक् नही हो सकता तथा सदैव चैतन्य की सर्व अवस्थाओ मे रहेगा, किन्तु यह तो निकल जाता है व सिद्धो मे सर्वथा नही है। भेदज्ञानियो की निर्मल अनुभूति मे भी यह नही आता, भिन्न ही रह जाता है। यदि राग व भेद जीव के हो तो स्वानुभव मे आना चाहिए, किन्तु ऐसा नही होता; इसलिए ये अचेतन हैं। परमागम भी यही कहता है, इसलिए रागादिभाव जीव नही हैं, पुद्गल-ही है – यह सिद्ध हुआ।

अहो ! तत्त्व की गभीर बात सुनकर अज्ञानी को ऐसा लगता है कि ये क्या कहते हैं ? यह कैसा धर्म ? व्रत करना, तप करना, उपवास करना, भगवान की भक्ति-पूजा-स्तुति करना, यात्रा करना, मन्दिर बनवाना, रथयात्रा वगैरह निकालना – ये सब कहाँ गये ? क्या ये सब धर्म नही हैं ? अत उससे कहते हैं कि धैर्य से सुन ! जिसे तू धर्म मानता है, ये सब राग की क्रियायें हैं और तू तो चैतन्यस्वरूप है। भगवान ! राग तो अचेतन है तथा पुद्गलकर्म के विपाकपूर्वक होता है, इसलिए इसे तो भगवान ने निश्चय से पुद्गल का कार्य कहा है। गजब बात है ! विकार व भेद से रहित अभेद एकरूप चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा है, राग की

आड़ मे यदि इसकी दृष्टि नही की तो कहाँ जायेगा। भव वदलकर कही न कही तो जायेगा ही। स्वरूप को समझे बिना नरक-निगोद मे अनन्त दु ख पायेगा। यहाँ विचार करने और समझने का अवसर प्राप्त हुआ है। अत धर्म क्या है? इस वात का यथार्थ निर्णय कर लेना चाहिए।

गाथा ४६ की टीका मे आया है कि 'जिसने अपना सर्वस्व भेदज्ञानी जीवो को सौप दिया है' – इसका अर्थ यह है कि ज्ञानानन्दस्वरूप भगवान आत्मा का जो अनुभव करते हैं – उन भेदज्ञानी जीवो के अनुभव मे अतीन्द्रियज्ञान, आनन्द, शान्ति का स्वाद आता है, राग व भेद अनुभव में नही आते। तात्पर्य यह है कि चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा से राग व भेद भिन्न है। राग व भेद के भाव चैतन्यमय नही हैं, अचेतन ही हैं। भाई! लोगो को कठिन लगता है, पर वात ऐसी ही है।

इस कथन से कोई ऐसा मान ले कि कर्म के कारण राग होता है, सो एकान्तरूप से ऐसा नही है। भाई! तू यथार्थ वात को नही समझा। 'कर्म है, इसलिए राग होता है' – ऐसा है ही नही। जीवद्रव्य की पर्याय मे जो विकार – अपराध होता है, वह स्वयं से ही होता है। वह अपराध स्वयं का ही है, परन्तु वह 'स्वभाव' का कार्य नही है – ऐसा यहाँ कहते हैं। भगवान आत्मा तो त्रिकाल निरपराधस्वरूप निराकुल आनन्दमय निर्मलानन्द प्रभु चैतन्यस्वभावी वस्तु है। इसका कार्य अपराध – विकार कैसे हो? निरपराधस्वभाव में से अपराध – विकार का जन्म कहाँ से हो? विकार होता तो है? जीव की पर्याय मे विकार होता तो स्वय से ही है; विकाररूप पर्याय का जन्मक्षण है, इसकारण विकार होता है; परन्तु पुद्गलकर्म का – निमित्त का लक्ष्य होने पर होता है। इसकारण वह विकार पुद्गल का है – ऐसा कहा है। भाई! वीतराग का मार्ग वहुत सूक्ष्म है, इसे धैर्य से व न्याय से समझना चाहिए।

दृष्टि का विषय त्रिकाल अभेद आत्मा है। अभेद की दृष्टि मे अभेद चैतन्यस्वभाव ही ज्ञात होता है। पर्याय में जो रागादि हैं, वे अभेद-दृष्टि मे नही आते; इसलिए वे अचेतन है। रागादि पुद्गलकर्मपूर्वक होते हैं; इसलिए वे पुद्गल हैं, जीव नही हैं। भाई! 'जौ मे से जौ ही होता है' क्या जौ में से बाजरा हो सकता है? जौ कारण तथा वाजरा कार्य – ऐसा कैसे हो सकता है? जौ के बीज से वाजरा का पौधा उग ही नही सकता। उसीप्रकार पुद्गलकर्म के विपाकपूर्वक हुआ विकाररूप कार्य भी पुद्गल ही है, इसलिए रागादि पुद्गल ही हैं, जीव नही – ऐसा सिद्ध हुआ। इसप्रकार स्वभाव से विभाव का भेदज्ञान कराया।

अन्तस्तत्त्व चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा परमात्मस्वरूप है, वह अभी भी परमात्मस्वरूप से ही विराजमान है। इस परमात्मस्वरूप का कार्य क्या राग हो सकता है ? राग है तो जीव की ही पर्याय और वह स्वय का ही अपराध है, परन्तु वह चैतन्यस्वभाव से उत्पन्न हुआ कार्य नही है। इसकारण द्रव्य-गुण के आश्रय विना पर्याय मे अधर से उत्पन्न हुये राग को पुद्गल का कहा है। पुद्गलकर्म राग नही कराता, उसके कारण राग होता भी नही है, परन्तु कर्मरूप निमित्त के लक्ष्य से राग होता है; इसलिए पुद्गल का कार्य कहा है। ये रागादिभाव स्वभाव के ऊपर-ऊपर ही तैरते है और पुद्गलकर्म के निमित्त के सम्वन्ध से उत्पन्न होते हैं, इसलिए वे निश्चय से पुद्गल के ही हैं – ऐसा निश्चित होता है। अरेरे ! जो ऐसी वात सुनने की भी फुरसत नही निकाले, वह अनुभव तो कव करे ?

इसप्रकार यह सिद्धि की कि पुद्गलकर्म के उदय के निमित्त से हुआ चैतन्य का विकार भी जीव नही है, पुद्गल है। भाई ! कर्म, शरीर, मन, वाणी इत्यादि जडपदार्थ तो जड हैं ही, यहाँ तो विकारी भाव भी स्वभाव के कार्य नही हैं, किन्तु पुद्गल के आश्रय से होते हैं, अत पुद्गल के कार्य हैं – ऐसा कहा है। विकार परकारको से निरपेक्ष अपनी पर्याय मे अपने षट्कारको से स्वयं उत्पन्न होता है। यद्यपि आत्मा के द्रव्य-गुण मे तो विकार है ही नही; तथापि पर्याय मे जो विकार होता है, वह अपने षट्कारको से उत्पन्न होता है। द्रव्य-गुण विकार के कारण नही हैं, क्योकि द्रव्य-गुण मे विकार नही है। परनिमित भी विकार का कारण नही है, क्योकि पर को विकार की पर्याय स्पर्श ही नही करती अर्थात् विकार की पर्याय का पर मे अभाव है तथा परनिमित्त का विकार मे अभाव है। अहा ! पचास्तिकाय की गाथा ६२ मे जीवास्तिकाय सिद्ध करना है। इसकारण जीव की पर्याय मे विकार स्वय से है – ऐसा कहा है।

'शुभ-आचरण से जीव को धर्म होता है' – यह वात अज्ञानी के मन मे दृढता से जम गई है। अत वह कहता है कि शुभभाव मे धर्म नही है तो क्या खाने-पीने और मौज-मस्ती करने मे धर्म है ? उमसे कहते हैं कि अरे प्रभु ! तू क्या कहता है ? यहाँ यह वात कहाँ से आई ? खाने-पीने मे जो शरीरादि की क्रिया है, वह तो जड की क्रिया है, इसे तो तू कर ही नही सकता तथा खाने-पीने का जो राग है, यह अशुभभाव है – इससे भी धर्म कैसे होगा ? परन्तु जो व्रत-तप-उपवासादि का भाव है, वह भी शुभ-राग है। शुभ और अशुभ – दोनो प्रकार के राग चैतन्य के विकार है। स्वभाव की दृष्टि से देखने पर वे चैतन्य से भिन्न ज्ञात होते हैं।

अहाहा ! त्रिकाली ध्रुव भगवान ज्ञायकस्वरूप आत्मा मे दृष्टि देने पर ये दोनो शुभाशुभराग अनुभूति से भिन्न रह जाते है। ये शुभाशुभराग कर्म के उदयपूर्वक होते हैं, इसकारण वे निश्चय से कर्म – पुद्गल के ही हैं, ऐसा सिद्ध होता है। भाई ! इसप्रकार स्वभाव-विभाव का भेदज्ञान करके, त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि करके, विभाव को नष्ट करने की यही रीति है तथा इसीप्रकार अनुसरण करने पर धर्म होता है।

अब यहाँ प्रश्न होता है कि वर्णादिक और रागादिक जीव नही है तो जीव कौन है ? उसके उत्तररूप श्लोक कहते है –

तर्हि को जीव इति चेत् –

(अनुष्टुभ्)

अनाद्यनंतमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटम्।
जीव स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ।।४१।।

श्लोकार्थ :– [**अनादि**] जो अनादि है, [**अनन्तम्**] अनन्त है, [**अचलं**] अचल है, [**स्वसवेद्यम्**] स्वसवेद्य है [**तु**] और [**स्फुटम्**] प्रगट है – ऐसा जो [**इदं चैतन्यम्**] यह चैतन्य [**उच्चैः**] अत्यन्त [**चकचकायते**] चकचकित – प्रकाशित हो रहा है, [**स्वयं जीव**] वह स्वय ही जीव है।

भावार्थ :– वर्णादिक और रागादिक भाव जीव नही है; किन्तु जैसा ऊपर कहा, वैसा चैतन्यभाव ही जीव है।

कलश ४१ एव उसके भावार्थ पर प्रवचन

जिनमे उक्त २९ बोल समाहित है – ऐसे रग, राग तथा भेद के भाव तो अजीव – पुद्गल है तो फिर यह भगवान आत्मा कौन है और कैसा है ? – ऐसा प्रश्न उत्पन्न होने पर आचार्य कहते है कि आत्मा चैतन्य-स्वभावी वस्तु अनादि-अनन्त एव अचल है। अनादि है अर्थात् यह किसी काल मे उत्पन्न नही हुई तथा अनन्त है अर्थात् इसका कभी नाश नही होगा। अचल है अर्थात् कभी भी चैतन्यपने से अन्यरूप नही होती। कम्प-रहित ध्रुवस्वरूप भगवान आत्मा कभी रग, राग व भेदरूप नही होता। तथा वह आत्मा स्वसवेद्य है, स्वय को स्वय से ही ज्ञात होता है। आत्मा रग-राग-भेद से नही, किन्तु स्वभाव की निर्मल परिणति से ही ज्ञात होता है। अहाहा ! चैतन्यप्रकाश की मूर्ति भगवान आत्मा चैतन्यस्वभाव से ही पर्याय मे जाना जाता है।

चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा अनादि है, अनन्तकाल तक रहेगा तथा कभी भी अन्यरूप नही होगा – ऐसा चलाचलतारहित अचल है, परन्तु वह किसप्रकार जाना जा सके ? ऐसा प्रश्न उत्पन्न होने पर आचार्य समझाते है कि वह स्वसवेद्य है अर्थात् वह ज्ञान व आनन्द की निर्मल पर्याय द्वारा ही जाना जा सकता है।

जो कोई ऐसा कहते हैं कि यह आत्मा व्यवहार-रत्नत्रय से जाना जाता है, उनका यह मानना ठीक नही है, क्योकि व्यवहार-रत्नत्रय तो राग है, एव राग पुद्गल है, पुद्गलरूप व्यवहार-रत्नत्रय से चैतन्यमय जीव कैसे जाना जा सकता है ? यह तो चैतन्य की निर्मल प्रतीति-ज्ञान-रमणता द्वारा ही जाना जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य करोडो क्रियाकाण्ड करे, किन्तु उनसे आत्मा ज्ञात नही हो सकता।

व्यवहार-रत्नत्रय का राग, देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का राग तथा पचमहाव्रत के परिणाम इत्यादि सब तो राग मे – पुद्गल मे जाते हैं। 'मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ' – यह भजन पण्डित हुकमचन्दजी ने बनाया है न ? उसमे रग, राग तथा भेद से भिन्न – ऐसे तीन बोल लिए हैं। अर्थात् भगवान आत्मा रग, राग तथा भेद के भावो से भिन्न ज्ञानानन्दस्वभावी चैतन्य से स्वय परिपूर्ण वस्तु है, वह रग, राग व भेद के भावो से कैसे जाना जा सकता है ? अत नही जानी जा सकती।

प्रश्न :– प० दीपचन्दजी ने आत्मावलोकन मे शुभभाव परम्परा से साधक है – इसप्रकार तो कहा है ?

उत्तर :– भाई ! शुद्धचैतन्य स्वय की निर्मल परिणति से ही ज्ञात होता है, क्योकि वह स्वसवेद्य है। परन्तु जिस अन्तिम शुभभाव को टालकर शुद्धपरिणति होती है, उस शुभभाव को आरोप से परम्परासाधक कहा है।

अहाहा ! इस श्लोक मे कितना गम्भीर भाव भरा है ? कहते है कि चैतन्यस्वभावमय आत्मा अनादिकाल का है व अनन्तकाल तक रहेगा, वह चलाचलतारहित अकम्प ध्रुव भगवान है। वह वर्त्तमान मे किसप्रकार जाना जा सकता है ? तो कहते हैं कि आत्मा स्वय स्वय से ही जाना जाता है। निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की परिणति से ही जाना जाता है।

कलशटीका मे प्रश्न उठाया है कि – तुम तो ऐसा कहते हो कि आत्मा दर्शन-ज्ञान से जाना जाता है, परन्तु मोक्षमार्ग तो दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय है, तो वहाँ मोक्षमार्ग किसप्रकार बनता है ? मिथ्यात्व जाने पर सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुआ है, चारित्र तो हुआ नही, तो वहाँ मोक्षमार्ग

किसप्रकार कहा जा सकता है ? वहाँ इस प्रश्न का स्पष्टीकरण किया है कि :- भाई ! दर्शन-ज्ञान होने पर उसमे चारित्र भी आ जाता है। चैतन्य-स्वभाव से आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान होने पर इसकी ओर की प्रतीति, इसकी सन्मुखता का ज्ञान तथा इसकी सन्मुखता की स्थिरता – ये तीनों ही सम्मिलित हैं। अहाहा ! भगवान आत्मा स्वसंवेद्य है, इसमे ये तीनो ही आ जाते हैं। अर्थात् निर्विकल्प सम्यक्-प्रतीति से, रागरहित ज्ञान से तथा अस्थिरतारहित स्थिरता के अंश से – इसप्रकार एकसाथ तीनों से ही भगवान आत्मा ज्ञात होता है।

अब कहते हैं कि भगवान आत्मा स्फुट है, प्रगट है अर्थात् छिपा नही है। समयसार मे अलिंगग्रहण की ४९वी गाथा में उसे अव्यक्त कहा है, जबकि यहाँ स्फुट – प्रगट या व्यक्त कहते हैं। चैतन्यज्योति चकचकित – जगमगाती हुई प्रगट है व्यक्त है। पर्याय की अपेक्षा आत्मा गुप्त है, अव्यक्त है, किन्तु स्वभाव की अपेक्षा से तो यह व्यक्त – प्रगट ही है। पर्याय को जब व्यक्त कहते हैं, तब द्रव्य को अव्यक्त कहते हैं; क्योकि पर्याय मे त्रिकाली द्रव्य नही आता। जब द्रव्य को ही कहना हो, तब चैतन्य-स्वभावमय द्रव्य-वस्तु जगमगाती हुई वर्त्तमान मे अपनी सत्ता से मौजूद प्रगट ही है – ऐसा कहा जाता है। अहाहा ! भगवान आत्मा चैतन्यस्वभाव-स्वरूप शाश्वत जाज्वल्यमान ज्योति प्रगट है; परन्तु जिसने ऐसे आत्म-स्वभाव को जाना, अनुभव मे लिया – उसे ही यह आत्मा प्रगट है, सबके लिए नही। भाई ! यह तो त्रिलोकीनाथ वीतराग परमेश्वर की वाणी है। सन्त तो इसे जगत के समक्ष प्रगट करते हैं, हमारा परम हित करते हैं।

आचार्य कहते हैं कि आत्मा तो वस्तुरूप से प्रगट, है; परन्तु पर्याय-बुद्धि मे वह अप्रसिद्ध – ढँका हुआ है, इसकारण अज्ञानी को तो वह है ही नही। वर्त्तमान अंश तथा राग के वश होकर अज्ञानी ने चैतन्यस्वभावी आत्मा को मरणतुल्य कर डाला है, परन्तु अपनी निर्मलपरिणति द्वारा जब वह जानने में आता है, तब वह जीवती-ज्योति प्रगट ही है – ऐसा कहते हैं। अहो ! जैनदर्शन अलौकिक है। जैनधर्म अनुभूतिस्वरूप या वीतरागस्वरूप है। अहाहा ! जैन उसे कहते हैं, जिसने मोह-राग को जीता तथा पर्याय में वीतरागता प्रगट की है। जैनधर्म है तो ऐसा, परन्तु वनियो के हाथ पड गया है। वनिये व्यापार में कुशल हैं इसलिए वस, धन्धे में ही फंस गये हैं। तत्त्व को समझने की फुरसत नही है, अतः वाहर की क्रियाओ मे अटक गये हैं; परन्तु भाई ! यह सब तो अज्ञान की होली है।

रग, राग तथा भेद के भाव तो पुद्‌गल हैं। इन सबसे भिन्न प्रगट चैतन्यस्वभावमय आत्मा है। अहाहा! भगवान आत्मा मात्र चैतन्यस्वभाव से भरा है अर्थात् चैतन्यस्वभाव ही आत्मा है। इस ६८वी गाथा की टीका मे आता है कि आत्मा चैतन्यस्वभाव से व्याप्त है। 'आत्मा मे चैतन्य-स्वभाव व्याप्त है' – ऐसा न कहकर 'चैतन्यस्वभाव से व्याप्त आत्मा' – ऐसा कहकर यह सिद्ध करना है कि चैतन्यस्वभाव त्रिकाल कायम रहने-वाला है, तथा चैतन्यस्वभाव व्यापक है व आत्मा इसका व्याप्य है। मोक्ष अधिकार की गाथा २९८–२९९ की टीका मे भी आता है कि चेतना से व्याप्त आत्मा है अर्थात् चेतना व्यापक तथा आत्मा इसका व्याप्य है, इसप्रकार चैतन्यस्वभाव कायमी (स्थिर) है, यह सिद्ध किया है।

आत्मा रग-राग-भेद से व्याप्त नही है, भिन्न है। आत्मा चैतन्य-स्वभाव से व्याप्त है – ऐसा चैतन्यस्वभाव सदैव प्रगट है, स्फुट है, प्रत्यक्ष है। अहाहा! शुद्ध चैतन्य की परिणति से ज्ञात होने योग्य आत्मा वर्त्तमान मे प्रत्यक्ष है। मति-श्रुतज्ञान की पर्याय मे जाना जा सके – ऐसा वह आत्मा वर्त्तमान मे प्रत्यक्ष है, प्रगटपने विराजमान है। राग की अपेक्षा से वह चैतन्यस्वरूप आत्मा गुप्त है, क्योकि वह राग मे नही आता, परन्तु निर्मल परिणति द्वारा वह स्फुट – प्रगट ही है, छिपा हुआ नही है। दया-दान-व्रत-तप-भक्ति आदि के विकल्पकाल मे वस्तु प्रसिद्ध नही होती है, गुप्त रहती है, क्योकि इन विकल्पो मे वस्तु नही आती, वस्तु तो निर्विकल्प चैतन्यमय शुद्ध है तथा वह शुद्ध परिणति की अपेक्षा से प्रगट प्रत्यक्ष ही है। अहा! शैली तो देखो! कितनी स्पष्ट बात है।

देखो, यह आत्मा चैतन्य की निर्मल परिणति द्वारा जाना जाता है। जब वह जाना जाता है, तब प्रत्यक्ष – प्रगट है, इसप्रकार ज्ञात होता है। वह परोक्ष है, अप्रगट है – यह कथन तो उसकी अपेक्षा है, जो राग की रमत (प्रेम) मे बैठा है। जो व्यवहार-रत्नत्रय की रमत (प्रेम) मे पडा है, उसे तो भगवान आत्मा अप्रत्यक्ष – गुप्त है, क्योकि वह उसको जानता ही नही है। वास्तव मे तो जब स्वसवेदनज्ञान की निर्मल परिणति द्वारा आत्मा जाना जाता है, तब ही आत्मा प्रत्यक्ष है।

प्रश्न :– ऐसा आत्मा तो जिनदेव का होगा ?

उत्तर :– भाई! जिनदेव का अर्थात् जिनस्वरूपी इसी भगवान आत्मा का ऐसा स्वरूप है। अहाहा! सभी आत्मायें निश्चय से ऐसी ही है। समयसार नाटक की अन्तिम प्रशस्ति के ३१वें छन्द मे कहा है कि :–

घट-घट अन्तर जिन बसे घट-घट अन्तर जैन ।
मत-मदिरा के पान सौं, मतवाला समुझै न ।।

चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा का ऐसा स्वरूप है कि वह प्रगट है, ढका हुआ नही है । अज्ञानदशा मे वह गुप्त था, परन्तु अब ज्ञानदशा मे प्रगट हो गया है – ऐसा कहते है । दया-दान-व्रत-भक्ति आदि के राग की परिणति मे तो वह चैतन्यवस्तु गुप्त थी, परन्तु अब स्व-परिणति के वेदन से वह प्रत्यक्ष – प्रगट हुई है । बहुत सक्षिप्त शब्दो मे आत्मा को प्रसिद्ध किया है । टीका का नाम भी आत्मख्याति है न ! भगवान आत्मा चैतन्य स्वभावमय वस्तु है – वह स्वसवेद्य है, वह रागादि द्वारा नही जानी जाती; क्योकि रागादि भी आत्मा के नही हैं, किन्तु पुद्गल के है । देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का राग हो तो भी उसमे चैतन्य का अश नही है । राग कुजाति यानी भिन्न जाति का है, पुदगलमय है, इसकारण उसके द्वारा आत्मा नही जाना जाता । चैतन्यस्वभाव तो त्रिकाल जैसा है, वैसा ही है । राग के काल मे भी वैसा ही है, परन्तु जानने के काल मे – स्वसवेदन के काल मे वह जैसा है, वैसा प्रत्यक्ष प्रगट होता है – ऐसा कहते है ।

अरे भाई ! जरा पुरुषार्थ करके मति-श्रुतज्ञान के उपयोग को सूक्ष्म कर ।–ज्ञान का उपयोग निज चैतन्य मे जोडना ही सूक्ष्म उपयोग है । इस सूक्ष्म उपयोग से 'वस्तु प्रगट है' – ऐसा भान होता है । स्थूल राग के उपयोग से चैतन्यवस्तु नही मिलती, क्योकि यह स्थूल उपयोग की पर्याय पुद्गल की है । अहाहा ! ऐसी बात लोगो को एकान्त जैसी लगती है; परन्तु बापू ! यह सम्यक्-एकान्त है, मिथ्या-एकान्त नही ।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि 'अनेकान्त भी सम्यक्-एकान्त – ऐसे निजपद की प्राप्ति के अतिरिक्त अन्य हेतु से उपकारी नही है ।' जब सम्यक्-एकान्त का भान होता है, तब पर्याय व राग का ज्ञान भी होता है और उसको ही अनेकान्त का सच्चा ज्ञान कहते हैं । जीव जब सम्यक्-एकान्त की ओर ढलता है; तब उसको जो ज्ञान होता है, वह 'स्व' का है और उसी काल मे जो राग बाकी है, उस पर्याय का भी ज्ञान होता है – यही सच्चा अनेकान्त है । सम्यक्-एकान्त (शुद्धचैतन्यमय वस्तु) का ज्ञान रखकर जो पर्याय का ज्ञान होता है – वही अनेकान्त है ।

जिससमय त्रिकाली शुद्धद्रव्य का – सम्यक्-एकान्त का ज्ञान होता है, उससमय पर्याय तथा राग को भी जानना – प्रमाणज्ञान है । वह प्रमाणज्ञान भी वस्तुत तो सद्भूतव्यवहारनय का विषय है, क्योकि इसमे दोनो (द्रव्य

व पर्याय) आ गये। जिसमे पर्याय का निषेध नही आता – ऐसा प्रमाणज्ञान पूज्य नही है। निश्चयनय मे पर्याय का निषेध आता है, अत निश्चयनय पूज्य है – ऐसा कहा है। प्रमाणज्ञान के अन्तर्गत भी निश्चय से द्रव्य अभेद है – ऐसा ज्ञान रखकर राग का व पर्याय का ज्ञान सम्मिलित किया है। निश्चय के ज्ञान को उडा दे तो वह प्रमाणज्ञान ही नही है। 'द्रव्य शुद्ध है' – ऐसा निश्चय का ज्ञान सम्यक्-एकान्त है। इस निश्चय के ज्ञान को उड़ाकर जो राग का ज्ञान हो तो वह प्रमाणज्ञान ही नही है।

अहाहा! अनादि-अनन्त चलाचलतारहित स्वसवेद्य प्रगटवस्तु चैतन्य-स्वभावभावमय है। आत्मा वीतराग-सर्वज्ञस्वरूप चैतन्यस्वभावभाव है तथा वह चैतन्य की निर्मल परिणति द्वारा जाना जाए – ऐसा प्रत्यक्ष है। तीन लोक के नाथ वीतराग-सर्वज्ञ परमात्मा समवशरण सभा मे इन्द्रो से ऐसा कहते थे कि प्रभु! जैसे हम वीतराग-सर्वज्ञ हैं, वैसे ही तुम भी वीतराग-सर्वज्ञस्वरूप हो। हम वीतरागस्वभाव मे से ही वीतराग-सर्वज्ञ हुये हैं। इसलिए कहते है कि वीतराग चैतन्यस्वरूप आत्मा वीतराग परिणति द्वारा जाना जा सके – ऐसा प्रत्यक्ष है। अहाहा! वीतरागदेव ने वस्तु को वीतराग 'ज्ञ' स्वरूप कही है तथा इसको जाननेवाली परिणति भी वीतरागतामय ही कही है। प्रभु! यदि तू जिनस्वरूप न हो तो जिनपना पर्याय मे कहाँ से प्रगट होगा? अहा! तू चैतन्यस्वभावी आत्मा जिनस्वरूप ही है और तुझे जाननेवाली पर्याय वीतराग परिणति ही है। यही वीतराग परिणति धर्म है। लोगो को यह तत्त्व समझने की तो फुरसत नही मिलती और सामायिक, प्रतिक्रमण आदि क्रियाकाण्ड करके धर्म मानते है। बापू! इन सब राग के प्रकारो से चैतन्यस्वरूप तो आत्मा नही जाना जाता।

अब आगे कहते हैं कि जैसे सूर्य जाज्वल्यमान प्रकाशित होता है, उसीप्रकार यह भगवान आत्मा चैतन्य के प्रकाश द्वारा अतिशयरूप से प्रकाशित हो रहा है, किन्तु भाई! राग के अधेरे मे यह तुझे दिखाई नही देता। राग का अन्धकार तो अचेतन है। दया-दान-व्रत-भक्ति इत्यादि के जो राग है, वे तो अधेरे हैं, इस अधेरे मे चैतन्य आत्मा कैसे दीखे? यह तो चकचकित ज्ञानस्वभाव की वीतरागी परिणति द्वारा जाना जाता है और तब व्यवहार – राग का भी ज्ञान हो जाता है। ऐसा वीतराग का मार्ग यथार्थ समझे बिना बेचारे – अज्ञानीजन कुछ का कुछ मानकर, अन्यथा क्रियायें करके जीवन निष्फल कर रहे हैं और अनन्तकाल से ससार की रखडपट्टी मे दु खी हो रहे हैं।

अब कहते हैं कि जगमगाती ज्योतिस्वरूप चैतन्य आत्मा स्वयं जीव है। जैसे रग, राग व भेद को पुद्गल सिद्ध किया है, उसीप्रकार अब अतिशयरूप से प्रकाशित होता हुआ यह चैतन्य आत्मा ही स्वय जीव है – यह सिद्ध करते हैं। यहाँ अकेला चैतन्यस्वभाव सिद्ध नही करना है, जीव सिद्ध करना है, इसलिए कहते हैं कि अनादि-अनन्त चुलाचलतारहित स्वसवेद्य प्रगट चैतन्यस्वभावमय वस्तु स्वयं जीव है।

लोग तो ऐसा मानते है कि जो चले-फिरे, वह त्रसजीव तथा जो स्थिर रहे, वह स्थावरजीव। अरे, भगवान ! जीव की यह व्याख्या ही खोटी है। प्रभु ! तू त्रस भी नही तथा स्थावर भी नही। तू रागी भी नही तथा द्वेषी भी नही। तू पुण्य-पाप-कर्म-शरीरवाला भी नही। अरे ! तू तो चैतन्यस्वभावी जीव है। जिसको ऐसी प्रतीति आवे तथा यही ज्ञान मे ज्ञात हो, उसने ही जीव का सही स्वरूप समझा व आत्मा का यथार्थज्ञान किया, यह कहा जायेगा। नवतत्त्वो में भिन्नरूप से रहते हुये आत्मा को तभी यथार्थ जाना व माना कहा जा सकता है।

नवतत्त्व मे अजीवतत्त्व तो भिन्न है। पुण्य-पाप-आस्रव-बन्धतत्त्व भी भिन्न है। जब जीव दूसरे तत्त्वो से भिन्न है तो वह कैसा है? ऐसा प्रश्न उत्पन्न होने पर कहते हैं कि यह तो चैतन्यस्वभावमय स्वय जीव है। यह शुद्धजीव ही सम्यग्दर्शन का विषय है। ऐसा चैतन्यस्वभावी जीव जब स्वसंवेदनज्ञान मे जाना जाता है, तब रागादिभाव व्यवहार से जाने हुए प्रयोजनवान हैं – यह बात इस शास्त्र की १२वी गाथा मे ली है।

यह अतिशयरूप से चकचकित प्रकाशमान वस्तु स्वय जीव है। जैसे जगत का सूर्य स्वय प्रकाशित होता है तथा अन्य वस्तुओ को भी प्रकाशित करता है; उसीतरह आत्मा स्वयं प्रकाशमान ज्योति अन्य धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय इत्यादि को भी 'है' पने तथा रागादि को भी 'है' पने प्रकाशित करता है। इसप्रकार भगवान चैतन्यस्वभाव 'है' पने सबको जानता है। जिसने भगवान आत्मा को जाना है, वह जानता है कि ये सब अन्य वस्तुएँ हैं; परन्तु वह अन्य सर्व को परज्ञेयरूप से जानता है, रागादि को भी परज्ञेयरूप से ही जानता है।

यह शास्त्रज्ञान भी परज्ञेय है। जो मात्र शास्त्रज्ञान मे ही निमग्न है, वे परज्ञेय मे निमग्न हैं। और जो परज्ञेय मे निमग्न हैं, वे स्वज्ञेय (चैतन्यस्वभावमय शुद्धात्मा) का अनादर करते हैं। आत्मज्ञान से शून्य क्षयोपशमज्ञानी पण्डितो को ऐसा लगता है कि 'मैं इतना बडा पण्डित हूँ,

इतने सारे शास्त्रो का ज्ञाता हूँ, क्या यह सब कुछ नही है ? क्या इतनी सब मेहनत बेकार हुई ?'' उनसे कहते है कि हाँ, भाई ! जरा सुन ! शास्त्रज्ञान को तो बन्ध अधिकार मे 'शब्दज्ञान' कहा है – शब्दज्ञान कोई आत्मज्ञान नही है । शब्दज्ञान कहो या परज्ञेय कहो–एक ही बात है । ज्ञानी शास्त्रज्ञान या क्षयोपशमज्ञान को भी परज्ञेयपने जानते हैं ।

इसप्रकार वर्णादिभाव तथा रागादिभाव जीव नही हैं, किन्तु चैतन्य-भाव ही जीव है । इसप्रकार जीव ज्ञान की पर्याय मे इन भावो को ज्ञेय बनाता हुआ चैतन्यस्वभावमय प्रत्यक्ष – प्रगट है ।

अब काव्य द्वारा यह समझाते हैं कि चेतनत्व ही जीव का योग्य लक्षण है –

(शार्दूलविक्रीडित)

वर्णाद्यैः सहितस्तथा विरहितो द्वेधास्त्यजीवो यतो
नामूर्तत्वमुपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्त्वं ततः ।
इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाव्याप्यतिव्यापि वा
व्यक्तं व्यंजितजीवतत्त्वमचलं चैतन्यमालंब्यताम् ।।४२।।

श्लोकार्थ :– [**यतः अजीवः अस्ति द्वेधा**] अजीव दो प्रकार के हैं – [**वर्णाद्यैः सहितः**] वर्णादिसहित [**तथा विरहितः**] और वर्णादिरहित, [**ततः**] इसलिये [**अमूर्तत्वम् उपास्य**] अमूर्तत्व का आश्रय लेकर भी (अर्थात् अमूर्तत्व को जीव का लक्षण मानकर भी) [**जीवस्य तत्त्वं**] जीव के यथार्थस्वरूप को [**जगत् न पश्यति**] जगत् नही देख सकता – [**इति आलोच्य**] इसप्रकार परीक्षा करके [**विवेचकैः**] भेदज्ञानी पुरुषो ने [**न अव्यापि अतिव्यापि वा**] अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दूषणो से रहित [**चैतन्यम्**] चेतनत्व को जीव का लक्षण कहा है, [**समुचित**] वह योग्य है । [**व्यक्त**] वह चैतन्यलक्षण प्रगट है, [**व्यञ्जित-जीव-तत्त्वम्**] उसने जीव के यथार्थस्वरूप को प्रगट किया है और [**अचलं**] वह अचल है – चलाचलता-रहित सदा विद्यमान है । [**आलम्ब्यताम्**] हे जगत् ! उसी का अवलम्बन करो ! (उससे यथार्थ जीव का ग्रहण होता है ।)

भावार्थ :– निश्चय से वर्णादिभाव – वर्णादिभाव मे रागादिभाव अन्तर्हित हैं – जीव मे कभी व्याप्त नही होते, इसलिये वे निश्चय से जीव के लक्षण है ही नही, उन्हे व्यवहार से जीव का लक्षण मानने पर भी अव्याप्ति नामक दोष आता है, क्योकि सिद्धजीवो मे वे भाव व्यवहार से

भी व्याप्त नही होते। इसलिये वर्णादिभावो का आश्रय लेने से जीव का यथार्थस्वरूप जाना ही नही जाता।

यद्यपि अमूर्तत्व सर्व जीवो मे व्याप्त है, तथापि उसे जीव का लक्षण मानने पर अतिव्याप्ति नामक दोष आता है, कारण कि पाँच अजीवद्रव्यो मे से एक पुद्गलद्रव्य के अतिरिक्त धर्म, अधर्म, आकाश, काल – ये चार द्रव्य अमूर्त होने से जैसे अमूर्तत्व जीव मे व्यापता है, वैसे ही चार अजीवद्रव्यो मे भी व्यापता है; इसप्रकार अतिव्याप्ति दोष आता है। इसलिये अमूर्तत्व का आश्रय लेने से भी जीव का यथार्थस्वरूप ग्रहण नही होता।

चैतन्यलक्षण सर्व जीवो मे व्यापता होने से अव्याप्ति दोष से रहित है और जीव के अतिरिक्त किसी अन्यद्रव्य मे व्यापता न होने से अतिव्याप्ति दोष से भी रहित है और वह प्रगट है; इसलिये उसी का आश्रय ग्रहण करने से जीव के यथार्थस्वरूप का ग्रहण हो सकता है।

कलश ४२ पर प्रवचन

यहाँ आचार्य कहते है कि अजीव दो प्रकार के है। (१) वर्णादिसहित तथा (२) वर्णादिरहित। वर्णादिरहित अमूर्तपने को जीव का लक्षण मानकर भी जगत जीवद्रव्य के यथार्थस्वरूप को नही समझ सकता। यह चैतन्यस्वभावी जीव तो ज्ञानलक्षण से लक्षित है। राग या अमूर्तपने के लक्षण से नही पहचाना जा सकता, क्योकि अमूर्त तो अन्यद्रव्य भी है।

हिंसा-झूठ आदि अशुभभावो से तो आत्मा जाना ही नही जाता, किन्तु दया-दान-व्रत-भक्ति आदि शुभभावो से भी आत्मा नही जाना जाता, क्योकि शुभाशुभभाव तो आत्मा के विकार है। वे अचेतन हैं, क्योकि शुद्धचैतन्य मे वे व्याप्त नही होते। रागादिभाव चेतन के लक्षण नही हैं कि जिनसे आत्मा की पहचान हो सके। तथा अमूर्तपना आत्मा के अतिरिक्त अन्यद्रव्यो मे भी है, इसकारण अमूर्तपने द्वारा भी आत्मा को अन्यद्रव्यो से भिन्न नही जाना जा सकता। आत्मा को अन्यद्रव्यो से भिन्न जानना हो तो एक चैतन्यलक्षण से ही जान सकते हैं। परद्रव्य से भिन्न निजस्वरूप का अनुभव चैतन्यलक्षण से ही होता है।

इसप्रकार परीक्षा करके भेदज्ञानी पुरुषो ने अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोष से रहित चैतन्यपने को जीव का लक्षण कहा है। रागादि भाव जीव की सर्व अवस्थाओ मे व्याप्त नही होते, इसलिए रागादि को जीव का लक्षण मानने पर अव्याप्ति दोष आता है। तथा अमूर्तपना अन्यद्रव्यो मे भी है, अतः उसे जीव का लक्षण मानने पर अतिव्याप्ति दोष आता है।

यह बात तो लोगो को सुनने के लिए भी नही मिलती, इसलिए व्रत-उपवास-दया-दान आदि क्रियाओ मे धर्म मान लेते हैं, इन्ही से आत्म-लाभ होगा – ऐसा मान बैठे हैं। भाई ! ये सब तो राग की क्रियायें है, जड हैं, अचेतन है, इन जडक्रियाओ से चेतन आत्मा को लाभ कैसे हो ? अमूर्तपने द्वारा भी आत्मा नही जान सकते, क्योकि अमूर्तपना तो धर्म, अधर्म, आकाश व काल – इन अन्यद्रव्यो मे भी है। अत ऐसा जानकर धर्मी जीवो ने चैतन्य को जीव का निर्दोष लक्षण कहा है।

जानना जानना जानना – यह जानना ही चैतन्यतत्त्व का लक्षण है अर्थात् ज्ञानलक्षण द्वारा आत्मा का लक्ष्य करने पर उसका अनुभव हो सकता है। अहाहा ! ज्ञानलक्षण से लक्ष्य – आत्मा को ग्रहण करने पर आत्मानुभव होता है। दया-दानादि से आत्मा का ग्रहण नही होता, क्योकि ये आत्मा के लक्षण नही है, ये तो सब राग हैं। राग की आत्मा मे अव्याप्ति है। राग आत्मा की सम्पूर्ण अवस्थाओ मे व्याप्त होकर नही रहता। कथचित् ससारावस्था मे व्याप्त हो, परन्तु मोक्षदशा मे तो सर्वथा ही नही है। अत कैसा भी मन्दराग हो, तथापि राग से आत्मा नही जाना जा सकता। इसीतरह अमूर्तपने से भी आत्मा का ग्रहण नही होता, क्योकि अमूर्तपने द्वारा आत्मा को जानने मे अतिव्याप्ति दोप आता है। ऐसा विचारकर भेदज्ञानी जीवो ने चैतन्यपने को जीव का लक्षण कहा है। अहाहा ! ज्ञान के परिणमन की जो दशा है, वह लक्षण है, उसके द्वारा ही आत्मा जाना जाता है। त्रिकाली चैतन्यतत्त्व को लक्ष्य करके ज्ञान का जो परिणमन होता है, उस परिणमन की दशा मे भगवान आत्मा जाना जाता है। यह ज्ञान के परिणमन की क्रिया ही धर्म है।

अब कहते है कि चैतन्यपने को जीव का लक्षण मानना ही योग्य है, क्योकि यह लक्षण अव्याप्ति व अतिव्याप्ति आदि दोषो से रहित है। अहाहा ! किसप्रकार न्याय व युक्ति से बात की है।

भगवान आत्मा मे से अनन्त-अनन्त केवलज्ञानपर्यायें प्रगट होती है, तथापि कुछ भी कमी नही होती – ऐसा यह ज्ञान का रसकद है। यह तो ज्ञान का मूल है। इसमे से ज्ञान अटूटपने निकलता ही रहता है – ऐसा आत्मा वर्त्तमान ज्ञान की पर्याय द्वारा जाना जाता है अर्थात् वर्त्तमान ज्ञान की पर्याय जब ज्ञायकस्वभावी आत्मा का लक्ष्य करे, तब 'यह ज्ञायकबिम्ब है' – इसप्रकार आत्मा जान लिया जाता है, इसी का नाम सम्यग्दर्शन है। यह ज्ञान की क्रिया ही धर्म की क्रिया है। इसप्रकार ज्ञानलक्षण आत्मा का समुचित अर्थात् योग्य लक्षण है।

आगे कहते हैं कि आत्मा का वह चैतन्यलक्षण प्रगट है। चैतन्य को जाननेवाली पर्याय प्रगट है, इसलिए चैतन्यलक्षण प्रगट है। इस प्रगट चैतन्यलक्षण द्वारा आत्मा ज्ञानस्वरूप त्रिकाल है – ऐसा जान सकते हैं। अहाहा! आत्मा तो गुणो का 'अजायबघर' है। वह अनन्तगुणरूप आश्चर्यो से भरपूर है। वर्त्तमान ज्ञान की पर्याय उसको जानती है। जो ज्ञात होता है, वह आत्मा तो अनन्त व अमाप है। ऐसा आत्मा तो लोगो के हाथ आता नही, अत. बेचारे क्या करें, व्रत-तप आदि मे जुट जाते हैं। भाई! तू ये क्रियाये तो अनन्तकाल से करता आ रहा है, ये आत्मा के लक्षण नही हैं।

धर्म की विधि बताते हुए आचार्य कहते हैं कि इन्द्रियो को वन्द कर, उनके विषयो पर से लक्ष्य हटाकर तथा मन मे उठनेवाले विकल्पो का भी लक्ष्य छोडकर, अन्दर चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा को चैतन्यलक्षण द्वारा अनुभवना ही सम्यग्दर्शनरूपी धर्म प्राप्त करने की रीति है। आत्मा चैतन्यबिम्ब है। चैतन्य की प्रगट ज्ञानदशा इसका लक्षण है।

प्रभु! इस लक्षण द्वारा अन्दर आत्मा मे जा! उसे देख! तो तुझे उसका अनुभव होगा। अहाहा! ज्ञान की पर्याय अन्तर्मुख होकर स्व को जानती है, तव अद्भुत अनन्तगुण का चैतन्य-गोला ज्ञान मे आ जाता है। तथा उसमे जो अनन्तगुण भरे हैं, उन्हे भी ज्ञान देख लेता है।

भाई! तू अपने आत्मा को पकडकर कब अनुभव कर सकता है? जबकि तू अपनी ज्ञान की पर्याय को – लक्षण को पकड़कर स्व मे ले जाये, तब ही तू स्वरूप का अनुभव कर सकता है। इसके अलावा चाहे जितनी मन्दराग की क्रिया करे, उनसे आत्मा नही जाना जा सकता। यद्यपि राग की मन्दता, दान देने आदि के भाव ज्ञानी को भी आते है; परन्तु उनसे आत्मा नही जाना जा सकता – सम्यग्दर्शन नही होता। आत्मा तो चैतन्यलक्षण प्रगट ज्ञान की पर्याय को अदर मे ढालने से पकड़ा जा सकता है।

अब कहते हैं कि जीव का चैतन्यलक्षण व्यक्त – प्रगट है तथा उसने जीव के यथार्थस्वरूप को प्रगट किया है। जानने की जो दशा है – वह लक्षण है, प्रगट है और उसने सम्पूर्ण ज्ञायक को प्रगट किया है। अहाहा! ज्ञान की पर्याय को ज्ञायकभाव की ओर झुकाकर चैतन्यलक्षण ने ज्ञायक को प्रगट किया है। वर्त्तमान ज्ञान की पर्याय को अन्तर मे झुकाने पर शुद्ध चैतन्यस्वभावमय जीव का अनुभव होता है तथा उस अनुभव के द्वारा जीव का यथार्थस्वरूप प्रगट होता है।

प्रश्न :– परन्तु ऐसा आत्मा दिखाई तो नही देता ?

उत्तर – भाई ! तू इस आत्मा को देखने के लिए अन्दर जाता ही कब है ? यदि देखने का प्रयत्न करे तो क्यो नही दीखेगा ? अवश्य दीखेगा। ज्ञान-नेत्र उघाडकर अन्दर देखो तो दिखाई देगा। भाई ! 'आत्मा दिखाई नही देता' और 'मैं मुझको ही नही दीखता' – ये सब कहनेवाला कौन है ? यह निर्णय किसने किया है कि मुझे आत्मा दिखाई नही देता है। अरे, जिसने यह कहा या निर्णय किया, वही तो स्वय आत्मा है। 'नही दीखता' – ऐसा नकारात्मक ज्ञान दीख गया न ? वह जिसे दीख गया, वही आत्मा है। यह निर्णय स्वय ज्ञान की पर्याय मे हुआ है तथा ज्ञान ने किया है। जिसमे उक्त निर्णय हुआ व जिसने यह निर्णय किया, वह 'ज्ञान' ही स्वय आत्मा है। तू उस पर्याय को ग्रहण करके अन्दर जा ! तो वह आनन्द का नाथ भगवान जरूर दिखाई देगा।

भगवान आत्मा त्रिकाल ज्ञानस्वरूप है तथा उसकी वर्त्तमान पर्याय मे भी ज्ञान का अश प्रगट है। जो ज्ञान का अश प्रगट है, उस ज्ञानलक्षण द्वारा त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव को पकड ! तथा उसी का अनुभव कर !! यह आत्मा ज्ञानलक्षण से अनुभव मे आ सकता है, क्योकि वही ज्ञायक का वास्तविक लक्षण है। जाननेवाली पर्याय वर्त्तमान मे प्रगट है। यदि प्रगट न हो तो 'यह शरीर है, राग है' – ऐसा कौन जानेगा ? अत पर्याय प्रगट है। यद्यपि ज्ञानपर्याय पर को जानती है, तथापि वह पर का लक्षण नही है, ज्ञानपर्याय तो स्वद्रव्य का ही लक्षण है। इसको अन्तर मे झुकाकर देख ! तुझे आत्मा अवश्य दिखाई देगा और सम्यग्दर्शन होगा। यह मार्ग तो कभी सुना नही। अरे, तू **'अहिंसा परमो धर्म'** का अर्थ भी गलत समझता है। किसी जीव को नही मारना, उनकी दया पालना – बस, यही धर्म है और यही सब धर्मो का सार है – ऐसी प्ररूपणा करता है और बाह्यक्रिया के आचरण मे ही धर्म मानता है।

प्रश्न : – 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष' – ऐसा कहा है न ?

उत्तर :– परन्तु भाई ! उसका अर्थ क्या है ? आत्मा जो त्रिकाल ज्ञानस्वरूप है – उसका ज्ञान करना तथा उसी ज्ञानस्वरूप मे ठहरना – ये ही 'ज्ञान और क्रिया' हैं। यहाँ तो सन्त जाहिर करते है कि प्रभु ! तू ज्ञान की पर्याय से ज्ञात हो – ऐसा तेरा स्वरूप है। लाख बात की बात या करोडो ग्रन्थो का यही सार है। जो ज्ञान की पर्याय पर को जानने का काम करे, वह भी पर का लक्षण नही है, इसलिए जाननेवाली पर्याय को ज्ञायकस्वभाव मे ढाल ! इससे ही तुझे ज्ञायक का स्वरूप प्रगट होगा।

यहाँ दो बाते कही है। प्रथम बात तो यह है कि जीवतत्त्व को चैतन्यलक्षण से जानना, क्योकि चैतन्यपने को जीव का लक्षण कहा है। दूसरी बात यह है कि वह लक्षण प्रगट है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जाननेवाली जो पर्याय प्रगट है – उस पर्याय से आत्मा जाना जाता है और जो जानने मे आता है, वह आत्मा तो त्रिकाल प्रगट है।

प्रश्न :– वह आत्मा हमें समझ मे क्यो नही आता ?

उत्तर :– उसको जानने के लिए जितनी आवश्यकता महसूस होनी चाहिये, उतनी तुम्हे महसूस कहाँ होती है ? जिस सूक्ष्म उपयोग से वह पकड मे आता है, वैसा सूक्ष्म उपयोग तुमने प्रगट ही कहाँ किया है ? आत्मा स्थूल उपयोग से पकड में नही आता, किन्तु सूक्ष्म उपयोग से उसका ग्रहण होता है। अज्ञानी उपयोग को सूक्ष्म नही करता है, इसकारण उसे आत्मा का ग्रहण नही होता। ज्ञायक की ओर झुकी हुई मति-श्रुतज्ञान की पर्याय ही सूक्ष्म उपयोग है। इसके द्वारा ही ज्ञायक आत्मा का ग्रहण होता है।

अहा ! त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव का फरमान है कि तेरा चैतन्य-लक्षण तो तुझे प्रगट है। प्रभु ! यदि लक्षण बिल्कुल प्रगट ही न हो तो लक्ष्य को पकडना कठिन पडेगा, परन्तु ऐसा नही है। चैतन्यलक्षण तो प्रगट ही है; इसलिए प्रगट ज्ञानलक्षण से लक्ष्य ज्ञायक को पकड ! इसी से गुप्त ज्ञायकवस्तु प्रगट होगी। अहाहा ! क्या श्लोक है ? ऐसी बात अन्यत्र कही नही है। यहाँ ज्ञान की पर्याय मे सम्पूर्ण ज्ञायकवस्तु आ जाती है – ऐसा अर्थ नही है, परन्तु ज्ञान की पर्याय मे ज्ञायकवस्तु का सामर्थ्य कितना है, यह भासित हो जाता है। ज्ञायकद्रव्य यदि पर्याय मे आ जाये तो पर्याय का नाश होते ही, द्रव्य का भी नाश हो जायेगा। द्रव्य तो ध्रुव है और पर्याय उसका एक अश है। इसकारण पर्याय मे सम्पूर्ण द्रव्य कैसे आ सकता है ? ज्ञायकवस्तु तो त्रिकाल जैसी है, वैसी ही है – इसकी दृष्टि करने पर ज्ञान-पर्याय मे ऐसा भासित होता है कि वस्तु ज्ञायकभावपने सदाकाल है। प्रगट पर्याय जब ज्ञायक मे झुकती है, तब वह प्रगट दिखाई देती है।

अब कहते है कि आत्मा अचल है। चैतन्यलक्षण चलाचलतारहित है तथा सदा मौजूद है। वह चैतन्यलक्षण स्व मे से हटकर जड मे या राग मे नही जाता। त्रिकाली ज्ञानलक्षण तो ध्रुव है। इसलिए कहते हैं कि हे जगत के जीवो ! तुम उस ध्रुवतत्त्व का ही अवलम्बन करो ! तथा निमित्त व राग का अवलम्बन छोडो ! – क्योकि राग या पर के अवलम्बन से कल्याण नही होता है।

कलश ४२ के भावार्थ पर प्रवचन

निश्चय से जीव मे वर्णादि व रागादि भाव – व्यापते नही हैं। वे एकसमय की पर्याय मे हैं, भगवान ज्ञानस्वरूपी आत्मा मे रग-रागादि कहाँ हैं ? इसलिए वे निश्चय से जीव के लक्षण नही हैं।

व्यवहार से रागादिभाव आत्मा मे हैं। ऐसा मानने पर भी दोष आता है, क्योकि सिद्धो मे तो ये भाव व्यवहार से भी नही हैं। अत अव्याप्ति दोष आता है। यदि वर्णादिभाव जीव के हो तो सदैव जीव मे रहने चाहिए। जीव का लक्षण अमूर्तत्व मानने मे भी अतिव्याप्ति दोप आता है, क्योकि जीव के सिवाय अन्यद्रव्यो मे भी अमूर्तत्व पाया जाता है चैतन्यलक्षण सर्व जीवो मे व्याप्त होने से यही यथार्थ – सच्चा – निर्दोष लक्षण है, इसीलिए इसी का आश्रय करना चाहिए। क्योकि वर्णादिभावो का आश्रय करने से यथार्थस्वरूप की पहचान नही होती।

शका :– व्यवहार व निश्चय – दोनो के ही आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है, ऐसा मानो, अन्यथा एकान्त हो जायेगा ?

समाधान – भाई ! ऐसा नही है। जबतक पूर्णवीतरागता न हो, तब तक व्यवहार होता है, परन्तु व्यवहार से निश्चय नही होता। सम्यग्ज्ञान व चारित्र मे अल्पता है, इसकारण साधक को व्यवहार होता है, परन्तु राग साधन नही है। मन्दराग भी राग ही है। मन्दराग से पुण्यबन्ध भले हो, किन्तु उससे अबन्धस्वभावी आत्मा हाथ नही आता।

भाई ! यह मनुष्य जीवन व्यर्थ चला जायेगा। अधिकाश जीव (आर्यक्षेत्र के) तो मरकर तिर्यञ्च ही होते है, क्योकि आर्य मास, शराब आदि का सेवन तो करते नही हैं, अत. नरक मे तो जाते नही हैं तथा धर्म का स्वरूप जाना नही है, जिससे उत्कृष्ट पुण्य बँधे, सत्शास्त्रो को पढने की भी फुरसत नही है, सारे दिन ससार मे पाप की प्रवृत्ति करते है। इसप्रकार ऐसी स्थिति मे ही देह छूट जाती है, अत मरकर पशु होते है। तिर्यञ्चो की सख्या भी अधिक है। ऐसा अवसर मिला और फिर भी यदि तत्त्व नही समझा और व्यवहार मे ही अटक गया तो अवसर तो चला जायगा। अरे रे ! धर्म के नाम पर लोग कुधर्म का ही सेवन करते हैं।

प्रश्न :– देश का भला तो करें कि नही ?

उत्तर :– अरे भाई ! देश का भला कौन कर सकता है ? 'मैं देश का भला कर सकता हूँ' – यह मान्यता ही मिथ्यात्व है। किसका देश ?

क्या यह देश तेरा है? यह तो परक्षेत्र है। तेरा देश तो असंख्यातप्रदेशी चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा है।

प्रश्न :— यह देश व्यवहार से तो हमारा है न ?

उत्तर :— भाई! व्यवहार तो कहने मात्र का है। यह तेरा देश नही है। अरे, जव राग ही तेरा नही है तो देश तेरा कहाँ से होगा? राग तो सयोगीभाव है, स्वभावभाव तो चैतन्यलक्षण है।

यहाँ आनन्द को जीव का लक्षण नही कहा, क्योकि वह प्रगट नही है; चैतन्य की पर्याय प्रगट है, इसकारण चैतन्य को जीवलक्षण कहा है।

'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य' लक्षण तो वस्तु को सिद्ध करने के लिए कहा है। जहाँ 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' — ऐसा कहा है, वहाँ विकारी उत्पाद को जीव का लक्षण कहा है, परन्तु यह भिन्न वात है, इस लक्षण द्वारा तो वस्तु की स्थिति सिद्ध करना है। यहाँ तो चैतन्यस्वभाव ज्ञान की पर्याय से ही जाना जाता है, इसलिए ज्ञान को ही आत्मा का लक्षण कहा है।

अव 'जवकि ऐसे लक्षण से जीव प्रगट है, तव भी अज्ञानीजनो को उसका अज्ञान क्यो रहता है?' — इसप्रकार आचार्यदेव आश्चर्य तथा खेद प्रगट करते हैं —

(वसन्ततिलका)

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं
ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसंतम्।
अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृम्भितोऽयं
मोहस्तु तत्कथमहो वत नानटीति ॥४३॥

श्लोकार्थ :— **[इति लक्षणत:]** यो पूर्वोक्त भिन्न लक्षण के कारण **[जीवात् अजीवम् विभिन्नं]** जीव से अजीव भिन्न है **[स्वयम् उल्लसन्तम्]** उसे (अजीव को) अपने आप ही (स्वतत्रपने, जीव से भिन्नपने) विलसित होता हुआ — परिणमित होता हुआ **[ज्ञानी जनः]** ज्ञानीजन **[अनुभवति]** अनुभव करते हैं; **[तत्]** तथापि **[अज्ञानिनः]** अज्ञानी को **[निरवधि-प्रविजृम्भित. अयं मोहः तु]** अमर्यादरूप से फैला हुआ यह मोह (अर्थात् स्व-पर के एकत्व की भ्रान्ति) **[कथम् नानटीति]** क्यों नाचता है? **[अहो वत]** — यह हमे महा आश्चर्य और खेद है!

कलश ४३ पर प्रवचन

इसप्रकार ज्ञानी पूर्वोक्त लक्षण से जीव से अजीव को भिन्न करके राग को आत्मा के चैतन्यस्वभाव से भिन्न अनुभव करते हैं। अनुभव मे

राग नही आता, बल्कि भिन्न ही रह जाता है। राग अर्थात् देव-गुरु-शास्त्र की भेदरूप श्रद्धा, शास्त्रो को पढने का विकल्प तथा पचमहाव्रत का भाव इत्यादि। धर्मात्माजीवज्ञानलक्षण से लक्षित आत्मा का अनुभव होने पर, राग को ज्ञान के अनुभव से भिन्न जानते हैं। अनुभव के बिना राग जुदा है – ऐसा कोई कहे उसकी यहाँ बात नही है। यहाँ तो स्वानुभव की ज्ञान-परिणति मे राग नही आता – इसकी बात है।

दया-दान-व्रत आदि के विकल्प अजीव हैं, क्योकि चैतन्यलक्षण से आत्मा का अनुभव करने पर ज्ञान के वेदन मे आनन्द का वेदन आता है, राग का वेदन नही आता, किन्तु वह भिन्न रह जाता है, इसलिए वे दया-दान आदि के विकल्प अजीव हैं, जीव से भिन्न है। आचार्य आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहते हैं कि अज्ञानी को अनादि से अमर्यादरूप से फैला हुआ – यह मोह क्यो नाचता है ? अर्थात् ज्ञान व राग – इन दोनो मे एकपने की भ्रान्ति क्यो होती है ? तू तो ज्ञायकस्वभावी भगवान है न ? अरे यह राग तो अचेतन है। प्रभु ! तुझे इन दोनो मे एकपने की भ्रान्ति कैसे हो गई है ? अहाहा ! आत्मा शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभावी वस्तु है। ज्ञानलक्षण से उसका अनुभव करने पर राग अनुभव से भिन्न रह जाता है, इसलिए राग मुर्दा है, उसमे चेतनता नही है। आचार्य अमृतचन्द्रदेव कलश मे **'अहो बत नानटीति'** – ऐसा कहकर प्रशस्त खेद व आश्चर्य व्यक्त करते है।

भाई ! शास्त्र बाँचने से ज्ञान नही होता। शास्त्र पढने के काल मे जो ज्ञानपर्याय होती है, वह तो उस पर्याय का जन्मक्षण है, इसकारण ज्ञान-पर्याय हुई है। यह परलक्ष्यी ज्ञान सम्यग्ज्ञान नही है। सम्यग्ज्ञान तो ज्ञान-लक्षण द्वारा ज्ञायक का अनुभव करने पर उत्पन्न हुए ज्ञान का नाम है। जैसा ज्ञान (आत्मा) का स्वरूप है, उसीप्रकार ज्ञान का जो नमूना पर्याय मे प्रगट होता है उसका नाम सम्यग्ज्ञान है। अहाहा ! आत्मा तो विज्ञानघन है, इसमे अन्य किसी का प्रवेश नही है। भगवान आत्मा तो ज्ञान व आनन्द से भरा हुआ पूर्ण प्रभु है, उसमे जरा भी अवकाश नही है। हीरा-माणिक मे तो अन्दर आकाशप्रदेश का अवकाश होता है, किन्तु भगवान आत्मा ज्ञान व आनन्द का घनपिण्ड है, इसमे तो किंचित भी अवकाश नही है। ऐसा होते हुए भी आचार्य आश्चर्य व्यक्त करते हैं कि 'आत्मा को राग-सहित माननेरूप अमर्याद फैला हुआ यह मोह अर्थात् स्व-पर के एकत्वरूप भ्रान्ति क्यो नाचती है ? आचार्य स्वय धर्मात्मा सन्त हैं, अल्पकाल मे मोक्ष जानेवाले है, किन्तु अभी विकल्प है न ? इसकारण वे आश्चर्य के साथ खेद प्रगट करते हैं।

अब पुन· मोह का प्रतिषेध करते हुए कहते हैं कि 'यदि मोह नाचता है तो नाचो ? तथापि ऐसा ही है' ·—

(वसन्ततिलका)

अस्मिन्ननादिनि　महत्यविवेकनाट्ये
वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः ।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्धचैतन्य-
धातुमयमूर्तिरयं　च　जीवः　।।४४।।

श्लोकार्थ — **[अस्मिन् अनादिनि महति अविवेकनाट्ये]** इस अनादिकालीन महा अविवेक के नाटक मे अथवा नाच मे **[वर्णादिमान् पुद्गल एव नटति]** वर्णादिमान पुद्गल ही नाचता है, **[न अन्यः]** अन्य कोई नही, (अभेदज्ञान मे पुद्गल ही अनेक प्रकार का दिखाई देता है, जीव अनेक प्रकार का नही है;) **[च]** और **[अयं जीवः]** यह जीव तो **[रागादि-पुद्गल-विकार-विरुद्ध-शुद्ध-चैतन्यधातुमय-मूर्तिः]** रागादिक पुद्गलविकारो से विलक्षण शुद्ध चैतन्यधातुमय मूर्ति है ।

भावार्थ .— रागादिक चिद्विकार को (चैतन्य विकारो को) देखकर ऐसा भ्रम नही करना कि ये भी चैतन्य ही हैं, क्योकि यदि ये चैतन्य की सर्व अवस्थाओ मे व्याप्त हो तो चैतन्य के कहलाये । रागादि विकार सर्व अवस्थाओ मे व्याप्त नही होते — मोक्ष-अवस्था मे उनका अभाव है और उनका अनुभव भी आकुलतामय दु खरूप है । इसलिये वे चेतन नही, जड है । चैतन्यका अनुभव निराकुल है, वही जीव का स्वभाव है — ऐसा जानना ।

कलश ४४ पर प्रवचन

आचार्य पुन मोह का प्रतिषेध करते हुए कहते हैं कि अज्ञानी की मान्यता मे स्व-पर की एकताबुद्धि से जो मोह नाचता है तो नाचो; भगवान ज्ञायक तो फिर भी ज्ञायकस्वरूप ही है, वस्तु तो वस्तु ही है ।

इस अनादिकालीन बड़े भारी अविवेक के नाटक मे वर्णादिमान पुद्गल ही नाचता है । 'राग व आत्मा एक है' — यह मान्यता ही अविवेक का वडा नाटक है । अविवेक का नाटक अर्थात् स्व-पर की एकता का नाटक ! चैतन्य ब्रह्मप्रभु आनन्दनाथ आत्मा के साथ राग के एकत्व का भाव अविवेक का नाटक है और इसमे पुद्गल ही नाचता है ।

वस्तु तो त्रिकाल ज्ञायकस्वभावी ही है, परन्तु ये रंग-रागादिभाव व निगोद से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जो भाव हैं, उन सबमे पुद्गल ही नाचता

है। भगवान आत्मा तो एक ज्ञायकपने से ही रहता है, रग-रागादि मे वह नही पसरता। अहाहा ! अनन्तकाल मे जितने भी शुभाशुभभाव एव उनके फल मे जो स्वर्गादि हुये – वे सब पुद्गल के ही परिणाम हैं। इसप्रकार रागादि के परिणमन मे सर्वत्र पुद्गल ही नाच रहा है।

ये पुण्य-पाप के भाव, इनके चारगतिरूप फल एव शरीर-मन-वाणी-इन्द्रिय इत्यादि का सयोग – इन सब मे पुद्गल ही नाचता है।

प्रश्न – राग की परिणति तो जीव की है न ?

उत्तर :– राग जीव की एकसमय की पर्याय मे है। इसकारण उसे व्यवहार से जीव की कही है, तथापि निश्चय से वह चैतन्यस्वभावमय नही है। रागादि मे चैतन्य पसरता नही है, इसलिए वह अचेतन – पुद्गलमय है। भाई ! जिस भाव से तीर्थंकरप्रकृति बधती है, वह भाव भी अचेतन – पुद्गल है, क्योकि वह चैतन्य की जाति का नही है।

जैसे नाटक मे पर्दा होता है, उसीप्रकार पुण्य-पाप के फलरूप मे स्वर्ग से तिर्यञ्च, तिर्यञ्च से नरक – इसतरह चार गति मे परिभ्रमण करना, आदि अनेक रूपवाले पर्दे मे पुद्गल का ही ठाठ है, शुद्धचैतन्यमय जीव इनमे नही है, वह कभी भी शुभाशुभभावरूप हुआ ही नही। छट्ठी गाथा की टीका मे भी आता है कि भगवान आत्मा शुभाशुभभाव के स्वभाव-रूप कभी हुआ ही नही है। यदि उसरूप हो जाय तो जड हो जायेगा, क्योकि शुभाशुभभाव तो जडस्वभावी हैं।

अब कहते हैं कि जीव-पुद्गल के अभेदज्ञान मे अन्य कोई नही, पुद्गल ही अनेक प्रकार से दिखाई देता है, क्योकि आत्मा तो अनेक प्रकार का है नही। भगवान आत्मा तो शुद्ध-बुद्ध एक अभेद चैतन्यस्वभावी है। अहाहा ! सदा ही पवित्र चैतन्यस्वभावमय एक वस्तु मे अनेकपना नही है। अर्थात् शुभाशुभभाव तथा उनके फलरूप सयोग का अनेकपना – आत्मा मे नही है। राजा-रक-नारकी-देव-तिर्यञ्च-कीडी-कबूतर-कौआ आदि कोई भी हो, इन सब मे पुद्गल का ही नाच विद्यमान है।

प्रश्न – पाप-पुण्य आदि भाव पुद्गल से हुये हैं – ऐसा कहते हैं। फिर भी निमित्त से नही हुये – ऐसा क्यो कहते हो ?

उत्तर :– भाई ! जहाँ जो अपेक्षा हो, उसे बराबर समझना चाहिये। राग पुद्गल का आश्रय करके हुआ है – इसकारण वह पुद्गल की जाति का है – ऐसा कहा है। राग है तो जीव की ही पर्याय, परन्तु वह निमित्त के

वश होने पर हुई है और निमित्त पुद्गल है, इसलिए पुद्गल के वश से हुये भाव को पुद्गल मे डाला है, क्योकि वह चैतन्यस्वभावमय नही है।

यहाँ त्रिकाली स्वभाव का आश्रय कराने का प्रयोजन है। इसकारण 'विकार होते हो तो हो – ये तो पुद्गलमय है' – ऐसा स्वच्छन्दपने प्रवर्तन नही करना। राग अपनी पर्याय मे हुआ है – वह अशुद्ध-उपादान से हुआ है। इस अशुद्ध-उपादान तथा कर्मरूप निमित्त – दोनो को एक-सा व्यवहार मानकर जीव मे से निकाल दिया है।

अब कहते हैं कि यह जीव तो रागादि पुद्गल विकारो से विलक्षण शुद्ध चैतन्यधातुमय मूर्ति है। अहाहा! भगवान ज्ञायकस्वरूप तो अकेला चैतन्य का दल है। इसमे विकल्पो का प्रवेश होने के लिए अवकाश ही नही है। दया-दान-व्रत आदि पुद्गल विकारो का इसमे प्रवेश ही नही होता – ऐसी शुद्ध चैतन्यस्वरूप मूर्ति ज्ञायक है। वह ज्ञायक तो सदा ज्ञायक है।

कलश ४४ के भावार्थ पर प्रवचन

आत्मा मे दया-दान-व्रत-भक्ति आदि रूप चैतन्य के विकारो को देखकर ऐसा भ्रम नही करना चाहिए कि ये चैतन्य ही हैं या चैतन्यमय आत्मा के हैं। अर्थात् जिस व्यवहार या राग को चैतन्यस्वभाव का साधन कहा है, वह वास्तव मे साधन नही है; उसे साधन मानने का भ्रम नही करना। राग तो बन्ध का ही कारण है, वह स्वभाव का साधन कैसे हो सकता है। चैतन्यस्वभाव का साधन तो निराकुल अनुभव करना है। अहाहा! स्वानुभव का कार्य चैतन्य परमात्मा का साधन है।

प्रश्न :– जिनवाणी मे तो व्यवहार को साधन कहा है न?

उत्तर :– भाई! इसकी अत्यधिक स्पष्टता पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवे अधिकार मे की है, जो इसप्रकार है :–

"सो मोक्षमार्ग दो नही है, किन्तु मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग निरूपित किया जाय सो 'निश्चय मोक्षमार्ग' है, और जहाँ जो मोक्षमार्ग तो है नही, परन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त है व सहचारी है, उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाय सो 'व्यवहार मोक्षमार्ग' है; क्योकि निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है।"

रागादि चैतन्य ही हैं – ऐसा नही मानना, क्योकि जो चैतन्य की सब अवस्थाओ में व्याप्त होकर रहता है, उसे ही चैतन्य का कहा जाता है। ज्ञान चैतन्य की सम्पूर्ण अवस्थाओ मे व्याप्त होकर रहता है, अतः ज्ञान

चैतन्य का लक्षरा व स्वरूप है। अरे, अज्ञानी को सच्चा स्वरूप ज्ञात नही है, इसकारण वह व्रत-तप आदि क्रियाकाण्ड को साधन मानता है, परन्तु भाई! वीतराग मार्ग मे यह अनीति नही चलती। वीतराग मार्ग मे तो वीतराग परिणति से ही धर्म होता है, राग से नही। राग का अनुभव भी आकुलतामय दु खरूप है। देखो! चैतन्य मे राग नही है — यह सिद्ध करने के लिए यह न्याय (तर्क) दिया है। दया-दान-व्रत-भक्ति-तप आदि विकल्प भी आकुलतामय दु खरूप है — यह बात सुनने मे तो जरा कठोर सी लगती है, परन्तु तीर्थंकर-प्रकृति को बाधनेवाला भाव भी आकुलतामय ही है।

जिसने तीर्थंकर-प्रकृति का बध किया है, उसकी दशा ही ऐसी होती है कि वह आगे जाकर केवलज्ञान प्राप्त करता है। तीर्थंकर के जीव को अप्रतिहत सम्यक्त्व होता है। भले ही वह कदाचित् क्षयोपशमभावरूप हो तो भी वह सम्यक्त्व अप्रतिहत ही होता है। श्रेणिक राजा के क्षायिक सम्यक्त्व है। जो जीव तीसरे नरक से आता है, उसे क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है, तथापि वह छूटता नही है। हाँ, जब वह तीसरे नरक जाता है, तब मात्र एकक्षण के लिए छूट जाता है — यह जुदी बात है, तो भी यह क्षयोपशम सम्यक्त्व क्षायिकपने को ही प्राप्त करता है। यही स्थिति तीर्थंकरो की होती है। अपने स्वभाव के उग्र पुरुषार्थ करके वे क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करते हैं। तीर्थंकर को क्षायिक सम्यक्त्व होने मे श्रुतकेवली या अन्य तीर्थंकरो का निमित्त नही होता। जबकि अन्यजीवो को जब क्षायिक सम्यक्त्व होता है, तब श्रुतकेवली या तीर्थंकर की उपस्थिति अवश्य होती है। तथापि तीर्थंकर या श्रुतकेवली की उपस्थिति के कारण क्षायिक सम्यक्त्व होता है — ऐसा नही है, क्योकि यदि निमित्त से क्षायिक सम्यक्त्व होता हो तो क्षयोपशमसम्यक्त्वी जीव तो समवशरणादि मे बहुत बैठे रहते हैं, परन्तु उन सबको क्षायिक सम्यक्त्व क्यो नही हो जाता? अत निमित्त हो भले, परन्तु निमित्त से सम्यक्त्व होता है — ऐसा नही है।

यहाँ यह कहते हैं कि राग का अनुभव दु खरूप है। व्यवहार-रत्नत्रय का अनुभव दु खरूप है। जो दु खरूप है, वह मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है? मोक्ष तो परमानन्दमय पूर्णदशा है, इसलिए उसका कारण भी अनाकुल आनन्दभावरूप अनुभव की दशा है। रागादि का अनुभव दु ख-रूप है, इसलिए ये चैतन्य नही हैं। देखो, वाणी मे कितनी स्पष्टता है।

यहाँ बहुत सरस बात कही है कि राग का अनुभव तो आकुलतामय है, दुख-रूप है; इसलिए वह चैतन्य ही नही है। पाँच महाव्रत के परिणाम व दया-दान-व्रत-भक्ति के परिणाम राग है और वे दु ख के अनुभव की

दर्शाये हैं, इसलिए वे चेतन नही, जड हैं। दु ख का अनुभव जड़ है। अहाहा! कैसा तर्क प्रस्तुत किया है? देव-शास्त्र-गुरु की भेदरूप श्रद्धा का राग या नवतत्त्व की भेदरूप श्रद्धा का राग – सभी दु खरूप है, इसलिए वह अचेतन है; क्योकि वह चैतन्य की जाति मे से नही आता। अनाकुल आनन्द का जो अनुभव आता है, वह मोक्षमार्ग है। जब तक वह पूर्ण न हो, तब तक व्यवहार-रत्नत्रय का राग आता है, परन्तु वह दु खरूप है; अतः जड है।

प्रश्न :– सम्यग्दृष्टि को तो दु.ख का वेदन होता ही नही है – ऐसा कहा है, उसका क्या अर्थ है?

उत्तर –अरे! वेदन कैसे नही होता? ज्ञानी को दु.ख ही नही – ऐसा एकान्त से मानना तो मिथ्या है। हाँ, जब सम्यग्दर्शन व स्वभाव की बात चलती है, तब (स्वभाव की दृष्टि मे) ऐसा कहा जाता है कि ज्ञानी को दु ख का वेदन नही है। परन्तु उससमय साथ मे जो ज्ञान है, वह जानता है कि दु.ख का वेदन है। छट्ठे गुणस्थान मे गणधर को भी जितना राग है, उतना दु ख है – ऐसा वे जानते है। भाई! शुभराग भी दु खरूप है।

विषयो की वासना, कमाने का भाव तथा अनुकूलता-प्रतिकूलता मे हर्ष-विषाद का भाव – ये सव तो तीव्र दु ख ही है, परन्तु यहाँ तो यह कहते हैं कि राग की मदता का भाव या गुण-गुणी के भेद का विकल्प सर्व दु खरूप है। तथा इनमे आकुलता का ही अनुभव होता है। भाई! मार्ग तो ऐसा ही है, उसे जैसा है वैसा मान! अहो, सत्स्वरूप वस्तु को सत् की रीति से देखे! अन्यथा अज्ञानदशा मे रखडपट्टी ही करना पडेगा।

चैतन्य का अनुभव निराकुल है। परमानन्दस्वरूप 'ज्ञ' स्वभावी – सर्वज्ञस्वभावी भगवान आत्मा का आश्रय लेने पर जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय प्रगट होती है; वह अनाकुलदशा है, शान्तरस के अनुभव की दशा है – यह स्वभावपर्याय की बात है। भगवान आत्मा अनाकुल आनन्द की मूर्त्ति है, उसके सन्मुख होकर उसमे एकाग्र होने पर निराकुल आनन्द की दशा – उपशमरस की दशा प्रगट होती है, वही धर्म है।

जैसे ऊपर की लाल छाल के अतिरिक्त शकरकन्द सम्पूर्ण शक्कर का कन्द है, मिठास का पिण्ड है तथा उसकी मिठास का जो स्वाद आता है, वह शकरकन्द है। उसीप्रकार यह आत्मा पुण्य-पाप के विकल्प की छाल के अतिरिक्त सम्पूर्ण अनाकुल आनन्द का कन्द है, उसके अतीन्द्रिय आनन्द का जो अनुभव आता है, वह आत्मा है। पुण्य-पाप के विकल्प तो छाल जैसे है, दु.खरूप हैं; वे निराकुल चैतन्य नही है। यह शरीर की

चमडी भिन्न है, जडकर्म भिन्न है, तथा पुण्य-पाप की लाल छाल भी भिन्न है – इनसे भिन्न भगवान आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है। वह सत् यानी शाश्वत चित् यानी ज्ञान तथा आनन्दस्वरूप है, उसका प्रत्यक्ष स्वाद – अनुभव ही मोक्ष का मार्ग है।

अहो ! यहाँ तो एक ही चोट मे दो टुकड़े करने की बात है। व्यवहार-रत्नत्रय का भाव आकुलतामय होने से चैतन्य नही है, किन्तु जड – अचेतन है। वह वर्त्तमान मे दु खरूप है व भविष्य के दु ख का कारण है। समयसार की ७४वी गाथा मे भी आता है कि शुभभाव वर्त्तमान मे दु खरूप है, उससे जो पुण्य बधेगा, उनसे सयोग मिलेंगे, फिर उन सयोगो पर लक्ष्य जायगा तो भी राग – दु.ख ही होगा। अहाहा ! वीतरागी-सर्वज्ञ की बात गजब है ! वीतरागी कहते है कि मेरे सन्मुख देखने से या मेरी वाणी सुनने से तुझे राग ही होगा, दु ख ही होगा, इसलिए तू स्वय को देख ! आत्मानुभव कर ! ! क्योकि चैतन्य का अनुभव निराकुल है। स्वाश्रय को छोडकर जितना भी पराश्रय का भाव है, वह राग है और राग दु खरूप है, जबकि चैतन्य का अनुभव निराकुल है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का परिणाम निराकुल आनन्दमय है।

प्रश्न :– परन्तु चारित्र तो **'लोहे के चने चबाने'** जैसा कठिन है न ?

उत्तर :– अरे प्रभु ! ऐसा मत कह ! चारित्र की ऐसी व्याख्या मत कर ! ! भाई, चारित्र तो आनन्ददाता है। अहा ! स्वरूप का श्रद्धान, इसी का ज्ञान और इसी मे शान्तिरूप स्थिरता तो अतीन्द्रिय आनन्द देनेवाले हैं। अहा ! शुद्धरत्नत्रय का अनुभव तो अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव है। व्यवहारमात्र दु खरूप है, जबकि भगवान आत्मा का अनुभव आनन्द-रूप है। भाई ! यहाँ थोडा कहा, बहुत जानना ! बारह अङ्ग मे भी यही कहा है। आनन्द का सागर प्रभु आत्मा जब राग से निकलकर स्वभाव मे आता है, तब उसे आनन्द ही होता है। ऐसी चारित्र की दशा आनन्दमय है, तथापि जो उसे कष्टदायक मानता है, उसे धर्म की श्रद्धा ही नही है। छहढाला मे भी आता है –

आतम हित हेतु विराग ज्ञान, ते लखे आपको कष्टदान

अज्ञानी त्याग – वैराग्य को दु खरूप जानता है। सुख के कारण को कष्टदायक जानता है। यहाँ तो ऐसा कहते है कि चैतन्य का अनुभव निराकुल है तथा वही जीव का स्वभाव है – ऐसा जानना।

अब भेदज्ञान की प्रवृत्ति के द्वारा यह ज्ञाताद्रव्य स्वय प्रगट होता है, इसप्रकार कलश मे महिमा प्रगट करके अधिकार पूर्ण करते हैं –

(मन्दाक्रान्ता)

इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटनं नाटयित्वा,
जीवाजीवौ स्फुटविघटनं नैव यावत्प्रयातः।
विश्वं व्याप्य प्रसभविकसद्व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या।
ज्ञातृद्रव्यं स्वयमतिरसात्तावदुच्चैश्चकाशे ।।४५।।

श्लोकार्थ :– [**इत्थं**] इसप्रकार [**ज्ञान-क्रकच-कलना-पाटनं**] ज्ञानरूपी करवत का जो बारम्बार अभ्यास है, उसे [**नाटयित्वा**] नचाकार [**यावत्**] जहाँ [**जीवाजीवौ**] जीव और अजीव – दोनो [**स्फुट-विघटनं न एव प्रयातः**] प्रगटरूप से अलग नही हुए, [**तावत्**] वहाँ तो [**ज्ञातृद्रव्यं**] ज्ञाताद्रव्य [**प्रसभ-विकसत्-व्यक्त-चिन्मात्रशक्त्या**] अत्यन्त विकासरूप होती हुई, अपनी प्रगट चिन्मात्रशक्ति से [**विश्वंव्याप्य**] विश्व को व्याप्त करके, [**स्वयम्**] अपने आप ही [**अतिरसात्**] अतिवेग से [**उच्चैः**] उग्रतया अर्थात् आत्यन्तिकरूप से [**चकाशे**] प्रकाशित हो उठा।

भावार्थ :– इस कलश का आशय दो प्रकार का है –

(१) उपरोक्त ज्ञान का अभ्यास करते-करते जहाँ जीव और अजीव – दोनो स्पष्ट भिन्न समझ मे आये कि तत्काल ही आत्मा का निर्विकल्प अनुभव हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ। (सम्यग्दृष्टि आत्मा श्रुतज्ञान से विश्व के समस्त भावो को सक्षेप से अथवा विस्तार से जानता है और निश्चय से विश्व को प्रत्यक्ष जानने का उसका स्वभाव है, इसलिए यह कहा कि वह विश्व को जानता है।) एक आशय तो इसप्रकार है।

(२) दूसरा आशय इसप्रकार से है – जीव-अजीव का अनादिकालीन सयोग केवल अलग-अलग होने से पूर्व अर्थात् जीव का मोक्ष होने से पूर्व, भेदज्ञान के भाते-भाते अमुकदशा होने पर निर्विकल्पधारा जमी – जिसमे केवल आत्मा का अनुभव रहा और वह श्रेणि अत्यन्तवेग से आगे बढते-बढते केवलज्ञान प्रगट हुआ और फिर अघातियाकर्मो का नाश होने पर जीवद्रव्य अजीव से केवल (पूर्णतया) भिन्न हुआ। जीव-अजीव के भिन्न होने की यही रीति है।

कलश ४५ पर प्रवचन

इस ४५वे कलश मे भेदज्ञान की प्रवृत्ति द्वारा यह ज्ञाताद्रव्य स्वय प्रगट होता है, ऐसी महिमा करते हुए जीवाजीवाधिकार पूर्ण करते हैं।

इसप्रकार ज्ञानरूपी करोत को जो बारम्बार अभ्यास करके चलाता है अर्थात् ज्ञान की एकाग्रता के अनुभव का अभ्यास करता है, उसका राग आत्मा से भिन्न हो जाता है। अभ्यास कहो या अनुभव कहो – एक ही बात है। भगवान आत्मा आनन्द का नाथ शुद्ध चैतन्यस्वरूप है। इसकी दृष्टि करके, इसमे एकाग्र होने पर राग भिन्न हो जाता है, दु ख की दशा भिन्न हो जाती है और आनन्द की दशा प्रगट हो जाती है। ज्ञान ही आत्मा है – ऐसा अभ्यास अर्थात् अन्तर मे अनुभव करना ही ज्ञानरूपी करोत है।

जैसे करोत दो टुकडे कर देती है, उसीप्रकार अन्तर का अनुभव – ज्ञान व राग के दो टुकडे कर देता है। अहा! आठ-आठ वर्ष की उम्र मे जो बालक केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, वे कैसे होगे? भले आठ वर्ष का बालक हो, परन्तु अन्तर मे एकाग्र अनुभव द्वारा आत्मा के आनन्द का जो स्वाद उसे आया है, वह उसका बारम्बार अभ्यास करता है व एकाग्र स्थिर होकर अन्तर्मुहूर्त मे परमात्मा हो जाता है। आत्मा ज्ञान व आनन्द की उत्कृष्ट लक्ष्मी का निधान त्रिकाल परमात्मस्वरूप पदार्थ है। ऐसे आत्मा को राग से भिन्न करके स्वरूप मे एकाग्र होने का बारम्बार अभ्यास करना चाहिए – ऐसा यहाँ कहते हैं। जब तक जीव व अजीव – दोनो प्रगटरूप से भिन्न न हो जावे, तब तक निरन्तर अभ्यास करना चाहिए। भावार्थ मे इसका दो प्रकार से अर्थ करेगे। जिसप्रकार सकुचित गुलाब की कली विकासरूप होती है, उसीप्रकार भगवान आत्मा ज्ञान-दर्शन-आनन्द की शक्तिरूप अन्तर मे खिलता है, विकसित होता है।

प्रभु! तुझे तेरे ही बडप्पन की खबर नही है। अहाहा! तू अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ सच्चिदानन्दरूप भगवान है, इसमे अन्तर्मुख होने का अभ्यास कर! अन्दर चिन्मात्रशक्तिरूप से भगवान आत्मा है, उसका जहाँ अनुभव किया, वहाँ ज्ञाताद्रव्य अत्यन्त विकास को प्राप्त करता हुआ, अपनी प्रगट चिन्मात्रशक्ति से विश्वव्यापी होकर अर्थात् लोकालोक को जानकर अपनी ही शक्ति से – अतिवेग से प्रगट होता है। इसी का स्पष्टीकरण करते हुए कहते है कि आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा अनन्त शक्तियो से भरा परिपूर्ण प्रभु है। उसका पूर्ण अनुभव करने पर केवलज्ञान होता है, तब वह समस्त लोकालोक को एकसमय मे प्रत्यक्ष जानता है।

— यहाँ कहते हैं कि ऐसे भगवान आत्मा का जहाँ अनुभव हुआ, वहाँ चित्शक्ति की प्रगटता होती है – और प्रगट हुई यह ज्ञान की पर्याय सम्पूर्ण लोकालोक को जान सकती है। श्रुतज्ञान की पर्याय मे भी लोकालोक को जानने की ताकत है। भले वह प्रत्यक्ष न जाने, परन्तु उस पर्याय की सामर्थ्य

परोक्षरूप से लोकालोक को जान सके – ऐसी विश्वव्यापी तो अवश्य है। अहा! स्वानुभव होने पर प्रगट हुई ज्ञानपर्याय लोकालोक जो जानती हुई, अपनी शक्ति से ही अतिवेग से प्रगट होती है। जैसे समुद्र मे बाढ आती है, उसीतरह स्वानुभव करने पर अन्तर चित्शक्ति मे से ज्ञानपर्याय मे भी बडी भारी बाढ आती है।

प्रश्न :– यह किस जाति का धर्म है? क्या यह सोनगढ से नया धर्म निकला है?

उत्तर .– भाई! नया धर्म नही है। बापू! यह तो अनादि का धर्म है। जिसने कभी सुना नही हो, उसे नया लगता है। अनादि से अनन्त तीर्थंकरो, केवलियो तथा दिगम्बर सन्तो ने यही पुकार-पुकार कर कहा है।

प्रश्न .– क्या यह धर्म विदेहक्षेत्र से आया है?

उतर :– नही, यह तो आत्मा मे से आया है। यहाँ कहते है कि चित्शक्ति का अनुभव करने पर वह स्वय ही अतिवेग से प्रगट होता है और वह जगत को अत्यन्त उग्ररूप से प्रकाशित करता है अर्थात् सम्यग्दर्शन या केवलज्ञान होने पर प्रकाशित करता है – ऐसे दो अर्थ हैं।

कलश ४५ के भावार्थ पर प्रवचन

इस कलश का आशय दो प्रकार से है।

आत्मप्रभु प्रज्ञा-ब्रह्मस्वरूप है। प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान तथा ब्रह्म अर्थात् आनन्द। आत्मा स्वय ही ज्ञान-आनन्दस्वरूप है। अज्ञानी उसे बाहर मे खोजता है। ऐसे ज्ञानस्वरूप चैतन्यब्रह्म आत्मा का बारम्बार अभ्यास करने पर जीव चैतन्यस्वरूप है तथा रागादि अजीव है, इसप्रकार जीव व अजीव – दोनो का ज्ञान होता है और उसी कारण तुरन्त ही आत्मा का निर्विकल्प अनुभव होता है। यह निर्विकल्प अनुभव ही सम्यग्दर्शन है।

ज्ञानस्वभावी आनन्दघन प्रभु आत्मा का अभ्यास करने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। कोई बाह्य निमित्तो या विकल्पो से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नही होती। लोग तो रथयात्रा निकालने मे, गजरथ चलाने मे धर्म मानते हैं; परन्तु बापू! ये कोई धर्म नही हैं। सच्चा गजरथ तो अन्दर आनन्द के नाथ का चक्र (परिणति) पलटने मे हैं।

सम्यग्दृष्टि की पर्याय मे विश्व को जानने की ताकत है। चाहे तिर्यञ्च हो या आठ वर्ष का बालक हो, परन्तु जिसको शुद्ध चैतन्यस्वरूप

आत्मा के अभ्यास से निर्मल समकित हुआ है, उसकी श्रुतज्ञान की पर्याय मे विश्व को जानने की ताकत है।

अरे! अज्ञानी को आत्मा की महानता का पता नही है, इसकारण वह स्वय को एकसमय की पर्याय बराबर या रागादिवाला पामर मानता है। ऐसा मानकर उसने पूर्णानन्दस्वभाव का अनादर किया है अर्थात् पूर्णानन्दस्वभाव के अस्तित्व से इन्कार किया है और पुण्य के अस्तित्व को आत्मा माना है। यहाँ कहते हैं कि ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा के अन्तर मे झुककर, उसी का अभ्यास करने पर, ज्ञान राग से भिन्न हो जाता है और तब ही सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन के साथ हुआ ज्ञान विश्व के नाथ (आत्मा) को जानता है। तथा जिसने अपनी पर्याय मे विश्व के नाथ भगवान आत्मा को जान लिया है, उसे लोकालोक जानने मे क्या कठिनाई हो सकती है? भाई! जिनवाणी अमूल्यवाणी है, उसका रस भी मीठा है, किन्तु इसकी महिमा तथा स्वाद उन्हे ही आता है, जिन्हे उस वाणी का यथार्थ भान हुआ है। इसप्रकार एक आशय तो यह है।

तथा दूसरा आशय यह है कि जीव-अजीव का जो अनादि से सयोग है, वह सर्वथा अलग-अलग होने के पूर्व अर्थात् मोक्षदशा प्रगट होने के पहले भेदज्ञान की भावना से वीतरागता प्रगट होती है अर्थात् अन्तर मे स्वभाव की एकाग्रता होने पर ऐसी निर्मल धारा या वीतरागता की धारा फूटती है कि जिसमे केवल आत्मा का ही अनुभव रहता है और वह अन्तर एकाग्रता की धारा वेग से आगे वढते-वढते केवलज्ञान प्रगट करती है। वाद मे अघातियाकर्मों का नाश होने पर जीव व अजीव सर्वथा भिन्न हो जाते है। जीव-अजीव को सर्वथा भिन्न करने की यही रीति है। निर्मल शुद्ध चैतन्यस्वभाव मे एकाग्रता का अभ्यास करना ही अजीव – शरीर से भिन्न होने का मार्ग है। राग की मदद से, राग से भिन्नता नही हो सकती। जिसे भिन्न करना हो, उसी की मदद उसे भिन्न करने मे कैसे हो सकती है? राग अजीव है और उसे ही जीव से भिन्न करना है। अत राग की सहायता से राग भिन्न कैसे किया सकता है? अर्थात् नही किया जा सकता।

इसप्रकार जीव-अजीव भिन्न-भिन्न होकर रङ्गभूमि से वाहर निकल गये अर्थात् जीव जीवरूप और अजीव अजीवरूप रह गये।

जीवाजीवाधिकार का उपसंहार

इति जीवाजीवौ पृथग्भूत्वा निष्क्रांतौ ।

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ जीवाजीवप्ररूपकः प्रथमोऽङ्कः ।

टीका :– इसप्रकार जीव और अजीव अलग-अलग होकर (रङ्गभूमि मे से) बाहर निकल गये ।

भावार्थ :– जीवाजीवाधिकार मे पहले रङ्गभूमिस्थल कहकर उसके बाद टीकाकार आचार्य ने ऐसा कहा था कि नृत्य के अखाडे मे जीव-अजीव दोनो एक होकर प्रवेश करते है और दोनो ने एकत्व का स्वाँग रचा है । वहाँ भेदज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष ने सम्यग्ज्ञान से उन जीव-अजीव दोनो की उनके लक्षणभेद से परीक्षा करके दोनो को पृथक् जाना, इसलिये स्वाँग पूरा हुआ और दोनो अलग-अलग होकर अखाडे से बाहर निकल गये । इसप्रकार अलङ्कारपूर्वक वर्णन किया है ।

जीव-अजीव अनादि संयोग मिलै लखि मूढ़ न आतम पावै,
सम्यक् भेदविज्ञान भये बुध भिन्न गहे निजभाव सुदावै ।
श्रीगुरु के उपदेश सुनै रु भले दिन पाय अज्ञान गमावै,
ते जगमाँहि महन्त कहाय वसै शिव जाय सुखी नित थावै ।।

इसप्रकार श्री समयसार की (श्रीमत्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीका मे प्रथम जीवाजीवाधिकार समाप्त हुआ ।

जीवाजीवाधिकार के उपसंहार पर प्रवचन

यहाँ जीव तथा रागादि – अजीव दोनो की बात है । जैसे नाटक मे नट स्वाँग लेकर आता है, उसीतरह ज्ञायक चैतन्यस्वरूप जीव और राग का रूप धारण करके अजीव –दोनो अखाडे मे प्रवेश करते है । इन दोनो ने एक-पने का स्वाँग रचा है । आत्मा (जीव) ने राग (अजीव) का स्वाग बनाया है और राग (अजीव) ने आत्मा (जीव) का, परन्तु भेदज्ञानियो ने भेदज्ञान द्वारा जीव व अजीव – दोनो को उनके लक्षण-भेद से भिन्न-भिन्न पहचान लिया । धर्मी जीव दोनों की लक्षण-भेद से परीक्षा करता है कि यह जानने-

वाला मैं हूँ तथा अपने अनुभव से भिन्न रहनेवाला राग – अचेतन है। राग मैं नही हूँ – इसप्रकार दोनो को जब जुदा-जदा जान लिया, तब स्वाँग समाप्त हो जाता है और दोनो पृथक्-पृथक् होकर रङ्गभूमि से बाहर निकल जाते हैं। आत्मा आत्मा मे आनन्दरूप रह जाता है तथा राग रागरूप से निकल जाता है। इसप्रकार यहाँ अलकाररूप मे वर्णन किया है।

जीव व अजीव – दोनो का अनादि से सयोग है। सयोगीदृष्टिवाले अज्ञानी सयोगीभावो को अपने मानकर, उनसे भिन्न आत्मा के चैतन्यस्वरूप को नही पाते; परन्तु जब भेदज्ञान होता है, तब ज्ञानी ज्ञान को अपना लक्षण जानकर राग को भिन्न कर देते हैं। 'आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है और वह मैं हूँ, ये रागादिभाव मैं नही' – ऐसा ज्ञानलक्षण से ज्ञायक को ग्रहण करने पर राग भिन्न रह जाता है और आत्मा को आनन्द का अनुभव होता है। अहाहा! सद्गुरु का उपदेश सुनकर काललब्धि आने पर आत्मा का अज्ञान दूर हो जाता है तथा वह मोक्ष प्राप्त करके सदा ही निज आनन्दरूप से रहता है।

यहाँ सद्गुरु के उपदेश सुनने की बात कहकर निमित्त का ज्ञान कराया है – ऐसा समझना। निमित्त से ज्ञान हुआ – ऐसा नही मान लेना।

प्रश्न – प्रत्येक कार्य मे दो कारण होते है न ?

उत्तर :– भाई! इस गाथा मे दो कारण नही लिए हैं। निमित्त कारण को तो उपचार से आरोप करके ज्ञान कराने के लिए कहा है।

निश्चय के समान व्यवहार-मोक्षमार्ग भी ध्यान मे ही प्रगट होता है, इसलिए व्यवहार से निश्चय-मोक्षमार्ग होता है – यह बात ही नही रहती। द्रव्यसग्रह की गाथा ४७ मे कहा है कि **'दुविहंपि मोक्खहेउं भाणे पाउणदि मुणी णियमा'** अर्थात् दोनो प्रकार के मोक्ष के कारण (मोक्षमार्ग) ध्यान मे प्रगट होते हैं। निज चैतन्य का आश्रय करने पर जब निश्चय-मोक्षमार्ग प्रगट होता है, उसीसमय जो राग बाकी है, उसको आरोप करके व्यवहार-मोक्षमार्ग कहा जाता है। इसकारण व्यवहार-मोक्षमार्ग से निश्चय-मोक्षमार्ग प्रगट होता है – ऐसा नही है, क्योकि दोनो एकसाथ प्रगट होते हैं। आनन्द के नाथ भगवान आत्मा को ध्येय बनाकर ध्यान करने पर निश्चय-मोक्षमार्ग प्रगट होता है, उसी काल मे जो राग शेष रहता है, उसे व्यवहार-मोक्षमार्ग कहा जाता है। इसकारण निश्चय-व्यवहार आगे-पीछे नही हैं और व्यवहार से निश्चय भी नही होता है।

शंका – यहाँ तो यह लिखा है न कि **'श्री गुरु के उपदेश सुनै रु भले दिन पाय अज्ञान गमावैं'** अर्थात् श्री गुरु के द्वारा देशनालब्धि मिलने पर अज्ञान दूर होता है। क्या यह ठीक नही है ?

समाधान :– भाई ! यह तो निमित्त का ज्ञान कराने की वात है। सम्यग्दर्शन होने के पहले देशनालब्धि होती है, वस, इतना ज्ञान कराने के लिए कहा है; देशनालब्धि से सम्यग्दर्शन नही होता। पर का लक्ष्य छोड़कर जव स्व मे जाता है, तव ही गुरु के उपदेश को निमित्त कहा जाता है।

प्रश्न :– निमित्त मददरूप सहायक तो होता है न ?

उत्तर :– भाई ! मदद का अर्थ क्या ? आत्मा जव स्वयं गतिरूप परिणमे, तव धर्मास्तिकाय निमित्त है। जव धर्मास्तिकाय वैसा का वैसा ही है, तो उसने किया क्या ? निमित्त को देखकर ऐसा कहा जाता है कि उसके कारण गति हुई, वास्तव मे वह गति कराता नही है। यदि गति करावे तो वह तो सदा मौजूद है, अत सदैव गति होनी चाहिए; परन्तु ऐसा तो होता नही है।

प्रश्न :– काललब्धि का क्या अर्थ है ?

उत्तर :– प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय का स्वकाल मे होना ही काललब्धि है। उससमय भले ही निमित्त हो, पर निमित्त ने पर्याय उत्पन्न नही की। इसीप्रकार व्यवहार से निश्चय नही होना। व्यवहार तो निमित्त है। जैसे निमित्त कुछ नही करता, वैसे ही व्यवहार से निश्चय नही होता।

जव निश्चय-मोक्षमार्ग होता है, तव साथ मे व्यवहार भी होता है। यद्यपि निश्चय के साथ जो कषाय की मन्दता व देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का राग होता है, वह व्यवहार-समकित कहा जाता है; तथापि व्यवहार से निश्चय नही होता। इसीतरह निमित्त से उपादान मे कार्य का होना भी तीनकाल मे सम्भव नही है। गाथा ३७२ मे आया है कि 'सर्वद्रव्य निमित्त-भूत अन्यद्रव्यो के स्वभाव को स्पर्श नही करते।' अहाहा ! जव अवा मे घड़ा पकता है, तव भी अवा की अग्नि घड़े को स्पर्श नही करती। पानी को अग्नि छूती ही नही है और पानी गर्म हो जाता है। भाई ! गजव वात है !

प्रश्न :– सम्यग्दर्शन तो दो प्रकार का है – निसर्गज और अधिगमज !

उत्तर :– भाई ! अधिगमज सम्यग्दर्शन हुआ तो स्वयं से ही है, परन्तु निमित्त की उससमय उपस्थिति होती है – इसकारण ऐसा कहा जाता है कि अधिगम से सम्यग्दर्शन हुआ है। निमित्त से सम्यग्दर्शन की

उत्पत्ति कभी भी नही होती। निमित्त कार्य को उत्पन्न नही करता, क्योकि निमित्त मे कार्य उत्पन्न करने की शक्ति ही नही है। तथा उत्पन्न होनेवाली पर्याय भी निमित्त की अपेक्षा रखती ही नही है। गाथा ३०८ से ३११ तथा ३७२ मे भी यही बात की है।

'श्रीगुरु के उपदेश सुने' ऐसा जो कहा है, वह निमित्त से कथन किया है। वस्तुत' अज्ञान तो स्व के आश्रय से ही नष्ट होता है, इसलिए व्यवहार से निश्चय नही होता, निमित्त से पर मे उत्पाद नही होता – ऐसा यथार्थ निश्चय करना चाहिए। व्यवहार आता है, होता है, वह उसकी आने की योग्यता हो तो आता है, परन्तु इससे निश्चय प्रगट नही होता।

प्रश्न – सुनने से ज्ञान तो होता है न ?

उत्तर – भाई ! भाषा तो जड है, इससे ज्ञान कैसे हो ? वाणी की पर्याय उत्पादक तथा ज्ञान की पर्याय उत्पाद्य – ऐसा नही है। ये तो अपने-अपने काल मे और अपने-अपने कारण से ज्ञान तथा वाणी की पर्याय हुई हैं, एक दूसरे के कारण नही हुईं। भाई ! वीतराग-सर्वज्ञ का मार्ग बहुत सूक्ष्म एव हितकारी है। भाई ! वीतराग की वाणी कहती है कि जिनवाणी सुनने से ज्ञान नही होता, क्योकि एकद्रव्य की पर्याय से अन्यद्रव्य की पर्याय का उत्पाद नही होता। दो द्रव्यो के बीच उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध ही नही है। वस्तु स्वतत्र है, इसकारण जिससमय जिसद्रव्य की जो पर्याय होती है, वह उसका जन्मक्षण – निजक्षण है। उससमय पर्याय की उत्पत्ति अपने से ही होती है, निमित्त से कभी भी नही होती।

चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा अपने आश्रय से अन्दर मे जब सम्यग्दर्शन-ज्ञान की पर्याय उत्पन्न करता है, तब वह धर्म की उत्पत्ति होने का प्रथमक्षण है, परन्तु उससमय राग – व्यवहार था, इसीलिए उस राग – व्यवहार से धर्म की उत्पत्ति नही हुई। राग – व्यवहार की उपस्थिति भले हो, पर उससे धर्म की परणति नही होती।

जिसने आनन्द के नाथ भगवान चैतन्यदेव का अन्दर मे आश्रय किया है, अनुभव किया है, वह निर्मल परिणति निश्चय-मोक्षमार्ग है। तथा उससमय जो राग शेष है, उसे आरोप करके व्यवहार-मोक्षमार्ग कहा है। वास्तव मे राग बन्ध का ही कारण है, किन्तु स्वाश्रय से प्रगट हुई निर्मल श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की निर्मल परणति के साथ राग की मन्दता की उपस्थिति है, अत उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहा है। व्यवहार-समकित

वस्तुत: समकित ही नही है, क्योकि वह व्यवहार-श्रद्धा सम्यक्त्वगुण की पर्याय नही है, वह तो राग की पर्याय है। निश्चय के साथ देखकर उसमे व्यवहार-समकित का उपचार किया है।

प्रभु ! तेरी महिमा अपार है। तुझे अपनी महानता प्रगट करने के लिए राग की हीनदशा का आलम्बन लेने की जरूरत नही है। यह धर्म की पर्याय तो निमित्त की अपेक्षा रखे विना ही प्रगट होती है। अहाहा ! व्यवहार की अपेक्षा रखे बिना ही अपने स्वभाव की उत्पत्ति अपने कारण स्वकाल मे स्वाश्रित पुरुषार्थ द्वारा होती है। यद्यपि राग को व्यवहार-सम्यक्त्व एव निमित्त को कारण भी कहा है, तथापि न तो राग सच्चा सम्यक्त्व है और न निमित्त सच्चा कारण। वात तो ऐसी ही है, परन्तु दुनिया के साथ मिलान होना कठिन है, क्योकि 'विभिन्नमतयोर्हि लोकः' लोक तो भिन्न-भिन्न अभिप्रायवाले है। यदि किसी का अभिप्राय उल्टा है तो क्या उससे तत्त्व बदल जायगा ? नही भाई ! जिसे सत प्राप्त करना हो, उसे अपना ही अभिप्राय बदलना होगा।

—००:०:००—
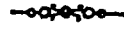
चिन्मूरति नाटक देखनहारौ

या घट में भ्रमरूप अनादि, विसाल महा अविवेक अखारौ।
तामहि और स्वरूप न दीसत, पुग्गल नृत्य करै अति भारौ॥
फेरत भेख दिखावत कौतुक, सौंजि लियै वरनादि पसारौ।
मोह सौं भिन्न जुदौ जड सौं, चिन्मूरति नाटक देखनहारौ॥१३॥

जैसै करवत एक काठ वीच खड करै,
　　　　जैसै राजहस निरवारै दूध जल कौ।
तैसै भेदग्यान निज भेदक-सकति सेती,
　　　　भिन्न-भिन्न करै चिदानन्द पुग्गल कौ॥
अवधि कौ धावै मनपर्यै की अवस्था पावै,
　　　　उमगि कै आवै परमावधि के थल कौं।
याही भाति पूरन सरूप कौ उदोत धरै,
　　　　करै प्रतिविंबित पदारथ सकल कौ॥१४॥

— समयसार नाटक, अजीवद्वार